ग्रन्थ मिलने का पता:-

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान

पो०-श्री शान्तिवीर नगर

वाया श्री महावीरजी (राज०)



प्रवचन सार

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत (प्राकृत)

संस्कृत टीका

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत

व

श्री जयसेनाचार्य कृत

सम्पादक

स्व० श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री, दिल्ली

एवं

श्री पं० ब्र० रतनचन्द्र जी मुख्तार, सहारनपुर

प्रकाशक

ब्र० लाडमल जैन

अधिष्ठाता

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान,

श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीरजी (राज०)

वीर सं० २४९५

मूल्य १०) रुपया

मुद्रक:-

श्री शांतिसागर दि० जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था

पो० श्री शांतिवीर नगर

वाया-श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

दो शब्द

श्री प्रवचन सार का प्रकाशन रायचन्द्र ग्रन्थमाला से, तथा सोनगढ आदि से कई बार हो चुका है—जिसमें श्री अमृतचन्द्र सूरि एवं श्री जयसेन आचार्य की संस्कृत टीकाएं पृथक् पृथक् दी हैं, किन्तु दोनों का पृथक् २ अनुवाद नहीं है। सोनगढ से प्रकाशित संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी द्वारा किया गया था जो कि सूरत से तीन खण्ड में प्रकाशित हुआ था, किन्तु वह भी उपलब्ध नहीं है। आज तक दोनों संस्कृत टीकाएं हिन्दी अनुवाद सहित प्रवचनसार प्रकाशित नहीं हुआ था, इस कारण यहां हमारे संस्थान से यह प्रवचनसार दोनों आचार्यो की संस्कृत टीकाओं और उनके पृथक् पृथक् अनुवादों के साथ प्रकाशित हो रहा है। आशा है समाज में इसका आदर होगा।

श्रीमान् स्व० ब्र० श्री लालजी के समय से ही इसके प्रकाशन की चर्चा चल रही थी, प्रयत्न भी हुआ--किन्तु इसके प्रकाशन में आशा से भी बहुत अधिक विलम्ब हुआ। श्रीमान् सेठ बदरी प्रसाद जी सरावगी ने इस प्रवचनसार की १००० प्रतियां अपने स्व० भ्राता श्री केदार नाथजी की स्मृति में प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितरण की हैं। उनका यह जिनवानी प्रचार प्रशंसनीय है। पूज्य १०८ श्री आ० शिवसागर जी महाराज एवं श्री १०८ श्री आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज की इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत प्रेरणा रही है। आचार्य श्री कुंदकुंद की यह महान् देन प्रवचनसार ग्रंथराजका जितना भी समाज में प्रचार हो उतना थोडा है।

श्रीमान् सि० र० सिद्धान्त वारिधि ब्र० रतन चन्द जी मुख्तार सहारनपुर वालों ने इस ग्रन्थ की सामग्री संकलित करने में संपादन अनुवाद तथा अन्य कार्यों में बड़ा श्रम किया है। श्रीमान् स्व० पं० अजितकुमार जी शास्त्री एवं श्री पं० सरनाराम जी ने इसके सम्पादन में बड़ा सहयोग दिया है, हम उक्त सभी महानुभावों का आभार प्रकट करते हैं भविष्य में भी समाज का इसी तरह सहयोग रहा तो संस्थान से पूर्वाचार्यो के महत्व पूर्ण और भी ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहेगा।

ब्र० लाडमल जैन

अधिष्ठाता

श्री शांतिवीर दि० जैन संस्थान

पो० शांतिवीर नगर

प्रस्तावना

चतुर्थ काल में जब ३ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रह गये थे, तब अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान् कार्तिक कृष्णा अमावश्याके दिन निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके पश्चात ६२ वर्ष में श्री गौतमस्वामी, श्री सुधर्माचार्य और श्री जम्बूस्वामी ये तीन अनुवद्ध केवली हुए। उसके पश्चात् १०० वर्ष में श्री विष्णु, श्री नन्दिमित्र, श्री अपराजित, श्री गोवर्धन श्री भद्रवाहु ये पांच अनुवद्ध श्रुत केवली हुए। उसके पश्चात् १८१ वर्ष में श्री विशाखाचार्य, श्री प्रोष्ठिल, श्री क्षत्रिय, श्री जयसेन, श्री नागसेन, श्री सिद्धार्थ, श्री धृतिषेण, श्री विजय, श्री वुद्धिलिंग, श्रीदेव, श्रीधर्मसेन ये ११ आचार्य दस पूर्वधारी हुये। इसके पश्चात् १२३ वर्ष में श्री नक्षत्र, श्री जयपाल, श्री पांडव, श्री ध्रुवसेन, श्री कंस ये पांच आचार्य ग्यारह अंगधारी हुए। इसके पश्चात् ९९ वर्ष में श्री सुभद्र, श्री यशोभद्र, श्री भद्रवाहु, श्री लोहाचार्य ये चार आचार्य दस, नव अथवा आठ अंग धारी हुए। इसके पश्चात् ११८ वर्ष में श्री अर्हद्वलि, श्री माघनन्दि, श्री धरसेन, श्री पुष्पदन्त, श्री भूतबलि ये पांच आचार्य हुए जो एक अंग धारी थे अथवा अंगों और पूर्वों के एक देश ज्ञाता थे। इस प्रकार श्री महावीर भगवान के पश्चात् भी ६८३ वर्ष तक अंग का ज्ञान रहा।१

श्री धरसेन आचार्य के शिष्य श्री पुष्पदंत भूतबलि ने 'षट्खण्डागम' की रचना कर लिपिवद्ध किया और ज्येष्ट शुक्ला पंचमी के दिन इस ग्रन्थराज की पूजा हुई, इसलिये ज्येष्ट शुक्ला पंचमी आज भी श्रुत पंचमीके नामसे प्रसिद्ध है। इस षट्खंडागम में श्री गौतम गणधर रचित सूत्रों का भी संकलन है।

(१) जीवट्ठाण (२) खुद्दाबंध (३) बंधस्वामित्व विचय, (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महाबंध ये षट्खंडागम के छह खंड हैं। इस षट्खंडागम के प्रथम तीन खंड पर श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने वारह हजार श्लोक प्रमाण परिक्रम टीका रची है।२

१–धवल पु० १ प्रस्तावना पृ० २६–२७।

२—एव द्विविधो द्रव्यभाव पुस्तकगतः। गुरुपरिपाटया ज्ञातः सिद्धान्त कुन्डकुन्द पुरे ॥ १६० ॥
श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्र परिमाणः। ग्रंथ परिक्रम कर्त्ता षट्खण्डाद्य त्रिखण्डस्य ॥१६१॥
(इन्द्रनन्दि श्रुतावतारः)

ज्ञान प्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे कषाय-प्राभृत का ज्ञान श्री गुणधर आचार्य को था, जिन्होंने तीर्थ-विच्छेद के भय से कषाय पाहुड की १८० गाथाओं द्वारा रचना की है। जिसमें कषायों की विविध दशाओं का वर्णन करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया है और यह भी प्रगट किया है कि किस कषाय के दूर होने से कौनसा आत्मिक गुण प्रगट होता है।

कषाय पाहुड की ये गाथाएं आचार्य परम्परा से आती हुई श्री आर्यमंक्षु और श्री नागहस्ती आचार्यों को प्राप्त हुई। पुनः उन दोनों ही आचार्यों के पादमूल में बैठकर उनके द्वारा गुणधराचार्य के मुखकमल से निकली हुई उन १८० गाथाओं के अर्थ को भले प्रकार श्रवण कर प्रवचन के वात्सल्य से प्रेरित होकर श्री यतिवृषभाचार्य ने उन पर छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्ण सूत्र की रचना की।

दिगम्बर परम्परा में जो आचार्य श्रुत प्रतिष्ठापक के रूप में हुए उनमें श्री गुणधर आचार्य और श्री धरसेन आचार्य प्रधान हैं, क्योंकि आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्वगत पेज्जदोस पाहुड का ज्ञान प्राप्त था और श्री गुणधर आचार्यों गुणधर को पूर्वगत पेज्जदोस पाहुड का ज्ञान प्राप्त था।

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार षट्खण्डागम और कषाय प्राभृत ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध श्री महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से है।

ये ग्रन्थराज दक्षिण में सुरक्षित थे और जो दक्षिण की यात्रा को जाते थे उनको इन ग्रन्थराजों के मात्र दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता था। श्री पं० टोडरमल जी जैसे विद्वान को इनके दर्शन तक भी प्राप्त न हो सके, किन्तु हर्ष की बात है कि इन ग्रन्थराज का प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित श्रावकाश्रम शोलापुर तथा वीरशासन संघ कलकत्ता से हो चुका है।

श्री वीरसेन महान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने करणानुयोग को भी तर्क की कसौटी पर लगाया है। उन्होंने षट्खण्डागम के पांच खन्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण और कषाय प्राभृत की चार विभक्तियों पर २० हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। शेष कषाय प्राभृत पर उनके शिष्य श्री जयसेन आचार्य ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसको पूर्ण किया। षट्खंडागम की टीका का नाम धवल है जो हिंदी अनुवाद सहित १६ भागों में प्रकाशित हो चुकी है। कषाय प्राभृत की टीका का नाम जयधवल है जिसके दस भाग प्रकाशित हो चुके हैं। ५ या ६ भाग प्रकाशित होने शेष हैं। षट्खंडागम का छटवां

खण्ड महाबंध भी सात भागों में ज्ञानपीठ बनारस से प्रकाशित हो चुका है।

यद्यपि इन ग्रंथों का प्रकाशन सन् १९३९ से प्रारम्भ होगया था, परन्तु बहुत कम व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से इनका अध्ययन कर सके। श्री शांतिसागर आचार्य की परम्परा में आचार्य श्री शिवसागर के संघ में श्री श्रुतसागर जी आदि मुनि तथा माता विशुद्धमति जी आदि आर्यिका इन ग्रंथराज के अध्ययन में लगे हुए हैं। बंध-स्वामित्व विचय तीसरे खंड में अनेकों संसोधन प्रस्तुत किये हैं, जिनको अनुवादक विद्वानों ने भी सहर्ष स्वीकार किया है।

यहां यह शंका हो सकती है कि सर्वत्र इन महान् ग्रंथों की स्वाध्याय क्यों नहीं हुई ? तो इसके समाधान में यह कहना अनुचितन होगा कि इन ग्रंथराज का विषय बहुत गहन है, क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध श्री महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से है। यदि इन ग्रंथराजों का अध्ययन सर्वत्र हो जाता तो नवीन सम्प्रदायों का कोई स्थान न रहता, क्योंकि इनमें सात तत्त्वों का इतना सूक्ष्म व विशद विवेचन है कि अन्यथा कल्पना हो नहीं सकती।

श्री गुणधर, श्री धरसेन, श्री पुष्पदंत, श्री भूतबलि के पश्चात् श्री कुंदकुंद आचार्य हुए हैं, उस समय अंग या अंग व पूर्व के एक देश का ज्ञान लुप्त हो चुका था।

श्री कुंदकुंद आचार्य का वास्तविक नाम श्री पद्मनन्दि था। किन्तु जन्म भूमि के नाम के कारण वे कुंदकुंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अतः उनके समय का यथार्थ निर्णय नहीं किया जासकता, फिर भी षट्-खण्डागमकी टीका श्री कुंदकुंद आचार्य द्वारा रची गई इससे यह प्रतीत होता है कि उनका काल ईसवी की दूसरी शताब्दी का पशचिम भाग है।

श्री कुंदकुंद आचार्य ने भिन्न भिन्न विषयों पर अनेकों ग्रंथों की रचना की है। उनमें से एक प्रवचनसार भी है। इसमें तीन अधिकार हैं (१) ज्ञानाधिकार (२) दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार (३) चारित्राधिकार।

इनमें से प्रथम अधिकार में १०१ गाथा हैं। श्रीमत् जयसेन तथा श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने तो १०१ गाथाओं पर टीका रची है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इनमें से मात्र ९२ गाथाओं पर टीका रची है।

जिस प्रकार श्री गौतमगणधर ने व्यवहार नय का आश्रय लेकर चौबीस अनु-

योगद्वारों के आदि में मंगल किया है, १ उसी प्रकार श्री कुंदकुंद आचार्य ने भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर प्रथम पांच गाथाओं द्वारा प्रवचनसार के आदि में मंगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय वहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये। ऐसा मनमें निश्चय करके श्री गौतम स्थविर ने चौवीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है। २ श्री गौतमगणधर का अनुसरण करते हुए श्री कुंद कुंद आचार्य ने भी मंगल किया है।

गाथा ६ में वतलाया है कि सम्यक्-चारित्र के फल स्वरूप स्वर्गादि के वैभव के साथ साथ मोक्ष भी मिलता है। गाथा ७ में चारित्र को धर्म वतलाते हुए स्वरूपाचरण का लक्षण वतलाया है। गाथा ८ व ९ में वतलाया है कि द्रव्य जिस समय जिस पर्याय से परिणत होता है उस समय उस पर्याय से तन्मय हो जाता है। इसलिये जिस समय आत्मा शुभभाव से परिणत होता है उस समय आत्मा शुभ है। जिस समय आत्मा अशुभभाव या शुद्ध भाव से परिणत होता है उस समय आत्मा अशुभ या शुद्ध है। गाथा १० में वतलाया कि परिणाम के विना द्रव्य नहीं और द्रव्य के विना परिणाम नहीं। गाथा ११-१३ तीनों उपयोग के फल का कथन है। गाथा १४ में शुद्धोपयोग का लक्षण। इस प्रकार इन १४ गाथाओं में पीठका समाप्त हुई।

गाथा १५-२० सर्वज्ञ सिद्धि, गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान का सविस्तार कथन है। गाथा ४५ में वतलाया है कि अरहंत पद पुण्य का फल है जिससे पुण्य की सार्थकता सिद्ध होती है। गाथा ५२-६८ सुख का सविस्तार कथन करते हुए वतलाया है कि ज्ञान के साथ सुख का अविनाभावी सबंध है इसलिये इन्द्रिय जनित ज्ञानी के इन्द्रिय जनित सुख होता है और अतिन्द्रिय ज्ञानी अर्थात् केवली के ही अतीन्द्रिय सुख होता है। इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय सुख का कारण होने से हेय है उसी प्रकार शुभोपयोग भी इन्द्रिय सुख का कारण होने से हेय है। उस शुभोपयोग का कथन गाथा ६९ से ७९ तक है।

गाथा ८०-९२ में मोह को जीतने का उपाय वतलाया है किन्तु गाथा ८३-८५

---

(१) ववहारणयं पडुच्च पुण गोदम सामिणा चदुवीसण्हमणि योगद्दाराणमादीए मंगलं कदं॥,,

(२) "ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो वहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समास्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं"

(जयधवल पु० १ पृ० ८)

में राग द्वेष मोह का कथन है।

दूसरे अधिकार में सम्यग्दर्शन के विषयभूत छहों द्रव्यों का अथवा ज्ञान के विषय-भूत ज्ञेयों का ११३ गाथाओं द्वारा कथन है। इनमें से मात्र १०८ गाथाओं पर श्री अमृत-चन्द्र आचार्य की टीका है। गाथा ९३ से १२६ तक ज्ञेयों का सामान्य कथन है। गाथा ९३ में बतलाया है कि द्रव्य गुण पर्यायात्मक अर्थ है। जो पर्याय विमूढ है वह मिथ्यादृष्टि है। जो निश्चयाभासी है, आत्मा को सर्वथा शुद्धबुद्ध मानकर अशुद्ध अवस्था को स्वीकार नहीं करता वह पर्याय विमूढ है, क्योंकि आत्मा संसार दशा में अशुद्ध अवस्था से तन्मय हो रहा है। जिस व्यवहाराभासी की द्रव्य पर दृष्टि नहीं है मात्र पर्याय पर दृष्टि है वह भी पर्याय विमूढ़ है। गाथा ९४–११३ द्रव्य के सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण-पर्याय ये तीन लक्षण बतलाये हैं। स्वरूप-अस्तित्व (अवान्तर सत्ता) और सादृश्य-अस्तित्व (महा सत्ता) का कथन हैं। अतद्भाव और पृथक्त्व का अन्तर बतलाया है। कथंचित् सत् का कथंचित् असत् का उत्पाद होता है। गाथा ११४-११५ में द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नयके विषयों का और सप्तभंगी का कथन है। गाथा ११७–११८ में बतलाया है कि नाम कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके जीव को मनुष्यादि पर्याय रूप करता है। गाथा १२२ में बतलाया है कि जीव और पुद्गल किस नय से किन भावों के कर्ता हैं। गाथा १२३-१२६ में ज्ञान चेतना कर्म चेतना कर्मफल चेतना का कथन है।

गाथा १२७ में १४४ तक द्रव्य–विशेष का कथन है। चेतन–अचेतन, क्रिय–निःक्रिय मूर्त–अमूर्त, प्रदेशत्व–अप्रदेशत्व, की अपेक्षा द्रव्यों का कथन है।

गाथा १४५–२०० तक जीव द्रव्य का विशेष कथन है। जीव के द्रव्य प्राणों, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग, शुभ–अशुभ–शुद्धोपयोग का कथन है। पुद्गल परमाणुओं का परस्पर में बंध, जीव के साथ कर्म व नोकर्म का बंध तथा बंध से छूटने का कथन है।

तीसरा मूल अधिकार चरणानुयोग चूलिका है। इसमें ९६ गाथा है किन्तु श्री अमृत चन्द्राचार्य ने मात्र ७५ गाथाओं पर टीका रची है। संयम ग्रहण करने के योग्य कौन है में ११ गाथा हैं और चारित्राधिकार का यह एक मुख्य विषय है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इन गाथाओं की टीका क्यों नहीं लिखी यह एक विचारणीय विषय है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के काल में ही श्वेताम्बर और दिगाम्बर ऐसी दो सम्प्रदाय बन गई थी। दिगम्बरेतर सम्प्रदाय में स्त्री मुक्ति तथा शूद्रमुक्ति का कथन है जिसका खंडन श्री कुंदकुंद आचार्य ने इन ११ गाथाओं में किया है।

इस तीसरे अधिकार की गाथा २०१ में यह वतलाया है यदि जीव संसार दुःखों से छूटना चाहता है तो उसको मुनि धर्म अवश्य अंगीकार करना चाहिये, क्योंकि मुनिधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय संसार दुःखों से छूटने का नहीं है। उसके पश्चात् यति धर्म का कथन है। गाथा २११ में अंतरंग वहिरंग छेद का कथन है, गाथा २१५ सूक्ष्म पर द्रव्य का संवंध भी छेद का कारण हैं और ऐसा वतलाया गया है। वहिरंग परिग्रहके सद्भाव में अंतरंग-परिग्रह-त्याग का अभाव होता है (गाथा २२०) गाथा २२४। १-६ में स्त्री मुक्ति का निषेध है। गाथा २२४। १०-११ में दीक्षा के योग्य पुरुष का और गाथा २३० व २३१ में उत्सर्ग व अपवाद की मैत्री का कथन है।

गाथा २३२-२३५ में वतलाया है कि आगमाभ्यास के विना मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्ता के साथ वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप आत्मज्ञान भी मोक्षमार्ग के लिये आवश्यक है। ऐसा ज्ञानी ही क्षण मात्र में गुप्ति के द्वारा कर्मों को काट डालता है जिसको निर्विकल्प-समाधि रूप आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी जीव उन कर्मों को करोड़ों जन्मों में भी नहीं काट सकता (गाथा २३६-२३९) इसलिये पं० दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है-

कोट जन्म तप तपें ज्ञान विन कर्म झरें जें। ज्ञानी के छिन्नमांहि त्रिगुप्ति ते सहज टरे वे ॥

गाथा २४०-२४४ में कर्मों के क्षय करने वाले मुनि का कथन है। गाथा २४५ से शुभोपयोग का कथन है। गाथा २५१ में उपकार का उपदेश देकर यह वतलाया कि एक जीव दूसरे का उपकार कर सकता है। गाथा २५४ में वतलाया है कि शुभोपयोग गृहस्थ को निर्वाणसौख्य का कारण है। एक ही वीज से भूमि की विचित्रता से फल में विचित्रता होती है अर्थात् निमित्तकी विचित्रता से कार्य में विचित्रता होती है। [गाथा २५५]। गाथा २६० में वतलाया है कि शुद्धोपयोगी व शुभोपयोगी मुनि लोगों को पार कर देते हैं। गाथा २६४-२६९ श्रमण में दूषण के कारणों का कथन है। गाथा २७० में वतलाया है कि संगति का प्रभाव पड़ता है अर्थात एक द्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय पर प्रभाव पड़ता है। गाथा २७० से २७५ तक संसार आदि पांच तत्त्वों का कथन है। इस प्रकार प्रवचनसार के विषय का परिचय है।

जव ज्ञान का इतना ह्रास हो गया कि श्री कुंदकुंद आचार्य विरचित गाथाओं का यथार्थ अभिप्राय समझने में कठनाई होने लगी तो श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने संक्षेपरूप में तत्वप्रदीपका टीका गूढ संस्कृत भाषा में रची। जब ज्ञान और कम हो गया जिससे बहुत

से विवादस्थ बन गये तब श्री जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्तिः टीका सरल संस्कृत भाषा में रची और विवादस्थ विषयों का स्पष्टीकरण किया। श्री जयसेन आचार्य विरचित टीका में जो विशेष कथन है उसमें से कुछ निम्न प्रकार है—

(१) गाथा ६ में चारित्र—दर्शन—ज्ञान का फल 'देवासुरमनुराजविभव' बतलाया है। इस पर यह शंका हुई कि असुरकुमारों में सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकता है, अतः सम्यग्दर्शन—ज्ञान-चारित्र का फल असुरेन्द्र का वैभव नहीं हो सकता ? श्री जयसेन आचार्य ने इसका समाधान बहुत ही सुन्दर किया है। निदान बंध के द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करके असुरेन्द्र हो सकता है।

(२) गाथा ८ में दो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। श्री जयसेन आचार्य ने निश्चय और व्यवहार, धर्म के दो भेद करके उनका स्वरूप बतलाया है।

(३) गाथा ९ की टीका में गुणस्थानों की अपेक्षा अशुभ, शुभ व शुद्ध भावों का कथन है।

(४) गाथा ११ की टीका में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के नामांतर देकर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वरूप को सरल बना दिया है।

(५) गाथा १८ की टीका में यह बतलाकर कि "जैसे जैसे ज्ञेय पदार्थों में उत्पाद व्यय—ध्रौव्य होता है वैसे वैसे ही केवल ज्ञान में परिच्छिन्न अपेक्षा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य होता है।" केवलज्ञान के विषय को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

(६) अभव्य शब्द से सर्वथा अभव्य न ग्रहण करना किन्तु वर्तमान में सम्यक्त्व की व्यक्ति नहीं है ऐसा अर्थ ग्रहण करना (गाथा ६२ की टीका)। इससे श्री कुंदकुंद स्वामी के ग्रन्थों में अभव्य शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(७) अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है१। स्वयं श्री कुंदकुंद आचार्य ने बोध पाहुड में बतलाया है कि धर्म विशुद्ध अर्थात निर्मल होता है२। भाव पाहुड में मुनि को छह काय के जीवों को दया करने का उपदेश दिया है, ३ तथा जो मुनि करुणा भाव से संयुक्त है वह समस्त पापों का नाश करता है ऐसा कहा है,४ शीलपाहुड़ में कहा है

---

(१) प्रशम संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं सम्यक्त्वम। (धवल पु० १० पृ १ १५१)

(२) "धम्मो दयाविसुद्धो" (बोध पाहुड गा. २५)

(३) "छज्जीव कुरु दय" (भाव पाहुड गा. १३१)

(४) "-ते करुणा भावसंजुत्ता ते सव्वदुरिय खंभं हणंति" (भाव पाहुड गा. १५७)

कि जीव–दया शील का परिवार है ५ और रयणसार में दया को प्रशसत् धर्म वतलाया है। ६ फिर वे ही श्री कुंदकुंद आचार्य प्रवचनसार गाथा ८५ में करुणाभाव को मोह का चिह्न कैसे कह सकते थे ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये श्री जयसेन आचार्य ने 'करुणा भाव' की करुणा-अभाव ऐसा सन्धि विच्छेद करके यह वतलाया कि करुणा का अभाव मोह का चिह्न है। करुणा जीव का स्वभाव है उसे कर्म जनित मानने में विरोध आता है, किन्तु अकरुणा (करुणा का अभाव) संयम घाती (चारित्र मोहनीय कर्म) का फल (चिह्न) है।७

(८) ज्ञानी और अज्ञानी से अभिप्राय प्रायः सम्यग्दृष्टि से लिया जाता है, श्री जयसेन आचार्य ने गाथा २३८ की में वतलाया कि "जो वीतराग समाधि में स्थित है वह आत्म ज्ञानी है और जो निर्विकल्प समाधि से रहित है वह अज्ञानी है।" यदि अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि लिया जाय तो मिथ्यादृष्टि के तो कर्मों की अविपाक निर्जरा होती नहीं है। अतः मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञानी जिन कर्मों को सहस्र कोट वर्ष में खपाता है ज्ञानी उन को क्षण मात्र में क्षय कर देता है। यह कथन निर्विकल्प समाधि की अपेक्षा ही संभव हैं।

(९) गाथा २५४ की टीका में वतलाया है कि गृहस्थ के निश्चय धर्म संभव नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता है। क्योंकि गाथा १४४ की टीका में वतलाया है कि निश्चय सम्यग्दर्शन वीतराग चारित्र का अविनाभावी है।

(१०) गाथा २५५ में वतलाया है कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपभोग मात्र पुण्य वंध का कारण नहीं है किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण भी है।

इसी प्रकार अन्य भी वहुत से ऐसे स्थल हैं जहां पर श्री जयसेन आचार्य ने विषयों को स्पष्ट किया है क्लेवर वढ़ जाने के भय से उन को यहां पर नहीं दिया जा रहा है स्वाध्याय करने से वे स्थल स्वयं ध्यान में आजावेगे।

सहारनपुर
वीरनिर्वाण दिवस सम्वत् २४६४

ब्र० रतन चन्द मुख्तार

(५) "जीवदया सीललस्स वरिवारो" (शील पाहुड गाथा १९)
(६) "दयाइ सद्धम्मे" (रयणसार गाथा ६५)
(७) "करुणाजीव सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणा कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादि कम्माणं फल भावेण तिस्से अब्भुवगमादो।" (धवल १३ पृ. ३६२)

प्रवचनसार विषय सूची

—):*०*:(—

सुख—अधिकार

शुभपरिणामाधिकार

गा० सं०	विषय	पृ० संख्या
९३।१	साधु को नमस्कार करके सम्यग्दर्शन का कथन करने की प्रतिज्ञा	२२७
	तिर्यक सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य तथा गुण व पर्याय का लक्षण	२२८
९४	जो विभाव पर्याय में लीन है वह परसमय है जो आत्म स्वभाव में स्थित है वह स्वसमय है।	२३०
	अहंकार तथा ममकार का लक्षण	२३२
९५	द्रव्य के तीन लक्षण	२३३
९६	अनेक प्रकार के गुण व पर्यायों से और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से जो द्रव्य का स्वरूप अस्तित्व है वह द्रव्य का स्वभाव है।	२३९
९७	सर्व द्रव्यों का सत् अर्थात् सादृश्य अस्तित्व अथवा महासत्ता लक्षण है	२४६
९८	द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है और सत् है। जो ऐसा नहीं मानता वह पर समय है द्रव्य से सत्ता भिन्न नहीं है तथा एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती	२४९
९९	उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् है	२५३
१००	उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं	२५७
१०१	उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये द्रव्य स्वरूप हैं द्रव्य से पृथक पदार्थ नहीं हैं	२६१
१०२	उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही समय में होते हैं समय भेद नहीं है	२६४
१०३	द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती हैं अन्य पर्याय नष्ट होती हैं किन्तु द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है	२६८
१०४	गुण पर्याय की मुख्यता से द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य का कथन	२७०
१०५	युक्ति द्वारा सत्ता और द्रव्य के अभेद का कथन	२७३
१०६	विभक्त प्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है	२७६
१०७	अतद्भाव (अन्यत्व) का विशेष कथन	२७९
१०८	अतद्भाव का लक्षण सर्वथा-अभाव नहीं है अथवा गुण गुणी	२८२
	में प्रदेश भेद नहीं है संज्ञादि का भेद ही अतद्भाव है	२८४
१०९	सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है	२८६
११०	गुण और पर्यायों से द्रव्य का अभेद है	२८८
१११	द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सत् का उत्पाद और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा असत् का उत्पाद होता है	२८९
११२	अनन्यत्व के द्वारा सत् का उत्पाद सिद्ध होता है	२९३
११३	अन्यत्व के द्वारा असत् का उत्पाद सिद्ध होता है	२९५
११४	द्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ द्रव्यार्थिक नय से अनन्यत्व है और पर्यायार्थिक नय से अन्यत्व है ऐसा अनेकान्त है	२९७
११५	सप्त भंगी का कथन	३००
११६	संसारी जीव के रागादि विभाव क्रिया स्वभाव से होती है जिस का फल मनुष्यादि	

चरणानुयोग चूलिका तीसरा अधिकार

पंच रत्न

इति





श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य-विरचितः

प्रवचनसारः

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका

परमात्मा को नमस्कार रूप मङ्गलाचरण

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—[सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय] सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता) होनेपर भी एक चैतन्यरूप (भाव चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है–(जो ज्ञेयाकार होनेपर भी ज्ञानाकार है अर्थात् सर्वज्ञता को लिये हुए आत्मज्ञ हैं) जो [स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय] स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मोपलब्धिसे प्रसिद्ध है), और जो [ज्ञानानन्दात्मने] ज्ञानानन्दात्मक है (अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञान तथा अतीन्द्रिय पूर्ण सुख-स्वरूप है) ऐसे उस [परमात्मने] परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के लिये [नमः] नमस्कार हो ।

भावार्थ—'परात्मा' का 'अर्थ दूसरे का आत्मा' भी होता है और 'परात्मा' का अर्थ 'परमात्मा' अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा भी होता है । यहां 'उत्कृष्ट' आत्मा अर्थ है । परमात्मा विशेष्य है और तीन उसके विशेषण हैं । सर्वज्ञता सहित आत्मज्ञता, शुद्ध आत्मोपलब्धि लक्ष-

णता और अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख-मयता। 'नमः' अव्यय है। उससे यहां क्रिया पद का काम लिया गया है।

द्रव्य-भाव रूप श्रुतज्ञान को नमस्कार रूप मङ्गलाचरण—

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः॥ २॥

अन्वयार्थ—(जो श्रुतज्ञान) [हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं] क्रीडा मात्रसे महामोह रूप अन्धकारसमूहको नष्ट कर देता है (जिसमें रमनेसे मोह सहज नष्ट हो जाता है) और जो श्रुतज्ञान [जगत्तत्त्वं] जगत् (लोक अलोक) के स्वरूपको [प्रकाशयत्] प्रकाशित करता है, [अदः] वह (अनेकान्तमय परस्पर-विरोधी अनेक धर्मात्मक वस्तुको दिखलाने वाला) [महः] तेज (श्रुतज्ञान) [जयति] जयवन्त है (अर्थात् उस श्रुतज्ञानके लिये नमस्कार है)।

शब्दार्थ—हेला—क्रीडा, खेल खेल में, उल्लुप्त—नष्ट, तमस्—अन्धकार, अन्धेरा, तोम-समूह। महः विशेष्य है। चार उसके विशेषण हैं। जयति क्रिया पद-वर्तमान काल है।

भावार्थ—अनेकान्तात्मक द्रव्य और भाव रूप श्रुतज्ञान से मोह सहज नष्ट हो जाता है। और छः द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है। इसलिये वह नमस्कार करने योग्य है।

टीका करने की प्रतिज्ञा तथा उसके रचने का प्रयोजन

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम्॥ ३॥

अन्वयार्थ—[परमानन्द-सुधारसपिपासितानां] परमानन्द रूप सुधा रसके पिपासु (अतीन्द्रिय सुख रूप अमृतके प्यासे) [भव्यानां] भव्योंके [हिताय] हितके लिये [प्रकटिततत्त्वा] श्रीप्रवचनसारजी की गाथाओंके तत्त्वको अथवा वस्तु तत्त्वको (स्वरूप को) प्रगट करने वाली [इयं] यह [प्रवचनसारस्य] श्रीप्रवचनसारकी [वृत्तिः] टीका [क्रियते] (मया) मेरे (श्रीअमृतचन्द्र आचार्य) द्वारा रची जाती है।

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरस्सरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते—

भूमिका—अब (टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य मूल ग्रन्थके लेखक श्री कुन्दकुन्द आचार्य के परिचय–पूर्वक पहली पांच गाथाओंकी भूमिका लिखते हैं।) (१) निकट है संसार समुद्र का किनारा जिनके (जो निकट भव्य हैं), (२) प्रकट हो गई है सातिशय विवेक ज्योति जिनकी (अर्थात् जिनके परम भेद-विज्ञानका प्रकाश उत्पन्न हो गया है-जो सम्यग्दृष्टी बन चुके हैं), (३) नष्ट हो गया है समस्त एकान्तवाद विद्या (ज्ञान) का अभिप्राय जिनके (जिनके एकान्त पक्षकी पकड़ रूप मिथ्या ज्ञान नष्ट हो गया है), (४) परमेश्वर (जिनेन्द्रदेव) की अनेकान्तवाद विद्या (ज्ञान) को प्राप्त करके (सम्यग्ज्ञानी बनकर) (५) समस्त पक्षका परिग्रह त्याग देनेसे (इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तुओं में द्वेषके पक्षकी पकड़को छोड़ देनेसे) अत्यन्त मध्यस्थ (उदासीन-वीतरागी) होकर (सम्यक्चारित्री बन कर) (६) जो मोक्षलक्ष्मी सब (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) पुरुषार्थों में सारभूत होनेसे आत्माके लिये अत्यन्त हिततम (उत्कृष्ट हित स्वरूप) है, जो मोक्ष-लक्ष्मी भगवन्त परमेष्ठीके प्रसाद से (की कृपा से) उत्पन्न होने योग्य है, जो मोक्षलक्ष्मी परमार्थ रूप होनेके कारण सत्य है और जो मोक्षलक्ष्मी अक्षय है (अविनाशी है-एक बार प्राप्त होकर सदा बनी रहती है) ऐसी उस मोक्षलक्ष्मी को उपादेयपने से निश्चित करते हुए (प्राप्त करने योग्य है ऐसा निर्णय करते हुए), (७) प्रवर्तमान तीर्थके नायक (श्री महावीर स्वामी) पूर्वक भगवन्त पंचपरमेष्ठी को प्रणाम और वन्दना से होने वाला (भेदाभेदात्मक नमस्कारके द्वारा) सम्मान करके (कायके विशेष नमन द्वारा और वचनके द्वारा उनके प्रति मनमें बहुमान लाकर) (८) सम्पूर्ण पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग के चारित्रको आश्रय करते हुए, (कश्चित्) कोई अर्थात् श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं:—

श्रीजयसेनाचार्यकृततात्पर्यवृत्तिः

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥ १ ॥

अर्थ—जिनकी सम्पत्ति परम अतीन्द्रिय सुख है, जो सुख परम चैतन्य-स्वरूप निजात्मासे उत्पन्न हुआ है, ऐसे परमात्मके साररूप सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार हो।

(अथास्यान्तराधिकारस्योपोद्घात) भूमिका-अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति । अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् । तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्तं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते । तासु द्वासप्ततिगाथासु मध्ये 'एस सुरासुर' इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं पीठिका । तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथापर्यन्तं ज्ञानप्रपञ्चः । ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्तं सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति । अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तरं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभिः प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या ।

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमतः पञ्चगाथापर्यन्तं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपणप्रपञ्चः, तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्तं ज्ञान-कण्ठिका-चतुष्टयपीठिकाव्याख्यानं क्रियते, तत्र पंचस्थलानि भवन्ति तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं, तदनन्तरं चारित्रसूचनमुख्यत्वेन 'संपज्जइ णिव्वाणं' इति प्रभृति गाथात्रयमथशुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन 'जीवो परिणमदि' इत्यादिगाथासूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया 'धम्मेण परिणदप्पा' इति प्रभृति सूत्रद्वयम् । अथ शुद्धोपयोगध्यातुः पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं च प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति 'अइसयमादसमुत्थं' इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभिस्समुदायपातनिका प्रोक्ता ।

उत्थानिका—इस प्रवचनसारकी व्याख्यामें मध्यम-रुचि-धारी शिष्यको समझानेके लिये मुख्य तथा गौण रूपसे अंतरंग तत्व (निज आत्मा) और बाह्य तत्व (अन्य पदार्थ) इनको वर्णन करने के लिये पहले ही एक सौ एक गाथामें ज्ञानाधिकारको कहेंगे। इसके पीछे एकसौ तेरह गाथाओंमें दर्शनका अधिकार कहेंगे। उसके पीछे सतानवै गाथाओंमें चारित्रका अधिकार कहेंगे। इस तरह समुदायसे तीन सौ ग्यारह सूत्रोंसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीन महा-अधिकार हैं। अथवा टीकाके अभिप्रायसे सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार चूलिका सहित अधिकार तीन हैं।

इन तीन अधिकारोंमें पहले ही ज्ञान नामके महा अधिकारमें बहत्तर गाथा पर्यंत शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहेंगे। इन ७२ गाथाओंके मध्यमें 'एस सुरासुर' इस गाथाको आदि लेकर पाठ क्रम से चौदह गाथा पर्यंत पीठिकारूप कथन है जिसका व्याख्यान कर चुके हैं। इसके पीछे ७ सात गाथाओं तक सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि करेंगे। इसके पीछे तेतीस गाथाओंमें ज्ञानका वर्णन है फिर अठारह गाथा तक सुखका वर्णन है। इस तरह अन्तर अधिकारोंसे शुद्धोपयोग का अधिकार है। आगे पचीस गाथा तक ज्ञान-कण्ठिका-चतुष्टयको प्रतिपादन करते हुए दूसरा अधिकार है। इसके पीछे चार स्वतंत्र गाथाएं हैं। इसके पीछे चार स्वतंत्र गाथाएं हैं। इस तरह एकसौ एक गाथाओंके द्वारा प्रथम महा अधिकारमें समुदाय-पातनिका जाननी चाहिये।

यहां पहली पातनिकाके अभिप्रायसे पहले ही पांच गाथाओं तक पांच परमेष्ठीको नमस्कार आदिका वर्णन है, इसके पीछे सात गाथाओं तक ज्ञानकंठिका चतुष्टयकी पीठिकाका व्याख्यान है इनमें भी पांच स्थान हैं। जिसमें आदिमें नमस्कारकी मुख्यतासे पांच गाथाएं हैं, फिर चारित्रकी सूचनासे 'संपज्जइ णिव्वाणं' इत्यादि तीन गाथाएं हैं, फिर शुभ अशुभ शुद्ध उपयोगकी सूचनाकी मुख्यतासे 'जीवो परिणमदि' इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर उनके फल कथनकी मुख्यतासे 'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर शुद्धोपयोगको ध्यानेवाले पुरुषके उत्साह बढ़ानेके लिये तथा शुद्धोपयोगका फल दिखानेके लिये पहली गाथा है। फिर शुद्धोपयोगी पुरुषका लक्षण कहते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह 'अइसइमादसमुत्थं' को आदि लेकर दो गाथाएं हैं। इस तरह पीठिका नामके पहले अन्तराधिकारमें पांच स्थलके द्वारा चौदह गाथाओंसे समुदाय-पातनिका कही है।

अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैक-लक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गति-संसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्तसमस्तशत्रु-मित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः, श्रीवर्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनम-स्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

निकटभव्य शिवकुमारको सम्बोधनके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यने यह ग्रन्थ रचा है, वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वसंवेदनसे उत्पन्न होनेवाले परमानन्द-मई एक लक्षणके धारी सुख रूपी अमृतसे विपरीत चार गति-मई संसारके दुःखोंसे भयभीत थे। जिनमें परम भेदज्ञानके द्वारा अनेकान्तके प्रकाशका माहात्म्य उत्पन्न होगया था, जिन्होंने सर्व खोटी नयोंके एकान्तका हठ दूर कर दिया था तथा जिन्होंने सर्व शत्रु मित्र आदिका पक्षपात छोड़कर व अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त सार, और आत्महितकारी व अविनाशी तथा पंच परमेष्ठीके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले, मोक्ष लक्ष्मी रूपी पुरुषार्थ को अंगीकार किया था, श्री वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेवको आदि लेकर भगवान पांच परमेष्ठियों को द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा नमस्कार करते हैं।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥

एषः सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्द्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥१॥

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥

शेषान् पुनः तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणान् च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥२॥

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥

तान् तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकं एव प्रत्येकं ।
वन्दे च वर्तमानान् अर्हतः मानुषे क्षेत्रे ॥३॥

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥४॥

कृत्वा अर्हद्भ्यः सिद्धेभ्यः तथा नमः गणधरेभ्यः ।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यः च इति सर्वेभ्यः ॥४॥

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि साम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती ॥५॥

तेषां विशुद्धदर्शज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य ।
उपसम्पद्ये साम्यं यतः निर्वाणसंप्राप्तिः ॥५॥

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं,

धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिनां तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारम्, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥ १ ॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥

तदन्वेतानेव पञ्चपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमङ्गलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवन्दनाभिधानेन संभावयामि ॥ ३ ॥

अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणति-वन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनवलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ॥ ४ ॥ तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसम्प्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसम्प्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः । एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं सम्प्रतिपन्नः ॥५॥

अन्वयार्थ—[एषः] यह (मैं कुन्दकुन्द) [सुरासुर-मनुष्येन्द्रवन्दितम्] सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रों से वन्दित [धौतघातिकर्ममलम्] चार घातियारूप कर्म-मलको धो डालने वाले [तीर्थम्] तीर्थस्वरूप भव्य जीवोंको संसार-समुद्रसे तारने वाले [धर्मस्य कर्तारम्] और धर्मके कर्ता (प्रवर्तक) ऐसे [वर्धमानम्] वर्धमान नामक अन्तिम तीर्थंकरको प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

[पुनः] फिर-साथ ही [विशुद्ध-सद्भावान्] विशुद्ध स्वभाव वाले [स-सर्व-सिद्धान्] सब सिद्धात्माओं सहित [शेषान् तीर्थंकरान्] अवशेष ऋषभादि पार्श्व पर्यन्त-तेईस तीर्थंकरों को [च] और [ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार,

तप-आचार एवं वीर्याचार रूप आचारोंके परिपालक [श्रमणान् श्रमणों] (निर्ग्रन्थ गुरुओं) को भी [प्रणमामि] प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

[तान् तान् सर्वान्] उन उन सबकी-पूर्वोक्त चौबीस तीर्थंकर, सब सिद्ध और आचार्यों, उपाध्याय व सर्व-साधु स्वरूप श्रमणोंकी [मानुषे क्षेत्रे] तथा मनुष्य लोकमें [वर्तमानान्] विद्यमान [अर्हतः] अरहंतोंकी [च] भी [समकं समकम्] साथ साथ-समुदायके रूपमें [प्रत्येकम् एव प्रत्येकम्] अथवा प्रत्येक प्रत्येककी [वन्दे] वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

[इति] इसप्रकार [अर्हद्भ्यः] अरहंतोंको [सिद्धेभ्यः] सिद्धोंको [तथा] और [गणधरेभ्यः] गणधरोंको-आचार्योंको [अध्यापकवर्गेभ्यः] उपाध्यायों को [सर्वेभ्यः साधुभ्यः] तथा सब ही साधुओंको [नमः कृत्वा] नमस्कार करके [तेषाम्] उन पांचों परमेष्ठियोंके [विशुद्ध-दर्शन-ज्ञानप्रधानाश्रमम्] निर्मल ज्ञान-दर्शनकी प्रधानता वाले आश्रमको [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्यम्] समताभावस्वरूप वीतराग चारित्रका [उपसम्पद्ये] आश्रय लेता हूँ [यतः] जिसकी सहायतासे [निर्वाणसम्प्राप्तिः] मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ४-५ ॥

स्व-संवेदन प्रत्यक्षका विषयभूत होकर दर्शन-ज्ञानरूप सामान्य स्वरूप वाला यह मैं (कुन्दकुन्दाचार्य) सर्व प्रथम उन परम भट्टारक, देवाधिदेव, परमेश्वर, परम-पूज्य एवं निर्मल कीर्तिवाले श्री-वर्धमान (अन्तिम तीर्थंकर) देवको प्रणाम करता हूं, जो वर्तमानमें चल रहे तीर्थ के नायक, सुरेन्द्र (इन्द्र), धरणेन्द्र और नरेन्द्रोंसे-तीनों लोकोंके अधिपतियोंसे वन्दित होनेके कारण तीनों लोकोंके अद्वितीय गुरु, घातिया कर्मरूप मैलके धो डालनेसे समस्त लोक के अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसी अनन्त शक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्यसे सुशोभित योगी जनोंके तीर्थ होनेसे उनके तारनेमें समर्थ, और धर्मके प्रवर्तक होनेसे शुद्ध स्वरूपवाली प्रवृत्तिके विधाता (कर्ता) हैं ॥ १ ॥ तत्पश्चात्-श्री वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करनेके अनन्तर—विशुद्ध स्वभाव वाले होनेसे जिस प्रकार प्रथमादि सोलह तावोंको प्राप्त उत्तम जातिके सुवर्णको अन्तिम तावसे उतारने पर वह अपने विशुद्ध व निर्मल स्वभावको प्राप्त होता है उसी प्रकार जो उस सुवर्णके समान विशुद्ध दर्शन-ज्ञान रूप स्वभावको प्राप्त कर चुके हैं ऐसे अतीत तीर्थके शेष अधिनायकोंको (वृषभादि पार्श्व पर्यन्त तेईस तीर्थंकरोंको), सब सिद्धोंको, तथा ज्ञानाचार दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार रूप पांच प्रकारके आचारसे युक्त होनेके कारण जिनके अतिशय शुद्ध उपयोगकी भूमिकाकी सम्भावना हो चुकी है, अर्थात् जो शुद्ध उपयोगकी प्राप्तिके अभिमुख हैं, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुत्व विशेषणोंसे भेदको प्राप्त हुए श्रमणोंको—निर्ग्रन्थ गुरुओंको—भी प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

तत्पश्चात् विविध व्यक्तियोंमें व्याप्त रहने वाले इन्हीं पांचों परमेष्ठियोंका मैं इस समय इस भरत क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थंकरोंकी सम्भावनाके न होने पर भी विदेह क्षेत्र में तो उनकी सम्भावना है ही, अतः मनुष्य क्षेत्र-वर्ती (अढाई द्वीपस्थ पन्द्रह कर्म-भूमियों में वर्तमान) तीर्थंकरों के साथ वर्तमान कालको विषयभूत करके—वर्तमान कालमें अवस्थित जैसे मानकर-समुदायरूप में उन सबको साथ साथ तथा पृथक् पृथक् रूपसे भी मोक्ष-लक्ष्मीके स्वयंवर स्वरूप उत्कृष्ट जिन दीक्षा-कल्याणकके अवसरोचित मंगलाचरणभूत कृतिकर्म नामक शास्त्रमें प्ररूपित वंदनाके नामसे सम्भावना करता हूं—उसके प्रति प्रणामादिके रूपमें आदर व्यक्त करता हुआ आराधन करता हूं ॥ ३ ॥

इस प्रकारसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओंको प्रणाम व वंदनाके नामसे प्रवृत्तिमें आये हुए द्विविधतारूप द्वैत द्वारा भव्य-भावक, आराध्य-आराधक भावसे वृद्धङ्गत अतिशय गाढ़ आपसमें एक-मेक हो जानेके बलसे समस्त स्व-पर भेदके विलीन हो जाने पर जिसमें अद्वैतभाव (एकत्व या अभेद) आ चुका है ऐसे अद्वैत नमस्कारको करके उन्हीं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओंके निर्मल ज्ञान व दर्शनकी प्रधानता से स्वभावतः शुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभावरूप आत्म-तत्वके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और उसीके अवबोधरूप सम्यज्ञानको प्राप्त कराने वाले आश्रमको प्राप्त करके स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न सम्पत्तिशाली होता हुआ कुछ कषायके अंशके जीवित रहनेसे पुण्य-बन्धकी प्राप्तिके कारणभूत सरागचारित्रके क्रममें आ पड़नेपर भी उसको दूर लांघकर समस्त कषाय रूप कलि-कलंकसे भिन्न होनेके कारण जो वीतराग चारित्र नामक समताभाव मुक्ति प्राप्तिका कारणभूत है उसका आश्रय लेता हूं—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकाग्रताको प्राप्त हुआ हूं, इस प्रकार प्रतिज्ञा का अभिप्राय है। इस प्रकार यह साक्षात् मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ है ॥ ४-५ ॥

विशेषार्थ—यहां भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने मुक्तिके कारण-भूत प्रवचनसार नामक इस ग्रन्थको प्रारम्भ करते हुए सर्व प्रथम उन अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार किया है, जिनका कि वर्तमान में तीर्थ चल रहा है। इसके पश्चात् उन्होंने आदिनाथ प्रभृति उन शेष तेईस तीर्थंकरोंको भी नमस्कार किया है, जिनका तीर्थ यथासमय भूतकालमें चलता रहा है। साथ ही उन्होंने सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और सर्वसाधुओं को भी नमस्कार किया है। फिर उन्होंने मनुष्यलोकमें वर्तमान सब ही अरहंतों को समुदायरूपमें

और पृथक् पृथक भी प्रत्येक की वंदना की है। अन्तमें उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि इस प्रकारसे मैं अरहंतों, सिद्धों, गणधरों और अध्यापक-वर्गके रूपमें आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओंको भी नमस्कार करके उनके विमल दर्शन-ज्ञानादिस्वरूप निश्चय रत्नत्रयको प्राप्त करानेवाले आश्रमका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वीतराग चारित्र से सम्पन्न होता हूँ। चूंकि सरागचारित्र संवर निर्जरा के साथ पुण्यबन्धका भी कारण है और मोक्षका परम्परा कारण होनेपर भी साक्षात कारण न होने से उन्होंने उसकी उपेक्षा की है और साम्यनामसे प्रसिद्ध एक वीतराग चारित्रसे अपनेको सम्पन्न—संपत्तिशाली बतलाया है, कारण कि परमानन्द स्वरूप मुक्तिका कारण एक मात्र वही है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने प्रतिज्ञाका यह अभिप्राय सूचित किया है कि मैं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप एकाग्रता को प्राप्त हुआ हूँ, यही मेरा प्रतिज्ञात अर्थ है। कारण कि उक्त रत्नत्रयकी एकतारूप एकाग्रता ही साक्षात् मोक्षका मार्ग है।

यहां वृत्तिकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पांच परमेष्ठियों के लिये किये गये नमस्कारको द्वैत व अद्वैत रूप दोनों प्रकारका बतलाया है। द्वैत तो उसमें इसलिये है कि प्रणाम व वंदना के कर्ता तो आचार्य कुन्दकुन्द हैं तथा उस प्रणाम व वंदनाके विषय हैं उपर्युक्त पांचों परमेष्ठी। इस प्रकार जहां उपास्य-उपासकका भेद है वहां उनको किया गया नमस्कार द्वैत ही हो सकता है। पर जब जीव निश्चय रत्नत्रयकी एकता रूप एकाग्रताको प्राप्त होता है तब उस समय निर्विकल्पक समाधिमें चूंकि उक्त प्रकार का उपास्य-उपासक आदि किसी प्रकारका द्वैतभाव नहीं रहता, इसीलिये ऐसा नमस्कार अद्वैत रूप ही होता है ॥१-५॥

जयसेनाचार्य कृत टीका—

पणमामीत्यादिपदखण्डनरूपेण व्याख्यानं क्रियते—पणमामि प्रणमामि। स कः कर्ता ? एस एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमनाः स्वसंवेदनप्रत्यक्षः। कम् ? वड्ढमाणं अवसमन्ताद्द्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्द्धमानः। 'अवाप्योरलोपः' इति लक्षणेन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, तं रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतत्त्वोपदेशकं श्रीवर्द्धमानतीर्थंकरपरमदेवम्। क्व प्रणमामि ? प्रथमत एव। किं विशिष्टम् ? सुरासुरमणुसिदवंदिदं त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशैः सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम्। पुनरपि किं विशिष्टम् ? धोदघाइकम्ममलं परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषां पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम्। पुनश्च किं लक्षणम् ? तित्थं दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात्, अन्येषां तरणोपाय-

भूतत्वाच्च तीर्थम् । पुनश्च किं रूपम् ? धम्मस्स कत्तारं निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य कर्तारम् । इति क्रिया-कारकसम्बन्धः । एवमन्तिमतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ १ ॥ तदनन्तरं प्रणमामि । कान् ? सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे शेषतीर्थकरान् पुनः ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि । कथंभूतान् ? विसुद्धसब्भावे निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञान-दर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान् । समणे य श्रमण-शब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च । किंलक्षणान् ? णाणदंसणचरित्ततवचीरियायारे सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचारोपेतानिति । एवं शेषत्रयोविंशतितीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ २ ॥ अथ ते ते सव्वे तांस्तान् पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिनः सर्वान् । वंदामि य वन्दे अहं कर्ता । कथम् ? समगं समगं समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत् । पुनरपि कथम् ? पत्तेयमेव पत्तेयं प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येकं प्रत्येकम् । न केवलमेतान् वन्दे, अरहंते अर्हतः । किंविशिष्टान् ? वट्टंते माणुसे खेत्ते वर्तमानान् । क्व ? मानुषे क्षेत्रे । तथाहि— साम्प्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थितसीमन्धरस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रभृतितीर्थकरैः सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो नमस्करोमि । कया करणभूतया ? मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरमण्डपभूते जिनदीक्षाक्षणे मंगलाचारभूतया अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगभक्त्या चेति । एवं पूर्वविदेहतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥ अथ किच्चा कृत्वा । कम् ? णमो नमस्कारम् । केभ्यः ? अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव अर्हत्सिद्ध-गणधरोपाध्याय-साधुभ्यश्चैव । कतिसंख्योपेतेभ्यः ? सव्वेसिं सर्वेभ्यः । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारोपसंहारोऽयम् ॥ ४ ॥ एवं पंचपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा किं करोमि ? उवसंपयामि उपसंपद्ये समाश्रयामि । किम् ? सम्मं शाम्यं चारित्रम् ? यस्मात् किं भवति ? जत्तो णिव्वाणसंपत्ती यस्मान्निर्वाणसंप्राप्तिः । किं कृत्वा पूर्वम् समासिज्ज समासाद्य प्राप्य । कम् ? विसुद्धणाणदंसणपहाणासमं विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषां संबन्धित्वेन । तेसिं तेषां पूर्वोक्तपरमेष्ठिनामिति । तथाहि— अहमाराधकः, एते चार्हदादय आराध्या इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । इत्येवंलक्षणं पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पंचपरमेष्ठिसम्बन्धिनं द्वैताद्वैतनमस्कारं कृत्वा । ततः किं करोमि ? रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदज्ञानं तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञान-दर्शनस्वभावम् मठचैत्यात्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षणम् भावाश्रमरूपं प्रधानाश्रमं प्राप्य । तत्पूर्वक्रमायातमपि सरागचारित्रं पुण्यबंधकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपं वीतरागचारित्रमहमाश्रयामीति भावार्थः ।

एवं प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतम् ॥ ५ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एस) यह जो मैं ग्रन्थकार इस ग्रन्थको करनेका उद्यमी भया हूँ और अपने ही द्वारा अपने आत्माका अनुभव करनेमें लवलीन हूँ सो (सुरासुरमणुसिंद-वंदिदं) तीन जगतमें पूजने योग्य अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंके आधारभूत अर्हंतपदमें विराजमान होनेके कारणसे तथा इस पदके चाहनेवाले तीन भुवनके बड़े पुरुषों द्वारा भले प्रकार जिनके चरणकमलोंकी सेवा की

गई है इस कारणसे स्वर्गवासी देवों और भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवोंके इन्द्रोंसे वंदनीक, (धोदघाइकम्ममलं) परम आत्म-लवलीनता रूप समाधि भावसे जो रागद्वेषादि मलोंसे रहित निश्चय आत्मीक सुखरूपी अमृतमय निर्मल जल उत्पन्न होता है उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके मलको धोनेवाले अथवा दूसरोंके पापरूपी मलके धोनेके लिये निमित्त कारण होनेवाले, (धम्मस्स कत्तारं) रागादिसे शून्य निज आत्मतत्वमें परिणमन रूप निश्चय धर्मके उपादान कर्ता अथवा दूसरे जीवोंको उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार धर्मका उपदेश देनेवाले (तित्थं) तीर्थ अर्थात् देखे, सुने, अनुभवे इन्द्रियोंके विषय सुखकी इच्छा रूप जलके प्रवेशसे दूरवर्ती, परमसमाधि रूपी जहाज पर चढ़कर संसारसमुद्रसे तिरनेवाले अथवा दूसरे जीवोंको संसार सागरसे पार होनेका उपाय-मय एक जहाज स्वरूप (वड्ढमाणं) सब तरह अपने उन्नतरूप ज्ञानको धरनेवाले तथा रत्नत्रय मय धर्म तत्वके उपदेश करनेवाले श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेवको (पणमामि) नमस्कार करता हूँ ।।।१।।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुण) फिर मैं (विसुद्धसब्भावे) निर्मल आत्माके अनुभवके बलसे सर्व आवरणको दूरकर केवल ज्ञान, केवल दर्शन स्वभावको प्राप्त होनेवाले (सेसे तित्थयरे) शेष वृषभ आदि पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकरोंको (ससव्वसिद्धे) और शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप सर्व सिद्ध महाराजोंको (य) तथा (णाणदंसणचरित्ततववीरियाथारे) सर्व प्रकार विशुद्ध द्रव्य गुण पर्याय-मय चैतन्य वस्तुमें जो रागद्वेष आदि विकल्पोंसे रहित निश्चल चित्तका वर्तना उसमें अंतर्भूत जो व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य्य सहकारी कारणसे उत्पन्न निश्चय पंचाचार उसमें परिणमन करनेसे यथार्थ पंचाचारको पालनेवाले (समणे) श्रमण शब्दसे वाच्य आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं को नमस्कार करता हूँ। ।।२।।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ते ते सव्वे) उन उन पूर्वमें कहे हुए पंच परमेष्ठियोंको (समगं समगं) समुदाय रूप वंदनाकी अपेक्षा एक साथ एक साथ तथा (पत्तेयं पत्तेयं) प्रत्येकको अलग २ वंदनाकी अपेक्षा प्रत्येक प्रत्येकको (य) और (माणुसे खेत्ते) मनुष्योंके रहनेके क्षेत्र ढाईद्वीपमें (वट्टंते) वर्तमान (अरहंते) अरहंतोंको (वंदामि) मैं वन्दना करता हूँ।

भाव यह है कि वर्तमानमें इस भरतक्षेत्रमें तीर्थंकरोंका अभाव है परन्तु ढाईद्वीपके पांच विदेहोंमें सीमन्धरस्वामी तीर्थंकर आदि २० तीर्थंकर परमदेव विराजमान हैं, इन सबके साथ उक्त पहले कहे हुए पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करता हूँ। नमस्कार दो प्रकारका होता है द्रव्य और भाव, इनमें भाव-नमस्कार मुख्य है। इस भाव नमस्कारको मैं मोक्षकी साधनरूप सिद्ध-भक्ति तथा योग-भक्तिसे करता हूँ। मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वयम्वर मंडप रूप जिनेन्द्रके दीक्षा-कालमें मंगलाचार रूप तो अनन्त ज्ञानादि सिद्धके गुणोंकी भावना करनी उसको सिद्धभक्ति कहते हैं। तैसे ही निर्मल समाधिमें परिणमन रूप परम योगियोंके गुणोंकी अथवा परम योगके गुणोंकी भावना करना सो योग-भक्ति है। इस तरह इस गाथामें विदेहोंके तीर्थंकरोंके नमस्कारकी मुख्यतासे कथन किया गया है। ।।३।।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सव्वेसिं) सब ही (अरहंताणं) अरहंतोंको (सिद्धाणं) आठ कर्म रहित सिद्धोंको (गणहराणं) चार ज्ञानके धारी गणधर आचार्योंको (तह) तथा (अज्झावयवग्गाणं)

उपाध्याय समूहको और (चेव) तैसे ही (साहूणं) साधुओंको (णमो किच्चा) भाव और द्रव्यसे नमस्कार करके आगे कहूंगा जो करना है। ॥४॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए पांच परमेष्ठियोंके (विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं) विशुद्ध दर्शन ज्ञानमई लक्षणधारी प्रधान आश्रमको (समासेज्ज) भलेप्रकार प्राप्त होकर (सम्मं) शाम्यभाव रूप चारित्रको (उवसंपयामि) भलेप्रकार धारण करता हूँ (जत्तो) जिस साम्यभावरूप चारित्रसे (णिव्वाणसंपत्ती) निर्वाणकी प्राप्ति होती है। ॥५॥

यहां टीकाकार खुलासा करते हैं कि मैं आराधना करनेवाला हूँ तथा ये अर्हंत आदिक आराधना करनेके योग्य हैं ऐसे आराध्य आराधकका जहां विकल्प है उसे द्वैत नमस्कार कहते हैं तथा रागद्वेषादि औपाधिक भावोंके विकल्पोंसे रहित जो परम समाधि है उसके बलसे आत्मामें ही आराध्य आराधक भाव होना अर्थात् दूसरा कोई भिन्न पूज्य पूजक नहीं है, मैं ही पूज्य हूँ, मैं ही पुजारी हूं, ऐसा एकत्वभाव थिरता रूप होना उसे अद्वैत नमस्कार कहते हैं। पूर्व गाथाओंमें कहे गए पांच परमेष्ठियोंको इस लक्षण रूप द्वैत अथवा अद्वैत नमस्कार करके मठ चैत्यालय आदि व्यवहार आश्रमसे विलक्षण भावाश्रम रूप जो मुख्य आश्रम है उसको प्राप्त होकर मैं वीतराग चारित्रको आश्रय करता हूँ। अर्थात् रागादिकोंसे भिन्न यह अपने आत्मासे उत्पन्न सुख स्वभावका रखनेवाला परमात्मा है सो ही निश्चयसे मैं हूँ ऐसा भेद ज्ञान तथा वही परमात्मस्वभाव सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचिरूपी सम्यग्दर्शन है इस तरह दर्शन ज्ञान स्वभावमई भावाश्रम है। इस भावाश्रम-पूर्वक आचरणमें आता हुआ जो पुण्य-बंधका कारण सरागचारित्र है उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चल शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप वीतराग चारित्र भावको मैं ग्रहण करता हूँ।

अथायमेव वीतराग-सरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः, तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात् सरागचारित्रं हेयम् ॥ ६॥

आगे स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ही वीतराग चारित्र को अभीष्ट फल (मोक्ष) का जनक होनेसे उपादेय और सराग चारित्र को अनिष्ट-फल स्वर्गादिकी प्राप्ति-का कारण होने से हेय बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[दर्शन-ज्ञानप्रधानात्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता युक्त [चारित्रात्] चारित्र से [जीवस्य] जीवोंको [देवासुर-मनुजराजविभवैः] देवराज, असुरराज (धरणेन्द्र) और मनुजराज (चक्रवर्ती) की विभूतियों के साथ [निर्वाणम्] निर्वाण भी [संपद्यते] प्राप्त होता है ।।६।।

टीका—दर्शन-ज्ञान की प्रमुखता युक्त वीतराग चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है और उस ही (दर्शन-प्रधान) सराग चारित्र से देवराज असुरराज और मनुजराज के वैभव का, जो परिणाम में क्लेश-जनक है, संबन्ध प्राप्त होता है। इसलिये मुमुक्षु जीवको इष्ट फल वाला होने से वीतराग-चारित्र उपादेय है और अनिष्ट फल-वाला होने से सराग चारित्र हेय है ।। ६ ।।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ जो सुखका साधक ज्ञान संयमाचरण में अनुराग होता है उसका नाम सराग चारित्र है और पुण्यबन्धका कारण होनेसे इन्द्रादिकों की विभूति को प्राप्त कराता है। परन्तु यह सब विभूति वस्तुतः क्लेश-जनक ही होती है। साक्षात् निराकुल सुखकी सम्भावना उससे नहीं है। इसीलिये साक्षात् शाश्वतिक निर्बाध सुख के अभिलाषी उसे हेय ही मानते हैं। यह बात अलग है कि जब कि जीवकी शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिति नहीं होती है तब उन्हें अपेक्षाकृत वह भी ग्राह्य होता है, पर बुद्धि उसमें उनकी हेय रूप ही रहती है। इसके विपरीत जो रागभावके विना संयम रूप आचरण होता है वह चूंकि साक्षात् मोक्षका कारण होता है, अत एव वह सर्वथा उपादेय ही होता है ।।६।।

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथोपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्, अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्रं हेयमित्युपदिशति —संपज्जदि संपद्यते किम् ? णिव्वाणं निर्वाणम्। कथम् ? सह। कैः ? देवासुरमणुयरायविहवेहिं देवासुरमनुष्यराजविभवैः। कस्य ? जीवस्स जीवस्य। कस्मात् ? चरित्तादो चरित्रात्। कथंभूतात् ? दंसणणाणप्पहाणादो सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति। तद्यथा—आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये

यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते । किम् ? पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम् । सरागचारित्रात्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति । असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इतिचेत् निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम् । अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेयं सरागं हेयमिति भावार्थः ॥६॥

उत्थानिका–आगे जिस वीतराग चारित्रका मैंने आश्रय लिया है वही वीतराग चारित्र प्राप्त करने योग्य अतीन्द्रिय सुखका कारण है इससे ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र अतीन्द्रिय सुखकी अपेक्षासे त्यागने योग्य है। क्योंकि वह इंद्रिय सुखका भी कारण है इससे सराग चारित्र चारित्र छोड़ने योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जीवस्स) इस जीवके (दंसणणाणप्पहाणादो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रधानता पूर्वक (चरित्तादो) सम्यक्चारित्रके पालनेसे (देवासुरमणुयराय-विहवेहिं) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा चक्रवर्ती आदि राज्यकी विभूतियोंके साथ २ (णिव्वाणं) निर्वाण (संपज्जदि) प्राप्त होती है।

प्रयोजन यह है कि आत्माके अधीन निज सहज ज्ञान और सहज आनंद स्वभाववाले अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें जो निश्चलतासे विकार रहित अनुभूति प्राप्त करना अथवा उसमें ठहर जाना सो ही है लक्षण जिसका ऐसे निश्चय चारित्रके प्रभावसे इस जीवके पराधीन इन्द्रिय-जनित ज्ञान और सुखसे विलक्षण तथा स्वाधीन अतीन्द्रिय उत्कृष्ट ज्ञान और अनंत सुख है लक्षण जिसका ऐसा निर्वाण प्राप्त होता है। तथा सराग चारित्रके कारण कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको उत्पन्न करनेवाला मुख्यतासे विशेष पुण्यबंध होता है तथा उससे परम्परासे निर्वाण प्राप्त होता है। असुरोंके मध्यमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है ? इसका समाधान यह है कि निदान करनेके भावसे सम्यक्त्वकी विराधना करके यह जीव भवनत्रिकमें उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिये। यहां भाव यह है कि निश्चय नयसे वीतराग चारित्र उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है तथा सराग चारित्र हेय अर्थात् त्यागने योग्य है।

तात्पर्य्य यह है कि हमको मोक्षका साधक निश्चय रत्नत्रयमई वीतराग चारित्रको समझना चाहिये और व्यवहार रत्नत्रयमई सराग चारित्रको उसका निमित्त कारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति--

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

स्वरूपे चरणं चारित्रम्, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः, शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

अन्वयार्थ—[चारित्रम्] चारित्र [खलु] वास्तव में [धर्मः] धर्म है [यः धर्म] और जो धर्म है [तत् साम्यम्] वह साम्य है [इति] ऐसा [निर्दिष्टम्] जिनेन्द्रों द्वारा कहा गया है। [साम्यम्] साम्य ही वास्तव में [मोहक्षोभविहीनः] मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) रहित [आत्मनः परिणामः] आत्माका परिणाम है ॥ ७ ॥

टीका—स्वरूप में चरण करना सो (स्वरूपाचरण) चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना (परसे भिन्न अपने स्वभावमें प्रवृत्ति करना) यह इसका अर्थ है, वही वस्तुका स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना, यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे (विषमता रहित सुस्थित आत्माका गुण होने से) साम्य है, और साम्य, दर्शन मोहनीय कर्म तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीवका परिणाम है ॥ ७ ॥

अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति, एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचितं भवत्येवं निश्चित्य सूत्रमिदं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्:— चारित्तं चारित्रं कर्तृ खलु धम्मो खलु स्फुटं धर्मो भवति। धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः। समो यस्तु शमः सः मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु मोहक्षोभविहीनः परिणामः। कस्य ? आत्मनः। हु स्फुटमिति। तथाहि—शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रम् तदेव चारित्रं मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति। ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते। तयोर्विध्वंसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीनः शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चय चारित्रका स्वरूप तथा उसके पर्याय नामोंके कहनेका अभिप्राय मनमें धारण करके आगेका सूत्र कहते हैं–इसी तरह आगे भी एक सूत्रके आगे दूसरा सूत्र कहना उचित है ऐसा कहते रहेंगे इस तरहकी पातनिका यथासंभव सर्वत्र जानना चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चारित्तं) चारित्र (खलु) प्रगटपने (धम्मो) धर्म है (जो धम्मो) यह धर्म है (सो समोत्ति) सो ही शम या साम्यभाव है, ऐसा (णिद्दिट्ठो) कहा गया है । (अप्पणो) आत्माका (मोहक्खोहविहीणो) मोहके क्षोभसे रहित (परिणामो) भाव है (हि) वही निश्चय करके समो) समता भाव है ।

प्रयोजन यह है कि शुद्ध चैतन्यके स्वरूपमें आचरण करना चारित्र है । यही चारित्र मिथ्यात्व रागद्वेषादि द्वारा संसरणरूप जो भाव संसार उसमें पड़ते हुए प्राणीका उद्धार करके विकार रहित शुद्ध चैतन्य भावमें धारण करनेवाला है, इससे यह चारित्र ही धर्म है । यही धर्म अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत उस रूप शीतल जलके द्वारा काम क्रोध आदि अग्निसे उत्पन्न संसार के दुःखोंकी दाहको उपशम करनेवाला है, इससे यही शम, शांतभाव या साम्यभाव है । मोह और क्षोभके ध्वंस करनेके कारणसे वही शांतभाव मोह क्षोभ रहित शुद्ध आत्माका परिणाम कहा जाता है । शुद्ध आत्माके श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शनको नाश करनेवाला जो दर्शन मोहनीय कर्म है उसे मोह कहते हैं । तथा निर्विकार निश्चल चित्तके वर्तनरूप चारित्रको जो नाश करनेवाला है, वह चारित्र मोहनीय कर्म या क्षोभ कहलाता है ।

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति । ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥ ८ ॥

अथ, आत्माके चारित्ररूप का निश्चय करते हैं ।

अन्वयार्थ—[द्रव्यम्] द्रव्य [यत्कालम्] जिस समय में [येन भावेन] जिस भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तत्कालम्] उस समय [तन्मयम्] उस रूप है [इति] ऐसा [प्रज्ञप्तम्] श्री जिनेन्द्रों द्वारा कहा है । [तस्मात्] इसी लिये [धर्मपरिणतः आत्मा] धर्म परिणत आत्मा को [धर्मः] धर्म [मन्तव्यः] जानना चाहिये ।

टीका—वास्तव में जो द्रव्य जिस समय में जिस भाव से परिणत होता है, वह द्रव्य उस समय में उसी भाव-स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है। जैसे—उष्णता रूपसे परिणत लोहे का गोला उस स्वरूप (उष्णतामय) होता है। इस कारण धर्म रूप से परिणत आत्मा धर्म ही है। इस प्रकार आत्मा की चारित्रता सिद्ध हुई (पर्याय दृष्टि से आत्मा का चारित्र से अभेद करके कथन किया है)।

यहां यह विशेषता समझना चाहिये कि पूर्व मे (गाथा ७) में कहा था कि चारित्र आत्मा का भाव है। पर इस गाथा में अभेद नय से यह कहा गया है कि जैसे उष्ण भाव से परिणत लोहे का गोला स्वयं उष्ण है—लोहे का गोला उस उष्णता से भिन्न नहीं है, वैसे ही चारित्र भाव से परिणत आत्मा भी स्वयं चारित्र है—उससे भिन्न नहीं है, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति :—

(परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तम्मयत्ति पण्णत्तं,) परिणमति येन पर्यायेण द्रव्यं कर्तृ तत्कालेन तन्मयं भवतीति प्रज्ञप्तं यतः कारणात् (तह्मा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो,) ततः कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। तद्यथा— निजशुद्धात्मपरिणतिरूपो निश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते। यतस्तेन तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणतं द्रव्यं तन्मयं भवति, ततः पूर्वोक्तधर्मद्वयेन परिणतस्तप्तायः-पिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम्। तदपि कस्मात्? उपादानकारणसदृशं हि कार्यमिति वचनात्। तच्च पुनरुपादानकारणं शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति। अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

एवं चारित्रस्य संक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अभेद नयसे इस वीतराग भावरूपी धर्ममें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वं) द्रव्य (जेण) जिस अवस्था या भावसे (परिणमदि) परिणमन करता है या वर्तन करता है (तक्कालं) उसी समय वह द्रव्य (तम्मयत्ति) उस पर्याय या भावके साथ तन्मय हो जाता है ऐसा (पण्णत्तं) कहा गया है। (तम्हा) इसलिये (धम्म परिणदो) धर्मरूप भावसे वर्तन करता हुआ (आदा) आत्मा (धम्मो) धर्मरूप (मुणेयव्वो) माना जाना चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें परिणमन होते हुए जो भाव होता है उसे निश्चय धर्म कहते हैं। तथा पंच परमेष्ठी आदिकी भक्ति रूपी परिणति या भावको व्यवहार धर्म कहते हैं। क्योंकि अपनी २ विवक्षित पर्यायसे परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्यायसे तन्मय होजाता है, इसलिये पूर्वमें कहे हुए निश्चय धर्म और व्यवहार धर्मसे परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहेके पिंडकी तरह अभेद नयसे धर्म रूप होता है, ऐसा जानना चाहिये। यह भी इसी लिये कि उपादान कारणके सदृश कार्य होता है, ऐसा सिद्धान्तका वचन है। तथा वह उपादान कारण शुद्ध अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान तथा आगमकी भाषासे शुक्ल-ध्यान शुद्ध उपादान कारण है। तथा अशुद्ध आत्मा रागादि रूपसे परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चय नयसे अपने रागादि भावोंका अशुद्ध उपादान कारण होता है।

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपा–तापिच्छराग-परिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति। यदा पुनः शुद्धेनाराग-भावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥ ९ ॥

अब जीवकी शुभस्वरूपता, अशुभस्वरूपता और शुद्धस्वरूपताका निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ—[जीव] जीव [यदा] जब [शुभेन] शुभ भावसे [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तब [शुभः भवति] स्वयं ही शुभ होता है, वही जब जब [अशुभेन] अशुभ भावसे [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तब [अशुभः भवति] स्वयं ही अशुभ होता है, और जब वही [शुद्धेन] शुद्ध भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तब [शुद्धः भवति] स्वयं शुद्ध होता है [हि] क्योंकि वह [परिणमन-स्वभावः] परिणमन स्वभाव वाला है—उत्पाद व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है।

टीका—जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है तब जपा कुसुम या तमाल पुष्प के लाल या काले रंगरूप परिणत स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता

हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है। और जब वह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता है तब शुद्ध अराग परिणत (वीतराग) स्फटिक की भांति, परिणाम स्वभाव होता हुआ शुद्ध होता है। (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है)।

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव कूटस्थ नहीं है ॥ ६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुभाशुभ-शुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीवः शुभाशुभ-शुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति :—

(जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा) जीवः कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन (सुहो असुहो हवदि) तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति। (सुद्धेण तदा सुद्धो हि) शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति। (हि) स्फुटम्। कथंभूतः सन्। (परिणामसब्भावो) परिणामसद्भावः सन्निति। तद्यथा—यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्त-कृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सरागसम्यक्त्वपूर्वकदान-पूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति। मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगपञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः। निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति। किंच जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः। अथ प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि। कथमिति चेत्—मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगि जिन-गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते हैं कि शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ऐसे तीन प्रकारके प्रयोगसे परिणमन करता हुआ आत्मा शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग स्वरूप होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदा) जब (परिणाम सब्भावो) परिणमन स्वभावधारी (जीवो) यह जीव (सुहेण) शुभ भावसे (वा असुहेण) अथवा अशुभ भावसें (परिणमदि) परिणमन करता है तब (सुहो असुहो) शुभ परिणामोंसे शुभ तथा अशुभ परिणामों से अशुभ (हवदि) होजाता है। (सुद्धेण) जब शुद्ध भावसे परिणमन करता है (तदा) तब (हि) निश्चयसे (सुद्धो) शुद्ध होता है।

इसीका भाव यह है कि जैसे स्फटिक मणिका पत्थर निर्मल होनेपर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, श्वेत उपाधिके वशसे लाल, काला, सफेद रंग रूप परिणम जाता है, तैसे यह जीव स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव होनेपर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासंभव राग सहित सम्यक्त्व पूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्योंके करनेसे तथा मुनिकी अपेक्षा मूल व उत्तर गुणोंको अच्छी तरह पालन रूप वर्तनेमें परिणमन करनेसे शुभ है, ऐसा जानना योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित अविरति भाव, प्रमादभाव,

कषायभाव व मन वचनकाय योगोंके हलन चलन रूप भाव, ऐसे पांच कारण रूप अशुभोपयोगमें वर्तन करता हुआ अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चय रत्नत्रय मय शुद्ध उपयोगसे परिणमन करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये। इसका क्या प्रयोजन है सो कहते हैं कि सिद्धांतमें जीवके असंख्यात लोकमात्र परिणाम मध्यम वर्णनकी अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ चौदह गुणस्थान रूपसे कहे गए हैं। इस प्रवचनसार प्राभृत शास्त्रमें उन्ही गुणस्थानोको संक्षेपसे शुभ अशुभ तथा शुद्ध-उपयोग रूपसे कहा गया है। सो ये तीन प्रकार उपयोग १४ गुणस्थानोंमें किस तरह घटते हैं सो कहते हैं मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे कमती २ अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्त संयत ऐसे तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्तसे लेकर क्षीणकषाय तक छः गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगि जिन और अयोगि जिन इन दो गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोगका फल है, ऐसा भाव है।)

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो॥ १०॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः॥ १०॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते, स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसङ्गात्। वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तमच्च। अतः परिणामस्वभावमेव॥ १०॥

अन्वयार्थ—[इह] लोक में [परिणामं विना] परिणाम के बिना [अर्थः नास्ति] पदार्थ नहीं है और [अर्थं विना] पदार्थ के बिना [परिणामः] परिणाम [नास्ति] नहीं है [द्रव्यगुणपर्ययस्थः] द्रव्य, गुण व पर्याय में रहने वाला [अर्थः] पदार्थ [अस्तित्वनिर्वृत्तः] (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप) अस्तित्व से बना हुआ है।

टीका—निश्चय से परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती। अर्थात् परिणाम के बिना आश्रय नहीं लेती है, उसका सद्भाव सम्भव द्रव्यादि के द्वारा होने वाले

(द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा होने वाले) परिणाम से भिन्न प्राप्तिका अभाव है क्यों कि (१) परिणाम-रहित वस्तु की गधेके सींगसे समानता है (अर्थात् परिणाम रहित वस्तुका गधेके सींगके समान अभाव है ।) (२) तथा उस वस्तु का, दिखाई देने वाले गोरस इत्यादि (दूध दही वगैरह) परिणामों के साथ, विरोध आता है ।

वस्तु के विना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता, क्योंकि स्वाश्रय-भूत वस्तु के अभाव में निराश्रय परिणाम की शून्यता का प्रसंग आता है ।

और वस्तु तो ऊर्ध्वता–सामान्य–स्वरूप द्रव्य में, सहभावी (साथ साथ रहने वाले) विशेष (भिन्न भिन्न) स्वरूप वाले गुणों में तथा क्रमभावी (क्रमशः एक के बाद एक होने वाले) विशेष (भिन्न भिन्न) स्वरूप पर्यायों में व्यवस्थित है अर्थात् रहने वाली है और उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है । इसलिये वस्तु परिणाम स्वभाव-वाली ही है।

परिणामके माने विना वस्तु सत्ता का सहारा नहीं लेती—उसके विना वस्तुका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, क्यों कि द्रव्यादि स्वरूप से वस्तु का ही परिणाम होता है जिससे कि वह (वस्तु) कभी भिन्न नहीं उपलब्ध होती—सर्वदा उस परिणाम-मय ही वह उपलब्ध होती है । इस प्रकार जब दोनों में अभेद है तब परिणाम के विना उस वस्तु की कल्पना गधे के सींग के समान ही ठहरती है । इसके अतिरिक्त वैसी अवस्था में लोक में जो दूध का परिणाम दही व घृत आदि रूप देखा जाता है उसका भी विरोध अनिवार्य होगा । इसी प्रकार वस्तु के माने विना केवल परिणाम का भी अस्तिव नहीं रह सकता है । कारण कि उस परिणाम का आश्रय तो वस्तु ही है, सो अपने आश्रयभूत उस वस्तु के विना निराधार परिणाम के अभाव का प्रसंग अनिवार्य होगा । दूसरे—वस्तु ऊर्ध्वता-सामान्य-स्वरूप द्रव्य में, सहभावी विशेष—स्वरूप गुणोंमें, तथा क्रमभावी विशेष—स्वरूप पर्यायों में व्यवस्थित रहने के कारण उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य स्वरूप अस्तित्व से निष्पन्न है ।

विशेषार्थ—वस्तुका लक्षण अर्थ–क्रिया-कारित्व है—जैसे घटका अर्थ–क्रियाकारित्व जल धारण, वस्त्र का अर्थ क्रियाकारित्व शरीराच्छादन आदि । सो यह अर्थ–क्रिया तभी बन सकती है जब वस्तु को परिणाम–स्वरूप स्वीकार किया जाय । परिणाम का अर्थ है पूर्व आकार का परित्याग (व्यय), उत्तर आकार का ग्रहण (उत्पाद) और इन दोनों ही अव-

स्थाओं में द्रव्य (ऊर्ध्वता सामान्य) का समानरूपसे अवस्थान है, इस प्रकारसे वस्तु सामान्य विशेष स्वरूप सिद्ध होती है। सामान्यका अर्थ समानता है। वह सामान्य तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य के भेद से दो प्रकार का है। इनमें सदृशतारूप जिस धर्म से अनेक वस्तुओं में एक-रूपता पायी जाती है उसका नाम तिर्यक्-सामान्य है। जैसे-काली व लाल आदि अनेक गायोंमें गोरूपता। तथा एक ही द्रव्य की उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाली अनेक अवस्थाओं में जो द्रव्य-रूपता ज्योंकी त्यों अवस्थित रहती है वह है ऊर्ध्वता-सामान्य। जैसे—एक ही सुवर्ण द्रव्य की उत्तोत्तर निष्पन्न होने वाली कड़ा व सांकल आदि अनेक अवस्थाओं में सुवर्ण सामान्य का अवस्थान। सामान्यके समान विशेष भी दो प्रकार का है १—पर्याय-विशेष और भी व्यतिरेक-विशेष। उनमेंसे एक ही द्रव्यमें जो क्रमसे अनेक अवस्थायें होती हैं-जैसे आत्मा में हर्ष विषाद आदि, उन्हें पर्याय-विशेष कहते हैं। तथा विविध पदार्थों में जो विसदृशता दृष्टिगोचर होती है वह व्यतिरेक-विशेष कहा जाता है। जैसे—गाय, भैंस और घोड़ा आदि की विसदृशता। यहां वृत्तिकार ने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि वस्तु उत्पाद-विनाशरूप होने से जब सहभावी-विशेष रूप गुणों में-जैसे जीव ज्ञान-दर्शनादि गुणों में व पुद्गल रूप-रसादि गुणों में तथा क्रमभावी विशेषरूप पर्यायों में अवस्थित रहने के साथ ही ऊर्ध्वता-सामान्य रूप ध्रौव्य में भी अवस्थित रहती है तब उसका उत्पादादि तीन रूप परिणाम से कथंचित्-पर्यायकी अपेक्षा—जैसे भेद मानना पड़ता है वैसे ही कथंचित्-द्रव्य की अपेक्षा-उससे अभेद भी अनिवार्य है। कारण कि ऐसा मानने के विना-सर्वथा भेद अथवा अभेद की कल्पनामें-उन दोनों का (वस्तु व परिणाम) का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है।

जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनोः परस्परं कथंचिदभेदं दर्शयति :—

(णत्थि विणा परिणामं अत्थो,) मुक्तजीवे तावत्कथ्यते—सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणामं विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति। कस्मात्? संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात्। (अत्थं विणेह परिणामो) मुक्तात्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायरूपः शुद्धपरिणामो नास्ति। कस्मात्? संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात्। (दव्वगुणपज्जयत्थो,) आत्मस्वरूपं द्रव्यम्, तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणाः, सिद्धरूपः पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणेषु द्रव्य-गुण-पर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्य-गुण-पर्यायस्थो भवति। स कः कर्ता? (अत्थो) परमात्मपदार्थः, सुवर्णद्रव्य-पीतत्वादिगुण-कुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत्। पुनश्च किंरूपः? (अत्थित्तणिव्वत्तो) शुद्धद्रव्य-गुण-पर्यायाधारभूतं यच्छुद्धास्तित्वं

तेन निर्वृत्तोऽस्तित्वनिर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्य-गुण-पर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदेवेति। अयमत्र तात्पर्यार्थः। यथा-मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रयं परस्पराविनाभूतं दर्शितं तथा संसारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नर-नारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासम्भवं विज्ञेयम्। तथैव पुद्गलादिष्वपि। एवं शुभाशुभशुद्धपरिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १० ॥

उत्थानिका—आगे जो कोई पदार्थको सर्वथा अपरिणामी नित्य कूटस्थ मानते हैं तथा जो पदार्थको सदा ही परिणमनशील क्षणिक ही मानते हैं, इन दोनों एकान्त भावोंका निराकरण करते हुए परिणाम और परिणामी जो पदार्थ उनसें परस्पर कथंचित् अभेदभाव दिखलाते हैं। अर्थात् जिसमें अवस्थाएं होती हैं वह द्रव्य तथा उसकी अवस्थाएं किसी अपेक्षासे एक ही हैं ऐसा बताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अत्थो) पदार्थ (परिणामं विना) पर्यायके विना (णत्थि) नहीं रहता है। यहां वृत्तिकारने मुक्त जीवमें घटाया है कि सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणामको छोड़कर शुद्ध जीव कोई अन्य पदार्थ नहीं होता है क्योंकि यद्यपि परिणाम और परिणामीमें संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है, तो भी प्रदेश-भेद न होनेसे अभेद है। तथा (इह) इस जगतमें (परिणामो) परिणाम (अत्थं विणा) पदार्थके विना नहीं होता है। अर्थात् शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणति मुक्तरूप आत्म-पदार्थके विना नहीं होती है क्योंकि परिणाम परिणामीमें संज्ञादिसे भेद होनेपर भी प्रदेशोंका भेद नहीं है। (दव्वगुणपज्जयत्थो) द्रव्य गुण पर्यायोंमें ठहरा हुआ (अत्थो) पदार्थ (अत्थित्तणिव्वत्तो) अपने अस्तित्वमें रहनेवाला अर्थात् अपने अस्तिपनेसे सिद्ध होता है।

(यहां शुद्ध आत्मामें लगाकर कहते हैं कि आत्म-स्वरूप द्रव्य है, उसमें केवल ज्ञानादि गुण हैं तथा सिद्धरूप पर्याय है। शुद्ध आत्म-पदार्थ इस तरह द्रव्य गुण पर्यायमें ठहरा हुआ है जैसे सुवर्ण पदार्थ, सुवर्ण द्रव्य पीतपना आदि गुण तथा कुंडलादि पर्यायोंमें तिष्ठनेवाला है। ऐसा शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायका आधारभूत जो शुद्ध अस्तिपना उससे परमात्म पदार्थ सिद्ध है जैसे सुवर्ण पदार्थ सुवर्ण द्रव्य गुण पर्यायकी सत्तासे सिद्ध है। (यहां यह तात्पर्य है कि जैसे मुक्त जीवमें द्रव्य गुण पर्याय परस्पर अविनाभूत दिखाए गए हैं तैसे संसारी जीवमें भी मतिज्ञानादि विभाव गुणोंके तथा नर नारकादि विभाव पर्यायोंके होते हुए नय विभागसे यथासंभव जान लेना चाहिये। तैसे ही पुद्गलादिके भीतर भी।)

इस तरह शुभ परिणामोंकीमुख्यतासे व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥१०॥

अथ चारित्रपरिणामसंम्पर्कसंम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादान-हानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ।। ११ ॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति । यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति । अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ।। ११ ।।

अब चारित्र-परिणाम के साथ सम्बन्ध रखने से उत्पन्न होने वाले शुद्ध और शुभ परिणामों के क्रमसे ग्रहण और त्याग के लिये शुद्ध-परिणाम के ग्रहण और शुभ-परिणाम के त्याग के लिये उनके फल का विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[धर्मेण परिणतात्मा] धर्म से (चारित्र) से परिणत स्वरूपवाला [आत्मा] यह आत्मा [यदि] यदि [शुद्धसम्प्रयोगयुतः] शुद्ध उपयोग सहित हो जाता है तो वह [निर्वाणसुखम्] मोक्ष सुख को [आप्नोति] पाता है [वा] और यदि वह [शुभोपयुक्तः] शुभ उपयोग वाला होता है तो [स्वर्गसुखम्] स्वर्गके सुखको [प्राप्नोति] प्राप्त करता है।

टीका—जब यह आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होकर शुद्धोपयोग रूप परिणति को धारण करता है तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से रहित होने के कारण अपना कार्य करने में समर्थ चारित्र-वाला होता हुआ साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है। किन्तु जब वही आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होता हुआ भी शुभोपयोग रूप परिणति से संगत (युक्त) होता है—सराग-चारित्र को धारण करता है—तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से सहित होने के कारण अपना कार्य करने में असमर्थ वह कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्र से युक्त होकर स्वर्ग सुख रूप बन्धन को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—जैसे अग्नि से सन्तप्त घी से सिक्त—जला हुआ पुरुष जलन से दुःख को प्राप्त करता है। इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

भावार्थ—छठे से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि को अभेद-दृष्टि से चारित्र-परिणत-आत्मा कहते हैं। उसी को भेददृष्टि से सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोगी या वीतराग चारित्र का

धारी कहते हैं जिसका फल साक्षात् मोक्ष है और छठे में शुभोपयोगी या सराग चारित्रवाला कहते हैं जिसका फल (परम्परा मोक्ष होने पर भी) साक्षात् पुण्यबंध रूप स्वर्ग है। इस सबंध में शब्द "कथंचित्" ध्यान देने योग्य है ॥ ११ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ वीतराग-सरागचारित्रसंज्ञयोः शुद्ध-शुभोपयोगपरिणामयोः संक्षेपेण फलं दर्शयतिः—

(धम्मेण परिणदप्पा अप्पा,) धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूपः सन्नयमात्मा (जदि सुद्धसंपयोगजुदो) यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसंप्रयोगपरिणामयुतः परिणतो भवति (पावइ णिव्वाणसुहं) तदा निर्वाणसुखं प्राप्नोति । (सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं) शुभोपयोगयुतः परिणतः सन् स्वर्गसुखं प्राप्नोति । इतो विस्तरम्—इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षणः सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामः शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते । स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्रं भण्यते । "चारित्तं खलु धम्मो" इति वचनात् । तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति । तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं तेन निर्वाणं लभते । निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते । पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

उत्थानिका—आगे वीतराग चारित्र रूप शुद्धोपयोग तथा सराग चारित्र रूप शुभोपयोग परिणामोंका संक्षेपसे फल दिखाते हैं:—

(परिणदप्पा) परिणमन स्वरूप होता हुआ (अप्पा) यह आत्मा (जदि) यदि (सुद्धसंपयोगजुदो) शुद्धोपयोग नामके शुद्ध परिणाममें परिणत होता है (णिव्वाणसुहं) तब निर्वाणके सुखको (पावदि) प्राप्त करता है। (य) और यदि (सुहोवजुत्तो) शुभोपयोगमें परिणमन करता है तो (सग्गसुहं) स्वर्गके सुखको पाता है।

यहां विस्तार यह है कि यहां धर्म शब्दसे अहिंसा लक्षण धर्म, मुनि श्रावकका धर्म, उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म अथवा रत्नत्रय स्वरूप धर्म वा मोह क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम या शुद्ध वस्तुका स्वभाव ग्रहण किया जाता है। वही धर्म अन्य पर्यायसे अर्थात् चारित्र भावकी अपेक्षा चारित्र कहा जाता है। यह सिद्धांतका बचन है कि "चारित्तं खलु धम्मो" (देखो गाथा ७ वीं) वही चारित्र अपहृत संयम तथा उपेक्षा संयमके भेदसे वा सराग वीतरागके भेदसे वा शुभोपयोग, शुद्धोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है इनमेंसे शुद्ध संप्रयोग शब्दसे कहने योग्य जो शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र है उससे निर्वाण प्राप्त होता है। जब विकल्प-रहित समाधिमय शुद्धोपयोगकी शक्ति नहीं होती है तब यह आत्मा शुभोपयोग रूप सराग भावसे परिणमन करता है तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षणधारी निश्चय सुखसे विपरीत आकुलताको उत्पन्न करनेवाला स्वर्ग सुख पाता है। पीछे परम समाधिके योग्य सामग्रीके होनेपर मोक्षको प्राप्त करता है ऐसा सूत्रका भाव है।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥ १२ ॥

अशुभोदयेन आत्मा कुनरः तिर्यक् भूत्वा नैरयिकः।
दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतः भ्रमति अत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति। ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥ १२ ॥

अब यहां चारित्र परिणाम के अभाव में अत्यन्त हेय रूप अशुभ परिणाम के फल की समीक्षा करते हैं—

अन्वयार्थ—[अशुभोदयेन] अशुभ के उदय से [आत्मा] आत्मा [कुनरः] हीन मनुष्य [तिर्यक्] तिर्यंच या [नैरयिकः] नारकी [भूत्वा] होकर [दुःखसहस्रैः] हजारों दुःखों से [सदा] निरन्तर [अभिद्रुतः] पीडित होता हुआ [अत्यन्तं भ्रमति] संसार में अत्यन्त—दीर्घ काल तक—भ्रमण करता है।

टीका—जब यह आत्मा लेश मात्र भी धर्म (चारित्र) परिणति को न प्राप्त होकर अशुभोपयोग रूप परिणति का अवलम्बन करता है, तब वह घृणित मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर परिभ्रमण करता हुआ दुःखों के बंध को अनुभव करता है। इसलिये लेशमात्र चारित्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ॥ १२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ चारित्रपरिणामासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभोपयोगस्य फलं दर्शयतिः—

(असुहोदयेण) अशुभोदयेन (आदा) आत्मा (कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो) कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा। किं करोति। (दुक्खसहस्सेहिं सया अभिधुदो भमइ अच्चंतं) दुःखसहस्रैः सदा सर्वकालमभिधृतः कर्दथितः पीडितः सन्

संसारे अत्यन्तं भ्रमतीति । तथाहि—निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्त-वृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसंक्ले-शरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जितं पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुःखेन दुःखितः सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा संसारेऽत्यन्तं भ्रमतीति तात्पर्यार्थः ।

एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस किसी आत्मामें वीतराग या सराग चारित्र नहीं है उसके भीतर अत्यन्त त्यागने योग्य अशुभोपयोग रहेगा उस अशुभयोगका फल कटुक होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(असुहोदयेण) अशुभ उपयोगके प्रगट होनेसे जो पाप कर्म बंधता है उसके उदय से (आदा) आत्मा (कुणरो) खोटा दीन दरिद्री मनुष्य (तिरियो) तिर्यंच तथा (णेरइयो) नारकी (भवीय) होकर (अच्चंतं) बहुत अधिक (भमई) संसारमें भ्रमण करता है ।

प्रयोजन यह है कि अशुभ उपयोग, विकाररहित शुद्ध आत्मतत्वकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्वसे तथा उस ही शुद्ध आत्मामें क्षोभरहित चित्तका वर्तनारूप निश्चय चारित्रसे विलक्षण या विपरीत है । विपरीत अभिप्रायसे पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किए हुए पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छामई तीव्र संक्लेश रूप है, ऐसे अशुभ उपयोगसे जो पाप कर्म बांधे जाते हैं उनके उदय होनेसे यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध आत्माके आनन्दमयी पारमार्थिक सुखसे विरुद्ध दुःखसे दुःखी होता हुआ व अपने स्वभावकी भावनासे गिरा हुआ संसारमें खूब ही भ्रमण करता है । ऐसा तात्पर्य है ।

इस तरह तीन तरहके उपयोगके फलको कहते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ १२ ॥

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

अतिशयं, आत्मसमुत्थं, विषयातीतं, अनौपम्यं, अनन्तं ।
अव्युच्छिन्नं, च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

एवमयमपास्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते ।

आसंसारादपूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं

विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥ १३ ॥

भूमिका—इस प्रकार यह (श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव,) नष्ट कर दिया है समस्त शुभ और अशुभ उपयोग की परिणति को जिन्होंने (ऐसे होते) शुद्धोपयोग परिणति को अंगीकार करते हुए, शुद्धोपयोग अधिकार को प्रारम्भ करते हैं। उस में आत्मा के प्रोत्साहन के लिये (सर्व प्रथम) शुद्धोपयोग के फल की प्रशंसा करते हैं:—

अन्वयार्थ—[शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां] शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए (शुद्धोपयोग के फल को प्राप्त हुए) आत्माओं का (अरहंत सिद्धों का) [सुखं] सुख [अतिशयं] अतिशय, [आत्म-समुत्थं] आत्मा से उत्पन्न, [विषयातीतं] विषयों से रहित (अतीन्द्रिय), [अनौपम्यं] अनुपम, अनन्त (अविनाशी) [च] और [अविच्छिन्नं] अविछिन्न (अटूट-निरन्तर-हमेशा एक सा रहनेवाला) है।

टीका—(१) अनादि संसार से जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आल्हाद रूप, होने के कारण से अतिशयवान (२) आत्मा को ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होनेके कारण से 'आत्मोत्पन्न' (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने के कारण से (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के तथा संकल्प विकल्प के आश्रय की अपेक्षा से रहित होने से) 'विषयातीत', (४) अत्यन्त विलक्षण होने के कारण से (अन्य सुखों से सर्वथा भिन्न लक्षणवाला होने से) 'अनुपम' (५) समस्त आगामी काल में कभी नाश को प्राप्त न होने के कारण से 'अनन्त', और (६) विना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने के कारण से 'अविच्छिन्न', ऐसा सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं के (अरहन्त सिद्धोंके होता है। इसलिये वह (सुख) सर्वथा प्रार्थनीय (वाञ्छनीय) है (उपादेयपने से निरन्तर भावना करने योग्य है) ॥ १३ ॥

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ शुभाशुभोपयोगद्वयं निश्चयनयेन हेयं ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकारं प्रारभमाणः, शुद्धात्मभावनामात्मसात्कुर्वाणः सन्, स्वस्वभावजीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति। अथवा द्वितीयपातनिका—यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञानं सुखं च संक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकायां सूचनां करोति। अथवा तृतीयपातनिका—पूर्वं शुद्धोपयोगफलं निर्वाणं भणितमिदानीं पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुखं कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा

सूत्रमिदं प्रतिपादयति:—(अइसयं) आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूपं, (आदसमुत्थं) रागादिविकल्परहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थं, (विसयातीदं) निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतपंचेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीतं, (अणोवमं) निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपमं, (अणंतं) अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्तं, (अव्वुच्छिण्णं) च असातोदयाभावान्निरन्तरत्वादविच्छिन्नं च (सुहं) एवमुक्तविशेषणविशिष्टं सुखं भवति। केषाम्। (सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं) वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति। अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥ १३ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोंको निश्चय नयसे त्यागने योग्य जान करके शुद्धोपयोगके अधिकारको प्रारंभ करते हुए तथा शुद्ध आत्माकी भावनाको स्वीकार करते हुए अपने स्वभावमें रहनेके इच्छुक जीवके उत्साह बढानेके लिये शुद्धोपयोगका फल प्रकाश करते हैं अथवा दूसरी पातनिका या सूचना यह है कि यद्यपि आगे आचार्य शुद्धोपयोगका फल ज्ञान और सुख संक्षेप या विस्तार से कहेंगे तथापि यहां भी इस पीठिकामें सूचित करते हैं अथवा तीसरी पातनिका यह है कि पहले शुद्धोपयोगका फल निर्वाण बताया था अब यहां निर्वाणका फल अनंत सुख होता है ऐसा कहते हैं। इस तरह तीन पातनिकाओंके भावको मनमें धरकर आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुद्धवओगप्पसिद्धाणं) शुद्धोपयोगमें प्रसिद्धोंको अर्थात् वीतराग परम सामायिक शब्दसे कहने योग्य शुद्धोपयोगके द्वारा जो अरहंत और सिद्ध होगए हैं उन परमात्माओंको (अइसयं) अतिशयरूप अर्थात् अनादि कालके संसारमें चले आए इन्द्रादिके सुखोंसे भी अपूर्व अद्भुत परम आल्हाद रूपसे होनेसे आश्चर्यकारी, (आदसमुत्थं) आत्मासे उत्पन्न अर्थात् रागद्वेषादि विकल्प रहित अपने शुद्धात्माके अनुभवसे पैदा होनेवाला, (विसयातीदं) विषयोंसे शून्य अर्थात् इन्द्रिय विषय रहित परमात्म-तत्वके विरोधी पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित, (अणोवमं) उपमा रहित अर्थात् दृष्टांत रहित परमानन्दमई एक लक्षणको रखनेवाला, (अणंतं) अनंत अर्थात् अनन्त भविष्यकालमें विनाश रहित अथवा अप्रमाण (च) तथा (अव्वुछिण्णं) विच्छिन्नरहित अर्थात् असाताका उदय न होनेसे निरन्तर रहनेवाला (सुहं) आनन्द रहता है। यहां सुख उपादेय है, इसीकी निरन्तर भावना करनी योग्य है।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः।

सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः। सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुख-दुःख-जनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुख-दुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग रूप परिणत आत्मा के स्वरूप को कहते हैं:—

अन्वयार्थ—[सुविदितपदार्थसूत्रः] भली भांति जान लिये हैं (१) (निज शुद्ध आत्मा आदि स्व पर) पदार्थों को और सूत्रों (श्रुत-आगम) को जिसने (२, ३) [संयमतपःसंयुतः] जो संयम युक्त है और तप युक्त है, (४) [विगतरागः] राग रहित है, (५) [समसुख-दुःखः] समान हैं सुख दुःख जिसको (साता असाता वेदनीय के उदय से जिसको सुख दुःख का वेदन नहीं है अर्थात् समानुभव हैं, [श्रमणः] ऐसा श्रमण (मुनि) [शुद्धोपयोगः] 'शुद्धोपयोगी' [इति भणितः] कहा गया है।

टीका—(१) सूत्रों के अर्थ के ज्ञानके बल से स्व द्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान में, श्रद्धान में और विधान में (आचरण में) समर्थ होने के कारण से (स्वद्रव्य और पर द्रव्य की भिन्नता का ज्ञान, श्रद्धान आचरण होने से) भली भांति जान लिया है पदार्थों को और (उनके प्रतिपादक) सूत्रों को जिसने, (२) समस्त छः जीवनिकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय (सम्बन्धी) अभिलाषा के विकल्प से (आत्मा को) व्यावृत्त करके आत्मा के शुद्ध-स्वरूप में संयम करने से संयम-युक्त है, (३) और स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो तपयुक्त है, (४) सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से (समस्त मोहनीय कर्म के उदय से विभिन्नत्व की उत्कृष्ट भावना से) निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतरागी है, और (५) परम कला के अवलोकन के कारण (आत्मा में लीनता के कारण)-साता वेदनीय तथा असातावेदनीय के विपाक से उत्पन्न होनेवाले जो सुख दुःख-उन सुख दुख—जनित परिणामों की विषमता का अनुभव नहीं होने से (परम सुख रस में लीन निर्विकार स्वसंवेदन रूप परम कला के अनुभव के कारण इष्ट अनिष्ट संयोगों में हर्ष शोक आदि विषम परिणामों का

अनुभव न होने से) जो समसुखदुःख है, ऐसे पांच विशेषण वाला श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है ।

भावार्थ—यह शुद्धोपयोग मुख्यतया बारहवें गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि के होता है।

जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुखं भवति तत्परिणतपुरुषलक्षणं प्रकाशयति—(सुविदिदपयत्थसुत्तो) सुष्ठु संशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते । (संजमतवसंजुदो) बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्तः, बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपःसंयुक्तः । (विगदरागो) वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्वीतरागः । (समसुहदुक्खो) निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्तसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः (समणो) एवं गुणविशिष्टः श्रमणः परममुनिः (भणिओ सुद्धोवओगोत्ति) शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिकाभिधानः प्रथमोन्तराधिकारः समाप्तः ।

उत्थानिका—आगे जिस शुद्धोपयोगके द्वारा पहले कहा हुआ आनन्द प्रगट होता है उस शुद्धोपयोगमें परिणमन करने वाले पुरुषका लक्षण प्रगट करते हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुविदिदपदत्थसुत्तो) भले प्रकार पदार्थ और सूत्रोंको जाननेवाला, अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थोंको और उनके बताने वाले सूत्रोंको जाना है और उनकी रुचि प्राप्त की है, (संजमतवसंजुदो) संयम और तप संयुक्त है अर्थात् जो बाह्यमें द्रव्येन्द्रियोंसे उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छः कायोंकी रक्षा करते हुए तथा अंतरंगमें अपने शुद्ध आत्माके अनुभवके बलसे अपने स्वरूपमें संयम रूप ठहरे हुए हैं तथा बाह्य व अंतरंग बारह प्रकार तपके बलसे काम क्रोध आदि शत्रुओंसे जिसका प्रताप खंडित नहीं होता है। और जो अपने शुद्ध आत्मामें तप रहे हैं, जो (विगदरागो) वीतराग हैं अर्थात् वीतराग शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे सर्व रागादि दोषोंसे रहित हैं (समसुहदुक्खो) सुख दुःखमें समान हैं अर्थात् विकार-रहित और विकल्प-रहित समाधि से उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरसमें लवलीन ऐसी निर्विकार स्वसंवेदन रूप जो परम चतुराई उसमें थिरीभूत होकर इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें हर्ष विषादको त्याग देनेसे समता भावके धारी हैं ऐसे गुणोंको रखनेवाला (समणो) परममुनि (सुद्धोवओगो) शुद्धोपयोग स्वरूप (भणिओ) कहा गया है (त्ति) ऐसा अभीप्राय है।

इस तरह शुद्धोपयोगका फल जो अनंत सुख है उसके पाने योग्य शुद्धोपयोग में परिणमन करनेवाले पुरुष का कथन करते हुए पांचवें स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई।

इस तरह १४ गाथाओं के द्वारा पांच स्थलोंसे पीठिका नामका प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पारं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्धः यः विगतावरणान्तरायमोहरजाः।
भूतः स्वयं एव आत्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रंथितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति। इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥ १५ ॥

भूमिका—अब शुद्धोपयोग के लाभ के तुरन्त बाद होने वाले विशुद्ध आत्म-स्वभाव के लाभ की प्रशंसा करते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोग से सर्वज्ञ हो जाता है-यह कहते हैं)—

अन्वयार्थ—[यः] जो [उपयोगविशुद्धः] उपयोग विशुद्ध है (जो शुद्धोपयोग परिणाम से विशुद्ध होकर वर्त रहा है) [आत्मा] वह आत्मा [विगतावरणान्तरायमोहरजाः] नष्ट हो गया है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म जिसका ऐसा [स्वयं एव भूतः] स्वयमेव होता हुआ [ज्ञेय-भूतानां] ज्ञेय भूत पदार्थों के [पारं] पार को [याति] प्राप्त होता है (सब को जानता है)।

टीका—जो (आत्मा) चैतन्य परिणाम-स्वरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह (आत्मा) वास्तव में (१) पद पद पर प्रगट होती जाती है विशिष्ट

विशुद्धि शक्ति जिसको अर्थात् पद पद पर विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट हो जाने के कारण अनादि संसार से बंधी हुई दृढतर मोह ग्रन्थि के छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्यवाला होता हुवा और (२) समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान स्वयमेव होता हुआ। ज्ञेयता को प्राप्त (पदार्थों) के अन्त को पा लेता है (अर्थात् सब पदार्थों को जान लेता है–सर्वज्ञ हो जाता है)।

(गाथा की टीका समाप्त हो गई। अब आचार्य देव स्वयं गाथा का सार लिखते हैं।)

(सार) यहां (यह कहा है कि) आत्मा वास्तवमें ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। इस कारण से समस्त ज्ञेयों के भीतर प्रवेश को प्राप्त ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्मा को आत्मा शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही प्राप्त करता है।

भावार्थ—सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रारम्भ होता है। फिर प्रत्येक पद में (गुणस्थान में) उसकी शुद्धता की शक्ति बढती चली जाती है जिससे दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म प्रायः नष्ट होजाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घाति कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घाति कर्मों के नष्ट होने पर स्वभाव स्वयं प्रगट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जान लेता है।

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

तदनन्तरं सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचारः संक्षेपेण शुद्धोपयोगफलं चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम्। तत्र स्थलचतुष्टयं भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वितीया चेति "उवओगविसुद्धो" इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति 'भंगविहीणो' इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुखं भवतीति दर्शनार्थं (तं सव्वत्थवरिट्ठं) इत्यादि सूत्रमेकम्। अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति (पक्खीणघाइकम्मो) इति प्रभृति गाथाद्वयम्। एवं द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका। तद्यथा–अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति। अथवा द्वितीयपातनिका–श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः सम्बोधनं कुर्वन्ति, हे शिवकुमारमहाराज! कोप्यासन्नभव्यः संक्षेपरुचिः पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्यः कोपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन संजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति:–(उवओगविसुद्धो जो) उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते यः (विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो) विगतावरणान्तरायमोहरजोभूतः सन्। कथम्। (सयमेव) निश्चयेन स्वयमेव (आदा) स पूर्वोक्त आत्मा जादि याति गच्छति। किं परं पारमवसानम्। केषाम्। (णेयभूदाणं) ज्ञेयभूतपदार्थानाम्। सर्वं जानाती-

त्यर्थः । अतो विस्तरः-यो निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसंज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कवीचारसंज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति । स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति । ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति ॥१५॥

आगे सामान्यसे सर्वज्ञकी सिद्धि व ज्ञानका विचार तथा संक्षेपसे शुद्धोपयोगका फल कहते हुए गाथाएं सात हैं । इनमें चार स्थल हैं । पहले स्थलमें सर्वज्ञका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा है, स्वयंभूका स्वरूप कहते हुए दूसरी, इस तरह "उवओग विसुद्धो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं । फिर उस ही सर्वज्ञ भगवानके भीतर उत्पाद व्यय ध्रौव्यपन स्थापित करनेके लिये प्रथम गाथा है । फिर भी इस ही बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरी गाथा है । इस तरह "भंग विहीणो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं । आगे सर्वज्ञ के श्रद्धान करनेसे अनन्त सुख होता है, इसके दिखानेके लिये "तं सव्वत्थवरिट्ठं" इत्यादि सूत्र एक है । आगे अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुखके परिणमनके कथनकी मुख्यतासे प्रथम गाथा है और केवलज्ञानीको भोजन का निराकरण की मुख्यतासे दूसरी गाथा है, इस तरह "पक्खीण घाइकम्मो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं । इस तरह दूसरे अन्तर अधिकारमें चार स्थलसे समुदाय पातनिका पूर्ण है ।

आगे अब यह कहते हैं कि शुद्धोपयोगके लाभ होनेके पीछे केवलज्ञान होता है अथवा दूसरी पातनिका यह है । कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव संबोधन करते हैं कि, हे शिवकुमार महाराज ! कोई भी निकट भव्य जीव जिसकी रुचि संक्षेपमें जाननेकी है पीठिका के व्याख्यानको ही सुनकर आत्म-कार्य करने लगता है । दूसरा कोई जीव जिसकी रुचि विस्तारसे जाननेकी है इस बातको विचार करके कि शुद्धोपयोगके द्वारा सर्वज्ञपना होता है और तब अनंतज्ञान अनंतसुख आदि प्रगट होते हैं फिर अपने आत्माका उद्धार करता है, इसीलिये अब विस्तारसे व्याख्यान करते हैं—

अन्वयसहित विशेषार्थ—(जो उवओगविसुद्धो) जो उपयोग करके विशुद्ध है अर्थात् जो शुद्धोपयोग परिणामोंमें रहता हुआ शुद्ध भावधारी हो जाता है सो (आदा) आत्मा (सयमेव) स्वयं ही अपने आप ही अपने पुरुषार्थसे (विगदावरणांतराय-मोह-रओ भूदो) आवरण, अंतराय और मोहकी रजसे छूटकर अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय तथा मोहनीय इन चार घातिया कर्मोंके बंधनोंसे बिलकुल अलग होकर (णेयभूदाणं) ज्ञेय पदार्थोंके (पारं) अंतको (जादि) प्राप्त होता हैं अर्थात् सर्व पदार्थोंका ज्ञाता हो जाता है ।

इसका विस्तार यह है कि जो कोई मोह-रहित शुद्ध आत्माके अनुभव-लक्षणमय शुद्धोपयोगसे अथवा आगम भाषाके द्वारा पृथक्त्व वितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानसे पहले सबमोहको नाश करके फिर पीछे रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे शून्य स्वसंवेदन लक्षणमय एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानके द्वारा क्षीण-कषाय गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त ठहरकर उसी गुणस्थानके अंत समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको एक साथ नाश करता हैं, वह तीन जगत तीन कालकी समस्त वस्तुओंके भीतर रहे हुए अनन्त स्वभावोंको एक साथ प्रकाशने वाले केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धोपयोगसे सर्वज्ञ हो जाता है ।

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः ।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमानः, उत्पत्तिव्ययपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयंभूरिति निर्दिश्यते । अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥ १६ ॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग से उत्पन्न होने वाले शुद्ध आत्म-स्वभाव के लाभ के, अन्य कारकों की निरपेक्षता होने से, अत्यन्त स्वात्माधीनपने को प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[तथा] इस प्रकार [लब्धस्वभावः] स्वभाव को प्राप्त [सः आत्मा] वह आत्मा [सर्वज्ञः] सर्वज्ञ [सर्वलोकपतिमहितः] और सर्व (तीन) लोक के अधिपतियों (स्वामियों) से पूजित [स्वयं एव भूतः] स्वयमेव होता हुवा (होने से) [स्वयम्भू भवति] होता है [इति] ऐसा [निर्दिष्टः] कहा गया है ।

टीका—शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से प्राप्त किया है शुद्ध अनन्तशक्तिवान चैतन्य स्वभाव जिसने, ऐसा यह आत्मा वास्तव में

(१) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञायक स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्र होने के कारण से ग्रहण किया है 'कर्ता-पने के अधिकार को जिसने, ऐसा (होता हुआ) (२) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणत स्वभाव के द्वारा (स्वयं ही) प्राप्य होने के कारण से (स्वयं ही प्राप्त होता होने से) 'कर्म पने' को अनुभव करता हुआ (३) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणत स्वभाव के द्वारा (स्वयं ही) साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होने के कारण से 'करणपने' को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनन्त-शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणमित स्वभाव द्वारा (स्वयं ही) कर्म द्वारा समाश्रित होने के कारण (अर्थात् कर्म स्वयं को ही देने में आता होने से) सम्प्रदान-पने को धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनन्त शक्ति (मय) ज्ञानरूप से परिणत होने के समय में पूर्व मे प्रवर्तमान विकल ज्ञान स्वभाव का नाश होने पर भी सहज ज्ञान स्वभाव द्वारा (स्वयं ही) ध्रुवता को अवलम्बन करनेसे 'अपादानपने' को धारण करता हुआ, और (६) शुद्ध अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणमित स्वभाव का (स्वयं ही) आधार होने के कारण से 'अधिकरणपने' को आत्मसात् करता हुआ (इस प्रकार) स्वयमेव छः कारकीरूप से उत्पन्न होता हुआ ('स्वयंभू' इस नाम से कहा जाता है), अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से, द्रव्य-भाव भेद रूप घातिकर्मों को दूर करके स्वयमेव आमर्भूत होने के कारण से 'स्वयभू' इस नाम से कहा जाता है।

(यहां तक गाथा का अर्थ करके अब टीकाकार उसका सार लिखते हैं)।

(सार) इस कारण से निश्चय से पर साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूंढने की व्यग्रता परतन्त्र हुवा जावे।

भावार्थ—अभेदषटकारक रूप से स्वतः ही परिणमता हुआ यह आत्मा परमात्म-स्वभाव होने से स्वयंभू है। क्योंकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय में वह भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण से स्वयंभू है।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका-

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्वं प्रकाशयति-(तह सो लद्धसहावो) यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव सः पूर्वोक्तलब्धशुद्धा-

त्मस्वभावः सन् (आदा) अयमात्मा (हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो) स्वयम्भूर्भवतीति निर्दिष्टः कथितः । किं विशिष्टो भूतः । (सव्वण्हू सव्वलोयपदिमहिदो भूदो) सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितश्च भूतः संजातः । कथम् । (सयमेव) निश्चयेन स्वयमेवेति । तथाहि—अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति । नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारकं भवति । शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारकं भवति । निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्संप्रदानं भवति । तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेऽप्यखण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादानं भवति । निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मनः स्वयमेवाधारत्वादधिकरणं भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममानः सन्नयमात्मा परमात्मस्वभावकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते ततः स्वयंभूर्भवतीति भावार्थः ।। १६ ।।

एवं सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । स्वयंभूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्धोपयोग से उत्पन्न जो शुद्ध आत्माका लाभ है उसके होने में भिन्न कारक की आवश्यकता नहीं है । किन्तु अपने आत्मा ही के आधीन है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वयं ही (लद्धसहावो भूदो) स्वभाव का लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चय-रत्नत्रय लक्षणमय शुद्धोपयोग के प्रसाद से जैसे आत्मा सर्वका ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्मा के स्वभावका लाभ करता हुआ सव्वण्हू , सर्वज्ञ च (सव्वलोगपदमहिदो) सर्व लोकका पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इसलिये वह (सयंभुत्ति) स्वयंभू इस नाम से (णिद्दिट्ठो) कहा गया है ।

भाव यह है कि निश्चयसे कर्ता कर्म आदि छः कारक आत्मामें ही हैं । अभिन्न कारककी अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमई एक चैतन्य स्वभावके द्वारा स्वतन्त्रता रखनेसे स्वयं ही अपने भावका कर्ता है तथा निन्य आनन्दमय एक स्वभावसे स्वयं अपने स्वभावको प्राप्त होता है इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है शुद्ध चैतन्य स्वभावसे यह आत्मा आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भावसे ही आपका स्वरूप झलकता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण है । विकार रहित परमानन्दमयी एक परिणति रूप लक्षणको रखने वाली शुद्धात्मभाव रूप क्रिया के द्वारा अपने आपको अपना स्वभाव समर्पण करनेके कारण यह आत्मा आप ही संप्रदान स्वरूप है । तैसे ही पूर्व में रहने वाले मति श्रुत आदि ज्ञानके विकल्पोंके नाश होनेपर भी अखंडित एक चैतन्य के प्रकाश के द्वारा अपने अविनाशी स्वभावसे ही यह आत्मा आपका प्रकाश करता है इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है । तथा यह निश्चय शुद्ध चैतन्य आदि गुण स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे आप ही अधिकरण होता है । इस तरह अभेद षट् कारकसे स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्म-स्वभाव तथा केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें भिन्नकारककी अपेक्षा नहीं रखता है इसलिये आप ही स्वयंभू कहलाता है ।

इस प्रकार सर्वज्ञकी मुख्यतासे प्रथम गाथा और स्वयंभूकी मुख्यतासे दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ।। १६ ।।

अथ स्वयम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति—

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥ १७ ॥

भङ्गविहीनश्च भवः संभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः ॥ १७ ॥

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरिवर्जितः। अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिषिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ॥ १७ ॥

भूमिका---अब, स्वयंभू (स्वयं द्वारा उत्पन्न हुए) इस (आत्मा) के शुद्धात्म-स्वभाव की प्राप्ति के अत्यन्त अविनाशीपने को और कथंचित् (कोई प्रकार से) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तपने का विचार करते हैं :-

अन्वयार्थ---[भङ्गविहीनः भवः] (उस शुद्ध आत्म-स्वभावको प्राप्त आत्माके) विनाश रहित उत्पाद है, और [संभवपरिवर्जितः विनाशः हि] उत्पाद-रहित विनाश है [च] और [तस्य एव पुनः] उसके ही फिर [स्थितिसंभवनाशसमवायः विद्यते] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश का समवाय (एकत्रित समूह) विद्यमान है।

टीका---वास्तव में इस (शुद्धात्म स्वभाव को प्राप्त) आत्मा के शुद्धोपयोग के प्रसाद से शुद्ध आत्मस्वभाव (रूप) से जो उत्पाद हुआ है, वह (उत्पाद) फिर उस रूप से नाश का अभाव होने से, विनाश रहित है, और जो अशुद्ध आत्म-स्वभाव से विनाश हुआ है, वह (विनाश), फिर उत्पत्ति का अभाव होने से, उत्पाद-रहित है। इस कारण से उस (आत्मा) के सिद्धरूप से अविनाशी-पना है। ऐसा होने पर भी ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय का समवाय इस [आत्मा] के विरोध को प्राप्त नहीं होता [क्योंकि वह] विनाश रहित उत्पाद के साथ, उत्पाद रहित विनाश के साथ और उन दोनों के आधारभूत द्रव्य के साथ समवेत तन्मयता से युक्त-एकमेक है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति:—

(भंगविहीणो य) भवो भङ्गविहीनश्च भवः जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूप-शुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योसौ भवः केवलज्ञानोत्पादः । स किं विशिष्टः । भङ्गविहीनो विनाशरहितः । (संभव-परिवज्जिओ विणासोत्ति) योसौ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपसंसा -पर्यायस्य विनाशः स किं विशिष्टः । संभवहीनः निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहितः । तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवतः सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति । (विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ) विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसंभवनाशसमवायः, तस्यैव भगवतः पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्ध-पर्यायेणोत्पादः संसारपर्यायेण विनाशः, केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । ततः स्थितं द्रव्या-र्थिकनयेन नित्यत्वेपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयं संभवतीति ॥ १७ ॥

उत्थानिका—आगे उपदेश करते हैं कि अरहंत भगवान के द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे नित्यपना होने पर भी पर्यायार्थिक नयसे अनित्यपना है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(य भंगविहीणो) तथा विनाश रहित (भवो) उत्पाद अर्थात् श्री सिद्ध भगवान के जीना मरना आदिमें समताभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा रूप शुद्धोपयोगके द्वारा जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका प्रकाश हुआ है वह विनाशरहित है । उनके (संभवपरिवज्जिदो विणासो) उत्पत्ति रहित विनाश है अर्थात् विकार-रहित आत्मतत्त्वसे विलक्षण रागादि परिणामों के अभाव होने से फिर उत्पत्ति नहीं हो सकती है इस तरह मिथ्यात्व व रागादि द्वारा भ्रमणरूप संसार की पर्यायका जिसका नाश हो गया है । (हि) निश्चय करके ऐसा नित्यपना सिद्ध भगवान के प्रगट हो जाता है जिससे यह बात जानी जाती है कि द्रव्यार्थिक नयसे सिद्ध भगवान अपने स्वरूप से कभी छूटते नहीं हैं) ऐसा है (पुणो) तौभी (तस्सेव) उन ही सिद्ध भगवानके (ठिदिसंभवणाससमवाया) ध्रौव्य उत्पाद व्ययका समुदाय (विज्जदि) विद्यमान रहता है ।

अर्थात् शुद्ध व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा पर्यायार्थिक नयसे सिद्ध पर्याय का जब उत्पाद हुआ है तब संसार पर्यायका नाश हुआ है तथा केवलज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत द्रव्यपना होने से ध्रौव्यपना है । इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि सिद्ध भगवानके द्रव्यार्थिक नयसे नित्यपना है तौ भी पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद व्यय हैं । इस तरह समुदाय रूपसे उत्पाद, व्यय ध्रौव्य तीनों हैं ।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥ १८ ॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः॥ १८ ॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा। पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः। पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्। एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यंभावि॥ १८ ॥

भूमिका—अब उत्पाद आदि तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सर्व द्रव्योंके साधारणतया (अर्थात् ऐसा नहीं है कि किसी द्रव्यमें हों और किसी में न हों) अवश्य होनेसे शुद्धात्मा के भी अवश्यंभावी हैं, इस बात को व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थ—[सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थ-समूह के (प्रत्येक पदार्थ के) [खलु] वास्तवमें [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्यायसे [उत्पादः] उत्पाद [विद्यते] है। [सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थसमूहके [खलु] वास्तवमें [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [विनाशः] विनाश [विद्यते] है। [च] और [अर्थः] पदार्थ [खलु] वास्तव में [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [सद्भूतः] ध्रुव [विद्यते] है।

टीका—जैसे इस लोक में शुद्ध स्वर्ण के, बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूपसे वर्तनेवाली अंगूठी इत्यादि पर्यायसे विनाश देखा जाता है और पीलापना आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूबन्द और अंगूठी में) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होनेवाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश (और) किसी (पर्याय) से ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिये। (सार) इससे [यह कहा गया है कि] शुद्ध आत्माके भी उत्पाद-आदि-तीन-रूप तथा द्रव्य का लक्षणभूत अस्तित्व अवश्यंभावी है।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथोत्पादादित्रयं यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेऽपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेयं पदार्थत्वादिति निरूपयति,—(उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स) उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य । केन कृत्वा । (पज्जाएण दु केणवि) पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण वा । स चार्थः किं विशिष्टः । (अट्ठो खलु होइ संभूदो) अर्थः खलु स्फुटं सत्ताभूतः सत्ताया अभिन्नो भवतीति । तथाहि—सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रयं लोके प्रसिद्धं तथैवामूर्तेऽपि मुक्तजीवे । यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति । अथवा ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति । षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ॥ १८ ॥

एवं सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षितपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सुवर्ण आदि मूर्तिक पदार्थोंमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य देखे जाते हैं वैसे ही अमूर्तिक सिद्ध स्वरूपमें भी जानना चाहिये क्योंकि सिद्ध भगवान भी पदार्थ हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(केणवि दु पज्जाएण) किसी भी पर्यायसे अर्थात् किसी भी विवक्षित अर्थ या व्यंजन पर्यायसे अथवा स्वभाव या विभाव रूपसे (सव्वस्स अत्थजादस्स) सर्व पदार्थ समूह के (उप्पादो य विणासो) उत्पाद और विनाश (विज्जदि) होता है । (अत्थो) पदार्थ (खलु) निश्चय करके (सब्भूदो होदि) सत्तारूप है, सत्तासे अभिन्न है ।

प्रयोजन यह है कि सुवर्ण, गोरस, मिट्टी, पुरुष आदि मूर्तिक पदार्थोंमें जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है तैसे अमूर्तिक मुक्त जीवमें हैं । यद्यपि मुक्त होते हुए शुद्ध आत्माकी रुचि उसीका ज्ञान तथा उसीका निश्चलतासे अनुभव इस रत्नत्रय-मय लक्षणको रखनेवाले संसारके अंतमें होनेवाले कारण समयसार रूप भाव-पर्यायका नाश होता है तैसे ही केवलज्ञानादिकी प्रगटता-रूप कार्य समयसार रूप भाव-पर्याय । उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायोंमें परिणमन करनेवाले आत्म द्रव्यका ध्रौव्यपना रहता है क्योंकि आत्मा भी एक पदार्थ है । अथवा ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञानमें झलकते हैं वे क्षण क्षणमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन करते हैं वैसे ही ज्ञान भी उनको जाननेकी अपेक्षा तीन भंगसे परिणमन करता है । अथवा षट्-स्थान-पतित अगुरु लघु गुणमें वृद्धि व हानिकी अपेक्षा तीन भंग जानने चाहिये, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ।

इस तरह सिद्ध जीवमें द्रव्यार्थिक नयसे नित्यपना होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपनेको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ १८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ तं पूर्वोक्तसर्वज्ञं ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्षं च लभन्त इति प्रतिपादयति,—

तं सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १६-१ ॥

तं सर्वार्थवरिष्ठं इष्टं अमरासुरप्रधानैः ।
ये श्रद्धधति जीवाः तेषां दुःखानि क्षीयन्ते ॥ १६-१ ॥

तं (सव्वट्ठवरिट्ठं) तं सर्वार्थवरिष्ठं (इट्ठं) इष्टमभिमतम् । कैः । (अमरासुरप्पहाणेहिं) अमरासुरप्रधानैः । ये (सद्दहंति) ये श्रद्धधति रोचन्ते (जीवा) भव्यजीवाः । (तेसिं) तेषाम् । (दुक्खाणि) दुःखानि । (खीयंति) विनाशं गच्छन्ति, इति सूत्रार्थः ॥१६॥

एवं निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले . गाथा गता ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पूर्वमें कहे हुए सर्वज्ञको मानते हैं वे ही सम्यग्दृष्टी होते हैं और वे ही परम्परा से मोक्षको प्राप्त करते हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ये जीवा) जो भव्यजीव, (अमरासुरप्पहाणेहिं) स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिकके इन्द्रोंसे (इट्ठं) माननीय (तं सव्वट्ठवरिट्ठं) उस सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ परमात्माको (सद्दहंति) श्रद्धान करते हैं (तेसिं) उनके (दुक्खाणि) सब दुःख (खीयंति) नाशको प्राप्त हो जाते हैं।

इस तरह निर्दोष परमात्माके श्रद्धानसे मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमें गाथा पूर्ण हुई ॥ १६-१ ॥

(इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्द्रसूरिने नहीं की है, कुछ विद्वानोंके विचारसे यह गाथा प्रक्षिप्त है ।)

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयम्भुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति—

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥ १६ ॥

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ॥ १९ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते । एवमात्मनो ज्ञानानन्दो स्वभाव एव । स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ॥ १९ ॥

भूमिका—अब, जो शुद्धोपयोग के प्रभावसे स्वयंभू हो चुकी ऐसी इस आत्मा के अर्थात् श्री अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी के, इन्द्रियों के विना, ज्ञान और आनन्द कैसे होते हैं— इस संदेह को दूर करते हैं:—

अन्वयार्थ—(१) [प्रक्षीणघातिकर्मा] पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं घाति कर्म जिसके (२) [अतीन्द्रियः जातः] जो अतीन्द्रिय होगया है, (३) [अनन्तवरवीर्यः] जिसका अनन्त उत्तम वीर्य है [च] और (४) [अधिकतेजाः] अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवल दर्शन रूप) तेज है [सः] वह (स्वयंभू आत्मा) [ज्ञानं सौख्यं च] ज्ञान और सुख रूप [परिणमते] परिणमन करता है।

टीका—वास्तव में यह (स्वयंभू) आत्मा, (१) शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से, पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है घाति कर्म जिसका, (२) क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन के साथ असंपृक्त (सम्बन्ध रहित) होजाने से अतीन्द्रिय होता हुआ, (३) समस्त अन्तराय का क्षय होनेसे जिसका अनन्त उत्तम वीर्य है, (४) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का नाश होजाने से अधिक जिस का केवलज्ञान और केवल दर्शन नामक तेज है। (५) समस्त मोहनीय के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्मा को अनुभव करता हुआ, स्वयमेव स्वपर, प्रकाशकता लक्षणवाले ज्ञान और अनाकुलता लक्षणवाले सुखरूप होकर परिणमित होता है। (सार) इसप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द है।

स्वभाव के पर का निपेक्षपना होने के कारण से, इन्द्रियों के बिना भी, आत्मा के ज्ञान और आनन्द होते हैं।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना कथं ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति-(पक्खीणघाइकम्मो) ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन् ॥ (अणंतवरवीरियो) अनन्तवरवीर्यः। पुनरपि किं-विशिष्टः। (अहियतेजो) अधिकतेजाः। अत्र तेजःशब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वयं ग्राह्यम्। (जादो सो) स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जातः संजातः। कथंभूतः। (अणिंदियो) अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहितः। अतीन्द्रियः सन् किं करोति। णाणं सोक्खं च परिणमदि) केवलज्ञानमनन्तसौख्यं च परिणमतीति। तथाहि—अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति, आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण संसारावस्थायां कर्मप्रच्छादितज्ञानसुखः सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुखं च परिणमति। यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसंवित्तिबलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानसुखं चानुभवति। तदपि कस्मात् स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि इस आत्माके विकार रहित स्वसंवेदन लक्षणरूप शुद्धोपयोगके प्रभावसे सर्वज्ञपना प्राप्त होनेपर इन्द्रियोंके द्वारा उपयोग तथा भोगके बिना किस तरह ज्ञान और आनन्द होसकते हैं? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सो) वह सर्वज्ञ आत्मा जिसका लक्षण पहले कहा है (पक्खीणघादिकम्मो) घातिया कर्मोंको क्षयकर अर्थात् अनन्तज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य्य इन चतुष्टयरूप परमात्मा द्रव्यकी भावना के लक्षणको रखनेवाले शुद्धोपयोगके बलसे ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंको नाशकर (अणंतवरवीरिओ) अंत रहित और उत्कृष्ट वीर्यको रखता हुआ (अधिकतेजो) व अतिशय तेजको धरता हुआ अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शनको प्राप्त हुआ (अणिंदिओ) अतीन्द्रिय अर्थात् इंद्रियोंके विषयोंके व्यापारसे रहित (जादो) होगया (च) तथा ऐसा होकर (णाणं) केवल ज्ञानको (सोक्खं) और अनंत सुखको (परिणमदि) परिणमन करता है।

इस व्याख्यानमें यह कहा है कि आत्मा यद्यपि निश्चयसे अनंतज्ञान और अनंत सुखके स्वभावको रखने वाला है तो भी व्यवहारसे संसारकी अवस्थामें पड़ा हुआ है, जबतक इसका केवलज्ञान और अनंत सुख स्वभाव कर्मोंसे ढका हुआ है तबतक पांच इंद्रियोंके आधारसे कुछेक अल्पज्ञान व कुछेक अल्प सुखमें परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प-रहित स्वसंवेदन या निश्चल आत्मानुभवके बलसे कर्मोंका अभाव होता है तब क्षयोपशमज्ञानके अभाव होनेपर इन्द्रियोंके व्यापार नहीं होते हैं तब अपने ही अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखको अनुभव करता है क्योंकि स्वभावके प्रगट होनेमें परकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा अभिप्राय है।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं॥ २०॥

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २०॥

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥ २०॥

भूमिका—अब, अतीन्द्रियपने के कारण से ही शुद्ध आत्मा के शारीरिक सुख दुःख नहीं है, इस बात को व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थ—[केवलज्ञानिनः] केवल ज्ञानी के [देहगत] शरीर सम्बन्धी [सौख्यं] सुख [वा पुनः] या [दुःखं] दुःख [नास्ति] नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अतीन्द्रियत्वं] अतीन्द्रियता [जातं] उत्पन्न हुई है [तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्] इसलिये ऐसा जानना चाहिये।

टीका—जैसे अग्नि के लोह के गोले के तप्त पुद्गलों का समस्त विलास समूह नहीं है (अर्थात् अग्नि लोहे के गोले के पुद्गलों के विलास से—उनकी क्रिया से भिन्न है) उसी प्रकार शुद्ध आत्मा के इन्द्रिय समूह नहीं है, इस ही कारण से जैसे (अग्नि के) घन के घोर आघातों की परम्परा नहीं है (लोहे के गोले के संसर्ग का अभाव होने पर घन के लगातार आघातों की भयंकार मार अग्नि पर नहीं पड़ती), इसी प्रकार (शुद्ध आत्मा के) शरीर सम्बन्धी सुख दुःख नहीं है।

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिनः शरीराधारोद्भूतं भोजनादिसुखं क्षुधादिदुःखं च नास्तीति विचारयति:— (सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि) सुखं वा पुनर्दुःखं वा केवलज्ञानिनो नास्ति। कथंभूतम्। (देहगदं) देहगतं देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्नं कवलाहारादिसुखम्, असातोदयजनितं क्षुधादिदुःखं च। कस्मान्नास्ति। (जम्हा

अदिंदियत्तं जादं) यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयसुखाय व्यापाररहितत्वं जातम्। (तह्मा दु तं णेयं) तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञानं सुखं च ज्ञेयमिति। तद्यथा—लोहपिण्डसंसर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टनं न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःखं नानुभवतीत्यर्थः। कश्चिदाह—केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्। असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा। अस्मदादिवत् परिहारमाह—तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकम्—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥१॥

यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह—यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमंकुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति। कस्मात्। 'मोहस्स बलेण घाददे जीवं' इति वचनात्। यदि पुनर्मोहाभावेपि क्षुधादिपरीषहं जनयति तर्हि बधरोगादिपरीषहमपि जनयतु न च तथा। तदपि कस्मात्। "भुक्त्युपसर्गाभावात्" इति वचनात्। अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति। तथैव क्षुधादुःखितस्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति। अथवा अन्यदपि कारणमस्ति। असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोस्ति। ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोपि न ज्ञायते। तथैवान्यदपि बाधकमस्ति—यथा प्रमत्तसंयतादितपोधनानां वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारिणां स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति। यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति। यदि पुनरुच्यते भवद्भिः—मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, ततः कारणात् केवलिनामाहारोस्तीति। तदप्ययुक्तम्। परिहारः—

णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥२॥

इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्। न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि—सूक्ष्माः सुरसाः सुगन्धा अन्यमनुजानामसंभविनः कवलाहारं विनापि किञ्चिदूनपूर्वकोटिपर्यन्तं शरीरस्थितिहेतवः सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवलिलब्धिव्याख्यानकाले भणितं तिष्ठति। ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम्—भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते। नैवम्। "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थः कथ्यते—भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते। स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुनः कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकालं विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते। अथ मतम्—केवलिनां कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणां च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत्। न च

तथा। किंच छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे "छट्ठोत्ति पढमसण्णा" इति वचनात् प्रमत्तसंयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहारं गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसंयमध्यानसिद्धयर्थं, न च देहममत्वार्थम्। उक्तं च—

कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम्॥ ३॥
ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति॥४॥

तस्य भगवतो ज्ञानसंयमध्यानादिगुणाः स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन। यदि पुनर्देहममत्वेनाहारं गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीनः प्राप्नोति। अथोच्यते—तस्यातिशयविशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते। तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किं न भवति। तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः, अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति। ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्याः। अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्त इति। अयमत्र भावार्थः—इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः। कस्मात्। दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवति॥ २०॥

एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम्।

इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिनामा द्वितीयोन्तराधिकारः समाप्तः॥ २॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अतींद्रियपना होनेसे ही केवलज्ञानीके शरीरके आधारसे उत्पन्न होनेवाला भोजनादिका सुख तथा क्षुधा आदिका दुःख नहीं होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुण) तथा (केवलणाणिस्स) केवलज्ञानी के (देहगदं) देहसे होने वाला अर्थात् शरीरके आधारमें रहनेवाली जिह्वा इन्द्रिय आदिके द्वारा पैदा होनेवाला (सोक्खं) सुख (वा दुक्खं) और दुःख अर्थात् असाता वेदनीय आदिके उदय से पैदा होनेवाला क्षुधा आदिका दुःख (णत्थि) नहीं होता है। (जम्हा) क्योंकि (अदिंदियत्तं) अतीन्द्रियपना अर्थात् मोहनीय आदि घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर पांचों इन्द्रियोंके विषय सुखके लिये व्यापारका अभावपना ऐसा अतीन्द्रियपना (जादं) प्रगट हो गया है (तम्हा) इसलिये (तं दु) वह अर्थात् अतीन्द्रियपना होनेके कारणसे अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख तो (णेयं) जानना चाहिये।

भाव यह कि जैसे लोहेके पिंडकी संगतिको न पाकर अग्नि हथौड़ेकी चोट नहीं सहती है तैसे यह आत्मा भी लोहपिंडके समान इन्द्रियग्रामोंका अभाव होनेसे अर्थात् इन्द्रियजनित ज्ञानके बन्द होनेसे सांसारिक सुख तथा दुःखको अनुभव नहीं करता है।

यहां किसीने कहा है कि केवलज्ञानीके भोजन है क्योंकि औदारिक शरीरकी सत्ता है तथा असाता वेदनीय कर्मके उदयका सद्भाव है, जैसे हम लोगोंके भोजन होता है इसका खंडन करते हैं कि श्री केवली भगवानके औदारिक शरीर नहीं है किन्तु परम औदारिक है, जैसे कि कहा है—

अर्थात् दोष-रहित केवलज्ञानीके शुद्ध स्फटिक मणिके समान परमतेजस्वी तथा सात धातुसे रहित शरीर होता है। और जो यह कहा है कि असाता वेदनीयके उदयके सद्भावसे केवलीके भूख लगती है और वे भोजन करते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे धान्य जौ आदिका बीज जलादि सहकारी कारण सहित होने

पर ही अंकुर आदि कार्यको उत्पन्न करता है तैसे ही असाता वेदनीय कर्म मोहनीय कर्मरूप सहकारी कारण के साथ ही क्षुधा आदि कार्यको उत्पन्न करता है क्योंकि कहा है "मोहस्स बलेण घाददे जीवं" कि वेदनीय कर्म मोहके बलको पाकर जीवको घात करता है। यदि मोहनीय कर्मके अभाव होनेपर भी असाता वेदनीय कर्म क्षुधा आदि परिषहको उत्पन्न करदे तो वध रोग आदि परीषह भी उत्पन्न हो जावें सो ऐसा होता नहीं है क्योंकि कहा है "भुक्त्युपसर्गाभावात्" कि केवलीके भोजन व उपसर्ग नहीं होते। और भी दोष यह आता है कि यदि केवलीको क्षुधाकी बाधा है, तब क्षुधाके कारण शक्ति क्षीण होने से अनन्तवीर्य्य नहीं बनेगा तैसे ही क्षुधा द्वारा जो दुःखी होगा उसके अनन्त सुख भी नहीं हो सकेगा तथा रसना-इन्द्रिय द्वारा ज्ञानमें परिणमन करते हुए मतिज्ञानीके केवलज्ञानका होना भी सम्भव न होगा। अथवा और भी हेतु है। असाता वेदनीयके उदयकी अपेक्षा केवलीके साता वेदनीयका उदय अनन्त-गुणा है। इस कारण से जैसे शक्करके ढेरमें नीमका कण अपना असर नहीं दिखलाता है वैसे अनन्तगुण साता वेदनीयके उदय में असातावेदनीयका असर नहीं प्रगट होता। तैसे ही और भी बाधक हेतु हैं। जैसे प्रमत्तसंयमी आदि साधुओंके वेदका उदय रहते हुए भी मन्द-मोहके उदयसे अखंड ब्रह्मचारियोंके स्त्री परीषहकी बाधा नहीं होती है तथा नव-ग्रैवेयक आदिके अहमिन्द्रोंके वेदका उदय होते हुए भी मन्द मोहके उदयसे स्त्री-सेवन-सम्बन्धी बाधा नहीं होती है, तैसे ही श्री केवली अरहंतके असाता वेदनीयका उदय होते हुए भी सम्पूर्ण स्नेहका अभाव होनेसे क्षुधाकी बाधा नहीं हो सकती है। यदि ऐसा आप कहें कि मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं, ऐसा आहार मार्गणाके सम्बन्ध में आगममें कहा हुआ है, इस कारणसे केवलियोंके आहार है, ऐसा मानना चाहिये। सो ठीक नहीं है क्योंकि निम्नगाथाके अनुसार आहार छः प्रकारका होता है।

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥ २ ॥

भाव यह है कि आहार छः प्रकारका होता है, जैसे नो-कर्मका आहार, कर्मोंका आहार, ग्रासरूप कवलाहार, लेपका आहार, ओज आहार, तथा मानसिक आहार। आहार उन परमाणुओंके ग्रहणको कहते हैं जिनसे शरीरकी स्थिति रहे। आहारक वर्गणाका शरीरमें प्रवेश सो नोकर्मका आहार है। जिन परमाणुओंके समूहसे देवोंका, नारकियोंका, मनुष्य या तिर्यंचोंका वैक्रियिक, औदारिक शरीर और मुनियों के आहारक शरीर बनता है उसको आहारक वर्गणा कहते हैं। कार्माण वर्गणाके ग्रहणको कर्म्म-आहार कहते हैं। इन्हीं वर्गणाओंसे कर्मोंका सूक्ष्म शरीर बनता है। अन्न पानी आदि पदार्थोंको मुख द्वारा चबाकर व मुंह चलाकर खाना पीना सो कवलाहार है। यह साधारण मनुष्योंके व द्वीन्द्रियसे ले पंचेन्द्रिय तकके पशुओंके होता है। स्पर्शसे शरीर पुष्टिकारक पदार्थोंको ग्रहण करना सो लेप आहार है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति कायधारी एकेन्द्रिय जीवोंके होता है। अंडोंको माता सेती है उससे जो गर्मी पहुंचाकर अंडोंको पका करती है सो ओज आहार है। भवनवासी, व्यंतर, जोतिषी तथा कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंके मानसिक आहार होता है। इनके वैक्रियिक दिव्य शरीर होता है जिसमें

हाड़ मांस रुधिर नहीं होता है इसलिये इनके कवलाहार नहीं हैं, यह मांस व अन्न नहीं खाते हैं। देवोंके जब कभी भूखकी बाधा होती है तो उनके कंठमेंसे ही अमृतमई रस झरजाता है उससे ही उनकी भूखकी बाधा मिट जाती है। नारकियोंके कर्मोंका भोगना यही आहार है तथा वे नरककी पृथ्वीकी मिट्टी खाते हैं परन्तु उससे उनकी भूख मिटती नहीं है। इन छः प्रकारके आहारोंमेंसे केवली अरहंत भगवानके मात्र नोकर्म्म का आहार है इस ही अपेक्षा से केवली अरहंतोंके आहारकपना जानना चाहिये, कवलाहारकी अपेक्षासे नहीं। सूक्ष्म इन्द्रियोंके अगोचर, रसवाले सुगंधित अन्य मनुष्योंके लिये असंभव, कवलाहारके विना भी कुछ कम कोड़ी पूर्व तक शरीरकी स्थितिके कारण, सात धातुओंसे रहित परमौदारिक शरीर रूप नोकर्म्मके आहारके योग्य आहारक वर्गणाओंके पुद्गल लाभान्तराय कर्म्मके पूर्ण क्षय होजानेसे केवली महाराजके शरीरमें योग-शक्तिके आकर्षणसे प्रति समय आते हैं। यही केवलीके आहार है। यह बात नवकेवललब्धि व्याख्या के अवसर पर कही गई है इसलिये यह जाना जाता है कि केवली अरहंतोंके नोकर्म्मके आहारकी अपेक्षासे ही आहारकपना है। यदि आप कहो कि आहारकपना नोकर्म्मके आहारकी अपेक्षा कहना तथा कवलाहारकी अपेक्षा न कहना यह आपकी कल्पना है यदि सिद्धांतमें है तो कैसे मालूम पड़े तो इसका समाधान यह है कि श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्वार्थसूत्रके दूसरे अ० में यह वाक्य है।

"ऐकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः" ॥ ३० ॥

इस सूत्रका भावरूप अर्थ कहा जाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे भवमें जानेके कालमें विग्रह गतिके भीतर स्थूल शरीरका अभाव होते हुए नवीन स्थूल शरीर धारण करनेके लिये तीन शरीर और छः पर्याप्तिके योग्य पुद्गल पिंडका ग्रहण होना नो-कर्म्म-आहार कहा जाता है। ऐसा नोकर्म आहार विग्रह-गति के भीतर कर्मोंका ग्रहण या कार्माण वर्गणाका आहार होते हुए भी एक, दो या तीन समय तक नहीं होता है। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि आगममें नोकर्म्म आहारकी अपेक्षासे आहारकपना कहा है। यदि कहोगे कि कवलाहारकी अपेक्षासे है तो ग्रासरूप भोजनके कालको छोड़कर सदा ही अनाहारकपना ही रहेगा। तव तीन समय अनाहारक हैं ऐसा नियम न रहेगा। यदि कहोगे कि वर्तमानके मनुष्योंकी तरह केवलियोंके कवलाहार है क्योंकि केवली भी मनुष्य हैं, सो कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानोगे तो वर्तमानके मनुष्योंकी तरह पूर्वकालके पुरुषोंके सर्वज्ञपना न रहेगा तथा राम रावण आदिको विशेष सामर्थ्य थी सो यह बात नहीं बन सकेगी। और भी समझना चाहिये कि अल्पज्ञानी छद्मस्थ प्रमत्तसंयत-नामा छठे गुणस्थानधारी साधु भी जिनके सात धातु रहित परम औदारिक शरीर नहीं है इस वचनसे कि "छट्ठोंत्ति पढम सण्णा" प्रथम आहारकी संज्ञा अर्थात भोजन करनेकी चाह छठे गुणस्थान तक ही है यद्यपि वे आहारको लेते हैं तथापि ज्ञान और संयम तथा ध्यानकी सिद्धिके लिये लेते हैं देहके मोहके लिये नहीं लेते हैं। कहा भी है—

कायस्थि त्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते,
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखं ॥ ३ ॥
ण वलाउ साहणट्ठं ण सरिरस्स य चयट्ठं तेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं जाणट्ठं चेव भुंजंति ॥ ४ ॥

भाव यह है कि मुनियोंके आहार शरीरकी स्थितिके लिये होता है, शरीरको ज्ञानके लिये रखते हैं, आत्मज्ञान कर्म नाशके लिये सेवन करते हैं क्योंकि कर्मोंके नाशसे परम सुख होता है। मुनि शरीरके बल आयु, चेष्टा तथा तेजके लिये भोजन नहीं करते हैं किन्तु ज्ञान, संयम तथा ध्यानके लिये करते हैं।

उन भगवान केवलीके तो ज्ञान, संयम तथा ध्यान आदि गुण स्वभावसे ही पाए जाते हैं आहारके बलसे नहीं। उनको संयमादिके लिये आहारकी आवश्यक्ता तो है नहीं क्योंकि कर्मों के आवरण न होनेसे संयमादि गुण तो प्रगट हो रहे हैं। फिर यदि कहो कि देहके ममत्त्वसे आहार करते हैं तो वे केवली छद्मस्थ मुनियोंसे भी हीन हो जायंगे।

यदि कहोगे कि उनके अतिशयकी विशेषतासे प्रगटरूपसे भोजनकी भुक्ति नहीं है, गुप्त है, तो परमौदारिक शरीर होनेसे भुक्ति ही नहीं है ऐसा अतिशय क्यों नहीं होता है। क्योंकि गुप्त भोजनमें मायाचारका स्थान होता है, दीनता की वृति आती है तथा दूसरे भी पिंड शुद्धिमें कहे हुए बहुतसे दोष होते हैं जिनको दूसरे ग्रंथसे व तर्कशास्त्रसे जानना चाहिये। अध्यात्म ग्रंथ होने से यहां अधिक नहीं कहा गया है।

यहां यह भावार्थ है कि ऐसा ही वस्तुका स्वरूप जानना चाहिये। इसमें हठ नहीं करना चाहिये। खोटा आग्रह या हठ करने से रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिससे निर्विकार चिदानंदमई एक स्वभावरूप परमात्माकी भावनाका घात होता है।

इस तरह अनन्तज्ञान और सुखकी स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवलीके भोजनका निराकरण करते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

इस तरह सात गाथाओंके द्वारा चार स्थलोंसे सामान्यसे सर्वज्ञ सिद्धि नामका दूसरा अंतर अधिकार समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति। तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ २१ ॥

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः।
सः नैव तान् विजानाति अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥ २१ ॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण, एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय

तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया १ समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥२१॥

भूमिका—अब, ज्ञान के स्वरूप के विस्तार को (गाथा २१ से ५२ तक) और सुख के विस्तार को (गाथा ५३ से ६८ तक) क्रम से प्रवर्तमान दो अधिकारों द्वारा कहते हैं। उन में से पहले अधिकार को प्रारम्भ करते हुये, केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान (रूप) परिणत होने से सब प्रत्यक्ष होता है यह प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[ज्ञानं परिणममानस्य (केवलिनः)] (अनन्त पदार्थों के जानने में समर्थ ऐसे) केवल ज्ञान रूप से परिणत हुए केवली भगवान के [सर्वद्रव्यपर्यायाः] सब द्रव्य पर्यायें [खलु] वास्तव में [प्रत्यक्षाः] प्रत्यक्ष हैं। [सः] वह (केवली भगवान्) [तान्] उन सब (द्रव्य-पर्यायों) को [अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः] अवग्रह है पूर्व में जिनके ऐसे अवग्रह, ईहा, अवाय रूप क्रियाओं द्वारा [नैव] नहीं [विजानाति] जानते हैं (किन्तु युगपत् जानते हैं)।

टीका—क्योंकि, वास्तव में, इन्द्रियों को आलम्बन करके अवग्रह, ईहा, अवाय पूर्वक क्रम से केवली नहीं जानते हैं (किन्तु) समस्त आवरण के नाश के समय में ही, अनादि अनन्त, अहेतुक, और असाधारणभूत ज्ञान स्वभाव को ही कारणपने से ग्रहण करके, उसके ऊपर प्रगट होने वाले केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वयमेव परिणमते हैं। इस कारण से उस (केवली) के, समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (जानने से) प्रत्यक्ष ज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं। (भवन्ति क्रिया का कर्ता समस्त द्रव्य पर्यायें है।)।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका–

(उपोद्घातः) अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति । तत्राष्टौ स्थलानि । तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादिगाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासंख्यातप्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्वं भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन "आदा णाणपमाणं" इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः परं ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमननिराकरणमुख्यतया "णाणी णाणसहावो" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टयं, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्याय-

१—'समस्त' इति पाठान्तरम् ।

परिच्छित्तिकथनादिरूपेण "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं बन्धकारणं न भवति रागादि-विकल्परहितं छद्मस्थज्ञानमपि । किन्तु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया "परिणमदि णेयं" इत्यादि-सूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं सर्वज्ञानं सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन "जं तक्कालियमिदरं" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपंचोपसंहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन द्वितीया चेति "णवि परि-णमदि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः स्थलाष्टकेन समुदाय-पातनिका । तद्यथा—अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वप्रत्यक्षं भवतीति प्रतिपादयति—(पच्चक्खा सव्वदव्व-पज्जाया) सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति । कस्य । केवलिनः । किं कुर्वतः । (परिणमदो) परिणममानस्य (खलु) स्फुटम् । किम् । (णाणं) अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम् । तर्हि किं क्रमेण जानाति । (सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः, किन्तु युगपदित्यर्थः । इतो विस्तरः—अनाद्यनन्तमहेतुकं चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसंज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसंवेदनज्ञानफलभूतकेव-लज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रका-लभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

उत्थानिका सूची सहित—आगे ज्ञान प्रपंच नामके अंतर अधिकारमें ३३ तेतीस गाथाएं हैं उनमें आठ स्थल हैं जिनके आदिमें केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हुए 'परिणमदो खलु' इत्यादि गाथाएं दो हैं फिर आत्मा और ज्ञानके निश्चयसे असंख्यात प्रदेश होनेपर भी व्यवहारसे सर्वव्यापी बना है इत्यादि कथनकी मुख्यतासे "आदा णाणपमाणं" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। उसके पीछे ज्ञान और ज्ञेय पदार्थोंका एक दूसरेमें गमनके निषेधकी मुख्यतासे "णाणी णाणसहावो" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। आगे निश्चय और व्यवहारसे केवलीके प्रतिपादन आदि मुख्यता करके "जोहि सुदेण" इत्यादि चार सूत्र हैं। आगे वर्तमान कालके ज्ञानमें तीनकालकी पर्यायोंके जाननेको कहने आदिकी मुख्यतासे "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादि पांच सूत्र हैं। आगे केवलज्ञान बन्धका कारण नहीं है, न रागादि विकल्परहित छद्मस्थ का ज्ञान बन्धका कारण है किन्तु रागादिक बन्धके कारण हैं इत्यादि निरूपणकी मुख्यतासे "परिणमदि णेय" इत्यादि पांच सूत्र हैं। आगे केवलज्ञान सर्वज्ञान है इसीको सर्वज्ञपना करके कहते हैं इत्यादि व्या-ख्यानकी मुख्यतासे "जं तक्कालियमिदरं" इत्यादि पांच गाथाएं हैं। आगे ज्ञान प्रपंचको संकोच करनेकी मुख्यतासे पहली गाथा है तथा नमस्कारको कहते हुए दूसरी तरह "णवि परिणमदि" इत्यादि दो गाथाएं हैं। इस तरह ज्ञान प्रपंच नामके तीसरे अन्तर अधिकारमें तेतीस गाथाओंमें आठ स्थलों से समुदाय पातनिका पूर्ण हुई।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञानमें परिणमन करते हैं इस कारणसे उनको सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थः—(खलु) वास्तवमें (णाणं) अनन्त पदार्थोंको जाननेमें समर्थ केवल ज्ञानको (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवानके (सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और

उनकी तीनकालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती हैं। (सः) वह केवली भगवान (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायोंको (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रहपूर्वक क्रियाओंके द्वारा (णेव विजाणदि) नहीं जानते हैं किन्तु युगपत् जानते हैं, ऐसा अर्थ है।

इसका विस्तार यह है कि आदि और अन्त रहित, विना किसी उपादान कारणके सत्ता रखनेवाले तथा चैतन्य और आनन्दमई स्वभावके धारी अपने शुद्ध आत्माको उपादेय, अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीजभूत जिसको आगमकी भाषासे शुक्लध्यान कहते हैं, होनेसे रागादि विकल्पोंके जालसे रहित स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदन ज्ञानके फल स्वरूप केवलज्ञानमई ज्ञानाकारमें परिणमन करनेवाले केवली भगवानके उसी ही क्षणमें, जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब क्रम क्रमसे जाननेवाले मतिज्ञानादि ज्ञानके अभावसे, विना क्रमके एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान होजाते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥ २२॥

नास्ति परोक्षं किंचित् अपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सर्वदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य॥ २२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं[१] लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात्॥ २२॥

भूमिका—अब, इस भगवान के अतीन्द्रिय ज्ञान (रूप) परिणत होने से ही कुछ भी परोक्ष नहीं है, इस अभिप्राय को प्रगट करते हैं। ('सब प्रत्यक्ष है' ऐसा अन्वय रूप से पूर्व सूत्र में कहा था। अब कुछ भी परोक्ष नहीं है, इस प्रकार उस ही अर्थ को व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं) :—

१—स्वपरप्रकाशनस्य, स्वैरं लोको, इति पाठान्तरम्।

अन्वयार्थ—(१) [सर्वदा अक्षातीतस्य] सदा (सर्वकाल) इन्द्रिय व्यापार से रहित, (२) [समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य] सर्व आत्म-प्रदेशों से या समस्तपने से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द की जानकारी रूप सर्व इन्द्रिय गुणों से समृद्ध, (३) [स्वयमेव ज्ञानजातस्य] स्वयमेव ज्ञान रूप परिणत (तस्य भगवतः) उस केवली भगवान के [हि] वास्तव में [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्षं नास्ति] परोक्ष नहीं है।

टीका—(१) [सांसारिक-परिच्छित्ति-निष्पत्ति-बलाधान-हेतुभूतानि] जो सांसारिक ज्ञान की उत्पत्ति में बल देने रूप हेतुभूत (निमित्तकारण) हैं और [प्रतिनियत-विषय-ग्राहीणि] अपने अपने निश्चित विषय को ग्रहण करने वाली [अक्षाणि] इन्द्रियां हैं [तैः अतीतस्य] उनसे अतीत, (२) [स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द-परिच्छेद-रूपैः सर्वैः इन्द्रियगुणैः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द के ज्ञान रूप सर्व इन्द्रिय-गुणों के द्वारा [समन्ततः] सर्व आत्म प्रदेशों से [समरसतया समृद्धस्य] सम-रस-रूप से समृद्ध (अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द को सर्व आत्म-प्रदेशों से समान रूप से जानने वाले), (३) [स्वयमेव सामस्त्येन स्वपर-प्रकाशन-क्षमं] स्वयमेव सम्पूर्ण रूप से स्व-पर-प्रकाशन करने में समर्थ (और) (अविनश्वरं) अविनाशी (ऐसे) [लोकोत्तरज्ञानजातस्य] लोकोत्तर ज्ञान रूप उत्पन्न हुए, (ऐसे तीन विशेषण युक्त) [अस्य भगवतः] इस केवली भगवान के [खलु] वास्तव में (समस्तावरणक्षयक्षणे एव) समस्त आवरण के क्षय के समय में ही [अक्रम-समाक्रान्त-समस्त-द्रव्य-क्षेत्र काल-भावतया] समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (सब को युगपत् जानने से) [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्षं एव न स्यात्] परोक्ष नहीं है (साक्षात् जानने से बचा हुआ नहीं है) ॥ २२ ॥

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ सर्वं प्रत्यक्षं भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानीं तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति,—(णत्थि परोक्खं किंचिवि) अस्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्ति। किंविशिष्टस्य। (समन्त सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य। तर्हि

किमक्षसहितस्य । नैवम् । (अक्खातीदस्स) अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य । (सया) सर्वदा सर्वकालम् । पुनरपि किंरूपस्य । (सयमेव हि णाणजादस्स) स्वयमेव हि स्फुटं केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति । तद्यथा-अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं परिणतस्यास्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्तीति भावार्थः ॥ २२ ॥

एवं केवलिनां समस्तं प्रत्यक्षं भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

आगेकी उत्थानिका—आगे कहते हैं कि केवलज्ञानीको सर्व प्रत्यक्ष होता है, यह बात अन्वयरूपसे पूर्व सूत्रमें कही गई । अब केवलज्ञानीको कोई बात भी परोक्ष नहीं है, इसी बातको व्यतिरेकसे दृढ़ करते हैं-

अन्वय सहित विशेषार्थ—(समंत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्माके प्रदेशोंके द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इन्द्रियोंके गुणोंसे परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्दके जाननेरूप जो इन्द्रियोंके विषय उन सबके जाननेकी शक्ति सर्व आत्माके प्रदेशोंमें जिसके प्राप्त होगई हैं ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण और (सयमेव हि) स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञानमें परिणमन करनेवाले अरहंत भगवानके (किंचिवि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नहीं है ।

भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव हैं। परमात्माके स्वभावसे विपरीत क्रम क्रमसे ज्ञान में प्रवृत्ति करनेवाली इन्द्रियां हैं । उनके द्वारा जाननेसे जो उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जिस परमात्माके पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन कालवर्ती समस्तपदार्थोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेको समर्थ अविनाशी तथा अखंडपनेसे प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान में परिणमन करते हैं, अत एव उनके लिये कोई भी पदार्थ परोक्ष नही है ।

इस तरह केवलज्ञानियोंको सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ॥
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणं उद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्मात् ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥ २३ ॥

(यतः) आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहि-

तत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पादध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरक्षयक्षण एव, लोकालोकविभागविभक्तसमस्त-वस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात्, ज्ञानं सर्वगतम् ॥ २३ ॥

भूमिका—अब, आत्मा के ज्ञानप्रमाणपने को (आत्मा ज्ञान के बराबर है, हीन या अधिक नहीं है, इस बात को) और ज्ञानके सर्वगत-पने को (ज्ञान सब पदार्थों में रहता है, इस बातको उद्योत करते हैं (प्रगट करते है) :–

अन्वयार्थ—[आत्मा ज्ञानप्रमाणं] आत्मा ज्ञान के बराबर (और) [ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणं] ज्ञान ज्ञेय के बराबर [उद्दिष्ट] कहा गया है। [ज्ञेयं] ज्ञेय [लोकालोकं] लोक-अलोक है। [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं] ज्ञान [तु] तो [सर्वगत (–सर्वव्यापक) है।

टीका—'समगुणपर्याय द्रव्यं' गुण पर्यायों जितना द्रव्य है इस वचन से (इस आगम वचन के अनुसार) आत्मा वास्तव में ज्ञान के साथ हीनाधिकता–रहितपने से परिणत होने से उसके (ज्ञान के) बराबर है। और ज्ञान तो ज्ञेयों में स्थित होने से, दाह्य में (जलाने योग्य पदार्थों में) स्थित अग्नि की भांति, ज्ञेयों के बराबर हैं। ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग में विभक्त, अनन्त पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित (प्रगट-ज्ञात) व्यय उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप ऐसा षट् द्रव्यसमूह रूप सब कुछ है। चूंकि ऐसा है इसलिये सम्पूर्ण आवरण के नाश के समय में ही लोक और अलोक के विभाग में विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके और फिर उसी प्रकार अच्युतरूप (अविनाशी) रहने से ज्ञान सर्वगत है॥ २३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका–

अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञानं च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—(आदा णाणपमाणं) ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति। तथाहि–"समगुणपर्यायं द्रव्यं भवती"ति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाणः, तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योसौ] केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा। (णाणं णेयप्पमा-

णमुद्दिट्ठं) दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं कथितम् । (णेयं लोयालोयं) ज्ञेयं लोकालोकं भवति । शुद्धबुद्धै-कस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोकः, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोकः, तच्च लोकालो-कद्वयं स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम् । (तम्हा णाणं तु सव्वगयं) यस्मान्नि-श्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तरं पूर्वोक्तज्ञेयं जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञानं सर्वगतं भण्यते । ततः स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं सर्वगतमिति ॥ २३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहारसे सर्वगत है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(आदा णाणपमाणं) आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञानके साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतना आत्मा है । कहा है " समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति " अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंके समान होता है ।

इस वचन से वर्तमान मनुष्यभवमें यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्यायके समान प्रमाणवाला है तैसे ही मनुष्य पर्यायके प्रदेशोंमें रहनेवाला ज्ञान गुण है । जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्यायमें ज्ञान गुणके बराबर प्रत्यक्षमें दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चयसे सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण है तिस प्रमाण यह आत्मा है ।

(णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है । जैसे ईंधनमें स्थित आग ईन्धनके बराबर है वैसे ही ज्ञान ज्ञेयके बराबर है । (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक हैं । शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई सर्व तरहसे उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म-द्रव्यको आदि लेकर छः द्रव्यमई यह लोक है । लोकके बाहरी भागमें जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है । ये दोनों लोकालोक अपने अपने अनन्त पर्यायोंमें परिणमन करते हुए अनित्य हैं तो भी द्रव्यार्थिक नयसे नित्य हैं । ज्ञान लोक अलोकको जानता है । (तम्हा) इस कारणसे (णाणं तु सव्वगयं) ज्ञान सर्वगत है ।

अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगकी भावनाके बलसे पैदा होनेवाला जो केवलज्ञान है वह पत्थरमें टंकीसे उकेरे हुएके न्यायसे पूर्वमें कहे गये सर्व ज्ञेयको जानता है इसलिये व्यवहार नयसे ज्ञान सर्वगत कहा गया है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥ २५ ॥

ज्ञानप्रमाणं आत्मा न भवति यस्य इह तस्य सः आत्मा।
हीनः वा अधिकः वा ज्ञानात् भवति ध्रुवं एव ॥ २४ ॥
हीनः यदि सः आत्मा तत् ज्ञानं अचेतनं न जानाति।
अधिकः वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥ २५ ॥

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानंज्ञानं स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति। यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति। ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्य ॥ २४। २५॥

भूमिका—अब, आत्माके ज्ञान-प्रमाण-पना (आत्मा ज्ञानके बराबर है, यह बात) न मानने में दो पक्षों को उपस्थित करके, (उन दोनों को) दूषित ठहराते हैं। (आत्मा को ज्ञान-प्रमाण जो नहीं मानते हैं वहां हीनाधिकपने में दोष देते हैं):—

अन्वयार्थः—[इह] इस जगत् में [यस्य] जिस वादी के मत में [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञान के बराबर [न भवति] नहीं है [तस्य] उसके मत में [सः आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात् हीनः] ज्ञान से हीन [वा] अथवा [ज्ञानात् अधिकः] ज्ञान से अधिक [ध्रुवं एव] अवश्य ही [भवति] है। [यदि] जो [सः आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात् हीनः] ज्ञान से हीन है तो [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [अचेतनं] अचेतन (अपने आश्रय भूत चेतनमयी आत्म-द्रव्य के आधार बिना अचेतन होने से) [न जानाति] नहीं जानता है अथवा जो वह आत्मा [ज्ञानात् अधिकः] ज्ञान से अधिक है तो [ज्ञानेन विना] ज्ञान के बिना [कथं जानाति] (वह आत्मा अचेतन होने से) कैसे जानता है ? (अर्थात् नहीं जान सकता)

टीका—जो वास्तव में 'आत्मा ज्ञान से हीन है' यह स्वीकार किया जाय तो आत्मा से आगे बढ़ा हुवा ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्य का समवाय (सम्बन्ध) न रहने से अचेतन होता हुआ, रूपादि गुण जैसा होता हुआ, नहीं जानता है और जो (यह आत्मा) ज्ञान से

अधिक है' ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाय तो अवश्य ही (आत्मा) ज्ञान से आगे बढ़ जाने से (ज्ञान से) पृथक् भूत (भिन्न) होता हुआ, घट पट आदि जैसा प्राप्त हुआ, ज्ञान के बिना नहीं जानता है। इस कारण से ज्ञान के बराबर ही यह आत्मा मानने योग्य है ॥ २४-२५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथात्मानं ज्ञानप्रमाणं ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषणं ददाति,—

(णाणप्पमाणं आदा ण हवदि जस्सेह) ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति (तस्स सो आदा) तस्य मते स आत्मा (हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव) हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति (हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि) हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतनं भवत्सत् किमपि न जानाति। (अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि) अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्निः शीतलो भवन्सन् दहनक्रियां प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथं जानाति न कथमपि। अयमत्र भावार्थः—ये केचनात्मानमंगुष्ठपर्वमात्रं, श्यामाकतण्डुलमात्रं, वटककणिकादिमात्रं वा मन्यन्ते ते निषिद्धाः। येपि समुद्घातसप्तकं विहाय देहादधिकं मन्यन्ते तेपि निराकृता इति ॥ २४-२५ ॥

उत्थानिका—अब जो आत्माको ज्ञानके बराबर नहीं मानते हैं, ज्ञानसे कमती बढ़ती मानते उनको दूषण देते हुए कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस जगतमें (जस्स) जिस वादीके मतमें (आदा) आत्मा (णाणपमाणं) ज्ञान प्रमाण (ण हवदि) नहीं होता है (तस्स) उसके मतमें (सो आदा) वह आत्मा (णाणदो) ज्ञान गुणसे (हीणो वा) या तो हीन अर्थात् छोटा (अधिगो वा) या अधिक अर्थात् बड़ा (हवदि) होता है (धुवम् एव) यह निश्चय ही है।

(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (हीणो) हीन या छोटा होता है तब (तं णाणं) सो ज्ञान (अचेदणं) चेतन रहित होता हुआ (ण जाणादि) नहीं जानता है अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञानसे कम या छोटा माना जाय तब जैसे अग्निके विना उष्ण गुण ठंडा हो जायगा और अपने जलानेके कामको न कर सकेगा तैसे आत्माके विना जितना ज्ञानगुण बचेगा वह ज्ञानगुण अपने आश्रय भूत चैतन्य मई द्रव्यके विना जिस आत्मद्रव्यके साथ ज्ञानगुणका समवाय सम्बन्ध है, अचेतन या जड़रूप होकर कुछ-भी नहीं जान सकेगा।

(वा णाणदो) अथवा ज्ञानसे (अधिगो) अधिक या बड़ा आत्माको माने तब (णाणेण विणा) ज्ञानके विना (कहं) कैसे (णादि) जान सकता है अर्थात् यदि यह माने कि ज्ञान गुणसे आत्मा बड़ा है तब जितना आत्मा ज्ञानसे बड़ा है उतना आत्मा जैसे उष्णगुणके विना अग्नि ठंडी होकर अपने

जलानेके कामको नहीं कर सकती है तैसे ज्ञानगुणके अभावमें अचेतन होता हुआ किस तरह कुछ जान सकेगा अर्थात् कुछ भी न जान सकेगा।

यहां यह भाव है कि जो कोई आत्माको अंगूठेकी गांठके बराबर या श्यामाक तंदुलके बराबर या वड़के बीजके बराबर आदि रूपसे मानते हैं उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घातके विना आत्माको शरीरप्रमाणसे अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया है ॥ २४-२५ ॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥ २६ ॥

सर्वगतः जिनवृषभः सर्वे अपि च तद्गताः जगति अर्थाः।
ज्ञानमयत्वात् च जिनः विषयत्वात् तस्य ते भणिताः ॥ २६ ॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूत व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्। अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥ २६ ॥

भूमिका—अब आत्मा के भी, ज्ञान की तरह, सर्वगतपना न्याय से प्राप्त हुआ, इस बात को दिखलाते हैं :—

अन्वयार्थ—[जिनवृषभः] जिनेश्वर (सर्वज्ञ) [सर्वगतः] सर्वगत है (ज्ञान की अपेक्षा सब पदार्थों में व्यापक है)। [जिनः ज्ञानमयत्वात्] क्योंकि जिन ज्ञानमय है [च] और [जगति] जगत में [सर्वे अपि अर्थाः] सब ही पदार्थ [तद्गताः] (दर्पण में विम्ब की

तरह) उस जिनवर–गत हैं (जिनमें प्राप्त हैं) (क्योंकि) [ते] वे पदार्थ [विषयत्वात्] ज्ञानके विषय (ज्ञेय) होनेसे [तस्य] जिनराजमें उनके विषय (ज्ञेय) [भणिताः) कहे गये हैं।

टीका—ज्ञान वास्तव में, तीन काल में व्याप्त सब द्रव्य पर्याय रूपसे व्यवस्थित विश्व के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करता हुआ (जानता हुआ) सर्वगत कहा गया है और ऐसे (सर्वगत ज्ञान से) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान भी सर्वगत ही हैं। इस प्रकार सर्वगत ज्ञानके विषय (ज्ञेय) होने से सब पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान से अभिन्न भगवान के वे विषय हैं, ऐसा (शास्त्र में) कथन होने से वे सब पदार्थ भगवान-गत ही हैं (अर्थात् भगवान् में प्राप्त ही हैं)। (अब टोकाकार इसके अर्थको विशेष रूप से समझाते हैं) :—

यहां (ऐसा समझना कि) निश्चय नय से अनाकुलता लक्षण सुख का जो संवेदन उस सुख-संवेदन की अधिष्ठानता जितना हो आत्मा है, और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्व-तत्त्व है। उस निज स्वरूप आत्म-प्रमाण ज्ञानको छोड़े बिना, विश्वके ज्ञेयाकारोंके निकट गये बिना, भगवान् (सर्व पदार्थोंको) जानते हुए भी, व्यवहार नयसे "भगवान् सर्वगत" है ऐसा तथा नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मा में स्थित (आत्मा में रहते हुए) देखकर सर्व पदार्थ उस-गत (आत्मगत) हैं, ऐसा उपचार किया जाता है किन्तु उनका (आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का) परमार्थ से एक दूसरे में गमन नहीं है, क्योंकि सर्व द्रव्योंके स्वरूप-निष्ठपना है (क्योंकि सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित हैं)।

यही क्रम ज्ञान में भी निश्चित करनेयोग्य है (अर्थात् जिस प्रकार आत्मा और ज्ञेयों के सम्बन्ध में निश्चय व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयोंके सम्बन्ध में भी निश्चय व्यवहार से वैसा ही निश्चय करना चाहिये)।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ यथा ज्ञानं पूर्वं सर्वगतमुक्तं तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति;—

(सव्वगदो) सर्वगतो भवति। स कः कर्ता। (जिणवसहो) जिनवृषभः सर्वज्ञः। कस्मात् सर्वगतो भवति। (जिणो) जिनः (णाणमयादो य) ज्ञानमयत्वाद्धेतोः (सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा) सर्वेऽपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्। (ते भणिया) तेऽर्थास्तत्र गता भणिताः

(विसयादो) विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वाद् ज्ञेयत्वात् । कस्य । (तस्य) भगवतः इति । तथाहि—यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखं च तदाधारभूतस्तावदात्मा इत्थंभूतात्मप्रमाणं ज्ञानमात्मनः स्वस्वरूपं भवति । इत्थंभूतं स्वस्वरूपं देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति । ततः कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान् । येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते । ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे ज्ञानको पहले सर्वव्यापक कहा गया है तैसे ही सर्वव्यापक ज्ञानकी अपेक्षा भगवान् अरहंत आत्मा भी सर्वगत है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणमयादो य) तथा ज्ञानमयी होनेके कारणसे (जिनवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मोंको जीतनेवाले अरहंत या सिद्ध भगवान् (सव्वगदो) सवगत या सर्वगत या सर्व-व्यापक हैं, (तस्स) उस भगवानके ज्ञानके (विसयादो) विषयपनेको प्राप्त होनेके कारणसे अर्थात् ज्ञेयपनेको रखनेके कारणसे (सव्वेवि य जगति ते अट्ठा) सर्व ही जगतमें जो पदार्थ हैं सो (तग्गया) उस भगवानमें प्राप्त या व्याप्त (भणिदा) कहे गए हैं।

जैसे दर्पणमें पदार्थका बिम्ब पड़ता है तैसे व्यवहार नयसे पदार्थ भगवानके ज्ञानमें प्राप्त हैं। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान है तथा अनाकुलपनेके लक्षणको रखनेवाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो है सो ही आत्मा है, इस प्रकारके आत्माका जो प्रमाण है वही आत्माके ज्ञानका प्रमाण है और वह ज्ञान आत्माका अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देहके भीतर प्राप्त आत्माको नहीं छोड़ता हुआ भी लोक अलोकको जानता है। इस कारणसे व्यवहार नयसे भगवान्को सर्वगत कहा जाता है। और क्योंकि जैसे नीले पीले आदि बाहरी पदार्थ दर्पणमें झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकारसे ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये व्यवहारसे ज्ञान-आकार भी पदार्थ कहे जाते हैं। इसलिये वे पदार्थ ज्ञानमें तिष्ठते हैं ऐसा कहनेमें दोष नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ २६ ॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा अण्णं वा ॥ २७ ॥

ज्ञानं आत्मा इति मतं वर्तते ज्ञानं विना न आत्मानम् ।
तस्माद् ज्ञानं आत्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यत् वा ॥ २७ ॥

यतः × शेषसमस्तचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात् । आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात् । किं चानेकान्तोऽत्र बलवान् । एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव, आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥ २७ ॥

भूमिका—अब आत्मा और ज्ञान के एकत्व और अन्यत्व का विचार करते हैं (अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक पदार्थ है या दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं—इसका विचार करते हैं)

अन्वयार्थ—[ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मतं] ऐसा जिनेन्द्र देव द्वारा माना गया है (क्योंकि) [आत्मानं विना] आत्मा को छोड़कर (अन्य किसी भी जड़ द्रव्य में) [ज्ञानं न वर्तते] ज्ञान नहीं पाया जाता है। [तस्मात्] उस कारण से [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है । [आत्मा] आत्मा [ज्ञानं] (ज्ञान गुण की अपेक्षा से) ज्ञान है [वा] अथवा (सुख, वीर्य, आदि अन्य गुणोंकी अपेक्षा से) [अन्यत्] अन्य अन्य (भी) है ।

टीका—शेष समस्त अचेतन वस्तुओं के साथ समवाय सम्बन्ध न होने से तथा जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभाव-सिद्ध समवाय सम्बन्ध है, ऐसे एक आत्मा को सर्वथा अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से चूंकि उस आत्मा के विना ज्ञान अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, इसलिये ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा तो अनन्त धर्मों का अधिष्ठान (आधार-स्थान) होने से ज्ञान धर्मके द्वार (अपेक्षा) से ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वार (अपेक्षा) से अन्य भी है।

और फिर (उसके अतिरिक्त यह विशेष समझना कि) यहां अनेकान्त बलवान है। एकान्त से ज्ञान आत्मा है यदि यह माना जाय तो, (१) (ज्ञान गुण आत्म-द्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा, और (२) (ज्ञान का अभाव हो जाने से) आत्मा के अचेतनपना आ जायेगा, अथवा (३) आत्माके विशेष गुणका अभाव हो जाने से आत्मा का (ही) अभाव हो जायेगा।

सर्वथा (एकान्त से) आत्मा ज्ञान है यदि यह माना जाय तो, (आत्म-द्रव्य एक ज्ञान गुण रूप ही हो जायेगा । इसलिये, ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा । अतः (निराश्र-

× शेषसमस्तचेतनाचेतन इति पाठान्तरम् ।

यता के कारण से) ज्ञानका (ही) अभाव हो जायेगा, (२) अथवा (आत्म द्रव्य के एक ज्ञान गुण रूप हो जाने से) आत्मा को शेष पर्यायों का (सुख वीर्य आदि गुणों का) अभाव हो जायेगा, और (३) (उनके साथ ही) उन गुणों से अविनाभावी सम्बन्ध वाले उस आत्मा का भी अभाव हो जायेगा (क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता ।)

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति,—

(णाणं अप्पत्तिमयं) ज्ञानमात्मा भवतीति (मदं) सम्मतं । कस्मात् । (वट्टइ णाणं विणा ण अप्पाणं) ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते । (तम्हा णाणं अप्पा) तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात् । इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम् । (अप्पा णाणं च अण्णं वा) आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा, नियमो नास्तीति । तद्यथा—यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति । तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः । तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति । अयमत्राभिप्रायः—आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात् । आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति । तथाचोक्तं— "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" ॥ २७ ॥

इत्यात्मज्ञानयोरेकत्वं, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञान आत्माका स्वभाव है तथापि आत्मा ज्ञान स्वभाव भी है तथा सुख आदि स्वभाव रूप भी है—केवल एक ज्ञानगुणका ही धारी नहीं है—

अन्वय सहित विशेषार्थः—(णाणं) ज्ञानगुण (अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है, कारण कि (णाणं) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्मा द्रव्यके (विणा) विना अन्य किसी घट पट आदि द्रव्यमें (ण वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिये यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षासे अर्थात् गुण गुणीकी अभेद दृष्टिसे (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मारूप ही है। किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभावकी अपेक्षा विचारा जाता है। (अण्णं वा) तथा अन्य गुणरूप भी है।

अब आत्माके अंदर पाए जानेवाले सुख वीर्य आदि स्वभावोंकी अपेक्षा विचारा जाता है। यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्तसे ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावोंका अवकाश नहीं रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावोंके समुदायका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा। जब आधारभूत आत्माका अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुणका भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मतमें ज्ञान और आत्मा

दोनोंका ही अभाव हो जायगा। इसलिये किसी अपेक्षासे ज्ञान स्वरूप आत्मा है सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही नहीं है। यहां यह अभिप्राय है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है। इस लिये ज्ञान-स्वरूप आत्मा हो सक्ता है। तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। तैसा ही कहा है "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' व्यापकमें व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सकते हैं जबकि व्याप्य व्यापकमें ही रहता है ॥ २७ ॥

इस तरह आत्मा और ज्ञानकी एकता तथा ज्ञानके व्यवहारसे सर्वव्यापकपना है, इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८ ॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावः अर्थाः ज्ञेयात्मकाः हि ज्ञानिनः।
रूपाणि इव चक्षुषोः नैव अन्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किन्तु तेषां ज्ञानज्ञेय-स्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत्। यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरू-पिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्यो-न्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥ २८ ॥

भूमिका—अब, ज्ञान (ज्ञानी-आत्मा) और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते हैं- (अर्थात् ज्ञानी और ज्ञेय एक दूसरे में प्रवेश नहीं करते, यह कहते हैं) :—

अन्वयार्थ—[ज्ञानी] आत्मा (सर्वज्ञः) [ज्ञानस्वभावः] (केवल) ज्ञान स्वभाववाला है। (अर्थाः हि) और (जगत्त्रय कालत्रय-वर्ती) पदार्थ (ज्ञानिनः) केवल ज्ञानी के [ज्ञेयात्मकाः] ज्ञेय स्वरूप ही हैं। [रूपाणि इव चक्षुषोः] जैसे कि रूपी पदार्थ आंखों के ज्ञेय होते हैं। (वे ज्ञानी और ज्ञेय) [अन्योन्येषु] एक दूसरे में [न एव वर्तन्ते] नहीं रहते, नहीं जाते)।

टीका—ज्ञानी (आत्मा) और ज्ञेय पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व (अपने अपने लक्षण की अपेक्षा भिन्नत्व) के कारण से एक दूसरे में वृत्ति (प्रवेश) को ग्रहण नहीं करते, किन्तु उसके ज्ञान-ज्ञेय-स्वभाव-सम्बन्ध से होने वाली वृत्ति मात्र एक दूसरे में है, आंख और रूपी पदार्थ की तरह। जैसे आंखें और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये विना भी ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं, (आंखें ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के स्वभाव वाली हैं और पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने केस्वभाववाले हैं) । उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में वृत्ति बिना (गये बिना) भी समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और समर्पण करनेके स्वभाव वाले हैं अर्थात् आत्मा समस्त ज्ञेयाकारोंके ग्रहण करने के स्वभाववाला है और समस्त पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने के स्वभाववाले हैं ॥ २८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ ज्ञानं ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति,—(णाणी णाणसहावो) ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव। (अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स) जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मकाः। कस्य? ज्ञानिनः। (रूवाणिव चक्खूणं णेवऽण्णोण्णेसु वट्टंति) ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वे न वर्तन्ते। कानीव केषां संबन्धित्वेन? रूपाणीव चक्षुषामिति। तथाहि—यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं संबन्धाभावेपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि। चक्षूंषि च तथाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाः कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति। अखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थः ॥ २८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयोंके समीप नहीं जाता है ऐसा निश्चय है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(हि) निश्चयसे (णाणी) केवलज्ञानी भगवान आत्मा (णाणसहावो) केवलज्ञान स्वभावरूप है तथा (णाणिस्स) उस ज्ञानी जीवके भीतर (अत्था) तीन जगतके तीन कालवर्ती पदार्थ ज्ञेयस्वरूप पदार्थ (चक्खूणं) आंखोंके भीतर (रूवाणि व) रूपी पदार्थोंकी तरह (अण्णोण्णेसु) परस्पर एक दूसरेके भीतर (णेव वट्टंति) नहीं रहते हैं।

जैसे आंखोंके साथ रूपी मूर्तिक द्रव्योंका परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आंख शरीरमें अपने स्थानपर है और रूपी पदार्थ अपने आकारका समर्पण आंखोंमें करदेते हैं तथा आंखें उनके आकारोंको जाननेमें समर्थ होती हैं तैसे ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले पदार्थ तीन कालकी पर्यायोंमें परिणमन करते

हुए ज्ञानके साथ परस्पर प्रदेशोंका सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानीके ज्ञानमें अपने आकारके देनेमें समर्थ होते हैं तथा अखंडरूपसे एक स्वभाव झलकनेवाला केवलज्ञान उन आकारोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है, ऐसा भाव है ॥ २८ ॥

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

न प्रविष्टः नाविष्टः ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः ।
जानाति पश्यति नियतं अक्षातीतः जगत् अशेषम् ॥ २९ ॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न प्रविष्टः, शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च । एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥ २९ ॥

भूमिका—अब, पदार्थों में नहीं प्रवृत्त होनेवाले भी ज्ञानी के उन पदार्थों में वृत्तिको सिद्ध करनेवाली शक्ति-वैचित्र्य को (अद्भुत शक्तिको) प्रगट करते हैं ।

अन्वयार्थ—[चक्षुः रूपं इव] जैसे आंख रूपको (प्रदेशों की अपेक्षा प्रविष्ट न होकर किन्तु ज्ञेय-आकारोंकी अपेक्षा अप्रविष्ट न रहकर अर्थात् प्रविष्ट होकर जानती और देखती है) [उसी प्रकार] अक्षातीतः] इन्द्रियातीत [ज्ञानी] केवलज्ञानी आत्मा [अशेषं जगत्] समस्त जगत् को (समस्त लोकालोक को) [ज्ञेयेषु] ज्ञेयों में [न प्रविष्टः] प्रविष्ट न होकर [न अप्रविष्टः] तथा अप्रविष्ट न रहकर (अर्थात् प्रविष्ट होकर) [नियतं] निश्चित रूपसे [जानाति पश्यति] जानते और देखते हैं ।

टीका—जिस प्रकार आंख रूपी-द्रव्योंको अपने प्रदेशोंके द्वारा स्पर्श न करता हुआ (इस अपेक्षा से) अप्रविष्ट होकर तथा ज्ञेय के आकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ (इस अपेक्षा से) न अप्रविष्ट रहकर (प्रविष्ट होकर) जानता और देखता है, उसी प्रकार आत्मा भी, इन्द्रिय-अतीत होने के कारण से प्राप्यकारिता की विचार-गोचरता से दूर होता हुआ, ज्ञेयता को प्राप्त समस्त वस्तुओं को अपने प्रदेशों से स्पर्श नहीं करता हुआ, प्रविष्ट न होकर तथा शक्ति-वैचित्र्य (अद्भुत शक्ति) के वश से वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मूल में से ही उखाड कर ग्रास कर लेने की भांति, न अप्रविष्ट रहकर (अर्थात् प्रविष्ट होकर) जानता और देखता है। इस प्रकार विचित्र शक्तिवाले इस केवलज्ञानी के पदार्थों में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्धि को धारण करता है ॥ २९ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्यं दर्शयति,—(ण पविट्ठो) निश्चयनयेन न प्रविष्टः, (णाविट्ठो) व्यवहारेण च नाप्रविष्टः, किन्तु प्रविष्ट एव। स कः कर्ता। (णाणी) ज्ञानी। केषु मध्ये (णेयेसु) ज्ञेयपदार्थेषु। किमिव। (रूवमिव चक्खू) रूपविषये चक्षुरिव। एवंभूतस्सन् किं करोति। (जाणदि पस्सदि) जानाति पश्यति च (णियदं) निश्चितं संशयरहितं। किं विशिष्टः सन्। (अक्खातीदो) अक्षातीतः। किं जानाति पश्यति। (जगमसेसं) जगदशेषमिति। तथाहि—यथा लोचनं कर्तृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृशति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके। तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणामात्मनश्च संबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञानं तेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति- तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च। कथंभूतस्सन्। अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति। ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति ॥ २९ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थोंमें निश्चय नयसे प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहारसे प्रवेश किये हुए है, ऐसा झलकता है, ऐसी आत्माके ज्ञानकी विचित्र शक्ति है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अक्खातीदो) इन्द्रियोंसे रहित अतीन्द्रिय (णाणी) ज्ञानी आत्मा (चक्खू) आंख (रूवम् इव) जैसे रूपके भीतर वैसे (णेयेसु) ज्ञेय पदार्थोंमें (ण पविट्ठो) निश्चयसे प्रवेश न करता हुआ अथवा (ण अविट्ठो) व्यवहारसे अप्रविष्ट न होता हुआ अर्थात् प्रवेश करता हुआ (णियदं) निश्चितरूपसे व संशय रहितपनेसे (असेसं) सम्पूर्ण (जगम्) जगतको (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है।

जैसे नेत्र रूपी द्रव्योंको यद्यपि निश्चयसे स्पर्शन नहीं करता है तथापि व्यवहारसे स्पर्श कर रहा है ऐसा लोकमें झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व रागद्वेष आदि आस्रव भावोंके और आत्माके सम्बन्धमें जो केवलज्ञान होनेके पूर्व विशेष भेदज्ञान होता है उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवल दर्शनके द्वारा तीन जगत और तीनकालवर्ती पदार्थोंको निश्चयसे स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहारसे स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञानसे जानता है और दर्शनसे देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुखके स्वादमें परिणमन करता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंसे अतीत होगया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चयसे आत्मा पदार्थोंमें प्रवेश न करता हुआ ही व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें प्रवेश हुआ ही घटता है ॥२९॥

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥

रत्नं इह इन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।
अभिभूय तत् अपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानं अर्थेषु ॥ ३० ॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन, कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥ ३० ॥

भूमिका—अब, ज्ञान पदार्थों में इस प्रकार रहता है, यह स्पष्ट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [इह] इस जगत् में [दुग्धाध्युषितं] दूध में पड़ा हुआ [इन्द्रनीलं रत्नं] इन्द्रनील रत्न [स्वभासा] अपनी प्रभा के द्वारा [तत् अपि दुग्धं] उस दूधको (में) [अभिभूय] तिरस्कृत करके [वर्तते] रहता है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानं] ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृ द्रव्य) [अर्थेषु] ज्ञेय पदार्थों में व्याप्त होकर [वर्तते] रहता है।

टीका—जैसे वास्तव में दूध में पड़ा हुवा इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से उस (दूध) को तिरस्कार करके रहता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होनेके कारण कर्ता-अंश से आत्माको प्राप्त होता हुवा, ज्ञानपनेको प्राप्त करण-अंश द्वारा कारणभूत पदार्थों (बाह्य ज्ञेय-पदार्थों) के कार्यभूत-समस्त-ज्ञेयाकारों (ज्ञान में ज्ञेयाकारों) को व्याप्त हुआ वर्तता है। इसलिये कार्य में कारणपने से (ज्ञेयाकारों में पदार्थों का) उपचार करके यह कहना कि ज्ञान पदार्थों को व्याप्त करके रहता है, विरोधको प्राप्त नहीं होता है।३०।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति,—

(रयणमिह) रत्नमिह जगति। किं नाम। (इंदणीलं) इन्द्रनीलसंज्ञं। किं विशिष्टं। (दुद्धज्झसियं) दुग्धे निक्षिप्तं (जहा) यथा (सभासाए) स्वकीयप्रभया (अभिभूय) तिरस्कृत्य। किं। (तंपि दुद्धं) तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि (वट्टइ) वर्तते। इति दृष्टान्तो गतः। (तह णाणमट्ठेसु) तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति। तद्यथा—यथेन्द्रनीलरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसंयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्त्याकारेण वर्तते। अयमत्र भावार्थः—कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूताः परिच्छित्त्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति ॥ ३० ॥

उत्थानिका—आगे ऊपर कही हुई बातको दृष्टान्त के द्वारा दृढ करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस जगतमें (जहा) जैसे (इंदणीलं रयणम्) इन्द्रनील नामका रत्न (दुद्धज्झसियं) दूधमें डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमकसे (तंपि दुद्धं) उस दूधको भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) वर्तता है (तह) तैसे (णाणम्) ज्ञान (अत्थेसु) पदार्थोंमें वर्तता है।

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नामका प्रधानरत्न कर्त्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारणसे दूध नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परम सामायिक नामा संयमके द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा-परको जाननेकी शक्ति रखनेके कारण सर्व अज्ञानके अंधेरेको तिरस्कार करके एक समयमें ही सर्व पदार्थोंमें ज्ञानाकारसे वर्तता है—यहां यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थोंके कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञानमें झलकते हैं उनको उपचारसे पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थों में ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहारसे दोष नहीं है ॥ ३० ॥

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३१ ॥

यदि ते न सन्ति अर्थाः ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिताः अर्थाः ॥ ३१ ॥

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत । अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम् । तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्द-भूमिकावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि, परम्परया प्रतिबिम्बस्थानी-यसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥३१॥

भूमिका—अब, ज्ञान पदार्थ में इस प्रकार रहते हैं, यह व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ते अर्थाः] वे पदार्थ [ज्ञाने न सन्ति] (अपनी परिछित्तिके आकारों के समर्पण द्वारा, दर्पण में बिम्ब की तरह) केवलज्ञान में नहीं हैं तो [ज्ञानं] ज्ञान [सर्वगतं] सर्वगत [न भवति] नहीं हो सकता [वा] और [सर्वगतं ज्ञानं] सर्वगत ज्ञान माना गया है, तो [ज्ञानस्थिताः अर्थाः] पदार्थ (अपने ज्ञेयाकारों के परिच्छित्ति-समर्पण द्वारा) ज्ञान में स्थित [कथं न भवन्ति] कैसे नहीं हैं (किन्तु हैं ही) ।

टीका—जो वास्तव में समस्त अपने ज्ञेयाकारों के समर्पण द्वारा से अवतरित सभी पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं, तो वह (ज्ञान) सर्वगत नहीं माना जा सकता और (ज्ञान तो) सर्वगत माना गया है। तो फिर साक्षात् ज्ञान दर्पण भूमिका में अवतरित बिम्ब की भांति अपने अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होने से) और परम्परा से प्रतिबिम्ब के समान ज्ञेयाकारों के समान होनेसे कैसे पदार्थ ज्ञान में स्थित निश्चित न किये जाएं (अवश्य ही ज्ञान में पदार्थ स्थित निश्चित होते हैं) ।

जयसेनाचार्य कृत टीका-

अथ पूर्वसूत्रेण भणितं ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशन्ति,—

(जइ) यदि चेत् (ते अट्ठा ण संति) ते पदार्थाः स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे विम्बवन्न सन्ति यदि चेत्। क्व। (णाणे) केवलज्ञाने (णाणं ण होइ सव्वगयं) तदा ज्ञानं सर्वगतं न भवति। (सव्वगयं वा णाणं) व्यवहारेण सर्वगतं ज्ञानं सम्मतं चेद्भवतां (कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा) तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकार-परिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्थाः कथं न भवन्ति किन्तु भवन्त्येव। अत्रायमभिप्रायः—यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञानं सर्वगतं भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यव-हारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥ ३१ ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रसे यह बात कही गई कि व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें वर्तन करता है अब यह उपदेश करते हैं कि पदार्थ ज्ञानमें वर्तते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाणे) केवलज्ञानमें (ण संति) नहीं हों अर्थात् जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकारको समर्पण करनेके द्वारा ज्ञानमें न झलकते हों तो (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत (ण होइ) नहीं होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहारसे (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मतिसे है तो व्यवहार नयसे (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयाकारको ज्ञानमें समर्पण करनेवाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवलज्ञानमें स्थित हैं—किन्तु ज्ञानमें अवश्य तिष्ठते हैं, ऐसा मानना होगा।

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहार नयसे ही जब ज्ञेयोंके ज्ञानाकारको ग्रहण करनेके द्वारा ज्ञानको सर्वगत कहा जाता है इसीलिये ही सब ज्ञेयोंके ज्ञानाकार समर्पण द्वारसे पदार्थ भी व्यवहारसे ज्ञानमें प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थोंके आकारको जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञानको देते हैं, यह कहना होगा ॥ ३१ ॥

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्य-तोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥

गृण्हाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्ततः सः जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥ ३२ ॥

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविरामः, प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥ ३२ ॥

भूमिका—अब, इस प्रकर केवलज्ञानी के साथ एक दूसरे में वृत्तिवाले होने पर भी, परको ग्रहण, त्याग किये विना तथा परद्रव्य रूप परिणत हुए विना सबको देखने जाननेवाले केवली के (पदार्थों के साथ) अत्यन्त भिन्नपनेको वतलाते हैं:—

अन्वयार्थ—[केवली भगवान्] केवली भगवान (सर्वज्ञ) [परं] पर-द्रव्यको-ज्ञेय पदार्थको [न एव गृण्हति] न ग्रहण करते हैं, [न मुंचति] न छोड़ते हैं, [न परिणमति] और न परद्रव्य रूप-ज्ञेयरूप परिणत होते हैं। (इससे जाना जाता है कि उनका पर द्रव्यके साथ भिन्नत्व ही है। तो क्या परद्रव्य को जानते भी नहीं ? उत्तर—तथापि [समन्ततः] सर्व द्रव्य क्षेत्र-काल-भावों से [सर्वं] सब ज्ञेयोंको [निरवशेषं] निरवशेष [पश्यति जानाति] देखते जानते हैं।

टीका—वह आत्मा वास्तव में, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण त्यागका तथा परद्रव्य रूपके परिणत होनेका (उसके) अभाव होनेसे, स्वतत्त्वभूत केवलज्ञान स्वरूपसे परिणत होकर (तथा) निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (एवं) जिसके सब आत्म-प्रदेशोंसे दर्शन ज्ञान शक्ति स्फुरित है, ऐसा होता हुआ, निःशेष रूपसे परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मा में संचेतता (जानता-अनुभव करता) है।

अथवा एक साथ ही सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करने से, ज्ञप्ति परिवर्तन का अभाव होने से, (तथा) जिसके ग्रहण त्याग रूप क्रिया विराम को प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ,

(एवं) पहले समय में ही समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत होने से, फिर दूसरे आकारान्तर रूप नहीं परिणत होता हुआ, सर्व प्रकार से सम्पूर्ण विश्वको देखता जानता है।

(सार) इस प्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकारसे) उसका (आत्मा का पदार्थों से) अत्यन्त भिन्नपना ही है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ ज्ञानिनः पदार्थैः सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि संश्लेषादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थैः सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति,—

(गेण्हदि णेव ण मुंचदि) गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव (ण परं परिणमदि) परं परद्रव्यं ज्ञेयपदार्थं नैव परिणमति। स कः कर्ता। (केवली भगवं) केवली भगवान् सर्वज्ञः। ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव। तर्हि किं परद्रव्यं न जानाति। (पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं) तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्वं निरवशेषम्। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बहिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादयं जीवः केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् परं विकल्पान्तरं न परिणमति। तथाभूतः सन् किं करोति। स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मानं स्वात्मनि जानात्यनुभवति। तेनापि कारणेन परद्रव्यैः सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

एवं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

उत्थानिका—आगे यह समझाते हैं कि यद्यपि व्यवहारसे ज्ञानीका ज्ञेय पदार्थोंके साथ ग्राह्य ग्राहक अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चयसे स्पर्श आदिका सम्बन्ध नहीं है इसलिये ज्ञानीका ज्ञेय पदार्थोंके साथ भिन्नपना ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(केवली भगवं) केवली भगवान सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थको (णेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते हैं, (ण मुंचति) न छोड़ते हैं (ण परिणमदि) न उसरूप परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि उनकी परद्रव्यसे भिन्नता ही है। तब क्या वे परद्रव्यको नहीं जानते हैं? उसके लिये कहते हैं कि यद्यपि भिन्न हैं तथापि व्यवहार नयसे (सो) वह भगवान् (णिरवसेसं सव्वं) विना अवशेषके सबको (समंतदो) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके साथ (पेच्छदि) देखते हैं तथा (जाणदि) जानते हैं।

अथवा इसीका दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान भीतर तो काम क्रोधादि भावोंको और बाहरमें पांचों इंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्माके अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयको छोडते हैं। यही कारण है जो केवलज्ञानी आत्मा केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कालमें ही एक साथ सर्वको देखते जानते हुए भी अन्य विकल्परूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं? अपने स्वभावरूप केवलज्ञानकी ज्योतिसे निर्मल स्फटिक मणिके समान निश्चल चैतन्य प्रकाशरूप होकर अपने

आत्माके द्वारा आत्मामें जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारणसे उनकी परद्रव्योंके साथ एकता नहीं है भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

इस तरह ज्ञान ज्ञेयरूपसे परिणमन नहीं करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ३२॥

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥

यः हि श्रुतेन विजानाति आत्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
तं श्रुतकेवलिनं ऋषयः भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली । अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥ ३३ ॥

भूमिका—अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञानीके अविशेष (समानता अन्तररहितता) दिखलाते हुये, विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानी में और श्रुतज्ञानी में अन्तर नहीं है, यह दिखाकर विशेष जाननेकी इच्छा की आकुलता को नष्ट करते हैं) :—

अन्वयार्थ—[यः) जो [हि] वास्तव में [श्रुतेन] श्रुतज्ञान से (निर्विकार स्वसंवित्ति रूप भाव श्रुत परिणामसे , [स्वभावेन] स्वभाव से (समस्त विभाव रहित स्वभाव से) [ज्ञायकं] ज्ञायक स्वभावी (भाव ज्ञान स्वरूप) [आत्मानं] आत्म द्रव्यको [विजानाति] जानता है, [लोकप्रदीपकराः] लोकके प्रकाशक [ऋषयः] ऋषीश्वर गण [तं] उसको [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणन्ति] कहते हैं।

टीका—जैसे भगवान्, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य-विशेष-युक्त केवलज्ञान द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण (अहेतुक) असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण से केवली हैं, उसी प्रकार यह (छद्मस्थ) पुरुष भी, क्रमशः परिणमित होते हुए कुछ चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादि निधन निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होनेसे केवल (अकेला) है, ऐसे आत्माका आत्मासे आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं। (इसलिये) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से (अधिक जानने की इच्छा रूप आकुलता से) बस हो। (हमारे द्वारा] स्वरूप में निश्चल ही ठहरा जाता है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीव भाव-श्रुत ज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्माका अनुभव करते हैं तथा केवली भगवान् केवल-ज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्माका अनुभव करते हैं। इसलिये दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पर-पदार्थ का हीनाधिक ज्ञान आत्म-अनुभव में प्रयोजनवान नहीं है। इसलिये पर-द्रव्य के अधिक ज्ञानको करनेकी आकुलता छोड़कर आत्मा-अनुभव करनेका अभ्यास कर, उसमें तेरा भला है। आत्म-अनुभव करने वाले जीवोंको निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं जबकि सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के जानकार को व्यवहार से श्रुतकेवली कहते हैं। ऐसी आत्म-अनुभव की अटूट महिमा है। देखिये श्री समयसार जी में गाथा नं० ६ बिलकुल यही गाथा है।

मूल गाथामें केवल श्रुतकेवली की बात है और टीकाकार केवलज्ञानी तथा श्रुतकेवली दोनोंकी बात कर रहे हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान-प्रज्ञापन (केवलज्ञान या केवलज्ञान स्वरूपी आत्मा) के कथन करने की प्रतिज्ञा है। फिर श्रुतकेवली की गाथा क्यों आई है? इसमें से टीकाकार ने यह भाव निकाला है कि सूत्रकार दोनोंका अविशेष दिखलाना चाहते हैं॥ ३३॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञानं भवतीति निश्चिनोति। अथवा द्वितीयपातनिका—यथा केवलज्ञानं प्रमाणं भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशकं श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाणं भवतीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

(जो) यः कर्ता (हि) स्फुटं (सुदेण) निर्विकारस्वसंवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन (विजाणदि) विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति। कम्। (अप्पाणं) निजात्मद्रव्यं। कथम्भूतं। (जाणगं) ज्ञायकं केवलज्ञानस्वरूपं। केन कृत्वा। (सहावेण) समस्तविभावरहितस्वस्वभावेन (तं सुयकेवलिं) तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं (भणंति) कथयन्ति। के कर्तारः (इसिणो) ऋषयः। किं विशिष्टाः। (लोयप्पदीवयरा) लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति। अतो विस्तरः—युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनिःकारणान्यद्रव्यासाधारणस्वसंवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथायं गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति। किञ्च—यथा कोपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति। संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति। अयमत्राभिप्रायः—आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं क्रियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति ॥ ३३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सर्व आवरण रहित सर्वको प्रगट करनेवाले लक्षणको धारने वाले केवलज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एक देश प्रगट करने वाले लक्षणको धरने वाले तथा केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज रूप स्वसंवेदन ज्ञानमई भाव श्रुतज्ञानसे भी आत्माका ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञानसे आत्माका जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञानसे भी आत्माका ज्ञान होता है आत्मज्ञानके लिये दोनों ज्ञान बराबर हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है तैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थोंको प्रकाश करने वाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओंको मनमें रख कर आगेका सूत्र कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चयसे (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव-श्रुत परिणामके द्वारा (सहावेण) समस्त विभावोंसे रहित स्वभाव से ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्माको (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयोंके सुखसे विलक्षण अपने शुद्धात्माकी भावनासे पैदा होनेवाले परमानन्दमई एक लक्षणको रखनेवाले सुख रसके आस्वादसे अनुभव करता है। (लोगप्पदीवयरा) लोकके प्रकाश करनेवाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्रको (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं।

इसका विस्तार यह है कि एक समय में परिणमन करनेवाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञानके द्वारा आदि अंत रहित, अन्य किसी कारणके विना दूसरे द्रव्योंमें न पाइये ऐसे असाधारण अपनेआपसे अपनेमें अनुभव आने योग्य परम चैतन्यरूप सामान्य लक्षणको रखनेवाले तथा परद्रव्यसे रहितपनेके द्वारा केवल ऐसे आत्माका आत्मामें स्वानुभव करनेसे जैसे भगवान केवली होते हैं वैसे यह गणधर आदि निश्चय रत्नत्रयके आराधक पुरुष भी पूर्वमें कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्माका भाव-श्रुतज्ञानके द्वारा अनुभव करनेसे श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नामका पुरुष सूर्यके उदय होनेसे दिवसमें देखता है और रात्रिको भी दीपकके द्वारा कुछ देखता है वैसे सूर्यके उदयके समान केवलज्ञानके द्वारा दिवसके समान मोक्ष अवस्थाके होते हुए भगवान् केवली आत्माको देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रिके समान संसार-अवस्थामें दीपके समान रागादि विकल्पोंसे रहित परम समाधिके द्वारा अपने आत्माको देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय, ऐसा सन्देह करके परमात्माकी भावनाको छोड़ न देना चाहिये ॥ ३३ ॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः।
तज्ज्ञप्तिः हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्ति भणिता ॥ ३४ ॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्, तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि। श्रुतं तु तत्कारणत्वात्, ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति, सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञानमित्यायाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते। ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥ ३४ ॥

भूमिका—अब ज्ञानके श्रुत-उपाधि (कृत) भेदको दूर करते हैं (अर्थात् यह दिखाते हैं कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान है, श्रुत रूप उपाधि के कारण ज्ञान में कोई भेद नहीं होता):—

अन्वयार्थ—[पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः] पुद्गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि वचनों के द्वारा [जिनोपदिष्टं] जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट [सूत्रं] सूत्र है (द्रव्यश्रुत है) [तज्ज्ञप्तिः हि ज्ञानं] उसकी ज्ञप्ति (जानना) ज्ञान है (उस पूर्वोक्त शब्द श्रुतके आधारसे जो ज्ञप्ति है—अर्थ-

परिच्छित्ति है वह ज्ञान कहा जाता है)। [च] और (उस ज्ञानको) [सूत्रस्य ज्ञप्तिः] सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [भणिता] कहा गया है।

टीका—पहले तो (श्रुतज्ञान इस शब्दमें) श्रुत वास्तवमें सूत्र है और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ, स्यात्कार चिन्हयुक्त, पौद्गलिक शब्द ब्रह्म है। (श्रुतज्ञान इस शब्द में ज्ञान शब्द से वाच्य) उस (सूत्र) की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। (श्रुतज्ञान इस शब्द में) श्रुत (सूत्र) तो उसका (ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान रूपसे उपचार ही किया जाता है (उपचार से ज्ञान कहा जाता है जैसे कि अन्न को प्राण कहा जाता है)। ऐसा होने पर "सूत्रकी ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है" ऐसा ठहरता है (सिद्ध होता है)। अब सूत्रको उपाधिपना होने से उसका आदर न किया जाए तो ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है। (सूत्रकी ज्ञप्ति कहने पर सूत्र आश्रय या निमित्तमात्र होनेसे उपाधि ही है। किन्तु ज्ञप्ति स्वयं आत्मा का ही परिणमन है। इसलिये यदि सूत्रको न गिना जाय तो 'ज्ञप्ति' ही शेष रहती है) और वह (ज्ञप्ति) केवलीके और श्रुतकेवली के आत्म-अनुभव में समान ही है। इसलिये ज्ञानके श्रुत-उपाधि (कृत) भेद नहीं है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति। अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्, अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते,—

(सुत्तं) द्रव्यश्रुतं। कथम्भूतं। (जिणोवदिट्ठं) जिनोपदिष्टं। कैः कृत्वा। (पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः (तं जाणणा हि णाणं) तेन पूर्वोक्त-शब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते (हि) स्फुटं (सुत्तस्स य जाणणा भणिया) पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति। तथाहि—यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवः पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोपि जीवो भण्यते। तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूपं समस्तवस्तुप्रकाशकं ज्ञानं भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूपजीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थः ॥ ३४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शब्दरूप द्रव्यश्रुत व्यवहार नयसे ज्ञान है। निश्चय करके अर्थ जाननेरूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा आत्माकी भावनामें लवलीन पुरुष निश्चय श्रुत-केवली है, ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा है, अब व्यवहार श्रुतकेवलीको कहते हैं अथवा ज्ञानके साथ जो श्रुतकी उपाधि है उसे दूर करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुत्तं) द्रव्यश्रुत (पोग्गल-दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्‌गल द्रव्यमई दिव्यध्वनिके वचनोंसे (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवानके द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा) उस द्रव्यश्रुतके आधारसे जो जानपना है (णाणं) सो अर्थज्ञानरूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्यश्रुतको भी (जाणणा) जानपना या ज्ञान संज्ञा (भणिया) व्यवहार नयसे कही गई है।

भावं यह है कि जैसे निश्चयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक-स्वभाव रूप है, पीछे व्यवहार नयसे जीव नर नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चयसे ज्ञान सर्व वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला अखंड एक प्रतिभास रूप कहा जाता है, सो ही ज्ञान फिर व्यवहार नयसे मेघोंके पटलोंसे आच्छादित सूर्यकी अवस्थाविशेपकी तरह कर्म पटलसे आच्छादित अखंड एक ज्ञानरूप होकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि नामवाला हो जाता है ॥ ३४ ॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

यः जानाति सः ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायकः आत्मा।
ज्ञानं परिणमते स्वयं अर्थाः ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३५ ॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा। तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच—स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य, कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ॥ ३५ ॥

अब आत्मा और ज्ञानके कर्तृत्व करणत्व कृत भेदको दूर करते हैं (प्रदेश-भेद लिये हुए ज्ञान भिन्न पदार्थ हो और आत्मा भिन्न पदार्थ हो, तथा आत्माका फिर ज्ञानसे समवाय हो जाने पर आत्मा ज्ञानी बनता हो, ऐसा नहीं है, यह उपदेश करते हैं) : |

अन्वयार्थ—[यः जानाति] जो (कर्ता) जानता है [सः ज्ञानं] वह ज्ञान है (जो ज्ञायक है वही ज्ञान है) [ज्ञानेन] ज्ञानके द्वारा (सर्वथा भिन्न ज्ञान नामा पदार्थ से जुड़ कर) [आत्मा] आत्मा [ज्ञायकः न भवति] ज्ञायक नहीं होता है। [स्वयं] स्वयं ही आत्मा [ज्ञानं परिणमते] ज्ञान रूप परिणत होता है और [सर्वे अर्थाः] सब पदार्थ [ज्ञान-स्थिताः] ज्ञान में स्थित हो जाते हैं।

टीका—आत्मा के अपृथग्भूत (अभिन्न) कर्तृत्व और करणत्व की शक्ति-रूप पारमैश्वर्य-योगिपना (सहितपना) होने से जो स्वयं ही जानता है (जो ज्ञायक है) वह ही ज्ञान है, जैसे जिसमें साधकतम उष्णत्व शक्ति अन्तर्लीन है ऐसी स्वतन्त्र अग्निके, दहन-क्रिया की प्रसिद्धि होने से, 'उष्णता' कही जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जैसे पृथग्वर्ती दांती से देवदत्त काटनेवाला है, उसी प्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञान से आत्मा ज्ञायक (जाननेवाला) है। ऐसा होने पर, दोनों में (ज्ञान और आत्मा में) अचेतनपना (आ जायेगा) और दो अचेतनों का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी। (आत्मा और ज्ञान के) पृथग्वर्ती होने पर भी (आत्मा के) ज्ञप्ति मानी जाने पर ज्ञान के द्वारा परके ज्ञप्ति (होगी) (और इस प्रकार) राख इत्यादिकके भी ज्ञप्तिकी उत्पत्ति निरंकुश (अबाधित) होगी। (यदि ऐसा माना जायगा कि आत्मा और ज्ञान पृथक् पृथक् पदार्थ हैं किन्तु ज्ञान आत्माके साथ युक्त हो जाता है इसलिये आत्मा जानने का कार्य करता है, तो ज्ञान के युक्त होने से पूर्व आत्मा जड़ था और जैसे ज्ञान जड़ आत्मा के साथ युक्त होता है, उसी प्रकार राख, घड़ा, खम्भा इत्यादि समस्त जड़ पदार्थों के साथ भी युक्त हो जाये और उससे वे सब पदार्थ भी जानने का कार्य करने लगें, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक् पृथक् पदार्थ नहीं हैं।) और विशेष—अपने से अभिन्न समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत जो ज्ञान है उस रूप स्वयं परिणत होने वाले आत्मा के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों के कारणभूत समस्त पदार्थ कथंचित् ज्ञानवर्ती ही हैं। (इसलिये) ज्ञाता और ज्ञानके विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है, कुछ नहीं।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति,—

(जो जाणदि सो णाणं) यः कर्ता जानाति स ज्ञानं भवतीति। तथाहि—यथा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रियापरिच्छित्तिसमर्थेन ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञानं भण्यते। तथा चोक्तम्—'जानातीति ज्ञानमात्मा' (ण हवदि णाणेण जाणगो आदा) सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति। अथ मतम्—यथा भिन्नदात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति। नैवम्। छेदनक्रियाविषये दात्रं बहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नं भवतु, अभ्यन्तरोपकरणं तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेव भवति। उपाध्यायप्रकाशादिबहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति। यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेपि कुम्भस्तम्भादिजडपदार्था ज्ञानिनो भवन्तु न च तथा।

(णाणं परिणमदि सयं) यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति। (अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे) व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा अपनेसे भिन्न किसी ज्ञानके द्वारा ज्ञानी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद नहीं है, किसी अपेक्षा से भेद है। वास्तवमें ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है।

जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिके कारण अग्नि और उसके उष्ण गुणका भेद होनेपर भी अभेद नयसे जलानेकी क्रिया करनेको समर्थ उष्ण गुणके द्वारा परिणमती हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादिके द्वारा ज्ञान और आत्माका भेद होनेपर भी पदार्थ और क्रियाके जाननेको समर्थ ज्ञान गुणके द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहागया है। "जानातीति ज्ञानमात्मा" कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है।

(आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञानके कारणसे (जाणगो) जाननेवाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है।

किसीका ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीलेसे देवदत्त घासका काटनेवाला होता है वैसे भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदनेकी क्रियाके सम्बन्धमें दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्तकी छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्तसे अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तैसे ही ज्ञानकी क्रियामें उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमें कोई दोष नहीं है।

परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मासे अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञानी होजाता है तब दूसरेके ज्ञानसे अर्थात् भिन्न ज्ञानसे सर्व ही कुंभ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी होजांयगे सो ऐसा होता नहीं। (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञानसे आत्मा ज्ञानी नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीका पिंड स्वयं उपादान कारणसे परिणमन करता है वैसे पदार्थोंके जाननेमें ज्ञान स्वयं उपादान कारणसे परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहारनयसे सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञानमें स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पणमें प्रतिविम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकारसे ज्ञानमें झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है ॥ ३५ ॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥ ३६ ॥

तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम् ।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात् । इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम् ।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम् । का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः । क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा । उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव । ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययेव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः । यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात् । तथा पदिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः, स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात् ।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानस्वरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च । परिणामसंबन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ॥ ३६ ॥

भूमिका—अब क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है, यह व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थ—[तस्मात् जीवः ज्ञानं] इस कारण से (पूर्व सूत्र अनुसार) आत्मा ही ज्ञान है। [ज्ञेयं द्रव्यं] ज्ञेय द्रव्य है (कि जो द्रव्य) [त्रिधा समाख्यातं] (तीन काल की पर्याय की परिणति रूप से,) तीन प्रकार कहा गया है [द्रव्यं इति पुनः आत्मा परं च] और वह ज्ञेय-भूत द्रव्य आत्मा स्व और पर है, (आत्मा के स्व-पर-द्रव्यों का जानपना और द्रव्योंके आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस कारण से है ? उत्तर) [परिणामसंबद्धः] वे अपने अपने ज्ञान और ज्ञेय परिणामों से सम्बन्धित हैं–परिणामवाले हैं। उस रूप परिणत होते हैं।

[आत्मा और द्रव्य कूटस्थ नहीं हैं। वे समय समय पर परिणमन किया करते हैं। इस लिये आत्मा ज्ञान–स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय–स्वभाव से परिणत होते हैं। इस प्रकार ज्ञान स्वभाव से परिणत आत्मा ज्ञानके आलम्बनभूत द्रव्यों को जानता है और ज्ञेय-स्वभाव से परिणत द्रव्य, ज्ञेय के आलम्बनभूत ज्ञान में (—आत्मा में) ज्ञात होते हैं।

टीका—क्योंकि (पूर्व गाथा के कथनानुसार (जीव) ज्ञान रूपसे स्वयं परिणत होकर स्वतन्त्र ही जानता है इसलिये 'जीव ही ज्ञान है' क्योंकि अन्य द्रव्योंके इस प्रकार (ज्ञानरूप) परिणत होने के लिये तथा जानने के लिये असमर्थता है। ज्ञेय तो पहले वर्त चुकी (भूत) अब वर्त रही (वर्तमान) और आगे वर्तने वाली (भविष्यत्) ऐसी विचित्र (विभिन्न) पर्यायों की परम्पराके प्रकार से तीन प्रकार काल-कोटि को स्पर्श-पना होने से, अनादि अनन्त द्रव्य है। ज्ञेयपने को प्राप्त हुआ वह द्रव्य आत्मा (स्व) और पर भेद से दो प्रकार है। वास्तव में ज्ञान के स्व-पर का जानपना होने से ज्ञेय की इस प्रकार द्विविधता कही जाती है।

प्रश्न—अपने में ही क्रिया (हो सकने) का विरोध होनेसे (आत्माके) अपना जानपना कैसे है ? (अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाशक कैसे है ?)

उत्तर—क्रिया क्या है और किस प्रकार का विरोध है ? यहां (प्रश्न में) जो विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप क्रिया होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्ति–रूप क्रिया, 'अकेला स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकता' इस आगम-कथन अनुसार, विरुद्ध ही है। (परन्तु) ज्ञप्ति रूप क्रिया के, प्रकाशन क्रिया की भांति, उत्पत्ति क्रिया से विरुद्धपना (भिन्नपना) होने से विरोध का प्रसंग नहीं है। जैसे वास्तव में प्रकाश्यता को प्राप्त पर-

(द्रव्यों) को प्रकाशित करने वाले प्रकाशक दीपकके अपने प्रकाशित करनेमें, अन्य प्रकाशक को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव प्रकाशक क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमय है) इस ही प्रकार ज्ञेयता को प्राप्त पर (पदार्थों) को जानने वाले ज्ञाता आत्मा के अपने ज्ञेय में (अपने को जानने-पने में अन्य जानने वाले (ज्ञायक) को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव ज्ञान-क्रियाकी प्राप्ति है (अर्थात् वह स्वयं ज्ञानमय है) । (इससे सिद्ध हुवा कि ज्ञान स्व को भी जानता है ।

प्रश्न—आत्मा के द्रव्योंकी ज्ञानरूपता (जानपना) और द्रव्योंके आत्मा की ज्ञेयरूपता (जानपना) किस कारण से है ?

उत्तर—वे (ज्ञायक आत्मा और द्रव्य) परिणामवाले होने से । क्योंकि वास्तव में आत्मा और द्रव्य परिणामों के साथ संबन्धित हैं, इसलिये आत्मा के, द्रव्य जिसका आलम्बन है ऐसे, ज्ञान रूप से परिणति और द्रव्योंके, ज्ञान को आलम्बन लेकर ज्ञेयाकार रूपसे परिणति अबाधित रूपसे बनती है ।

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथात्मा ज्ञानं भवति शेषं तु ज्ञेयमित्यावेदयति,—

(तम्हा णाणं जीवो ।) यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञानं परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणितं पूर्वसूत्रे । तस्मादात्मैव ज्ञानं (णेयं दव्वं) तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेयं भवति । किं । द्रव्यम् । (तिहा समक्खादं) तच्च द्रव्यं कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण च त्रिधा समाख्यातम् । (दव्वत्ति पुणो आदा परं च) तच्च ज्ञेयभूतं द्रव्यमात्मा भवति । परं च । कस्मात् । यतो ज्ञानं स्वं जानाति परं चेति प्रदीपवत् । तच्च स्वपरद्रव्यं कथंभूतं । (परिणामसंबद्धं) कथंचित्परिणामीत्यर्थः । नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत् । परिहारमाह—प्रदीपेन व्यभिचारः, प्रदीपस्तावत्प्रमेयः परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मानं प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते । यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ३६ ॥

अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति,—

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयका भेद प्रगट करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूपसे ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थोंको जानता है ऐसा पूर्व सूत्रमें कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञानस्वरूप आत्माका ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायमें परिणमन रूपसे या द्रव्य गुण पर्याय रूपसे या उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपसे ऐसे तीन प्रकार (समक्खादं) कहा गया है। (पुणो) तथा (परिणामसंबद्धः) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वंति) द्रव्य हैं तथा क्योंकि ज्ञान दीपकके समान अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहां पर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं आपको नहीं जानता है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपकके साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है उसके प्रकाशके लिये अन्यकी आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्माको प्रकाश करता है उसके लिये अन्य ज्ञानके होनेकी जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्व-पर-प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञानसे प्रकाशता है ऐसा माना जायगा तो अनंत आकाशमें फैलनेवाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, ऐसा सूत्रका अर्थ है

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार-श्रुतकेवलीके कथनकी मुख्यतासे आत्माके ज्ञान स्वभावके सिवाय भिन्न ज्ञानको निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं॥ ३६॥

अथा तवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति-

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥ ३७॥

तात्कालिकाः इव सर्वे सदसद्भूताः हि पर्यायाः तासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतः द्रव्यजातीनाम्॥ ३७॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपदः सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्य-

वधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतदयुक्तं-दृष्टाविरोधात् । दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः । किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः । यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात् । यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा, वर्तमाना एव भवन्ति ॥ ३७ ॥

भूमिका—अब, अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) द्रव्यपर्यायों की भी, तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति, पृथक् रूपसे ज्ञानमें वृत्ति को उद्योत करते हैं (प्रगट करते हैं) (अतीत और अनागत पर्यायें ज्ञानमें वर्तमान पर्यायों की तरह देखी जाती हैं-ऐसा निरूपण करते हैं) :-

अन्वयार्थ—[तासां द्रव्यजातीनां] उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्य जातियों की [ते सर्वे] वे समस्त [सदसद्भूताः पर्यायाः] सद्भूत (विद्यमान-वर्तमान) और असद्भूत (अविद्यमान भूत, भविष्यत्) पर्यायें [तात्कालिका इव] वर्तमान पर्यायों की भांति [विशेषतः] विशेषतासे (अपने अपने भिन्न भिन्न स्वरूप सहित) [ज्ञाने] केवल ज्ञानमें [वर्तन्ते] वर्तती हैं प्रतिभासित होती हैं—स्फुरायमान होती हैं ।

टीका—वास्तवमें समस्त ही (जीवादिक) द्रव्य—जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों कालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनों कालों में उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये) क्रम—पूर्वक तपती हुई स्वरूप—सम्पदावाली (एक के बाद दूसरी प्रगट होने वाली), विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी विशेष लक्षण को धारण किये हुए एक समय में ही, वर्तमान-कालीन पर्यायों की भांति, ज्ञान-मन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं ।

यह (तीनों काल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भांति ज्ञानमें ज्ञात होना) अयुक्त (भी) नहीं है क्योंकि (१) (उसका) दृष्ट के साथ (जगत् में जो दिखाई देता है-अनुभवमें आता है उसके साथ) अविरोध है। (जगत् में) दिखाई देता है कि जैसे वर्तमान वस्तु का चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है उसी प्रकार भूत, भविष्यत् वस्तु का चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के भी, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है (जानता है) । (२) ज्ञान चित्रपट के समान है । जैसे वास्तव में चित्रपट में अतीत, अनागत, और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार (चित्र) साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान-भित्ति में भी (ज्ञान भूमिका में भी, ज्ञान-पट में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं) (३) सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता (वर्तमानता) अविरुद्ध है । जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति,—

(सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया) सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्यायाः ये (हि) स्फुटं (वट्टंते) ते पूर्वोक्ता पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति । क्व । (णाणे) केवलज्ञाने । कथंभूता इव । (तक्कालिगेव) तात्कालिका इव वर्तमाना इव । कासां सम्बन्धिनः । (तासिं दव्वजादीणं) तासां प्रसिद्धानां शुद्धजीवद्रव्यजातीनामिति । व्यवहित-सम्बन्धः कस्मात् । (विसेसदो) स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः सङ्करव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः ।

किंच—यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयतः प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थंकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्ति-स्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः । यथायं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥ ३७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्माके वर्तमान ज्ञानमें अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमानके समान दिखती हैं :—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तासिं दव्वजादीणं) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्योंकी व अन्य द्रव्योंकी (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान और भूत तथा भविष्य कालकी (पज्जया) पर्यायें (हि) निश्चयसे या स्पष्ट रूपसे (णाणे) केवलज्ञानमें (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने २ प्रदेश, काल, आकार आदि भेदोंके साथ संकर व्यतिकर दोषके विना (तक्कालिगेव) वर्तमान पर्यायोंके समान (वट्टंते) वर्तती हैं, अर्थात् प्रतिभासती हैं या स्फुरायमान होती हैं।

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मतिश्रुतज्ञानी पुरुषके भी अंतरंगमें मनसे विचारते हुए पदार्थोंकी भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमई भींत पर बाहुबलि भरत आदिके भूतकालके रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावी-कालके रूप वर्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ते हैं तैसे भींतके चित्र समान केवलज्ञानमें भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान परद्रव्योंकी पर्यायोंको उनके ज्ञानाकार मात्रसे जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणोंका आधार भूत अपनी ही सिद्ध पर्यायको ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूपसे तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीवको भी उचित है कि अन्य द्रव्योंका ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म-द्रव्यकी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय मई अवस्थाको ही सर्व तरहसे तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञदेव भूतकाल के निश्चित प्रमाण को और सर्व पर्यायों को जानते हैं। इससे भूतकाल का या भूत पर्यायोंकी आदि नहीं होजाती, क्योंकि भूतकाल के निश्चित प्रमाण के मात्र ज्ञान होजानेसे भूतकाल का आदि अथवा भूत पर्यायोंका आदि नहीं होजाता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होनेसे आदि मान लिया जावे तो असत् द्रव्य के उत्पाद का अथवा ईश्वर-कर्तृत्व का प्रसंग आजायगा। इसी प्रकार भविष्य पर्याय केवली द्वारा ज्ञात होजाने से सब पर्यायें सर्वथा नियत या क्रमबद्ध नहीं होजाती। क्योंकि सर्व पपर्यायों को सर्वथा नियत मान लेने पर मोक्षमार्ग के उपदेश के अभाव का प्रसंग आ जायगा। दृष्टिवाद अङ्ग में सर्वज्ञ के द्वारा नियतिवाद एकान्त-मिथ्यात्व कहागया है, उससे विरोध आजायगा। नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप श्री पंचसंग्रह में निम्नप्रकार कहा है—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत्, तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं, परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥ ३१२ ॥

अर्थ—जिसका जहां जब जिसप्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है तब तहां तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है। अन्य कोई कुछ नहीं करसकता। ऐसा मानना एकान्त नियतिवाद मिथ्यात्व है।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥ [गो. क.]

अर्थ—जो जिस समय जिसके जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे वैसे ही उसके ही होता है। ऐसा सब वस्तु मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

सर्व पर्यायोंको सर्वथा नियत (क्रमबद्ध) माननेसे संयमके अभावका भी प्रसंग आता है। भोगभूमिया मनुष्योंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन, वाले भी हैं और शुभ लेश्यावाले हैं फिर भी वे संयम धारण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी आहार पर्याय नियत है। यदि इसी प्रकार कर्मभूमिया आय मनुष्यों के भी आहार पर्याय नियत होती तो वे भी संयम धारण न कर सकते। और संयम के अभाव से मोक्ष भी न होती। कर्म-भूमिया मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर है कि वे दिन में कईवार भोजन करें, रात को भी भोजन करें, अथवा एक दो दिन या पक्ष मासोपवास करें। सप्त व्यसन को सेवन करें या उस का त्याग करें। यह सब कर्म-भूमिया मनुष्यों की इच्छाके अधीन है। इससे स्पष्ट होजाता है कि सर्व पर्यायें सर्वथा नियत नहीं है। इस लिये सर्वज्ञदेव ने नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है।

जो पर्याय जैसी है उसको उसी रूपसे सर्वज्ञ जानता है। अनादि (जिसके काल की आदि नहीं है) उसको अनादिरूपसे, अनन्त (जिसके क्षेत्र, संख्या या कालका अन्त नहीं है) उसको अनन्तरूपसे और अनियत (जिसका काल नियत नहीं) उसको अ नियत रूपसे जानता है, इससे सर्वज्ञ की कुछ हानि नहीं होती है। अन्यथा जानने में सर्वज्ञ व सम्यग्ज्ञान की हानि होती है ॥ ३७ ॥

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

जे णेव हि संजादा जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

ये नैव हि संजाताः ये खलु नष्टाः भूत्वा पर्यायाः।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्यायाः ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥ ३८ ॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥ ३८ ॥

अब, अविद्यमान (भूत भविष्यत्) पर्यायों की भी कथंचित् (कोई प्रकार से, कोई अपेक्षा से) विद्यमानता को बतलाते हैं:—

अन्वयार्थ—[ये पर्यायाः] जो पर्यायें [हि] वास्तव में [नैव संजाताः] उत्पन्न नहीं हुई हैं (भविष्यत्) तथा [ये पर्यायाः] जो पर्यायें [खलु] वास्तव में [भूत्वा नष्टाः] उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं (भूत) [ते असद्भूताः पर्यायाः] वे अविद्यमान (भूत, भविष्य) पर्यायें [ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति] ज्ञान में प्रत्यक्ष होती हैं।

टीका—जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वास्तव में अविद्यमान होने पर भी, ज्ञानके प्रति नियत होने से (ज्ञानमें निश्चित ज्ञात होने से) ज्ञानमें प्रत्यक्ष वर्तनेवाली, पाषाण स्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी देवों की (मूर्ति) भांति, अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञानको) अर्पित करने के स्वरूप वाली, वे (पर्यायें) विद्यमान् ही हैं। (भवन्ति क्रिया का कर्त्ता पर्यायें हैं) ॥ ३८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति—

(जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया) ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः। हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः। किं कृत्वा। भूत्वा (ते होंति असब्भूदा पज्जाया) ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते। (णाणपच्चक्खा) ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैवं ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति। यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति। तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥ ३८ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य दिखलाते हैं कि पूर्व गाथामें जो असद्भूत शब्द कहा है वह संज्ञा भूत और भविष्यत्की पर्यायोंको दी गई है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जे पज्जाया) जो पर्यायें (णेव हि संजाया) निश्चयसे अभी नहीं पैदा हुई हैं (जो खलु भवीय णट्ठा) तथा जो निश्चयसे हो होकर विनाश हो गई हैं (ते) वे भूत और भावी पर्यायें (असब्भूदा) असद्भूत या अविद्यमान (पज्जाया) पर्याय (होंति) हैं, (णाण पच्चक्खा) परन्तु वे सर्व पर्यायें यद्यपि इस समयमें विद्यमान न होनेसे असद्भूत हैं तथापि वर्तमान केवलज्ञानका विषय होनेसे उपचारसे भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ या सद्भूत कही जाती हैं क्योंकि वे सब ज्ञानमें प्रत्यक्ष हो रही हैं।

जैसे यह भगवान केवलज्ञानी निश्चय नयसे परमानंद एक लक्षणमई सुख स्वभाव रूप मोक्ष अवस्था या पर्यायको ही तन्मय होकर जानते हैं परन्तु परद्रव्यको व्यवहार नयसे, तैसे ही आत्माकी भावना करने वाले पुरुषको उचित है कि वह रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन पर्यायको ही सर्व तरह से जाने और अनुभव करे तथा बाहरी द्रव्य और पर्यायोंको गौण रूपसे उदासीन रूपसे जाने ॥ ३८ ॥

अथैतदेवासद्‌भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति ॥ ३६ ।

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥ ३६ ॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रताप-प्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेत-दुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

भूमिका—अब, अविद्यमान (भूत, भविष्यत्) पर्यायों के इस ही (वर्तमान) ज्ञान प्रत्य-क्षपने को दृढ करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अजातः पर्यायः] अनुत्पन्न (भावी) पर्याय [च] तथा [प्रलयितः] नष्ट (भूत) पर्याय [ज्ञानस्य] केवलज्ञान के [प्रत्यक्षः न भवति] प्रत्यक्ष न हो तो [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [दिव्यं] दिव्य है [इति] ऐसा [के प्ररूपयन्ति] कौन प्ररूपेंगे (अर्थात् कोई नहीं कहेंगे) ।

टीका—जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया, और जो अस्तित्व का अनुभव कर चुकी है, तथा जिसने स्वरूप सर्वस्व को युगपत् समर्पित कर दिया है, ऐसे (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्याय-समूहको, यदि वास्तव में ज्ञान, (निर्विघ्न विकसित अखण्डित प्रतापयुक्त शक्ति के द्वारा बलात् ही अत्यन्त आक्रान्त करके (प्राप्त करके), अपने नियत न करे (प्रत्यक्ष

न जाने), तो उस ज्ञानकी कौनसी दिव्यता होवे (अर्थात् कोई दिव्यता न होवे)। इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब योग्य (ही) है ॥ ३९ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति,—

(जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा) यदि प्रत्यक्षो न भवति । स कः । अजातपर्यायो भाविपर्यायः । न केवलं भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा । कस्य । ज्ञानस्य (तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति) तद्ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति ? न केपीति । तथाहि—यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञानं कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्षं न करोति, तर्हि तत् ज्ञानं दिव्यं न भवति । वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ॥ ३९ ॥

उत्थानिका—आगे इसी बातको दृढ करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न-जो अभी पैदा नहीं हुई हैं ऐसी भावी (च पलइयं) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञानके (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञानको (दिव्वंत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप (हि) निश्चयसे (के) कौन (परूविंति) कहें ? अर्थात् कोई भी न कहें ।

भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्यायकी तरह भूत और भावी पर्यायको केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञानके विधानसे रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे । वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे । जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्य व उसकी पर्यायोंको यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमई एक स्वभावके धारी अपने शुद्ध तन्मई पनेसे ज्ञान क्रिया करते हैं तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य व उसके गुण पर्यायका ज्ञान करते हैं तथापि निश्चयसे विकार रहित स्वसंवेदन पर्यायमें अपना विषय रखनेसे उसी पर्यायका ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्रका तात्पर्य है ॥ ३९ ॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये विजानन्ति।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

भूमिका—अब, इन्द्रियज्ञान के द्वारा नष्ट और अनुत्पन्नको जानना अशक्य है, ऐसा न्याय से निश्चित करते हैं।

अन्वयार्थ—[अक्षनिपतित] इन्द्रिय गोचर [अर्थं] पदार्थ को [ईहा-पूर्वैः] ईहा-पूर्वक [ये] जो [विजानन्ति] जानते हैं [तेषां] उनके [परोक्षभूतं] परोक्षभूत पदार्थको [ज्ञातुं] जानना [अशक्यं] अशक्य है, [इति प्रज्ञप्तं] ऐसा कहा गया है।

टीका—जो वास्तव में, विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध होना) जिसका लक्षण है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्राप्त करके क्रमसे उत्पन्न होने वाले ईहा आदि के क्रमसे जानते हैं, वे वास्तव में, जिसका स्व-अस्तित्व काल बीत चुका है उस (भूत पदार्थ) को तथा जिसका स्व अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है उस (भविष्यत् पदार्थ) को, यथोक्त (उपरोक्त) लक्षण-वाले ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध के असंभवता के कारण जानने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥ ४० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञानं न जानातीति विचारयति,—

(अट्ठं) पदार्थ (अक्खणिवडिदं) इन्द्रियगोचरं (ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति) ईहापूर्वकं ये विजानन्ति। (तेसिं परोक्खभूदं) तेषां सम्बन्धि ज्ञानं परोक्षभूतं सत् (णादुमसक्कं त्ति पण्णत्तं) सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तं कथितम्।

कैः। ज्ञानिभिरिति। तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षणं नैयायिकमते। अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः संबन्धः सन्निकर्षः स एव प्रमाणम्। स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपर-

माण्वादिषु च न प्रवर्तते । कस्मादितिचेत् इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च । ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति । तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनीभूत इन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपदं न लभन्ते इति सूत्राभिप्रायः ॥ ४० ॥

उत्थानिका—आगे यह विचार करते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह भूत और भावी पर्यायोंको तथा सूक्ष्म: दूरवर्ती आदि पदार्थोंको नहीं जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ— (जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिदं) इन्द्रियगोचर (अट्ठं) पदार्थको (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूत-ज्ञान (णादुं) जाननेके लिये अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जानने के लिये (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पण्णत्तं) कहा गया है। ज्ञानियोंके द्वारा अथवा उनके ज्ञानसे जो परोक्षभूत द्रव्य है वह उनके द्वारा जाना नहीं जा सक्ता।

प्रयोजन यह है कि नैयायिकोंके मतमें चक्षु आदि इन्द्रिय घट पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थका जानती हैं अथवा संक्षेपसे इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है। ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थोंमें, कालसे दूर राम रावणादिमें, स्वभावसे दूर भूत प्रेत आदिकोंमें तथा अति सूक्ष्म परके मनके विचारमें व पुद्गल परमाणु आदिकों में नहीं प्रवर्तन करसक्ता। क्योंकि इन्द्रियोंका विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारणसे इन्द्रिय ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसी लिये ही अतीन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियोंके सुखके कारण इन्द्रिय ज्ञानमें तथा नाना मनोरथके विकल्प जाल स्वरूप मन सम्बन्धी ज्ञानमें जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पदको नहीं पाते हैं, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ४० ॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥ ४१ ॥

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते । प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम् । मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम् । वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यंच्च । यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥ ४१ ॥

भूमिका—अब, अतीन्द्रिय ज्ञान के लिये तो जो जो कहा जाता है वह वह सब संभव है इस को स्पष्ट करते हैं :-

अन्वयार्थ—जो [अप्रदेशं] अप्रदेशी को (कालाणु को), [सप्रदेशं] बहुप्रदेशी को (पंचास्तिकायों को) [मूर्तं] मूर्तिक को (पुद्गल द्रव्यको) [च] और [अमूर्तं] अमूर्तिक को (शेष पांच द्रव्यों को) तथा [अजातं] अनुत्पन्न (भावी) [च] और [प्रलयं गतं] नष्ट (अतीत) [पर्यायं] पर्याय को [जानाति] जानता है, [तद् ज्ञानं] वह ज्ञान [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय [भणितं] कहा गया है।

टीका—इन्द्रिय-ज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदिकों को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने से) और उपलब्धि (क्षयोपशम)- संस्कार आदिकों को अन्तरंग स्वरूप कारणपने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान) (१) सप्रदेशी को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्मको जानने वाला नहीं है)। (२) मूर्तिकको ही जानता है क्योंकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है, अमूर्तिक को नहीं जानता, (क्योंकि अमूर्तिक विषयके साथ सम्बन्धका अभाव है)। (३) वर्तमान को ही जानता है क्योंकि वहां ही विषय विषयीके सन्निपात का सद्भाव है। भूतमें प्रवर्तित हो चुकने वालेको और भविष्य में प्रवृत्त होनेवाले को नहीं जानता, (क्योंकि भूत भविष्य के साथ विषय विषयी के सन्निकर्ष का अभाव है)।

जो अनावरण अनिन्द्रिय ज्ञान है उसके, जैसे प्रज्वलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धन), दाह्यताका उल्लंघन न करनेके कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, सप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लघंन न करनेसे, ज्ञेय ही हैं ॥ ४१ (।

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति,—

(अपदेसं) अप्रदेशं कालाणुपरमाण्वादि (सपदेसं) शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूपं (मुत्तं) मूर्तं पुद्गलद्रव्यं (अमुत्तं च) अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि (पज्जयमजादं पलयं गयं च) पर्यायमजातं भाविनं प्रलयं गतं चातीतमेतत्सर्वं पूर्वोक्तं ज्ञेयं वस्तु (जाणदि) जानाति यद्ज्ञानं कर्तृ (णाणमणिंदियं भणियं तद्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितं तेनैव सर्वज्ञो भवति । तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं मानसज्ञानं च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्व-संवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते इत्यभिप्रायः ॥ ४१ ॥

एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीतीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं. तदनन्तर-मिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समु-दायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अतीन्द्रिय रूप केवल ज्ञान ही भूत भविष्यको व सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो ज्ञान (अपदेसं) बहु प्रदेश-रहित कालाणु व परमाणु आदिको (सपदेसं) बहु-प्रदेशी शुद्ध जीवको आदि ले पांच अस्तिकायोंके स्वरूपको (मुत्तं) मूर्तिक पुद्गल द्रव्यको (च अमुत्तं) और अमूर्तिक शुद्ध जीव आदि पांच द्रव्योंको (अजादं) अभी नहीं उत्पन्न हुइ होनेवाली (च पलयं गयं) और छूट जानेवाली भूतकालकी (पज्जयं) द्रव्योंकी पर्यायोंको इस सब ज्ञेयको (जाणदि) जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (अदिंदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है।

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथासे कहे हुए इन्द्रियज्ञान तथा मानस ज्ञानको छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमई स्वसंवेदन ज्ञानमें सव विभाव परिणामोंको त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमइ सर्वज्ञपदको प्राप्त करते हैं यह अभिप्राय है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञानमें प्रत्यक्ष नहीं होती हैं ऐसे बौद्धोंके मतको निराकरण करते हुए तीन गाथाएं कहीं, उसके पीछे इन्द्रियज्ञानसे सर्वज्ञ नहीं होता है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानसे होता है ऐसा कहकर नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाले शिष्यको समझानेके लियें गाथा दो. ऐसे समुदायसे पांचवें स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥४१॥

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

परिणमति ज्ञेयं अर्थं ज्ञाता यदि नैव ज्ञायिकं तस्य ।
ज्ञानं इति, तं जिनेन्द्राः चपयन्तं कर्म एव उक्तवन्तः ॥ ४२ ॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य । यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभावसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥ ४२ ॥

भूमिका—अब, ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (ज्ञेयार्थ परिणमन स्वरूप) क्रिया (क्षायिक) ज्ञान से (उत्पन्न) नहीं होती है, यह श्रद्धा व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थ—[ज्ञाता] जानने वाला आत्मा [यदि] जो [ज्ञेयं अर्थं] ज्ञेय पदार्थ रूप [परिणमति] परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो [तस्य] उस आत्मा के [क्षायिकं] क्षायिक ज्ञान [न एव] नहीं है [अथवा ज्ञानं न एव इति] अथवा ज्ञान ही नहीं है क्योंकि [जिनेन्द्राः] जिनेन्द्र देव [तं] उस पुरुष को [कर्म एव] कर्म को ही [क्षपयन्तं] अनुभव करने वाला [उक्तवन्तः] कहते भये। अर्थात् जिनेन्द्र देवने कहा है।

टीका—जो ज्ञाता वास्तव में ज्ञेय पदार्थ रूप परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो उसके सकल कर्म वनके क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपने का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है अथवा उसके ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के द्वारा, मृगतृष्णा में जल समूह की कल्पना करने की भावना वाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्म-भार को ही भोगने वाला है, ऐसा जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है ॥ ४२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञानं नास्तीत्यावेदयति,—(परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि) नीलमिदं पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा (णेव खाइयं तस्स णाणंति) तस्यात्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति । अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। (तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता) तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तं। क्षपयन्तमनुभवन्तं। किमेव। कर्मैव निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति।

अथवा तृतीयव्याख्यानम्—बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

उत्थानिका—आगे पांच गाथाओं तक यह व्याख्यान करते हैं कि राग, द्वेष, मोह, बंधके कारण हैं, ज्ञान बंधका कारण नहीं है। प्रथम ही यह कहते हैं, कि जिससे ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थमें कर्मबंधका कारण रूप इष्ट तथा अनिष्ट विकल्प रूपसे परिणमन है अर्थात् जो पदार्थोंको इष्ट तथा अनिष्ट रूपसे जानता है उनके 'क्षायिक' अर्थात् केवलज्ञान नहीं होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(जदि) यदि (णादा) ज्ञाता आत्मा (णेयं अट्ठं) जानने योग्य पदार्थरूप (परिणमति) परिणमन करता है अर्थात् यह नील है, यह पीत है इत्यादि विकल्प उठाता है तो (तस्स) उस ज्ञानी आत्माके (खाइगं णाणंति णेव) क्षायिकज्ञान नहीं ही है अथवा स्वाभाविक ज्ञान ही नहीं है। क्यों नहीं है इसका कारण कहते हैं कि (जिणिंदा) जिनेन्द्रोंने (तं) उस सविकल्प जाननेवाले को (कम्मं खवयंतं एव) कर्मका अनुभव करनेवाला ही (उत्ता) कहा है।

अर्थ यह है कि वह आत्मा विकार रहित स्वाभाविक आनंदमई एक सुख स्वभावके अनुभव से शून्य होता हुआ उदयमें आए हुए अपने कर्मको ही अनुभव कर रहा है। ज्ञानको अनुभव नहीं कर रहा है। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि यदि ज्ञाता प्रत्येक पदार्थरूप परिणमन करके पीछे पदार्थको जानता है तब पदार्थ अनंत हैं इससे सर्व पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता। अथवा तीसरा व्याख्यान यह है कि जब छद्मस्थ अवस्थामें यह बाहरके ज्ञेय पदार्थोंका चिंतवन करता है तब रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान इसके नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञानके अभावमें क्षायिकज्ञान भी नहीं पैदा होता है ऐसा अभिप्राय है ॥४२॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

उदयगताः कर्मांशाः जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः ।
तेषु विमूढः रक्तः दुष्टः वा बन्धं अनुभवति ॥ ४३ ॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव । अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते । ततः च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति । अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले, न तु ज्ञानात् ॥ ४३ ॥

(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (सविकल्प रूप, राग-द्वेष सहित) क्रिया और उसका फल कहां से (किस कारण से) उत्पन्न होता है, यह विवेचन करते हैं:-

अन्वयार्थः—[उदयगताः कर्मांशाः] (संसारी जीव के) उदय प्राप्त कर्म-अंश (मोहनीय पुद्गल कर्म की प्रकृति) [नियत्या] नियम से [जिनवरवृषभैः] जिनवर वृषभों (तीर्थंकरों) के द्वारा [भणिताः] कहे गये हैं । (जीव) [तेषु] उन कर्मांशों के उदय होने पर [विमूढः रक्तः दुष्टः वा] मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ [बन्धं अनुभवति] बन्ध को अनुभव करता है ।

टीका—प्रथम तो, संसारी जीवके नियम से उदयगत पुद्गलकर्मांश होते ही हैं । वह संसारी जीव उन सत रूप कर्मांशों (के उदय) में चेतता (अनुभव करता) हुआ, मोह-राग द्वेष रूप परिणत होने से, ज्ञेय पदार्थों में परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (विकल्पात्मक) क्रिया के साथ युक्त होता है । इसीलिये क्रिया के फल-भूत बन्ध को अनुभव करता है । इससे (यह कहा है कि) मोहके उदयसे ही क्रिया और क्रियाफल होते हैं, ज्ञानसे नहीं ॥४३॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेपि ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोपीति निश्चिनोति,—

(उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया) उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किन्तु स्वकीयशुभाशुभफलं दत्त्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति। तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत्। (तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि) तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितः सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति सः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षणं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नं बन्धमनुभवति। ततः स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयेपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति ॥ ४३ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चय करते हैं कि अनन्त पदार्थों को जानते हुए भी ज्ञान बन्धका कारण नहीं है। और न रागादि रहित कर्मोंका उदय ही बंध कारण है। अर्थात् नवीन कर्मोंका बंध न ज्ञानसे होता है न पिछले कर्मोंके उदयसे होता है किन्तु राग द्वेष मोहसे बन्ध होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(उदयगदा) उदयमें प्राप्त (कम्मंसा) कर्मांश अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतिके भेद रूप कर्म्म (जिणवरवसहेहिं) जिनेंद्र वीतराग भगवानोंके द्वारा (णियदिणा) नियतपने रूप अर्थात् स्वभावसे काम करनेवाले (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् जो कर्म उदय में आते हैं वे अपने शुभ अशुभ फलको देकर चले जाते हैं वे नये बंधको नहीं करते यदि आत्मामें रागादि परिणाम न हों तो फिर किस तरह जीव बंधको प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हैं। कि (तेसु) उन उदयमें आए हुए कर्मोंमें (हि) निश्चयसे (मुहिदो) मोहित होता हुआ (रत्तो) रागी होता (वा दुट्ठो) अथवा द्वेषी होता हुआ (बंधं) बंधको, (अणुहवदि) अनुभव करता है।

जब कर्मोंका उदय होता है तब जो जीव मोह राग द्वेष से विलक्षण निज शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे रहित होता हुआ विशेष करके मोही, रागी वा द्वेषी होता है सो केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रगटता जहां हो जाती है ऐसे मोक्षसे विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार बन्धको भोगता है अर्थात् उसके नए कर्म्म बन्ध जाते हैं। इससे यह ठहरा कि न ज्ञान बन्धका कारण है, न कर्मोंका उदय बंधका कारण है किन्तु रागादि भाव ही बंधके कारण हैं ॥ ४३ ॥

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

स्थायनिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम्।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥ ४४ ॥

अब, केवली भगवान् के क्रिया भी क्रियाफल (बन्ध) उत्पन्न नहीं करती, ऐसा उपदेश देते हैं:—

अन्वयार्थ—[तेषां अर्हतां] उन अरहन्त भगवन्तों के [काले] उस समय में (यथा समय) [स्थाननिषद्याविहाराः] खडे होना, बैठना, विहार करना [च] और [धर्मोपदेशः] धर्मोपदेश [नियतयः] स्वाभाविक ही (इच्छा या प्रयत्न बिना ही) होता है। [स्त्रीणां मायाचारः इव] स्त्रियों के मायाचार की भांति।

टीका—जैसे स्त्रियों के, प्रयत्न के बिना भी, उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, स्वभावभूत से ही माया के ढक्कन से ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवलियों के, प्रयत्न के बिना भी उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्म-देशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं। और यह (प्रयत्न के बिना विहार आदिका होना) बादल के दृष्टान्त से अविरुद्ध है। जैसे बादल के आकाररूप परिणत पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्न के बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवलियों के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छा के विना ही) देखे जाते हैं। इसलिये यह स्थानादिक विशेष क्रिया भी (खड़े रहना, बैठना इत्यादि का व्यापार) मोहोदय पूर्वक न होनेसे, केवलियों के क्रिया के फलभूत-बंध की साधन नहीं होती ॥४४॥

अथ केवलिनां रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोपि बन्धकारणं न भवन्तीति कथयति,—

(ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य) स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासनं विहारो धर्मोपदेशश्च (णियदयो) एते व्यापारा नियतयः स्वभावा अनीहिताः । केषां । (तेसिं अरहंताणं) तेषामर्हतां निर्दोषिपरमात्मनां । क्व । (काले) अर्हदवस्थायां । क इव । (मायाचारो व इत्थीणं) मायाचार इव स्त्रीणामिति । तथाहि—यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेपि मायाचारः प्रवर्तते, तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेपि श्रीविहारादयः प्रवर्तन्ते । मेघानां स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा । ततः स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारणं न भवन्तीति ॥ ४४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि केवली अरहंत भगवानोंके तेरहवें सयोग गुणस्थानमें रागद्वेष आदि विभावोंका अभाव है इस लिये धर्मोपदेश विहार आदि भी बंधका कारण नहीं होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तेसिं अरहंताणं) उन केवलज्ञान के धारी निर्दोष जीवन्मुक्त सशरीर अरहंत परमात्माओंके (काले) अर्हंत अवस्थामें (ठाणणिसेज्जविहारा) ऊपर उठना अथात् खड़े होना, बैठना, विहार करना (धम्मुवदेसो य) और धर्मोपदेश इतने व्यापार (णियदयः) स्वभावसे होते हैं। इन कार्योंके करनेमें केवली भगवानकी इच्छा नहीं प्रेरक होती है, मात्र पुद्गल कर्मका उदय प्रेरक होता है (इच्छीणं) स्त्रियोंके भीतर (मायाचारोव्व) जैसे स्वभावसे कर्मके उदयके असरसे मायाचार होता है।

भाव यह है कि जैसे स्त्रियोंके स्त्रीवेदके उदयके कारणसे प्रयत्नके विना भी मायाचार रहता है तैसे भगवान अर्हंतोंके शुद्ध आत्मतत्वके विरोधी मोहके उदयसे होनेवाली इच्छापूर्वक उद्योगके विना भी समवशरणमें बैठना, विहार आदिक होते हैं अथवा जैसे मेघोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, ठहरना, गर्जना जलका वर्षना आदि स्वभावसे होता है, तैसे जानना। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह रागद्वेपके अभाव होते हुए विशेष क्रियाएँ भी बन्धकी कारण नहीं होती हैं॥ ४४ ॥

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा॥ ४५ ॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥ ४५ ॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मभूतितया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्द्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव। कथं हि नाम नानुमन्येत अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥ ४५ ॥

ऐसा होने पर, तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर है (स्वभाव का किंचित भी घात नहीं करता है) ऐसा अब निश्चित करते हैं :—

अन्वयार्थ—[अर्हन्तः] अरहन्त भगवान [पुण्यफलाः] (तीर्थंकर नामा) पुण्य प्रकृति के फल हैं [पुनः] और [तेषां क्रिया] उनकी क्रिया [हि] निश्चय से [औदयिकी] औदयिकी है। [मोहादिभिः विरहिता] (क्योंकि वह क्रिया) मोहादि से रहित है [तस्मात्] इसलिये [सा] वह [क्षायिकी] क्षायिकी [इति मता] मानी गई है।

टीका—अरहन्त भगवान वास्तव में समस्त भली भांति परिपक्व पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं। उनकी जो भी क्रियाऐं हैं वे सब उस (पुण्य) के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही हैं। ऐसा होने पर भी, वह (औदयिकी क्रिया) महामोह राजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय होने पर उत्पन्न होने से (तथा) मोह राग द्वेष रूपी उपरंजकों का अभाव होने से, चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती हुई नित्य औदायिकी हैं, तो भी कार्यभूत बंध की अकारणभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न मानी जांय ? (अवश्य ही मानी जावें) जब क्षायिकी ही मानें तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तों के) स्वभाव के विघात के लिये (विघात का कारण) नहीं है (यह निश्चित होता है) ॥ ४५ ॥

श्रीजयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति,—

(पुण्णफला अरहंता) पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थंकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति (तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया) तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटं । (मोहादीहिं विरहिया) निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यतः (तम्हा सा खाइयत्ति मदा) तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वंती सती क्षायिकी मता ।

अत्राह शिष्यः—'औदयिका भावाः बन्धकारणम्' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति । परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किन्तु मोहोदयसहिताः । द्रव्यमोहोदयेपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति । यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

उत्थानिका—आगे पहले जो कह चुके हैं कि रागादि-रहित कर्मोंका उदय तथा विहार आदि क्रिया बंधका कारण नहीं होती हैं उस ही अर्थको और भी दूसरे प्रकारसे दृढ़ करते हैं। अथवा यह बताते हैं कि अरहंतोंके पुण्यकर्मका उदय बन्धका कारण नहीं है।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(अरहंता) तीर्थंकरस्वरूप अरहंतभगवान (पुण्णफला) पुण्यके फलस्वरूप हैं—अर्थात् पंच महा कल्याणकी पूजाको उत्पन्न करनेवाला तथा तीन लोकको जीतनेवाला जो तीर्थंकर नाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अर्हंत तीर्थंकर होते हैं। (पुणो) तथा (तेसिं) उन अरहंतोंकी (किरिया) क्रिया अर्थात् दिव्य-ध्वनिरूप वचनका व्यापार तथा विहार आदि शरीरका व्यापाररूप क्रिया (हि) प्रगटरूपसे (ओदयिया) औदयिक है। अर्थात् क्रिया रहित जो शुद्ध आत्मतत्व उससे विपरीत जो कर्म उसके उदयसे हुई है। (सा) वह क्रिया (मोहादीहिं) मोहादिकोंसे अर्थात मोह रहित शुद्ध आत्म-तत्वके रोकनेवाले तथा ममकार अहंकारके पैदा करनेको समर्थ मोह आदिसे (विरहिदा) रहित है (तम्हा) इसलिये (खाइगत्ति) क्षायिक है अर्थात् विकार रहित शुद्ध आत्मतत्वके भीतर कोई विकारको न करती हुई क्षायिक ऐसी (मदा) मानी गई है।

यहां पर शिष्यने प्रश्न किया कि जब आप कहते हैं कि कर्मोंके उदयसे क्रिया होकर भी क्षायिक है अर्थात् क्षयरूप है, नवीन बन्ध नहीं करती तब क्या जो आगमका वचन है कि "औदयिकाः भावाः बन्धकारणम्" अर्थात् औदयिक भाव बंधके कारण हैं, वृथा हो जायगा? इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं कि औदयिक भाव बन्धके कारण होते हैं, यह बात ठीक है परन्तु वे बन्धके कारण तब ही होते हैं जब

वे मोह भावके उदय सहित होते हैं। कदाचित् किसी जीवके द्रव्य मोह कर्म सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो तथापि जो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे मोहरूप अर्थात् मिथ्यात्व रूप भाव न परिणमन करे तो बन्ध नहीं होवे और यहां अर्हंतोंके तो द्रव्य मोहका सर्वथा अभाव ही है। यदि माना जाय कि कर्मोंके उदय मात्रसे बन्ध हो जाता है तब तो संसारी जीवोंके सदा ही कर्मोंके उदयसे सदा ही बन्ध रहेगा कभी भी मोक्ष न होगी। सो ऐसा कभी नहीं हो सकता इसलिये मोहके उदय के बिना क्रिया बंध नहीं करती किन्तु जिस कर्मके उदय से जो क्रिया होती है वह कर्म झड़ जाता है। इसलिये उस क्रियाको क्षायिकी कह सकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें भी आचार्य महाराजने इसी बातको बतलाया है कि मिथ्यात्व व चारित्र मोहका उदय ही बंधका कारण है। आत्माकी भावना के बलसे मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियां अपने रूप उदय में नहीं आतीं किंतु सम्यक्त्व प्रकृति रूप (जो दर्शनमोह की प्रकृति है) संक्रमण कर उदय में आती है जिससे मोह रूप अर्थात् मिथ्यात्व रूप भाव नहीं होते। यदि मिथ्यात्व का उदय हो तो मिथ्यात्व रूप भाव है।

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं॥ ४६ ॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥ ४६ ॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्य-मुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते। आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्वत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ४६

अब, केवलियों की तरह समस्त संसारी जीवों के भी स्वभाव-विघात होने के अभाव को निषेध करते हैं (अर्थात् क्रिया सब संसारी जीवोंके स्वभावकी घातक होती हैं, यह बताते हैं)

अन्वयार्थ—[यदि] जो (यह माना जाय कि) [सः आत्मा] वह आत्मा [स्वयं] स्वयं [स्वभावेन] स्व-भावसे (अपने भाव से) [शुभः वा अशुभः] शुभ या अशुभ [न

भवति] नहीं होता (शुभ अशुभ भाव में परिणत ही नहीं होता) तो [सर्वेषां जीवकायानां] तो समस्त जीव निकायों के [संसारः अपि] संसार भी [न विद्यते] विद्यमान नहीं है अर्थात् संसार ही न रहेगा (ऐसा सिद्ध होगा)।

टीका—जो वास्तव में एकान्त से (यह माना जाय कि) शुभ अशुभ भाव रूप स्व-भाव से (अपने भाव से) आत्मा स्वयं परिणत नहीं होता, तब तो वह सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभाव से ही अवस्थित है। ऐसा होने पर, समस्त जीव-समूह समस्त बंध–कारणोंसे रहित सिद्ध होनेसे, संसारके अभाव रूप स्वभाव के कारण नित्य-मुक्तता को प्राप्त हो जायेंगे (नित्य–मुक्त सिद्ध होंगे) किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा के परिणमन धर्मके कारण (परिणमनशील होने के कारण) शुभ अशुभ, निज–भावपना प्रकाशित (प्रगट) है, "स्फटिकमणि के जवाकुसुम और तमाल-पुष्प के रङ्ग रूप निज-भावपने (निज परिणाम) की तरह।"

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि लाल और काले फूल के निमित्त से लाल और काले निज भावसे परिणत होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्तसे शुभ-अशुभ निज भाव रूप से परिणत होता है ॥ ४६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यथार्हतां शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन संसारिणामपि नास्तीति सांख्यमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहारं ददाति,—

(जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण) यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्यां न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वयं स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा। किं दूषणं भवति। (संसारोवि ण विज्जदि) निस्संसारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि संसारो न विद्यते। केषां। (सव्वेसिं जीवकायाणं) सर्वेषां जीवसंघातानामिति।

तथाहि—आत्मा तावत्परिणामी स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधिं गृह्णाति, ततः कारणात्संसाराभावो न भवति। अथ मतं—संसाराभावः सांख्यानां दूषणं न भवति, भूषणमेव। नैवम्। संसाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च संसारिजीवानां न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थः ॥ ४६ ॥

एवं रागादयो बन्धकारणं न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

उत्थानिका—आगे जैसे अरहंतोंके शुभ व अशुभ परिणामके विकार नहीं होते तो एकान्तसे संसारी जीवोंके भी नहीं होते, ऐसे सांख्यमतके अनुसार चलनेवाले शिष्यने अपना पूर्वपक्ष किया, उसको दूषण देते हुए समाधान करते हैं-अथवा केवली भगवानों की तरह सर्व ही संसारी जीवोंके स्वभावके घात का अभाव है, इस बातका निषेध करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (सहावेण) स्वभावसे (सयं) आप ही (सुहो) शुभ परिणामरूप (व असुहो) अथवा अशुभ परिणाम रूप (ण हवदि) नहीं होता है।

अर्थात् 'जैसे शुद्ध नय करके आत्मा शुभ या अशुभ भावोंसे नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नयसे भी स्वयं अपने ही उपादान कारणसे अर्थात् स्वभावसे अथवा अशुद्ध निश्चयसे भी यदि शुभ या अशुभ भावरूप नहीं परिणमन करता है।'

ऐसा यदि मानाजावे तो क्या दूषण आएगा. उसके लिये कहते हैं कि (सव्वेसिं जीवकायाणं) सर्व ही जीव-समूहोंको (संसारोवि ण विज्जदि) संसार अवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् संसार-रहित शुद्ध आत्मस्वरूपसे प्रतिपक्षी जो संसार सो व्यवहारनय से नहीं रहेगा।

भाव यह है कि आत्मा परिणामनशील है। वह कर्मोंकी उपाधिके निमित्तसे स्फटिकमणिकी तरह उपाधिको ग्रहण करता है इस कारण संसारका अभाव नहीं है। अब कोई शंकाकार कहता है कि सांख्यों के यहां संसारका अभाव होना दूषण नहीं है किन्तु भूषण ही है? उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है। क्योंकि संसारके अभावको ही मोक्ष कहते हैं सो मोक्ष संसारी जीवोंके भीतर नहीं दिखलाई पड़ती है इसलिये प्रत्यक्षमें विरोध आता है। ऐसा भाव है ॥ ४६ ॥

इस तरह यह बताया कि राग द्वेष मोह बन्धके कारण हैं, ज्ञान बन्धका कारण नहीं है इत्यादि कथन करते हुए छठे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ ४७ ॥

यत् तात्कालिकं इतरं जानाति युगपत् समन्ततः सर्वं।
अर्थं विचित्रं विषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम् ॥ ४७ ॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरो-

धधा पतासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात् । तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत । सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत । सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत । सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत । असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत । अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥ ४७ ॥

अब, पुनः प्रकृत (चालू विषय) को अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञपने से अभिनन्दन करते हैं (अतीन्द्रिय ज्ञान सबका ज्ञाता है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं):—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [युगपत्] एक ही साथ [समन्ततः] सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) [तात्कालिकं] तात्कालिक (वर्तमान कालीन) [इतरं] या अतात्कालिक (भूत भविष्यत्) [विचित्रं] विचित्र (अनेक प्रकार के) और [विषमं] विषम (मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन आदि असमान जाति के) [सर्वं अर्थं] समस्त पदार्थों को [जानाति] जानता है [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [क्षायिकं भणितं] क्षायिक कहा गया है।

टीका—(१) वर्तमान काल में वर्तते, (२) भूत-भविष्यत् काल में वर्तते, (३) जिनमें पृथक् रूपसे वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है, (४) और जिन में परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान—जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है, ऐसे (चार विशेषण वाले) समस्त पदार्थ समूह को, एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिक ज्ञान वास्तव में जानता है।

(इसी बातको युक्तिपूर्वक स्पष्ट समझाते हैं :—)

(१) उस (केवलज्ञान) के वास्तव में क्रम—प्रवृत्ति के हेतुभूत, क्षयोपशम अवस्था में रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलोंका अत्यन्त अभाव होनेसे (वह क्षायिक ज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ—समूह को समकाल में (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (२) सर्वतः (सर्व प्रदेशोंसे) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशोंकी विशुद्धि

(सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है। (३) सर्व आवरण का क्षय होनेसे, देश आवरण रूप क्षयोपशमके न रहने से (वह क्षायिक ज्ञान) सबको भी प्रकाशित करता है (४) सर्वप्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के नाश होने से (वह क्षायिक ज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है। (५) असमान जातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशमके नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) विषमको भी (असमान जातिके पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।

(सार) अथवा, अतिविस्तार से बस हो जिसका अनिवारित (रुकावट रहित फैलाव है ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिक ज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सब कालीन त्रिकालीन), सर्वत्र (सब क्षेत्रके-लोक अलोकके) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्ण रूप से) जाने अर्थात् जानता है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ प्रथमं तावत् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूपं, तदनन्तरं सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञानं, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानं प्रकृतं तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञानं सर्वज्ञत्वेन निरूपयति,—

(जं) यज्ज्ञानं कर्तृ (जाणदि) जानाति। कं। (अत्थं) अर्थं पदार्थमिति विशेष्यपदं। किं विशिष्टं। (तक्कालियमिदरं) तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम्। कथं जानाति। (जुगवं) युगपदेकसमये (समंतदो) समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा। कतिसंख्योपेतं। (सव्वं) समस्तं। पुनरपि किंविशिष्टं। (विचित्तं) नानाभेदभिन्नं। पुनरपि किंरूपं। (विसमं) मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृशं (तं णाणं खाइयं भणियं) यदेवं गुणविशिष्टं ज्ञानं तत्क्षायिकं भणितम्। अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम्। इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

उत्थानिका—आगे कहेंगे कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञका स्वरूप है। फिर कहेंगे कि सर्वको जानते हुए एकका ज्ञान होता है तथा एकको जानते हुए सर्वका ज्ञान होता है इस तरह पांच गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम ही निरूपण करते हैं क्योंकि यहां ज्ञान प्रपंचके व्याख्यानकी मुख्यता है, इसलिये उसहीको आगे लेकर फिर कहते हैं कि केवलज्ञान सर्वज्ञ रूप है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं) जो ज्ञान (समंतदो) सर्व प्रकारसे आत्माके प्रदेशोंसे (विचित्तं विसमं) नाना भेदरूप अनेक जातिके मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन आदि (सव्वं अत्थं) सर्व पदार्थोंको (तक्कालिगं) वर्तमानकाल संबंधी तथा (इतरं) भूत भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं)

एक समयमें व एक साथ (जाणदि) जानता है। (तं णाणं) उस ज्ञानको (खाइयं) क्षायिक (भणियं) कहा है।

अभेद नयसे वही सर्वज्ञका स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत सब तरहसे प्राप्त करने योग्य है, इस रूपसे भावना करनी चाहिये। यह तात्पर्य है।

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि। ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः। एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ। अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स, समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥ ४८ ॥

अब, सबको नहीं जानता हुआ एक (आत्मा) को भी नहीं जानता है, यह निश्चय करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यः] जो [युगपत्] एक ही साथ [त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनों कालके और तीनों लोकके) [अर्थान्] पदार्थोंको [न विजानाति]

नहीं जानता है [तस्य] उसके [सपर्ययं] पर्याय सहित [एकं द्रव्यं वा] एक (आत्म) द्रव्य भी [ज्ञातुं न शक्यं] जानना शक्य नहीं है।

टीका—इस विश्वमें वास्तवमें एक आकाश द्रव्य, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, असंख्य काल द्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उससे भी अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं। उनमेंसे प्रत्येकके अतीत अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारोंसे भेदवाली निरवधि (अमर्यादित) वृत्तिप्रवाह के भीतर पड़नेवाली अनन्त पर्यायें हैं। इस प्रकार यह समस्त ही (द्रव्यों और पर्यायों का) समुदाय ज्ञेय है। उनमें ही एक कोई भी जीव द्रव्य ज्ञाता है। अब यहाँ, जैसे समस्त (ईंधन) को जलाती हुई अग्नि, समस्त दाह्यहेतुक (समस्त दाह्यके निमित्तसे होनेवाले) समस्त दाह्याकार (ईंधन आकार) पर्याय रूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है, ऐसे अपने रूप परिणत होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (आत्मा), समस्त-ज्ञेय-हेतुक (समस्त ज्ञेयके निमित्तसे होने वाले) समस्त ज्ञेयाकार पर्याय रूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है तथा जो चेतनपने के कारण स्वानुभव-प्रत्यक्ष है, ऐसे उस अपने आत्मा रूप परिणत होता है। वास्तव में ऐसा द्रव्यका स्वभाव है।

जैसे समस्त दाह्यको न दहती हुई अग्नि, समस्त-दाह्य-हेतुक समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार है, ऐसे अपने रूपमें परिणत नहीं होती, उसीप्रकार जो समस्त ज्ञेयको नहीं जानता है, वह आत्मा, समस्त-ज्ञेय-हेतुक समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे अपने रूपमें-स्वयं चेतनपने के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी-परिणत नहीं होता, (अपनेको परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता—नहीं जानता)। इस प्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको (आत्मा को) नहीं जानता ॥ ४८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यः सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति:—

(जो ण विजाणदि) यः कर्ता नैव जानाति। कथं। (जुगवं) युगपदेकक्षणे। कान्। (अत्थे) अर्थान्।

कथंभूतान् । (तिक्कालिगे) त्रिकालपर्यायपरिणतान् । पुनरपि कथंभूतान् । (तिहुवणत्थे) त्रिभुवनस्थान् (णादुं तस्स ण सक्कं) तस्य पुरुषस्य सम्बन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थं न भवति । किं । (दव्वं) ज्ञेयद्रव्यं । किंविशिष्टं । (सपज्जयं) अनन्तपर्यायसहितं । कतिसंख्योपेतं । (एगं वा) एकमपीति ।

तथाहि—आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्वं ज्ञेयं तावत्तत्रैकं विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति । एवं तावद्वस्तुस्वभावः । तत्र यथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति । तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति । यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथात्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति ।

अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतं स्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति । तत एतत्स्थितं यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥ ४८ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य विचारते हैं कि जो ज्ञान सबको नहीं जानता है वह ज्ञान एक पदार्थ को भी नहीं जान सकता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ (जो) जो कोई आत्मा (जुगवं) एक समयमें (तिक्कालिगे) तीन कालकी पर्यायोंमें परिणमन करने वाले (तिहुवणत्थे) तीन लोकमें रहनेवाले (अत्थे) पदार्थोंको (ण विजाणदि) नहीं जानता है। (तस्स) उस आत्माका ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एगं दव्वं) एक द्रव्यको (वा) भी (णादुं) जानने के लिये (ण सक्कं) नहीं समर्थ होता है।

भाव यह है कि आकाशद्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य हैं, उससे अनन्त गुणे जीव द्रव्य हैं, उससे भी अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक एक जीव द्रव्यमें अनंत कर्म वर्गणाओंका सम्बन्ध है तैसे ही अनंत नोकर्म वर्गणाओंका सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यकी अनन्त पर्याय होती हैं क्योंकि कालके समय पुद्गल द्रव्य से भी अनन्तानन्त-गुणे हैं। यह सब ज्ञेय—जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीव-द्रव्य ज्ञाता—जाननेवाला है। ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। यहां जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारणके होते हुए सब ईंधनके पर्यायमें परिणमन करते हुए सब-मई एक अग्नि स्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णतामें परिणत तृण व पत्तों आदिके आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है। तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयोंको जानता हुआ सर्व ज्ञेयोंरूप कारणके होते हुए सर्व ज्ञेयाकारकी पर्यायमें परिणमन करते हुए सर्व-मई एक अखंडज्ञान रूप अपने ही आत्माको परिणमाता है।

अर्थात् सबको जानता है। और जैसे वही अग्नि पूर्वमें कहे हुए ईन्धनको नहीं जलाती हुई उस ईंधनके आकार नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्वमें कहे हुए सर्वज्ञेयोंको न जानता हुआ पूर्वमें कहे हुए लक्षणरूप सर्वको जानकर एक अखंड ज्ञानाकाररूप अपने ही आत्माको नहीं परिणमाता है अर्थात् सर्वका ज्ञाता नहीं होता।

दूसरा भी एक उदाहरण देते हैं। जैसे कोई अन्धा पुरुष सूर्य्यसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको नहीं देखता, दीपकसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको न देखता हुआ दीपकको भी नहीं देखता, दर्पणमें झलकती हुई परछाईको न देखने हुए दर्पणको भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टिसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको न देखता हुआ हाथ पग आदि अंगरूप अपने ही देहके आकारको अर्थात् अपनेको अपनी दृष्टिसे नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरणमें प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञानसे प्रकाशने योग्य पदार्थोंको नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवलज्ञान रूप अपने आत्माको नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्माको भी नहीं जानता है।

विशेषार्थ—यदि यहां पर कोई शंका करे कि ६ माह ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते रहते हैं। जीवोंसे काल अनन्तगुणा है, अतः सब भव्य जीव मोक्ष चले जावेंगे। सो यह शंका ठीक नहीं है। ऐसा नियम है कि सब वस्तु प्रतिपक्ष-सहित होती हैं। इसलिये सब भव्य जीवोंके मुक्त होजाने पर भव्य जीवों का अभाव हो जायगा। भव्य जीवोंके अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी अभव्य जीवों का भी अभाव हो जायगा। भव्य और अभव्य जीवोंका अभाव होने पर संसारी जीवोंका भी अभाव होजायगा। संसारी जीवोंका अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी मुक्त जीवों का भी अभाव होजायगा। इस प्रकार जीव मात्रके अभावका प्रसंग आजायगा। [धवल पु० १४ पृ० २३-३४]॥

श्री पंचास्तिकाय गाथा ८ में भी 'सप्पडिवक्खा हवई' शब्दों द्वारा इस सिद्धान्तका समर्थन होता है कि सब सप्रतिपक्ष हैं। अतः 'नियति' भी अपने प्रतिपक्ष अनियति की अपेक्षा रखती है। यदि अनियत पर्यायोंका अभाव माना जायगा तो नियत पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा। नियत और अनियत पर्यायोंके अभाव से पर्याय मात्रका अभाव होजायगा। और पर्यायमात्रके अभाव होजानेसे द्रव्यके अभाव का प्रसंग आजायगा। अतः पर्यायें नियत और अनियत दोनों प्रकार की हैं॥ ४८॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानतीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥४९॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति॥ ४९॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव । ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम् । तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि । ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः । अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवष्ठिते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥ ४९ ॥

अब, एकको न जाननेवाला सबको नहीं जानता, यह निश्चित करते हैंः—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्यायवाले [एकं द्रव्यं] एक द्रव्य को (आत्मद्रव्य को) [न विजानाति] नहीं जानता [सः] तो वह [युगपत्] एक ही साथ [सर्वाणि अनन्तानि-द्रव्यजातानि] सर्व अनन्त द्रव्य-जातियों को [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा (अर्थात् नहीं जान सकता)

टीका—पहले तो आत्मा वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होनेपर ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है । प्रत्येक आत्मामें रहनेवाला ज्ञान प्रतिभासमय महा-सामान्य है । वह प्रतिभासमय अनन्त विशेषों में व्याप्त होनेवाला है । और वे (अनन्त विशेष) सर्व द्रव्य पर्याय-निमित्तक हैं । अब जो पुरुष सर्व द्रव्य पर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषों में व्याप्त होनेवाले प्रतिभासमय महासामान्य रूप आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता है, वह प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्त जो प्रतिभामय अनन्त विशेष हैं उनके कारण-भूत सर्व द्रव्य पर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष करे ? (नहीं कर सकता) । इससे यह फलित हुआ कि जो आत्मा को नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता ।

अब (गाथा ४८ से) सर्वके ज्ञान से आत्माका ज्ञान और (गाथा ४९ से) आत्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान होता है, यह (सिद्धान्त) निश्चित होता है । ऐसा होनेसे आत्माके ज्ञान-

मयता के कारण स्वसंचेतकपना होने से, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तु रूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास (ज्ञान) और प्रतिभास्यमान (ज्ञेयाकार) का अपनी अवस्था में अन्योन्य मिलन होने के कारण (ज्ञान और ज्ञेय आकार, आत्मा की ज्ञानकी अवस्था में परस्पर मिश्रित एक-मेक रूप होनेके कारण) उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होनेसे सब कुछ आत्मा में खुदे हुए के समान प्रतिभासित होता है। (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये वह अपनेको अनुभव करता है—जानता है, और अपनेको जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं मानों वे ज्ञानमें स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञानकी अवस्था में से ज्ञेयाकारोंको भिन्न करना अशक्य है)।

यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञानके परिपूर्ण आत्म-संचेतन का अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध नहीं होता ॥ ४६ ॥

जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति,—

(दव्वं) द्रव्यं (अणंतपज्जयं) अनन्तपर्यायं (एगं) एकं (अणंताणि दव्वजादाणि) अनन्तानि द्रव्यजातानि (जो ण विजाणदि) यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् (कध सो सव्वाणि जाणादि) कथं स सर्वान् जानाति (जुगवं) युगपदेकसमये, न कथमपीति ।

तथाहि—आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानं तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम् । तच्च महासामान्यं ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि । ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः । अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभावमात्मानं योसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन ये व्याप्ता अनन्तज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूताः येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति ? न कथमपि । अथ एतदायातं यः आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानातीति । तथा चोक्तम्—

"एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥ १ ॥"

अत्राह शिष्यः—आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति । यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्यात्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति ? आत्मपरिज्ञा-नाभावे चात्मभावना कथं ? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति ।

परिहारमाह—परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत्—लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्ति-ज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञानं च जायते । इति नास्ति दोषः ॥ ४९ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चय करते हैं कि जो एकको नहीं जानता वह सबको भी नहीं जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि कोई आत्मा (एकं अणंतपज्जयं दव्वं) एक अनन्त पर्यायोंके रखनेवाले द्रव्यको (ण विजाणदि) निश्चयसे नहीं जानता है (सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणंताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्त द्रव्यसमूहोंको (जुगवं) एक समयमें (जाणादि) जान सक्ता है ? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकता।

विशेष यह है कि आत्माका लक्षण ज्ञान स्वरूप है। सो अखंडरूपसे प्रकाश करनेवाला सर्व जीवोंमें साधारण महासामान्य रूप है। वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनंत विशेषोंमें व्यापक है वे ज्ञानके विशेष अपने विषयरूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको जाननेवाले, ग्रहण करने वाले हैं जो कोई अपने आत्माको अखण्डरूप से प्रकाश करते हुए महा-सामान्य स्वभावरूप प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह पुरुष प्रकाशमान महासामान्यके द्वारा जो अनंत ज्ञानके विशेष व्याप्त हैं उनके विषयरूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको कैसे जानसक्ता है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं जान सक्ता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्माको नहीं जानता है वह सर्वको नहीं जानता है। ऐसा ही कहा भी है—

एको भावः सर्व-भाव-स्वभावः सर्वे भावा एक-भाव-स्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः॥

भाव यह है कि एक-भाव सर्व-भावोंका स्वभाव है और सर्व-भाव एक-भावके स्वभाव हैं। जिसने निश्चयसे-यथार्थ रूपसे एक भावको जाना उसने यथार्थ रूपसे सर्व भावोंको जाना है। यहां ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिये, जिसने ज्ञाताको जाना उसने सब ज्ञेयोंको जाना ही।

यहांपर शिष्यने प्रश्न किया कि आपने यहां यह व्याख्या की कि आत्माको जानते हुए सर्वका जानपना होता है और इसके पहले सूत्रमें कहा था कि सब ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थोंको सर्वका ज्ञान नहीं है तब उनको आत्मा का ज्ञान कैसे होगा ? यदि उनको आत्माका ज्ञान न होगा तो उनके आत्माकी भावना कैसे होगी ? यदि आत्माकी भावना न होगी तो उनको केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी ?

इस शंकाका समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुत ज्ञानसे सर्व पदार्थ जाने जाते हैं। यह कैसे सो कहते हैं कि छद्मस्थोंको भी लोक और अलोकका ज्ञान व्याप्तिज्ञान रूपसे है। वह व्याप्तिज्ञान परोक्ष रूपसे केवलज्ञानके विषयको ग्रहण करनेवाला है इसलिये किसी अपेक्षासे आत्मा ही कहा जाता है। अथवा स्वसंवेदन ज्ञान आत्माको जानते हैं। और फिर उसकी भावना करते हैं। इसी रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित स्वसंवेदनज्ञानकी भावनाके द्वारा केवलज्ञान पैदा होजाता है। इसमें कोई दोष नहीं है॥ ४९॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ ५० ॥

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं, तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत् कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात् ॥ ५० ॥

अब क्रमसे होनेवाली प्रवृत्तिसे, ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध नहीं होती, यह निश्चित करते हैं-

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ज्ञानिनः ज्ञानं] आत्मा का ज्ञान [क्रमशः] क्रमसे [अर्थान् प्रतीत्य] पदार्थों का अवलम्बन लेकर [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तत्] तो वह ज्ञान [न एव नित्यं भवति] नित्य नहीं हैं, [न क्षायिकं] क्षायिक नहीं है, [न एव सर्वगतं] और सर्वगत (सबके जानने वाला) नहीं है।

टीका—जो ज्ञान वास्तवमें क्रमसे एक एक पदार्थका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है वह एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न और दूसरे पदार्थके अवलम्बन से नष्ट (हो जाने से) नित्य नहीं होता। तथा कर्मोदयके कारणसे एक व्यक्ति (पर्याय-विशेष) को प्राप्त फिर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होता हुवा (अर्थात् ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से हीनाधिक होता हुवा क्षायिक भी नहीं होता। अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्राप्त करनेके लिये (जानने के लिये) असमर्थपने से सर्वगत नहीं होता ॥ ५० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति;—

(उप्पज्जदि जदि णाणं) उत्पद्यते ज्ञानं यदि चेत्—(कमसो) क्रमशः सकाशात् किं कृत्वा। (अट्ठे-

पडुच्च) ज्ञेयार्थानाश्रित्य कस्य (णाणिस्स) ज्ञानिनः आत्मनः (तं णेव हवदि णिच्चं) उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्यं न भवति । (ण खाइयं) ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति । (णेव सव्वगयं) यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्यं न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिकं न भवति तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानां परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगतं न भवति । अत एतत्स्थितं यद् ज्ञानं क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति । इति ॥ ५० ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंके जाननेमें प्रवृत्ति करता है उस ज्ञानसे कोई सर्वज्ञ नहीं होसक्ता है अर्थात् क्रमसे जाननेवालेको सर्वज्ञ नहीं कह सक्ते ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्माका (णाणं) ज्ञान (अत्थे) जानने योग्य पदार्थोंको (पडुच्च) आश्रय करके (कमसो) क्रमसे (उप्पज्जदि) पैदा होता है । तो (तं) वह ज्ञान (णिच्चं) अविनाशी (णेव) नहीं (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थके निमित्तसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थके नाश होने पर उस पदार्थका ज्ञान भी नाश होता है इसलिये वह ज्ञान सदा नहीं रहता है, इससे नित्य नहीं है । (ण खाइगं न क्षायिक है क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके अधीन है (णेव सव्वगयं) और न वह सर्वगत है, क्योंकि जब वह पराधीन होनेसे नित्य नहीं है, क्षयोपशमके अधीन होनेसे क्षायिक नहीं है, इसीलिये ही वह ज्ञान एक समयमें सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको जाननेके लिये असमर्थ है इसीलिये सर्वगत नहीं है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञानके रखनेसे सर्वज्ञ नहीं हो सक्ता ॥ ५० ॥

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्ध्यतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ ५१ ॥

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्र संभवं चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥ ५१ ॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यं परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥ ५१ ॥

अब, युगपत् प्रवृत्तिसे ही ज्ञानका सर्वगतपना सिद्ध होता है, यह निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थ—[त्रैकाल्यनित्यविषमं] त्रिकालिक, नित्य, विषम, [सर्वत्र संभवं] सर्व क्षेत्रों में होने वाले, तथा [चित्रं] अनेक प्रकार के, [सकलं] समस्त पदार्थों को [जैनं] जिनदेवका ज्ञान [युगपत्] एक साथ [जानाति] जानता है। [अहो हि] अहो ! [ज्ञानस्य माहात्म्यं] (यह) ज्ञानका माहात्म्य है ।

टीका—क्षायिक ज्ञान वास्तव में सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत परम महिमावाला है। (क्यों ? इसी को आचार्य स्वयं स्पष्ट करते हैं) क्षायिक ज्ञान युगपत् (एक साथ ही) समस्त पदार्थों का आलम्बन लेकर प्रवर्तता है, तथा समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्यायसे अवस्थित (अपनेमें स्थित) होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है, तथा समस्त व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेनेसे जिसने स्वभाव-प्रकाशक क्षायिक भाव प्रगट किया है, ऐसा वह ज्ञान त्रैकालिक, नित्य तथा विषम (असमान जाति रूप से परिणत होनेवाले), अनन्त प्रकारोंके कारण विचित्रताको प्राप्त, सम्पूर्ण सर्व पदार्थों के समूह को जानता हुआ, अक्रम से (युगपत्) अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्राप्त होनेसे जिसने अद्भुत माहात्म्यको प्रगट किया है, सर्वगत ही है ॥ ५१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयतिः—

(जाणदि) जानाति । किं कर्तृ । (जोण्हं) जैनं ज्ञानं । कथं । (जुगवं) युगपदेकसमये (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्यं पश्यताम् । किं जानाति । अर्थमित्यध्याहारः । कथंभूतं । (तिक्कालणिच्चविसमं) त्रिकालविषयं त्रिकालगतं नित्यं सर्वकालं । पुनरपि किंविशिष्टं । (सयलं) समस्तं । पुनरपि कथंभूतं । (सव्वत्थ संभवं) सर्वत्र लोके संभवं समुत्पन्नं स्थितं । पुनश्च किंरूपं । (चित्तं) नानाजातिभेदेन विचित्रमिति ।

तथाहि युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यं । ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्ध्यादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तु युगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्तिकारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ॥ ५१ ॥

एवं केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तरं सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति द्वितीया चेति । ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगपद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ।

अब यह प्रगट करते हैं कि जो एक समयमें सर्वको जान सकता है, उमी ज्ञानसे सर्वज्ञ होता है—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जोण्हं) जिनेन्द्रका ज्ञान अर्थात् जिन शासनमें जिस प्रत्यक्ष ज्ञानको केवल ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान (जुगवं) एक समयमें (सव्वत्थ संभवं) सर्व लोकालोकमें स्थित तथा (चित्तं) नाना जाति भेदसे विचित्र (सयलं) सम्पूर्ण (तिक्कालणिच्चविसमं) तीनकाल सम्बन्धी पदार्थोंको सदाकाल विषमरूप अर्थात् जैसे उनमें भेद है उन भेदोंके साथ अथवा 'तिक्कालणिच्चविसयं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ है तीनकालके सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थोंको (जाणदि) जानता है। (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो देखो निश्चयसे ज्ञानका माहात्म्य आश्चर्यकारी है।

विशेष भाव यह है कि एक समयमें सर्वको ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं—ज्योतिष, मंत्र, वाद, रस-सिद्धि आदिके जो खंडज्ञान हैं तथा जो मूढ जीवोंके चित्तमें चमत्कार करनेके कारण हैं और जो परमात्माकी भावनाके नाश करनेवाले हैं उन सर्व ज्ञानोंमें आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत व तीनकालकी सर्व वस्तुओंको एक समयमें प्रकाश करनेवाले, अविनाशी तथा अखंड और एक रूपसे उद्योतरूप तथा सर्वज्ञत्व शब्दसे कहने योग्य जो केवल ज्ञान है, उसकी ही उत्पत्तिका कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प-जालोंसे रहित स्वाभाविक शुद्धात्माका अभेद ज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसमें भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य्य है ॥५१॥

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है, ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थोंको जो नहीं जानता है वह एकको भी नहीं जानता है, ऐसा कहते हुए तीसरी, फिर क्रमसे होनेवाले ज्ञानसे सर्वज्ञ नहीं होता है, ऐसा कहते हुए चौथी, तथा एक समयमें सर्वको जाननेसे सर्वज्ञ होता है, ऐसा कहते हुए पांचमी, इस तरह सातवें स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेराहदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

इह खलु 'उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया । तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो

मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणामनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बंधमनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणामनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात्। तथा 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं। पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥' इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्ध्येत् ॥ ५२ ॥

अब ज्ञानीके (केवलज्ञानी के), ज्ञप्ति-क्रियाका सद्भाव होने पर भी, क्रिया के फलरूप बन्धको निषेध करते हुए उपसंहार करते हैं (केवलज्ञानी आत्मा के जाननेकी क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, यह कहकर ज्ञान अधिकार पूर्ण करते हैं) :—

अन्वयार्थ—[आत्मा] (केवलज्ञानी) आत्मा [तान् जानन् अपि] उन पदार्थों को जानता हुआ भी [न अपि परिणमति] उस रूप परिणत नहीं होता, [न गृह्णाति] उन्हें ग्रहण नहीं करता, [तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते] और उन पदार्थों के रूपमें उत्पन्न नहीं होता [तेन] इसलिये [अबन्धकः प्रज्ञप्तः] (वह) अबन्धक कहा गया है।

टीका—यहां वास्तव में 'उदयगताः कर्मांशाः जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः। तेषु विमूढः रक्तः दुष्टः वा वंधं अनुभवति' इस ४३ वें गाथा-सूत्रमें "उदयगत पुद्गल कर्मांशोंके विद्यमान रहने पर (उन्हें) संचेतन करता हुआ (अनुभव करता हुआ) मोह-राग-द्वेष रूप परिणमन-स्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफल-भूत बंधको अनुभव करता है, ज्ञानसे नहीं"। इस प्रकार प्रथम ही अर्थ-परिणमन-क्रियाके फलरूप से बन्धका समर्थन किया गया है तथा 'गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान्। पश्यति समन्ततः सः जानाति सर्वं निर्विशेषं' इस ३२ वें गाथा—सूत्रमें शुद्धात्मा के, अर्थ परिणमन आदि क्रियाओं का अभाव, निरूपित किया गया है। (अब इस गाथाका अर्थ लिखते हैं)

इसलिये पदार्थ रूपमें परिणत नहीं होने वाले, पदार्थों को ग्रहण नहीं करनेवाले तथा उन पदार्थोंमें उत्पन्न नहीं होनेवाले (उस) आत्माके ज्ञप्ति-क्रियाका सद्भाव होनेपर भी वास्तव में क्रिया-फल-भूत बन्ध सिद्ध नहीं होता।

ज्ञान अधिकार का साररूप कलश—

जानन्नप्येषः विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं,
मोहाभावाद् यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥ ४ ॥

अन्वय—(येन) निर्लूनकर्मा एषः आत्मा भवद्भाविभूतं समस्तं विश्वं युगपत् जानन् अपि मोहाभावात् परं नैव परिणमति तेन अथ प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तार पीतज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथक् अपृथक् द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः मुक्तः एव आस्ते ।

अन्वयार्थ—[येन] क्योंकि [निर्लूनकर्मा] जिसने कर्मों को छेद डाला है ऐसा [एषः आत्मा] यह आत्मा [भवद्भाविभूतं भूत, भविष्यत् और वर्तमान [समस्तं विश्वं] समस्त विश्वको (तीनों कालकी पर्यायों से युक्त पदार्थों को [युगपत्] एक ही साथ [जानन्] जानता हुआ [अपि] भी [मोहाभावात्] मोह के अभाव के कारण [परं) पररूप [नैव परिणमति] परिणमित नहीं होता, [तेन] इसलिये [अथ] अब, [प्रसभविकसितज्ञप्ति-विस्तारपीतज्ञेयाकारं] अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से जिसने स्वयं समस्त ज्ञेयाकारों को पीलिया है, ऐसे तीनों लोकों के पदार्थों को [पृथक् अपृथक् द्योतयन्] पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह [ज्ञानमूर्तिः] ज्ञानमूर्ति [मुक्तः एव आस्ते] मुक्त ही रहता है ।

ज्ञानाधिकार समाप्त हुआ ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ पूर्वं यदुक्तं पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिनां बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसंहरति,—

(ण वि परिणमदि) यथा स्वकीयात्मप्रदेशैः समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति (ण गेण्हदि) यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपमात्मरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूपं न गृह्णाति (उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु) यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते किं कुर्वन्नपि । (जाणण्णवि ते) तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि । स कः कर्ता । (आदा) मुक्तात्मा (अबंधगो तेण पण्णत्तो) ततः कारणात्कर्मणामबन्धकः प्रज्ञप्त इति ।

तद्यथा—रागादिरहितज्ञानं बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदुःख-

कारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

एवं रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिनां बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थलं गतम् ।

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्करोति,—

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।
*भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहावि अहं ॥ ५२–१ * ॥*

(करेदि) करोति । स कः । (लोगो) लोकः । कथंभूतः । (देवासुरमणुअरायसंबंधो) देवासुरमनुष्यराजसंबन्धः । पुनरपि कथंभूतः । (भत्तो) भक्तः । (णिच्चं) नित्यं सर्वकालं । पुनरपि किंविशिष्टः । (उवजुत्तो) उपयुक्त उद्यतः । इत्थम्भूतो लोकः कां करोति । (णमाइं) नमस्यां नमस्क्रियां । कस्य । (तस्स) तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य । (तं तहावि अहं) तं सर्वज्ञं तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति । अयमत्रार्थः—यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पदं सर्वज्ञस्वरूपं नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि ॥ ५२-१ ॥

एवमष्टाभिः स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपंच–नामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति । अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले "अत्थि अमुत्तं" इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जं पेच्छदो" इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जीवो सयं अमुत्तो" इत्यादि गाथाचतुष्टयं अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकं, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दुःखत्वस्थापनार्थं "मणुआ सुरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मनां देहाभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन "तिमिरहरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अतोपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन "तेजोदिट्ठि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पञ्चान्तराधिकारे समुदायपातनिका ॥

उत्थानिका—आगे पहले जो यह कहा था कि पदार्थोंका ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोहका अभाव होनेसे केवल-ज्ञानियोंको बंध नहीं होता है उस ही अर्थको दूसरी तरहसे दृढ करते हुए ज्ञान प्रपंच का संकोच करते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(आदा) आत्मा अर्थात मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् की आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थोंको अपने आत्मासे भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अट्ठेसु) उन ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपमें (ण वि परिणमदि) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्म-प्रदेशोंके द्वारा समतारससे पूर्ण भावके साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूप नहीं परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता है। (ण गेण्हदि) और न उनको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनंत ज्ञान आदि अनंत चतुष्टय रूप अपने आत्माके स्वभावको आत्माके स्वभाव रूपसे ग्रहण करता है वैसे वह ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावको ग्रहण नहीं करता है। (णेव उप्पज्जदि) और

न वह उन रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानंदमई एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थोंके स्वभावमें पैदा नहीं होता है। (तेण) इस कारणसे (अबंधगो) कर्मोंका बंध नहीं करने वाला (पण्णत्तो) कहा गया है।

भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंधका कारण नहीं होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्माका प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी जो मोक्ष उससे उल्टा जो नरक आदिके दुःखोंकी कारण कर्म बंधकी अवस्था, जिस बंध अवस्थाके कारण इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले एक देश ज्ञान उन सर्वको त्याग कर सर्व प्रकार निर्मलज्ञान जो कर्मका बंधका कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकार रहित-स्वसंवेदन ज्ञान या स्वानुभव उसमें ही भावना करनी योग्य है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान-प्रपंचके व्याख्यानके पीछे ज्ञानके आधार सर्वज्ञ भगवानको नमस्कार करते हैं।

सामान्यार्थ—जैसे देव, असुर, मनुष्योंके राजाओंसे सम्बंधित यह भक्त जगत उद्यमवंत होकर उस सर्वज्ञ भगवानको नित्य नमस्कार करता है तैसे ही मैं उनको नमस्कार करता हूँ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—जैसे (देवासुरमणुअरायसम्बंधो) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा मनुष्योंके इन्द्रोंकर सहित (भत्तो) भक्तिमान (उवजुत्तो) तथा उद्यमवंत (लोगो) यह लोक (तस्स णमाइं) उस सर्वज्ञको नमस्कार (णिच्चं) सदा (करेदि) करता है (तहावि) तैसे ही (अहं) मैं ग्रन्थकर्ता श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य (तं) उस सर्वज्ञको नमस्कार करता हूं।

भाव यह है कि जैसे देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदिक अनन्त और अक्षय सुख आदि गुणोंके स्थान सर्वज्ञके स्वरूपको नमस्कार करते हैं तैसे मैं भी उस पदका अभिलाषी होकर परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ ॥ ५२ । १ ॥*

इस तरह आठ स्थलोंके द्वारा बत्तीस गाथाओंसे और उसके पीछे एक नमस्कार गाथा ऐसे तेतीस गाथाओंसे ज्ञानप्रपंच नामका तीसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ। आगे सुखप्रपंच नामके अधिकार में अठारह गाथाएं हैं जिसमें पांच स्थल हैं उनमेंसे प्रथम स्थलमें " अत्थि अमुत्तं " इत्यादि अधिकार गाथा सूत्र एक है, उसके पीछे अतीन्द्रिय ज्ञानकी मुख्यतासे ' जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्र एक है। फिर इन्द्रियजनित ज्ञानकी मुख्यतासे 'जीवो सयं अमुत्तो, इत्यादि गाथाएं चार हैं फिर अभेद नयसे केवलज्ञान ही सुख है ऐसा कहते हुए गाथाएं ४ हैं।

फिर इन्द्रिय-सुखका कथन करते हुए गाथाएं आठ हैं। इनमें भी पहले इंद्रिय सुखका रूप स्थापित करनेके लिये ' मणुआसुरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं। फिर मुक्त आत्माके देह न होनेपर भी सुख है इस बातको बतानेके लिये देह सुखका कारण नहीं है, इसे जनाते हुए "पय्या इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर इन्द्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं है, ऐसा कहते हुए 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं, फिर सर्वज्ञको नमस्कार करते हुए 'तेजो दिट्ठि' इत्यादि सूत्र दो हैं ? इस तरह पांच अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

---

* इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्दसूरि ने नहीं की है।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति-

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ ५३ ॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु ।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वत् कादाचित्कत्वं, क्रमकृतप्रवृत्ति—सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ॥ ५३ ॥

अथ, ज्ञान से अभिन्न रूप सुखके स्वरूपको विस्तार-पूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख की हेय-उपादेयता का विचार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[अर्थेषु ज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [अमूर्तं मूर्तं] अमूर्त या मूर्त, [अतीन्द्रियं ऐन्द्रियं च अस्ति] अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है, [च तथा सौख्यं] और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय) सुख होता है। [तेषु च यत् परं] उन (दो प्रकार के ज्ञान-सुख) में जो (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख) प्रधान (उत्कृष्ट) है [तत् ज्ञेयं] वह (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख (उपादेयरूप) जानने योग्य है।

टीका—(ज्ञान तथा सुख दो प्रकारका है उनमेंसे यहां) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त है और इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रियज है और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त है और अतीन्द्रिय

है उस में जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होनेसे उपादेयरूप से जानने योग्य है।

(गाथाका अर्थ पूरा हो गया। अब इसके भावको टीकाकार स्वयं स्पष्ट करते हैं)

वहां (उनमेंसे) पहला ज्ञान तथा सुख (१) मूर्तरूप (२) क्षायोपशमिक (३) उपयोग शक्तियोंसे उस-उस प्रकार की इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होता हुआ, पराधीन होनेसे कादाचित्क (अनित्य) क्रमशः प्रवृत्त होनेवाला, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धियुक्त है। इसलिये गौण है, और गौण होकर वह हेय है।

दूसरा ज्ञान तथा सुख (१) अमूर्तरूप (२) चैतन्यानुविधायी, (३) एकाकी, (४) आत्म-परिणाम-शक्तियों से तथाविध अतीन्द्रिय, (५) स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष, और हानि वृद्धिसे रहित है। इसलिये मुख्य है और मुख्य होकर वह (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख) उपादेय हैं॥ ५३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुखं चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टयं सूत्रयति,—

(अत्थि) अस्ति विद्यते। किं कर्तृ। (णाणं) ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः। किंविशिष्टं। (अमुत्तं मुत्तं) अमूर्तं मूर्तं च। पुनरपि किंविशिष्टं। (अदिंदियं इन्द्रियं च) यदमूर्तं तदतीन्द्रियं मूर्तं पुनरिन्द्रियजं। इत्थंभूतं ज्ञानमस्ति। केषु विषयेषु। (अत्थेसु) ज्ञेयपदार्थेषु, (तहा सोक्खं च) तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रियं मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति। (जं तेसु परं च तं णेयं) यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रियं तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम्।

तदेव विव्रियते—अमूर्ताभिः क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञानं सुखं चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभिः क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति तात्पर्यम्॥ ५३ ॥

एवमधिकारगाथया प्रथमस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे अतीन्द्रिय सुख जो उपादेय रूप है उसका स्वरूप कहते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख उपादेय हैं और इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख हेय हैं इस तरह कहते हुए पहले अधिकार स्थलकी गाथासे चार स्थलका सूत्र कहते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(अत्थेसु) ज्ञेय पदार्थोंके सम्बन्धमें (णाणं) ज्ञान (अमुत्तं) जो अमूर्तिक है सो (अदिंदियं) अतीन्द्रिय है तथा (मुत्तं) जो मूर्तिक है सो (इंदियं) इंद्रिय-जन्य (अत्थि) है (तहा च सोक्खं) तैसे ही अर्थात् ज्ञानकी तरह अमूर्तिक सुख अतीन्द्रिय है तथा मूर्तिक सुख इंद्रिय-जन्य है (तेसु जं परं) इन ज्ञान और सुखोंमें जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय हैं (तं च णेयं) उनको ही, उपादेय हैं ऐसा जानना चाहिये।

इसका विस्तार यह है कि अमूर्तिक, क्षायिक, अतींद्रिय, चिदानन्दलक्षण-स्वरूप शुद्धात्माकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख आत्माके ही अधीन होनेसे अविनाशी है इससे उपादेय है तथा पूर्वमें कहे हुए अमूर्त शुद्ध आत्माकी शक्तिसे विलक्षण जो क्षायोपशमिक इन्द्रियोंकी शक्तियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान और सुख हैं वे पराधीन होनेसे विनाशवान हैं, इसलिये हेय हैं, ऐसा तात्पर्य है। अतीन्द्रिय ज्ञान व सुखकी अपेक्षा इन्द्रिय-जनित ज्ञान व सुख हेय हैं, सर्वथा हेय नहीं है ॥ ५३ ॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ ५४ ॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥ ५४ ॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

अब, अतीन्द्रिय सुखका साधनभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, उस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं:—

अन्वयार्थ—[प्रेक्षमाणस्य यत्] देखनेवाले का जो ज्ञान [अमूर्तं] अमूर्त को, [मूर्तेषु अतीन्द्रियं] मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय (परमाणु आदि) को, [च प्रच्छन्नं] (काल या क्षेत्रकी अपेक्षा गुप्त–इन्द्रिय-अग्राह्यको, [सकलं] इन सबको [स्वयं च इतरत्] स्व तथा परको [पश्यति] देखता है (जानता है) [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [प्रत्यक्षं भवति] प्रत्यक्ष है।

टीका—जो अमूर्त है, जो मूर्तों में भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (काल या क्षेत्र की अपेक्षा गुप्त–इन्द्रिय है ग्राह्य नहीं) है, उस सबको जो कि स्व और पर इन दो भेदों में समा जाता है, अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त धर्मास्तिकाय आदिको और मूर्तों में भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादिकों में तथा द्रव्यसे प्रच्छन्न काल-अणु आदिकों में, क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदिकों में, काल से प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (भूत-भविष्यत्) पर्यायोंमें, तथा भावसे प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायोंमें यानी उन सब ही में जो कि स्व और पर की व्यवस्थामें व्यवस्थित हैं, प्रत्यक्ष होने से वास्तवमें उस अतीन्द्रिय ज्ञानके दृष्टापन है (उन सबको वह अतीन्द्रिय ज्ञान देखता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है)।

अब इसको न्याय से आचार्य स्वयं सिद्ध करते हैं—

(१) जिसको अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है, (२) जो चैतन्य सामान्य के साथ अनादि-सिद्ध सम्बन्धवाला है (३) एक ही अक्ष नामक आत्मा के प्रति जो नियत है (४) जो (इन्द्रियादिक उपात्त अनुपात्त) अन्य सामग्रीको नहीं ढूंढता है, (जिसे अन्य सामग्री की सहायता की आवश्यकता नहीं है) और (५) जो अनन्त शक्तिके सद्भाव के कारण अनन्तता को प्राप्त है, ऐसा वह प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे दाह्याकारोंसे दहन का अतिक्रमण (उलंघन) नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञेयाकारों से ज्ञानका अतिक्रमण (उलंघन) न होनेसे यथोक्त प्रभावका अभाव करता हुवा (उपर्युक्त अतिशयों सहित होनेसे) वास्तवमें वह किसके द्वारा रोका जा सकता है? (किसी से भी नहीं रोका जा सकता)। इसलिये वह अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ॥ ५४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति,—

(जं) यदन्तीन्द्रियं ज्ञानं कर्तृ (पेच्छदो) प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। किं किं। (अमुत्तं) अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं (मुत्तेसु अदिन्दियं च) मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि (पच्छण्णं) कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितं, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। (सयलं) तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति। कथमिति चेत्। (सगं च इदरं) किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन (तण्णाणं) तत्पूर्वोक्तज्ञानं (हवदि) भवति। कथंभूतं। (पच्चक्खं) प्रत्यक्षमिति।

अत्राह शिष्यः—ज्ञानप्रपञ्चाधिकारः पूर्वमेवगतः, अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति ? परिहारमाह—यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ॥ ५४ ॥

उत्थानिका—आगे उसी पूर्वमें कहे हुए अतीन्द्रिय ज्ञानका विशेष वर्णन करते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(पेच्छदो) अच्छी तरह देखनेवाले केवलज्ञानी पुरुषका (जं) जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है सो (अमुत्तं) अमूर्तिकको अर्थात् अतीन्द्रिय तथा राग रहित सदा आनन्दमई सुखस्वभावके धारी परमात्मद्रव्यको आदि लेकर सब अमूर्तिक द्रव्य समूहको, (मुत्तेसु) मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंमें (अदिंदियं) अतीन्द्रिय-इन्द्रियोंके अगोचर परमाणु आदिकोंको (च पच्छण्णं) तथा गुप्तको अर्थात् द्रव्यापेक्षा कालाणु आदि अप्रगट तथा दूरवर्ती द्रव्योंको, क्षेत्र अपेक्षा गुप्त अलोकाकाशके प्रदेशादिकोंको, काल की अपेक्षा प्रच्छन्न—विकार रहित परमानन्दमई एक सुखके आस्वादनकी परिणतिरूप परमात्माके वर्तमान समय सम्बन्धी परिणामोंको आदि लेकर सब द्रव्योंकी वर्तमान समयकी पर्यायोंको तथा भावकी अपेक्षा उसही परमात्माकी सिद्धरूप शुद्ध व्यंजन पर्याय तथा अन्य द्रव्योंकी जो यथासंभव व्यंजन पर्याय उनमें अंतर्भूत अर्थात् मग्न जो प्रति समयमें वर्तन करनेवाली छः प्रकार वृद्धि हानि स्वरूप अर्थ-पर्याय इन सब प्रच्छन्न द्रव्यक्षेत्रकाल भावोंको, और (सगं च इदरं) जो कुछ भी यथासंभव अपना द्रव्य सम्बन्धी तथा परद्रव्य सम्बन्धी या दोनों सम्बन्धी है (सयलं) उन सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (हवदि) होता है।

यहां शिष्यने प्रश्न किया, कि ज्ञान-प्रपंचका अधिकार तो पहले ही हो चुका। अब इस सुख प्रपंचके अधिकारमें तो सुखका ही कथन करना योग्य है ? इसका समाधान यह है कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है वह ही अभेद नयसे सुख है इसकी सूचनाके लिये अथवा ज्ञानकी मुख्यतासे सुख है क्योंकि इस ज्ञानमें हेय उपादेयकी चिंता नहीं है इसके बताने के लिये कहा है। इस तरह अतीन्द्रिय ज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा कहते हुए एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ ५४ ॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥ ५५ ॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम् ।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्टुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥ ५५ ॥

अब, इन्द्रिय सुखका साधनभूत इन्द्रिय ज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं:—

अन्वयार्थ—[स्वयं अमूर्तः] स्वयं अमूर्त [जीवः] जीव [मूर्तिगतः] मूर्त शरीरको प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीर के द्वारा [योग्यं मूर्तं] (इन्द्रिय से ग्रहण) योग्य मूर्त पदार्थको [अवगृह्य] अवग्रह करके [जानाति] जानता है [वा तत् न जानाति] अथवा उसको नहीं जानता है (कभी जानता है और कभी नहीं जानता है)।

टीका—इन्द्रिय ज्ञान वास्तव में मूर्त-उपलम्भक है और मूर्त-उपलभ्य है। अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान जिस चीजके द्वारा जानता है वह भी मूर्त है और जिस चीज को जानता है वह भी मूर्त है। उस इन्द्रिय ज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीरको प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बलधारण (बल देने रूप) निमित्त होनेसे जो उपलम्भक

है, ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा ज्ञेयता तथा योग्यता को प्राप्त मूर्त स्पर्श आदि प्रधान वस्तुको अवग्रह करके, कदाचित् उससे ऊपर ऊपरकी शुद्धि के सद्भावके कारण जानता है और कदाचित् अवग्रह के ऊपर ऊपर की शुद्धि के असद्भाव के कारण नहीं जानता है, क्योंकि वह (इन्द्रिय ज्ञान) परोक्ष है। अब इसको न्याय से सिद्ध करते हैं—

चैतन्य-सामान्य के साथ जिसका अनादि-सिद्ध सम्बन्ध होनेपर भी जो अति दृढतर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकार समूह) द्वारा आवृत्त होने से संकुचित हो गया है (और इसलिये) स्वयं पदार्थों को जानने के लिये असमर्थ हो गया है, ऐसे आत्मा के, (१) उपात्त और अनुपात्त पर-पदार्थ रूप कारण-सामग्री को ढूंढने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल-तरल अस्थिरता को अवलम्बन करता हुवा, (२) अनन्त शक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव (खिन्न) वर्तता हुआ, (३) महामोह मल्ल के जीवित अवस्था में रहने से पर-परिणति का (परको परिणमित करनेका) अभिप्राय करने पद भी पद पद पर ठगाई को प्राप्त होता हुवा-वह परोक्ष ज्ञान वास्तव में न जाननेकी संभावना को प्राप्त है। इसलिये वह इन्द्रियज्ञान हेय है॥ ५५॥

जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति,—

(जीवो सयं अमुत्तो) जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशाद् व्यवहारेण (मुत्तिगदो) मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। (तेण मुत्तिणा) तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण (मुत्तं) मूर्तं वस्तु (ओगेण्हित्ता) अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा (जोग्गं) तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूतं। इन्द्रियग्रहणयोग्यं (जाणदि वा तण्ण जाणदि) स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति।

अयमत्र भावार्थः—इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति। खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ॥ ५५ ॥

उत्थानिका—आगे त्यागने योग्य इंद्रिय सुखका कारण होनेसे तथा अल्प विषयके जाननेकी शक्ति होनेसे इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जीवो सयं अमुत्तो) जीव स्वयं अमूर्तिक है अर्थात् शक्तिरूपसे व शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अमूर्तिक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखमइ स्वभावको रखता है तथा अनादिकाल से कर्म बंधके कारणसे व्यवहारमें (मुत्तिगदो) मूर्तिक शरीरमें प्राप्त है व मूर्तिमान शरीरों द्वारा मूर्तिकसा होकर परिणमन करता है (तेण मुत्तिणा) उस मूर्त शरीरके द्वारा अर्थात् उस मूर्तिक शरीरके आधारमें उत्पन्न जो मूर्तिक द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय, उनके आधारसे (जोग्गं मुत्तं) योग्य मूर्तिक वस्तुको अर्थात् स्पर्शादि इंद्रियोंसे ग्रहण योग्य मूर्तिक पदार्थको (ओगिण्हित्ता) अवग्रह आदिसे क्रमक्रमसे ग्रहण करके (जाणदि) जानता है अर्थात् अपने आवरणके क्षयोपशमके योग्य कुछ भी स्थूल पदार्थको जानता है (वा तण्ण जाणादि) तथा उस मूर्तिक पदार्थको नहीं भी जानता है, विशेष क्षयोपशमके न होनेसे सूक्ष्म या दूरवर्ती, व कालसे प्रच्छन्न व भूत भावी कालके बहुतसे मूर्तिक पदार्थोंको नहीं जानता है।

यहां यह भावार्थ है कि इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयसे केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष ही है। परोक्ष होनेसे जितने अंश में वह सूक्ष्म पदाथको नहा जानता है उतने अंशमें जाननेकी इच्छा होते हुए न जान सकनेसे चित्तको खेदका कारण होता है, खेद ही दुःख है इसलिये दुःखोंको पैदा करनेसे इन्द्रिय-ज्ञान त्यागने योग्य है ॥ ५५ ॥

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ ५६ ॥

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गलाः भवन्ति।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥ ५६ ॥

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः। अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात्। इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात् ॥ ५६ ॥

अब, इन्द्रियों के अपने विषय मात्रमें भी युगपत् प्रवृत्ति की असंभवता होनेसे इन्द्रिय ज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं---

अन्वयार्थ---[स्पर्शः] स्पर्श, [रसः] रस, [गंधः] गंध, [वर्ण] वर्ण [च] और [शब्दः] शब्द रूप [पुद्गलाः] पुद्गल [भवन्ति] हैं। वे [अक्षाणां (विषयाः) भवन्ति] इन्द्रियों के विषय हैं। [तानि अक्षाणि] (परन्तु) वे इन्द्रियां [तान्] उनको [भी] [युगपत्] एक साथ [न एव गृह्णन्ति] ग्रहण नहीं करती हैं (युगपत् नहीं जान सकती हैं)।

टीका---स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण प्रधान (गुणवाला) तथा शब्द रूप पुद्गल वास्तव में इन्द्रियोंके ग्रहण करने योग्य हैं। किन्तु इन्द्रियों के द्वारा एक साथ वे पुद्गल भी ग्रहण नहीं होते हैं। क्योंकि क्षयोपशम से उस प्रकार की शक्तिका होना असम्भव है। क्षयोपशम नामकी अन्तरंग ज्ञातृशक्ति के कौवे की आंखकी पुतली की भांति, क्रमिक प्रवृत्ति के वश से अनेकतः प्रकाशके लिये (एक ही साथ अनेक विषयोंको जानने के लिये) असमर्थता होनेसे द्रव्येन्द्रिय द्वारोंके विद्यमान होने पर भी, इन्द्रियोंके युगपत्--पनेसे समस्त इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है ॥ ५६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति,---

(फासो रसो य गन्धो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति) स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति। ते च विषयाः। केषां। (अक्खाणं) स्पर्शनादीन्द्रियाणां (ते अक्खा) तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तॄणि (जुगवं ते णेव गेण्हंति) युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति।

अयमत्राभिप्रायः---यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूतं केवलज्ञानं युगपत्समस्तं वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारणं भवति तथेदमिन्द्रियज्ञानं स्वकीयविषयेपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारणं न भवति ॥५६॥

उत्थानिका---आगे यह निश्चय करते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान अपने २ रूप रस गंध आदि विषयोंको भी एक साथ नहीं जान सकता, इस कारणसे त्यागने योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ---(अक्खाणं) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के (फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य) स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण, और शब्द ये पांचों ही विषय (पुग्गला होंति) पुद्गलमई हैं या पुद्गल द्रव्य हैं या मूर्तिक हैं (ते अक्खा) वे इंद्रियां (तेणेव) उन अपने विषयोंको भी (जुगवं) एक समयमें एक साथ (ण गेण्हंति) नहीं ग्रहण कर सक्ती हैं--नहीं जान सकतीं।

अभिप्राय यह है कि जैसे सब तरहसे ग्रहण करने योग्य अनंत सुखका उपादान कारण जो केवलज्ञान है सो ही एक समयमें सब वस्तुओंको जानता हुआ जीवके लिये सुखका कारण होता है तैसे यह इन्द्रिय-ज्ञान अपने विषयोंको भी एक समयमें न जान सकनेके कारण सुखका कारण नहीं है ॥५६॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

परद्रव्यं तानि अक्षाणि, नैव स्वभावः इति आत्मनः भणितानि।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षं आत्मनः भवति ॥ ५७ ॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं नैवात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥ ५७ ॥

अब, इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है, यह निश्चय करते हैं:—

अन्वयार्थ—[तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियां [परद्रव्यं] पर द्रव्य हैं। [आत्मनः स्वभावः इति] वे आत्मा के स्वभाव रूप [न एव भणितानि] नहीं कही गई हैं। [तैः] उनके द्वारा [उपलब्धं] ज्ञात (जाना हुवा ज्ञान) [आत्मनः] आत्मा को [प्रत्यक्षं] प्रत्यक्ष [कथं भवति] कैसे हो सकता है? (यानी—नहीं हो सकता)।

टीका—जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो वह केवल-ज्ञान प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं, और आत्माके स्वभावपनेको किंचित् मात्र भी स्पर्श नहीं करतीं ऐसी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थोंको जानकर) उत्पन्न हुवा यह (इन्द्रियज्ञान) आत्माके प्रत्यक्ष होनेयोग्य नहीं है ॥५७॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथेन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति व्यवस्थापयति,—

(परदव्वं ते अक्खा) तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्यं भवन्ति । कस्य । आत्मनः (णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिया) योसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मनः संबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि । कस्मात् । भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात् । (उवलद्धं तेहि) उपलब्धं ज्ञातं यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं वस्तु तैरिन्द्रियैः (कहं पच्चक्खं अप्पणो होदि । तद्वस्तु कथं प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो, न कथमपीति ।

तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा । किं कर्तव्यं । सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावना-समुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसंवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः ॥ ५७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इंद्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ते अक्खा) वे प्रसिद्ध पांचों इन्द्रियें (अप्पणो) आत्माकी अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव-धारी आत्माको (सहावो णेव भणिदा) स्वभाव रूप निश्चयसे नहीं कही गई हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थसे हुई है (त्तिपरं दव्वं) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमई हैं (तेहि उवलद्धं) उन इन्द्रियोंके द्वारा जाना हुआ उनहीके विषय योग्य पदार्थ सो (अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि) आत्माके प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकता है ।

जैसे पांचों इंद्रियां आत्माके स्वरूप नहीं हैं ऐसे ही नाना मनोरथोंके करनेमें 'यह बात कहने योग्य है, मैं कहनेवाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पोंके जालको बनानेवाला जो मन है वह भी इंद्रिय ज्ञानकी तरह निश्चयसे परोक्ष ही है, ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं—सर्व पदार्थोंको एक साथ अखंड रूपसे प्रकाश करनेवाले परम ज्योति स्वरूप केवलज्ञानके कारणरूप तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावनासे उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षणको रखनेवाले सुखके वेदनके आकारमें परिणमन करनेवाले और रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानमें भावना करनी चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ ५७ ॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।

यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥ ५८ ॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥ ५८ ॥

अब, प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षणको बतलाते हैं:—

[परतः] परके द्वारा होनेवाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञानं] पदार्थ-सम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्ष] परोक्ष [इति] इस नाम से [भणितं] कहा गया है [यदि] जो [केवलेन जीवेन] मात्र जीवके द्वारा ही [ज्ञातं भवति] जाना जाता है [हि प्रत्यक्षं] वह ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष है।

टीका—परोक्षका लक्षण निमित्त रूप में बने हुए परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन) से, इन्द्रियसे, परोपदेश से, उपलब्धि से (ज्ञानावरण के क्षयोपशमसे प्राप्त लब्धि से) या प्रकाश आदिक से अपने विषयको प्राप्त पदार्थका जो जानना है, वह (जानना) परके द्वारा प्रगट होता हुआ 'परोक्ष' लक्षित किया जाता है अर्थात् परोक्ष है।

प्रत्यक्ष का लक्षण—अन्तःकरण की इन्द्रिय की, परोपदेश की, उपलब्धि–संस्कार की या प्रकाश आदिक की अथवा सभी पर-द्रव्यों की अपेक्षा न करके एक मात्र आत्मस्वभाव को ही कारण रूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्याय समूचे को युगपत (एक समय में) ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो जानता है वह (जानना) केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुआ होनेसे 'प्रत्यक्ष' लक्षित किया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्ष है।

(सार) यहां (इस प्रकरणमें) वास्तव में सहज सुखका साधनभूत ऐसा यही महा प्रत्यक्ष ज्ञान ही इष्ट है (उपादेय है) ॥ ५८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति,—

(जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदं) यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितं । केषु विषयेषु । (अट्ठेसु) ज्ञेयपदार्थेषु (जदि केवलेण णादं हवदि हि) यदि केवलेनासहायेन ज्ञातं भवति हि स्फुटं । केन कर्तृभूतेन । (जीवेण) जीवेन तर्हि (पच्चक्खं) प्रत्यक्षं भवतीति ।

अतो विस्तरः—इन्द्रियमनः-परोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थ-ग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्षं भवतीति सूत्राभिप्रायः ॥ ५८ ॥

एवं हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर भी अन्य प्रकारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानका लक्षण कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अट्ठेसु) ज्ञेय पदार्थोंमें (परदो) दूसरेके निमित्त या सहायतासे (जं विण्णाणं) जो ज्ञान होता है (तंतु परोक्खंत्ति भणिदं) उस ज्ञानको तो परोक्ष है, ऐसा कहते हैं तथा (यदि केवलेण जीवेण णादं हि हवदि) जो केवल विना किसी सहायताके जीवके द्वारा निश्चयसे जाना जाता है सो (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

इसका विस्तार यह है कि इंद्रिय तथा मन-सम्बन्धी जो ज्ञान है वह परके उपदेश, प्रकाश आदि बाहरी कारणोंके निमित्तसे तथा ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए अर्थको जाननेकी शक्तिरूप उपलब्धि और अर्थको जाननेरूप संस्कारमई अन्तरंग निमित्तसे पैदा होता है वह पराधीन होनेसे परोक्ष है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जो ज्ञान पूर्वमें कहे हुए सर्व परद्रव्योंकी अपेक्षा न करके केवल शुद्धबुद्ध एक स्वभावधारी परमात्माके द्वारा उत्पन्न होता है वह अक्ष कहिये आत्मा उसीके द्वारा पैदा होता है इस कारण प्रत्यक्ष है, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५८ ॥

इस तरह त्यागने योग्य इन्द्रिय-जनित ज्ञानके कथनकी मुख्यता करके चार गाथाओंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थदं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥ ५९ ॥

जातं स्वयं, समंतं, ज्ञानं, अनन्तार्थविस्तृतं, विमलं, ।
रहितं तु अवग्रहादिभिः, सुखं इति ऐकान्तिकं भणितम् ॥ ५९ ॥

स्वयं ज़ातत्वात्, समन्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य । यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया, समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति । ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम् । इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाकभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेन। युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति । ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥५९॥

अब, इसी प्रत्यक्ष ज्ञानको पारमार्थिक सुख ऐसे (अर्थात् यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही पारमार्थिक सुख है ऐसा) बतलातेहैं: —

अन्वयार्थ—(१) [स्वयं जातं] अपने आपसे उत्पन्न (स्व-आश्रय भूत-स्वाधीन) २ [समंतं] समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ), (३) [अनन्तार्थविस्तृतं] अनन्त पदार्थों में फैला हुआ, (४) [विमलं] निर्मल [तु] और (५) [अवग्रहादिभिः रहितं] अवग्रहादिसे रहित, [ज्ञानं] ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान [ऐकान्तिकं सुखं] ऐकान्तिक सुख है (सर्वथा सुख रूप है) [इति भणितं] ऐसा (सर्वज्ञदेव के द्वारा) कहा गया है ।

टीका (१) स्वयं उत्पन्न होनेसे (स्वाश्रित होनेसे अथवा स्वाधीन होनेसे) (२) समन्त (सर्व प्रदेशोंसे जानने वाला) होने से, (३) अनन्त पदार्थों में फैला हुआ होने से, (४) कर्म मल-रहित होनेसे और (५) अवग्रहादि से रहित होनेसे, प्रत्यक्षज्ञान ऐकान्तिक सुख

रूप है, यह निश्चित होता है, क्योंकि सुखका एक मात्र लक्षण अनाकुलता है। इसी बातको विस्तारपूर्वक समझाते हैं:—

ऐन्द्रिय परोक्ष ज्ञानकी दुखरूपता—(१) परसे उत्पन्नहोता हुआ पराधीनहोने (के कारण) से (२) असमन्त (कुछ प्रदेशों द्वारा जानता हुवा) इतर द्वारों के आवरण (के कारण) से (३) कुछ पदार्थों में प्रवर्तमान होता हुआ अन्य पदार्थों को जाननेकी इच्छा (के कारण) से (४) कर्म मल सहित होता हुआ असम्यक (विपरीत या अस्पष्ट) जाननेके कारण से और (५) अवग्रहादि सहित होता हुआ क्रम-पूर्वक पदार्थ ग्रहण के खेद (के कारण) से (इन ५ कारणों से) परोक्ष ज्ञान अत्यन्त आकुल (दुःखमयी) होता है। इसलिये वह परमार्थ से सुख रूप नहीं है।

अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञानकी सुख रूपता—(१) अनादि ज्ञान सामान्य रूप स्वभावके ऊपर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही व्यवस्थित रहनेसे स्वयं उत्पन्न हुआ आत्माधीनता से (२) परम प्रत्यक्ष ज्ञानोपयोग रूप होकर समस्त आत्म-प्रदेशो को व्याप्त करके व्यवस्थित पनेके कारणसे, समन्त हुआ यानी-सम्पूर्ण द्वारके खुल जानेके कारणसे, (३) समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाता हुआ, परम विविधता को व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अनन्त पदार्थों में विस्तृत होता हुआ सर्व पदार्थों को जाननेकी इच्छाका अभाव होनेसे, (४) सकल शक्तिको रोकने वाले कर्म सामान्यके (सम्पूर्ण ज्ञानावरणके) निकल जाने के कारण से, अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा प्रकाशमान स्वभाव में व्याप्त होकर व्यवस्थित रहनेसे, विमल होता हुआ सम्यक्तया जानने के कारणसे तथा (५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है ऐसे लोकालोक व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अवग्रह आदि से रहित होता हुवा क्रम-पूर्वक किये गये परार्थ ग्रहण के खेदका अभाव होनेसे (इन पांच कारणोंसे) यह प्रत्यक्ष ज्ञान अनाकुल (आकुलता रहित,) सुखरूप है। इसीलिये वह (प्रत्यक्षज्ञान) वास्तव में पारमार्थिक सुखरूप है॥ ५६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति,—

(जादं) जातं उत्पन्नं । किं कर्तृ । (णाणं) केवलज्ञानं । कथं जातं । (सयं) स्वयमेव । पुनरपि किंविशिष्टं । (समत्तं) परिपूर्णं । पुनरपि किंरूपं । (अणंतत्थवित्थदं) अनन्तार्थविस्तीर्णं । पुनः कीदृशं । (विमलं) संशयादिमलरहितं । पुनरपि कीदृक् । (रहियं तु ओग्गहादिहिं) अवग्रहादिरहितं चेति एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं यत्केवलज्ञानं (सुहंति एगंतियं भणियं) तत्सुखं भणितं । कथंभूतं । ऐकान्तिकं नियमेनेति ।

तथाहि—परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादानकारणं कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वयं जायमानं सत्सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्तं सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत् समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्णं सत् संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमलं सत् क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहितं च सत्, यदेवं पञ्चविशेषणविशिष्टं क्षायिकज्ञानं तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुखं भण्यते । इत्यभिप्रायः ॥ ५६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अभेद नयसे पांच विशेषण सहित केवलज्ञान ही सुखरूप है ।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(णाणं) यह केवलज्ञान (सयं जादं) स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है, (समत्तं) परिपूर्ण है (अणंतत्थवित्थिदं) अनन्त पदार्थोंमें व्यापक है, (विमलं) संशय आदि मलोंसे रहित है, (उग्गहादिहिं तु रहिदं) अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा आदिके क्रमसे रहित है । इस तरह पांच विशेषणोंसे गर्भित जो केवलज्ञान है वही (एगंतियं) नियम करके (सुहंत्ति भणिदं) सुख है, ऐसा कहा गया है ।

भाव यह है कि यह केवलज्ञान पर-पदार्थोंकी सहायताकी अपेक्षा न करके चिदानन्दमई एक स्वभावरूप अपने ही शुद्धात्माके एक उपादान कारणसे उत्पन्न हुआ है इसलिये स्वयं पैदा हुआ है, सर्व शुद्ध आत्माके प्रदेशोंमें प्रगटा है इसलिये सम्पूर्ण है, अथवा सर्व ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेद अर्थात् शक्तिके अंश उनसे परिपूर्ण है, सर्व-आवरणके क्षय होनेसे पैदा होकर सर्व ज्ञेय पदार्थोंको जानता है इससे अनंत पदार्थ-व्यापक है, संशय, विमोह विभ्रमसे रहित होकर व सूक्ष्म आदि पदार्थोंके जाननेमें अत्यन्त विशद होनेसे निर्मल है । तथा क्रमरूप इन्द्रियजनित ज्ञानके खेदके अभावसे अवग्रहादि-रहित अक्रम है । ऐसा यह पांच विशेषण सहित क्षायिकज्ञान अनाकुलता लक्षणको रखनेवाले परमानन्दमई एक रूप पारमार्थिक सुखसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेदरूप होनेपर भी निश्चयनयसे अभिन्न होनेसे पारमार्थिक या सच्चा स्वाभाविक सुख कहा जाता है, यह अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे-

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

यत् केवलं इति ज्ञानं तत् सौख्य परिणामः च सः चैव ।
खेदः तस्य न भणितः यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि ॥ ६० ॥

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामःकश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात् । खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम् । घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयति, ततस्तानि तस्य-प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते । तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः । यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः,ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः,यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया, सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम् । ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः । अतः सर्वथा केवल सुखमेकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥ ६० ॥

अब, केवलज्ञानके भी परिणाम–द्वार से (परिणमन होनेके कारण) संभवते खेदके होनेसे ऐकान्तिक (सर्वथा) सुखपना नहीं है, इस अभिप्राय का खण्डन करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [केवलं इति ज्ञानं] 'केवल' नाम का ज्ञान है [तत् सौख्यं] वह सुख है [च] और [परिणामः] परिणाम भी [सः एव] वह ही है । [तस्य खेदः न भणितः] उसके खेद नहीं कहा गया है [यस्मात्] क्योंकि [घातीनि] घातिकर्म [क्षयं जातानि] क्षयको प्राप्त हो गये हैं।

टीका—यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध में) खेद क्या है ? (२) परिणाम क्या है ? तथा (३) केवलज्ञान और सुख में भिन्नता क्या है ? कि जिससे केवलज्ञानके ऐकान्तिक (सर्वथा)

सुखपना न हो ? (१) खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाम मात्र (खेद का स्थान) नहीं है। क्योंकि घातिकर्म महामोह के उत्पादक होनेसे, उन्मत्त करने वाली वस्तु की भांति, अतत् में तत्-बुद्धि कराकर आत्मा को ज्ञेय पदार्थ के प्रति परिणमन कराते हैं, इसलिये वे (घाति कर्म) प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर थकने वाले उस आत्मा के लिये खेदके कारण-पनेको प्राप्त होते हैं। उन (घातिकर्मों) का अभाव हो जानेसे केवलज्ञानमें खेदकी प्रगटता किस कारणसे हो सकती है ? (यानी-नहीं हो सकती)। (२) और क्योंकि तीनकाल–जितने (त्रैकालिक) समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकार रूप विविधता को प्रकाशित करनेका स्थान–भूत (केवलज्ञान) चित्रित दीवार की भांति, स्वयं ही अनन्त स्वरूप परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही परिणाम है। इसलिये अन्य परिणाम कहां है कि जिसके द्वारा खेदकी उत्पत्ति हो ? (अर्थात् नहीं है)। और (३) समस्त स्वभाव प्रतिघातके अभाव से निरंकुश अनन्त शक्तिके उल्लसित होनेसे समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को व्याप्त होकर कूटस्थपनेके कारण से अत्यन्त निष्कंप व्यवस्थित रहने से आत्मासे अभिन्न सुख-लक्षण-भूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है। इसलिये केवलज्ञान और सुखमें भिन्नता कहां है ? (नहीं है)। इससे, 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है' यह सर्वथा अनुमोदन करने योग्य है ॥ ६० ॥

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेपि खेदोस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह,—

(जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं) यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं भवति, तस्मात् (खेदो तस्स ण भणिओ) तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दुःखं न भणितं, तदपि कस्मात्। (जम्हा घादिक्खयं जादो) यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षयं गतानि। तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दुःखकारणं भविष्यति ? नैवम्। (परिणमं च सो चेव) तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति।

इदानीं विस्तरः—ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव। तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति। अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति। संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममानं केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते। ततः स्थितमेतत्केवलज्ञानाद्भिन्नं सुखं नास्ति। तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति ॥ ६० ॥

उत्थानिका—आगे कोई शंका करता है कि जब केवलज्ञानमें अनन्त पदार्थोंका ज्ञान होता है तब उस ज्ञानके होनेमें अवश्य खेद या श्रम करना पड़ता होगा। इसलिये वह निराकुल नहीं है। इसका समाधान करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं केवलत्ति णाणं) जो केवलज्ञान है (तं सोक्खं) वही सुख है (सो चेव परिणामं च) तथा केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम आत्माका स्वाभाविक परिणमन है। (जम्हा) क्योंकि (घादी खयं जादा) मोहनीय आदि घातियाकर्म नष्ट हो गए (तस्स खेदो ण भणिदो) इसलिये उस अनंत पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानके भीतर दुःखका कारण खेद नहीं कहा गया है।

इसका विस्तार यह है कि जहां ज्ञानावरण दर्शनावरणके उदयसे एक साथ पदार्थोंके जाननेकी शक्ति नहीं होती है किन्तु क्रम क्रमसे पदार्थ जाननेमें आते हैं वहां खेद होता है। दोनों दर्शन ज्ञान आवरणके अभाव होनेपर एक साथ सर्व पदर्थोंको जानते हुए केवलज्ञानमें कोई खेद नहीं है, किंतु सुख ही है। तैसे ही उन केवली भगवानके भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थोंको एक समयमें जाननेको समर्थ अखंड एकरूप प्रत्यक्ष ज्ञानमय स्वरूपसे परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम रहता है। कोई केवलज्ञानसे भिन्न परिणाम नहीं होता है जिससे कि खेद होगा। अथवा परिणामके सम्बन्धमें दूसरा व्याख्यान करते हैं—एक समयमें अनंत पदार्थोंके ज्ञानके परिणाम में भी वीर्यान्तरायके पूर्ण क्षय होनेसे अनन्तवीर्यके सद्भावसे खेदका कोई कारण नहीं है। वैसे ही शुद्ध आत्मप्रदेशोंमें समतारसके भावसे परिणमन करने वाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमई एक लक्षणको रखने वाली, सुखरसके आस्वादमें रमनेवाली आत्मासे अभिन्न निराकुलताके होते हुए खेद नहीं होता है। ज्ञान और सुख संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी निश्चयसे अभेदरूपसे परिणमन करता केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। इससे यह ठहरा कि केवलज्ञानसे भिन्न सुख नहीं है, इस कारणसे ही केवलज्ञानमें खेदका होना संभव नहीं है ॥६०॥

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञानं अर्थान्तगतं, लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः, ।
नष्टं अनिष्टं सर्वं, इष्टं पुनः यत् तु तत् लब्धम् ॥ ६१ ॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तिगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः । ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम् । किंच केवलं सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात् सर्वेष्टोपलम्भाच्च । यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायते । ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥ ६१ ॥

अब, फिर भी केवलज्ञान की सुखस्वरूपता को निरूपण करते हुए उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[ज्ञानं] ज्ञान [अर्थान्तगतं] पदार्थों के पार को प्राप्त है । [दृष्टिः] दृष्टि (दर्शन) [लोकालोकेषु विस्तृताः] लोकालोक में फैली हुई है । (इसलिये केवलज्ञान सुख स्वरूप है) [सर्वं अनिष्टं] सर्व अनिष्ट [नष्टं] नष्ट हो चुका है । [पुनः] और [यत् तु] जो [इष्टं] इष्ट है [तत्] वह सब [लब्धं] प्राप्त हो चुका है (इसलिये भी केवलज्ञान सुखस्वरूप है) ।

टीका—सुखका कारण स्वभाव के प्रति-घातका अभाव है । आत्माका स्वभाव वास्तवमें दर्शन-ज्ञान है । (दर्शन) लोक अलोक में फैला होने से और (ज्ञान) पदार्थों के पार को प्राप्त होने से (दर्शन-ज्ञानके) स्वच्छन्दता पूर्वक (स्वतन्त्रता पूर्वक) विकसित-पना होनेके कारण से प्रतिघात का अभाव है । इसलिये स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेद विवक्षामें केवलज्ञानका स्वरूप है ।

प्रकारान्तर से केवलज्ञान की सुखस्वरूपता बतलाते हैं:—

केवलज्ञान सुख–स्वरूप ही है क्योंकि सर्व अनिष्टका नाश हो चुका है और सर्व इष्ट का लाभ हो चुका है । क्योंकि वास्तव में केवल अवस्था में सुख-प्राप्तिके विपक्षभूत दुःखके साधनपनेको प्राप्त अज्ञान सम्पूर्ण ही नाश हो जाता है और सुखका साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होजाता है । इसलिये केवल ज्ञान ही सुख स्वरूप है । अधिक विस्तार से बस है ॥६१॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपतां प्रकारान्तरेण दृढयति,—

(णाणं अत्थंतगयं) ज्ञानं केवलज्ञानमर्थान्तगतं ज्ञेयान्तप्राप्तं (लोयालोयेसु वित्थडा दिट्ठी) लोकालोकयो-विस्तृता दृष्टिः केवलदर्शनं । (णट्ठमणिट्ठं सव्वं) अनिष्टं दुःखमज्ञानं च तत्सर्वं नष्टं (इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं) इष्टं पुनर्यद् ज्ञानं सुखं च हि स्फुटं तत्सर्वं लब्धमिति ।

तद्यथा—स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं सुखं भवति । स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वयं, तयोः प्रतिघात आवरणद्वयं तस्याभावः केवलिनां, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति । यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूतं त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

उत्थानिका—आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूपपना अन्य प्रकारसे कहते हुए इसी बातको पुष्ट करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) केवलज्ञान (अत्थंतगदं) सर्वज्ञेयोंके अंतको प्राप्त हो गया अर्थात् केवलज्ञानने सब जान लिया (दिट्ठी) केवलदर्शन (लोगालोगेसु वित्थडा) लोक और अलोकमें फैल गया (सव्वं अणिट्ठं) सर्व अनिष्ट अर्थात् अज्ञान और दुःख (णट्ठं) नष्ट हो गया (पुण) तथा (जं तु इट्ठं तं तु लद्धं) जो कुछ इष्ट है अर्थात पूर्ण ज्ञान तथा सुख है सो सब प्राप्त हो गया।

इसका विस्तार यह है कि आत्माके स्वभावके घातका अभाव है सो सुख है। आत्माका स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। इनके घातक केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण हैं सो इन दोनों आवरणोंका अभाव केवलज्ञानियोंके होता है, इसलिये स्वभावके घातके अभावसे होनेवाला सुख होता है। क्योंकि परमानन्दमई एक लक्षणरूप सुखसे उल्टे आकुलताके पैदा करने वाले सर्व अनिष्ट अर्थात् दुःख और अज्ञान नष्ट होगए तथा पूर्वमें कहे हुए लक्षणको रखनेवाले सुखके साथ अविनाभूत-अवश्य होनेवाले तीन लोकके अन्दर रहनेवाले सर्व पदार्थोंको एक समयमें प्रकाशने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त होगया, इसलिये यह जाना जाता है कि केवलियोंके ज्ञान ही सुख है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ६१ ॥

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।

श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥ ६२ ॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥ ६२ ॥

अब, केवलज्ञानियों के ही पारमार्थिक सुख है-यह श्रद्धा कराते हैं:—

अन्वयार्थ—[विगतघातिनां] नष्ट हो गये हैं घाति कर्म जिनके उन केवलियोंके [सुखेषु परमं] (सर्व) सुखों में उत्कृष्ट [सौख्यं] सुख है, [इति श्रुत्वा] यह सुनकर [ये] जो [न श्रद्धधाति] श्रद्धान नहीं करते हैं [ते अभव्याः] वे अभव्य हैं । [भव्या] भव्य तो [तत्] उसको (केवलियों के सर्वोत्कृष्ट सुख है, इसको) [प्रतीच्छन्ति] स्वीकार करते हैं (उसकी श्रद्धा करते हैं) ।

टीका—इस लोक में निश्चय से मोहनीय-आदि-कर्मजाल-वालों के स्वभाव प्रतिघातके कारण से और आकुलता के कारण से सुखाभास होने पर भी (उस सुखाभास को 'सुख' ऐसा कहने की अपारमार्थिक रूढि (लोक पद्धति) है । नष्ट हो चुके हैं घाति कर्म जिनके और जो भगवान हैं (बड़ी महिमा वाले हैं) ऐसे केवली भगवन्तों के, स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण से और अनाकुलता के कारण से (सुखके) यथोक्त कारण का और लक्षण का सद्भाव होनेसे पारमार्थिक सुख है, यह श्रद्धा करने योग्य है । जिनके वास्तव में ऐसी श्रद्धा नहीं है वे वास्तव में मोक्ष सुखके सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा में जल-समूह को ही देखते हैं (इन्द्रिय सुखको ही सुख मानते हैं) । जो इस वचनको इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री (मोक्षलक्ष्मी) के पात्र निकट-भव्य होते हैं, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर-भव्य हैं ॥ ६२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ पारमार्थिकसुखं केवलिनामेव, संसारिणां ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति,—

(णो सद्दहंति) नैव श्रद्धधति न मन्यन्ते । किं । (सोक्खं) निर्विकारपरमाह्लादैकसुखं । कथंभूतं न मन्यन्ते । (सुहेसु परमंत्ति) सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखं । केषां संबन्धि यत्सुखं । (विगदघादीणं) विगतघातिकर्मणां केवलिनां । किं कृत्वापि न मन्यन्ते । (सुणिदूण) "जादं सयं समत्तं" इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि (ते अभव्वा) ते अभव्याः ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा (भव्वा वा तं पडिच्छंति) ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानीं मन्यन्ते । ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धानं कुर्युरिति ।

अयमत्रार्थः—मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहितः सन्निरुपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमानः सन् सरागसम्यग्दृष्टिरात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति । ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टयः शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दुःखं प्रतिभाति । तथा चोक्तं—

"समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः । स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः" ॥ ६२ ॥

एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतं ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पारमार्थिक सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द केवलज्ञानियोंके ही होता है । जो कोई संसारियोंके भी ऐसा सुख मानते हैं, वे अभव्य हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(विगदघादीणं) घातिया कर्मोंसे रहित केवली भगवानोंके (सुहेसु परमंति) सुखोंके बीचमें उत्कृष्ट जो (सोक्खं) विकार-रहित परम आल्हादमई एक सुख है उसको (सुणिऊण) 'जादं सयं समत्तं' इत्यादि पहले कही हुई तीन गाथाओंके कथन प्रमाण सुनकरके भी जानकरके भी (ण हि सद्दहंति) निश्चयसे नहीं श्रद्धान करते हैं नहीं मानते हैं (ते अभव्वा) वे अभव्य जीव हैं अथवा वे सर्वथा अभव्य नहीं हैं किंतु दूरभव्य हैं, जिनको वर्तमानकालमें सम्यक्त्व रूप भव्यत्व शक्तिकी व्यक्तिका अभाव है (वा) तथा (भव्वा) जो भव्य जीव हैं अर्थात् जो सम्यकदर्शन रूप भव्यत्त्व शक्तिकी प्रगटतामें परिणमन कर रहे हैं । भावार्थ-जिनके भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट हो गया है वे (तं पडिच्छंति) उस अनंत सुखको वर्तमानमें श्रद्धान करते हैं तथा मानते हैं और जिनके सम्यक्त्व-रूप भव्यत्व शक्तिकी प्रगटताकी परिणति भविष्यकालमें होगी, ऐसे दूरभव्य हैं वे आगे श्रद्धान करेंगे ।

यहां यह भाव है कि जैसे किसी चोरको कोतवाल मारनेके लिये लेजाता है तब चोर मरणको लाचारीसे भोग लेता है तैसे यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंको इन्द्रियसुख इष्ट नहीं है तथापि कोतवालके समान चारित्र

मोहनीयके उदयसे मोहित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टी जीव वीतरागरूप निज आत्मासे उत्पन्न सच्चे सुखको नहीं भोगता हुआ इन्द्रियसुखको अपनी निन्दा गर्हा आदि करता हुआ त्यागबुद्धिसे भोगता है। तथा जो वीतराग सम्यग्दृष्टी शुद्धोपयोगी हैं, उनको विकार-रहित शुद्ध आत्माके सुखसे हटना ही उसी तरह दुःखरूप झलकता है जिस तरह मछलियोंको भूमिपर आना तथा प्राणीको अग्निमें घुसना दुःखरूप भासता है। ऐसा ही कहा है—

समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः॥

भाव यह है—समतामई सुखको भोगनेवाले पुरुषोंको समतासे गिरना ही जब बुरा लगता है तब भोगोंमें पड़ना कैसे दुःख रूप न भासेगा ? जब मछलियोंको जमीन ही दाह पैदा करती है, हे आत्मन् ! तब अग्निके अंगारे दाह क्यों न करेंगे ॥ ६२ ॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥ ६३ ॥

अब, परोक्षज्ञानियों के अपारमार्थिक इन्द्रिय सुखका विचार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[मनुजासुरामरेन्द्राः] मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती), असुरेन्द्र (धरणीन्द्र) और सुरेन्द्र (देवेन्द्र) [सहजैः इन्द्रियैः] स्वाभाविक (परोक्ष ज्ञानवालों को जो स्वाभाविक हैं ऐसी)

इन्द्रियों से [अभिद्रुताः] पीड़ित होते हुए (तथा) [तत् दुःखं] उस इन्द्रिय दुःखको [असहमानाः] सहन न कर सकते हुए [रम्येषु विषयेषु] रम्य विषयोंमें [रमन्ते] रमण करते हैं

टीका—प्रत्यक्षज्ञान के अभाव (के कारण) से परोक्षज्ञान को आश्रय लेनेवाले इन प्राणियों के वास्तव में उस (परोक्षज्ञान) की सामग्री रूप (साधनरूप) इन्द्रियों के प्रति निज-रससे (स्वभाव से) ही मैत्री प्रवर्तती है, (१) उन (इन्द्रियों में मैत्री को प्राप्त, (२) उदय को प्राप्त महामोह रूपी कालाग्नि से कवलित (ग्रसित) (३) तप्त हुए लोहे के गोलेकी भांति (जैसे गरम किया हुआ लोहेका गोला पानीको शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा को प्राप्त, (४) उस इन्द्रिय—दुःखके वेगको सहन न कर सकने वाले ऐसे उन प्राणियों के, प्रतिकार को प्राप्त (रोग में थोड़ा सा आराम जैसा अनुभव करानेवाले उपचार को प्राप्त) रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है।

इसलिये, इन्द्रियोंकी व्याधि समान होनेसे और विषयों को व्याधि के प्रतिकार समान होने से, (व्याधि के समान इन्द्रियोंके प्रतिकार समान छद्मस्थों के विषयों से रहित पारमार्थिक (सच्चा अतीन्द्रिय) सुख नहीं है॥ ६३ ॥

श्रीजयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ संसारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुखं विचारयति,—

(मणुआऽसुरामरिंदा) मनुजाऽसुरामरेन्द्राः । कथंभूताः । (अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं) अभिद्रुताः कदर्थिताः दुःखिताः । कैः । इन्द्रियैः सहजैः (असहंता तं दुक्खं) तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः (रमंति विसएसु रम्मेसु) रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति ।

अथ विस्तरः—मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञानसुखनिमित्तं पञ्चेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति । ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते । तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति । ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति ॥ ६३ ॥

उत्थानिका—आगे संसारी जीवोंके जो इन्द्रियजनित ज्ञानके द्वारा साधा जानेवाला इन्द्रिय सुख होता है उसका विचार करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(मणुआऽसुरामरिंदा) मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देव और मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्ती राजा तथा चार प्रकारके देवोंके सर्व इन्द्र (सहजेहिं) अपने २ शरीरोंमें उत्पन्न हुई अथवा स्वभावसे पैदा हुई (इंदिएहिं) इंद्रियोंकी चाहके द्वारा (अहिद्दुदा) पीड़ित या दुःखित होकर (तं दुक्खं असहंता) उस दुःखकी तीव्र धाराको न सहन करते हुए (रम्मेसु विसएसु) सुन्दर मालूम होनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंमें (रमंति) रमण करते हैं।

इसका विस्तार यह है कि जो मनुष्यादिक जीव अमूर्त्त अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुखके आस्वादको नहीं अनुभव करते हुए मूर्तिक इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुखके निमित्त पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें प्रीति करते हैं उनमें जैसे गर्म लोहेका गोला चारों तरफसे पानीको खींच लेता है उसी तरह पुनः २ विषयोंमें तीव्र तृष्णा पैदा होती है। उस तृष्णाको न सह सकते हुए वे विषयभोगोंका स्वाद लेते हैं। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि पांचों इन्द्रियोंकी तृष्णा रोगके समान है। तथा उसका उपाय विषयभोग करना यह औषधिके समान है। इसलिये संसारी जीवोंको वास्तविक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है ॥ ६३ ॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुखमेवं वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं॥ ६४ ॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥ ६४ ॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्। किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चिरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥ ६४ ॥

अब, जहां तक इन्द्रियां हैं वहां तक स्वभावसे ही दुख है, इस प्रकारसे निश्चित करते हैं।

अन्वयार्थः—[येषां] जिनके [विषयेषु रतिः] विषयों में रति है [तेषां] उनके [स्वाभावं दुःखं] स्वाभाविक दुख [विजानीहि] तू जान [हि] क्योंकि [यदि तत्] जो वह दुःख [स्वाभावं न] स्वाभाविक अर्थात् स्वभावसे ही न होता तो उसका [विषयार्थं] इन्द्रियां के विषयभूत पदार्थों में [व्यापारः] व्यापार भी [न अस्ति] न होता।

टीका—जिनकी हत (निकृष्ट-निंद्य) इन्द्रियां जीवित अवस्था में हैं उनके उपाधि के कारण से होनेवाला (बाह्य संयोग के कारण से होनेवाला औपाधिक) दुःख न भी हो तो भी स्वाभाविक दुःख है ही, क्योंकि (उनकी) विषयों में रति देखी जाती है। हाथीके हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर स्पर्श की तरह, मछली के बंसी में फंसे हुए मांस के स्वाद की तरह, भ्रमर बन्द होनेके सन्मुख-कमल की गंध की तरह, पतंग के दीपक की ज्योतिके रूपकी तरह और हिरन के शिकारी के स्वर की तरह दुर्निवार इन्द्रिय-वेदना के वशीभूत होते हुए उनके (अर्थात् जिनके इन्द्रियां जीवित हैं उनके) अत्यन्त नाशवाले (क्षणिक) विषयों में भी पतन देखा जाता है। 'उनका दुःख स्वाभाविक है' यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो, जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है उसके पसेव (पसीना) की तरह, जिसका दाहज्वर उतर गया है उसके कांजी के परिषेक की तरह, जिसकी आंखोंका दुख दूर हो गया है उसके वटचूर्ण (शंख इत्यादि का चूर्ण) आंजने की तरह, जिसका कान का दर्द नष्ट हो गया है उसको बकरे का मूत्र कान में डालने की तरह, और जिस का घाव पूरा भर गया है उसके फिर लेप करने की तरह (अर्थात् जिसका रोग शमन हो गया है उस रोगके प्रतिकार या इलाज के लिये औषधि आदि सेवन नहीं देखा जाता, उसी प्रकार यदि उन जीवित इन्द्रिय वालोंके यदि वांछा रूपी रोग न होता तो उनके भी) विषय-व्यापार न देखा जाता; (किन्तु) वह (विषय व्यापार) देखा जाता है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियां जीवित हैं, ऐसे परोक्षज्ञानी स्वभावभूत दुःखवाले (स्वाभाविक दुखी ही) हैं॥ ६४॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति—

(जेसिं विसयेसु रई) येषां निर्विषयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु रतिः (तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं) तेषां वहिर्मुखजीवानां निजशुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीतं स्वभावेनैव दुःखमस्तीति विजानीहि। कस्मादिति चेत्। पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात् (जइ तं ण हि सब्भावं) यदि तद्दुःखं स्वभावेन नास्ति हि स्फुटं (वावारो णत्थि विसयत्थं) तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयार्थं व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दुःखमस्तीत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥

एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जब तक इन्द्रियोंके द्वारा यह प्राणी विषयोंके व्यापार करता रहता है तब तक इसको दुःख ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जेसिं विसयेसु रदी) जिन जीवोंकी विषयरहित अतींद्रिय परमात्मस्वरूपसे विपरीत इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रीति होती है (तेसिं सब्भावं दुक्खं वियाण) उनको स्वाभाविक दुःख जानो अर्थात् उन बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी जीवोंको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यके अनुभवसे उत्पन्न, उपाधिरहित निश्चय सुखसे विपरीत स्वभावसे ही दुःख होता है, ऐसा जानो (जदि तं सब्भावं ण हि) यदि वह दुःख स्वभावसे निश्चय करके न होवे तो (विसयत्थं वावारो णत्थि) विषयोंके लिये व्यापार न होवे। जैसे रोगसे पीड़ित होनेवालोंके ही लिये औषधिका सेवन होता है, वैसे ही इन्द्रियोंके विषयोंके सेवनेके लिये ही व्यापार दिखाई देता है, इसीसे यह जाना जाता है कि उनके दुख है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ६४ ॥

इस प्रकार निश्चयसे इन्द्रियजनित सुख दुःखरूप ही है, ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ॥ ६५ ॥

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण

विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते । शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥ ६५ ॥

अब, मुक्त-आत्मा के सुखकी प्रसिद्धि के लिये, शरीर की सुख-साधनता का खण्डन करते हैं:—सिद्ध भगवान् के शरीर के विना भी सुख होता है यह भात्र स्पष्ट समझाने के लिये संसार अवस्थामें भी शरीर सुखका (इन्द्रियसुखका) साधन नहीं है, यह निश्चित करते हैं)-

अन्वयार्थ—[स्पर्शैः समाश्रितान्] स्पर्शन आदिक इन्द्रियां जिनका आश्रय लेती हैं ऐसे [इष्टान् विषयान्] इष्ट विषयों को [प्राप्य] पाकर [स्वभावेन] (अपने अशुद्ध) स्वभाव से [परिणममानः] परिणमन करता हुआ [आत्मा] आत्मा [स्वयमेव] स्वयं ही [सुखं] सुखरूप (इन्द्रिय सुख रूप) होता है [देहः न भवति] (किन्तु) देह सुखरूप नहीं होती है ।

टीका—वास्तवमें इस आत्मा के सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख की साधनता को प्राप्त होता हुवा हम नहीं देखते हैं, क्योंकि तब भी, मानो उन्माद-जनक मदिरा का पान किया हो ऐसी प्रबल मोहके वशमें वर्तने वालीं (तथा) 'यह (विषय) हमें इष्ट है' इस प्रकार क्रमसे विषयों में पड़ती (प्राप्त) हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति को अनुभव करता हुवा, रुक गई है शक्ति की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) जिसकी ऐसे भी (अपने) ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक तथा निश्चय कारणता को प्राप्त-स्वभाव से परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखी-पनेको प्राप्त करता है, (सुखरूप होता है) शरीर तो अचेतन होनेके कारण ही, सुखत्व-परिणति के निश्चय-कारणता को प्राप्त न होता हुआ, किंचित् मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता ॥ ६५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति,—

(पप्पा) प्राप्य । कान् । (इट्ठे विसये) इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान् । कथंभूतान् । (फासेहिं समस्सिदे)

स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक्—प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् प्राप्य । स कः । (अप्पा) आत्मा कर्ता । किंविशिष्टः । (सहावेण परिणममाणो) अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः । इत्थंभूतः सन् (सयमेव सुहं) स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति । (ण हवदि देहो) देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति ।

अयमत्रार्थः—कर्मावृतसंसारिजीवानां यदिन्द्रियसुखं तत्रापि जीव उपादानकारणं न च देहः, देहकर्मरहितमुक्तात्मनां पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुखं तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥ ६५ ॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि मुक्त-आत्माओंके शरीर न होते हुए भी सुख रहता है, इस कारण शरीर सुखका कारण नहीं है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अप्पा) यह संसारी आत्मा (फासेहिं) स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे रहित शुद्धात्मतत्वसे विलक्षण स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके द्वारा (समस्सिदे) भले प्रकार ग्रहण करने योग्य (इट्ठे विसये) अपनेको इष्ट ऐसे विषय भोगोंको (पप्पा) पाकरके या ग्रहण करके (सहावेण परिणममाणो) अनन्त सुखका उपादान कारण जो शुद्ध आत्माका स्वभाव उससे विरुद्ध अशुद्ध सुखका उपादान कारण जो अशुद्ध आत्मस्वभाव उससे परिणमन करता हुआ (सयमेव) स्वयं ही (सुहं) इन्द्रिय सुखरूप हो जाता है, या परिणमन कर जाता है, तथा (देहो ण हवदि) शरीर अचेतन होनेसे सुखरूप नहीं होता है

यहां यह अर्थ है कि कर्मोंके आवरणसे मैले संसारी जीवोंके जो इन्द्रियसुख होता है वहां भी जीव ही उपादान कारण है, शरीर उपादान कारण नहीं है । जो देह-रहित व कर्मबंध-रहित मुक्त जीव हैं उनको जो अनन्त अतीन्द्रियसुख है, वहां तो विशेष करके आत्मा ही कारण है ॥ ६५ ॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥ ६६ ॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा ।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥ ६६ ॥

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

अब इसी बातको दृढ करते हैं:-

अन्वयार्थ—[एकान्तेन हि] एकान्त से अर्थात् नियम से [स्वर्गे] स्वर्ग में [वा] भी [देहः] शरीर [देहिनः] शरीरी (आत्मा) के [सुखं न करोति) सुख नहीं करता [विषय-वशेन तु] परन्तु विषयोंके वश से [सौख्यं वा दुःखं] सुखरूप अथवा दुःखरूप [स्वयं आत्मा भवति] स्वयं आत्मा (परिणमित) होता है ।

टीका—यहां यह सिद्धान्त है कि दिव्य वैक्रियिक-पना होने पर भी शरीर वास्तवमें सुख के लिये कल्पना नहीं किया जा सकता (वैक्रियिक शरीर सुख देता है, यह कल्पना नहीं की जा सकती है), क्योंकि इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश से सुख अथवा दुःखरूप स्वयं आत्मा (परिणत) होता है ॥ ६६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीरं दिव्यं तत्किल सुखकारणं भविष्यतीत्याशङ्कां निराकरोति,—

(एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि) एकान्तेन हि स्फुटं देहः कर्ता सुखं न करोति । कस्य । देहिनः संसारिजीवस्य । क । (सग्गे वा) आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति, स्वर्गे वा यासौ दिव्यो देवदेहः सोप्युपचारं विहाय सुखं न करोति । (विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा) किन्तु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुखं दुःखं वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥

एवं मुक्तात्मनां देहाभावेपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं संसारिणामपि देहः सुखकारणं न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—अब आगे यहां कोई शंका करता है कि मनुष्यका शरीर जिसके नहीं है किन्तु देवका दिव्य शरीर जिसको प्राप्त है, वह शरीर तो उसके लिये अवश्य सुखका कारण होगा । आचार्य इस शंकाको हटाते हुए समाधान करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एगंतेण हि) सब तरहसे निश्चयकर यह प्रगट है कि (देहिस्स) शरीरधारी संसारी प्राणीको (देहो) यह शरीर (सग्गे वा) स्वर्गमें भी (सुहं ण कुणदि) सुख नहीं करता है । मनुष्योंकी मनुष्य देह तो सुखका कारण नहीं, है यह बात दूर ही तिष्ठे । स्वर्गमें भी जो देवोंका मनोज्ञ वैक्रियिक देह है वह भी विषयवासनाके उपाय विना सुख नहीं करता है । (आदा) यह आत्मा

(सयं) अपने आप ही (विसयवसेण) विषयोंके वशसे अर्थात् निश्चयसे विषयोंसे रहित अमूर्त्त स्वाभाविक सदा आनन्दमई एक स्वभावरूप होने पर भी व्यवहारसे अनादि कर्मके बंधके वशसे विषयोंके भोगों के अधीन होनेसे (सोक्खं वा दुक्खं हवदि) सुख व दुःखरूप परिणमन करके सुख या दुःखरूप होजाता है शरीर सुख या दुःखरूप नहीं होता है, यह अभिप्राय है ॥ ६६ ॥

इस तरह मुक्त जीवोंके देह न होते हुए भी सुख रहता है, इस बातको समझानेके लिये संसारी प्राणियोंको भी देह सुखका कारण नहीं है, ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिः जनस्य, दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयं आत्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥ ६७ ॥

अब, आत्माके स्वयं ही सुखरूप परिणमने की शक्ति-युक्त होनेसे, विषयों के अकिंचित्-कर-पनेको प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [जनस्य दृष्टिः] प्राणीकी आंख [तिमिरहरा] अंधकारको नाश करने वाली (अंधेरेमें देखनेवाली) हो तो [दीपेन नास्ति कर्तव्यं] (उसको) दीपकसे कोई प्रयोजन नहीं है (अर्थात् दीपक उसको कुछ नहीं कर सकता) [तथा] इसी प्रकार (जहां) [आत्मा] आत्मा [स्वयं] स्वयं [सौख्यं] सुखरूप (परिणमन करता है) [तत्र] वहां [विषयाः] विषय [किं कुर्वन्ति] क्या करते हैं ? (यानी-कुछ नहीं) ।

टीका—आंखके स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति का सम्बन्ध होनेसे जैसे किन्हीं निशाचरोंके (उल्लू आदि रात्रि में विचरने वाले जीवोंके) अंधकारका नाशक स्वभाव वाले दीपक के प्रकाशादि से कोई प्रयोजन नहीं होता (उन्हें दीपक का प्रकाश कुछ नहीं करता), इसी प्रकार इस आत्मा के संसार अथवा मुक्तिमें स्वयमेव सुखपने से परिणमन करने वाले के, सुख साधन की बुद्धिसे अज्ञानियों के द्वारा व्यर्थ आश्रय किये गये भी विषय क्या करें (कुछ नहीं कर सकते) ।। ६७ ।।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अथात्मनः स्वयमेवसुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देहः सुखकारणं न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति,—

(जइ) यदि (दिट्ठी) नक्तंचरजनस्य दृष्टिः (तिमिरहरा) अन्धकारहरा भवति (जणस्स) जनस्य (दीवेण णत्थि कायव्वं) दीपेन नास्ति कर्तव्यं तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति (तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति) तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति ? न किमपीति भावः ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं सुख स्वभावको रखने वाला है इसलिये जैसे निश्चय करके देह सुखका कारण नहीं है वैसे इन्द्रियोंके पदार्थ भी सुखके कारण नहीं हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थः—(जइ) जो (जणस्स दिट्ठी) किसी प्राणीकी दृष्टि रात्रिको (तिमिरहरा) अंधकारको हरने वाली है अर्थात् अंधेरेमें देख सकती है तो (दीवेण कादव्वं णत्थि) दीपसे कर्तव्य कुछ नहीं है। अर्थात् दीपकोंका उसके लिये कोई प्रयोजन नहीं है। (तह) तैसे (आदा सयम् सोक्खं) जो निश्चय करके पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित, अमूर्तिक, अपने सर्व प्रदेशोंमें आल्हादरूप सहज आनन्द एक लक्षणमई सुख स्वभाव वाला आत्मा स्वयं है (तत्थ विसया किं कुव्वंति) तो वहां मुक्ति अवस्थामें तो इन्द्रियोंके विषयरूप पदार्थ क्या कर सक्ते हैं ? यानी-कुछ भी नहीं कर सकते, यह भाव है ।। ६७ ।।

अथात्मनः दृष्टान्तेन सुखस्वभावत्वं दृढयति-

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ।। ६८ ।।

स्वयमेव यथा आदित्यः तेजः उष्णः च देवता नभसि ।
सिद्धः अपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः । तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतिवियोगैर्दिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः । अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ॥ ६८ ॥ इति आनन्दप्रपञ्चः ।

अब आत्माके सुखस्वभावपने को दृष्टान्त से दृढ करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [नभसि] आकाश में [आदित्यः] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही [तेजः] तेज [उष्णः] उष्ण [च] और [देवता] देव है [तथा] उसी प्रकार [लोके] लोक में [सिद्धः अपि] सिद्ध भी (स्वयमेव) [ज्ञानं] ज्ञान [च] और [सुखं] सुख [तथा] और [देवः] देव है ।

टीका—जैसे वास्तव में आकाश में, अन्यकारण की अपेक्षा विना स्वयमेव ही सूर्य (१) अति अधिक प्रभा समूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होनेसे तेज है, (२) कभी २ उष्णतारूप परिणत लोहेके गोले की भांति, सदा ही उष्णता परिणाम को प्राप्त होनेसे उष्ण है और (३) देवगति नामकर्म के उदय की अनुवृत्ति (धारावाहित उदय) के वशवर्ती स्वभाव से देव है, इसी प्रकार लोकमें अन्य कारण की अपेक्षा रखे विना ही भगवान् आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपरको प्रकाशित करनेमें समर्थ यथार्थ अनन्त शक्तियुक्त सहज-संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, (२) आत्म-तृप्ति से उत्पन्न होनेवाली परिनिर्वृत्ति (उत्कृष्ट उपेक्षा वीतरागता) से प्रवर्तमान अनाकुलता में सुस्थितता के कारण सौख्य है, और (३) निकट है आत्म तत्त्व की प्राप्ति जिनको ऐसे बुद्धजनों (ज्ञानियों) के

* 'योगिदिव्यात्म' इति पाठान्तरम् ।

मनरूपी शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति स्तुति के योग द्वारा दिव्य आत्मस्वरूपवान होनेसे देव है। इसलिये इस आत्मा के सुख-साधनाभास विषयों से बस हो ॥ ६८ ॥

अतीन्द्रिय सुखका विस्तार समाप्त हुआ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावत्वं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति,—

(सयमेव जहाइच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि) कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यः स्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता भवति। क्व स्थितः। नभसि आकाशे (सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोये) सिद्धोपि भगवांस्तथैव कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशकं केवलज्ञानं, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षणं सुखं। क्व। (लोये) जगति (तहा देवो) निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासितानां गणधरदेवादिपरमयोगिनां देवेन्द्रादीनां चासन्नभव्यानां मनसि निरन्तरं परमाराध्यं, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्यं च यद्दिव्यमात्मस्वरूपं तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मनां विषयैरपि प्रयोजनं नास्तीति ॥ ६८ ॥

एवं स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मनां सुखकारणं न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे आत्मा सुख स्वभाववाला भी है ज्ञान स्वभाववाला भी है इस ही बातको दृढ करते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(नभसि) आकाशमें (सयमेव जहादिच्चो) जैसे दूसरे कारणकी अपेक्षा न करके स्वयं ही सूर्य्य (तेजो) अपने और दूसरेको प्रकाश करनेवाला तेजरूप है (उण्हो य) तथा स्वयं उष्णता देनेवाला है (देवदा य) तथा देवता है अर्थात् ज्योतिषीदेव है अथवा अज्ञानी मनुष्योंके लिये पूज्य देव है (तहा) तैसे ही (लोये) इस लोकमें (सिद्धो वि णाणं सुहं च तहा देवो) सिद्ध भगवान भी दूसरे कारणकी अपेक्षा न करके स्वयं ही स्वभावसे स्व-पर-प्रकाशक केवलज्ञान स्वरूप हैं तथा परम तृप्तिरूप निराकुलता लक्षणमय सुख रूप हैं तैसे ही अपने शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप अभेद रत्नत्रमसम निर्विकल्प समाधिसे पैदा होनेवाले सुन्दर आनन्दमें भीगे हुए सुखरूपी अमृतके प्यासे गणधर देव आदि परम योगियों, इन्द्रादि देवों व अन्य निकट-भव्योंके मनमें निरन्तर भले प्रकार आराधने योग्य तैसे ही अनंतज्ञान आदि गुणोंके स्तवनसे स्तुति-योग्य जो दिव्य आत्मस्वरूप-स्वभावमय होनेसे देवता हैं। इससे जाना जाता है कि मुक्ति प्राप्त आत्माओंको विषयोंकी सामग्री से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

वास्तवमें शरीर तथा इन्द्रियोंके इस तरह स्वभावसे ही आत्मा सुख स्वभाव है, अतएव इंद्रियोंके विषय भी मुक्तात्माओंके सुखके कारण नहीं होते हैं, ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ६८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथेदानीं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूतं सर्वज्ञं वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति,—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईहरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥ ६८-१ ॥

(तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं तिहुवणपहाणदइयं) तेजः- प्रभामण्डलं, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहकं केवलदर्शनं, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञानं, ऋद्धिशब्देन समवशरणादिलक्षणा विभूतिः, सुखशब्देनाव्याबाधानन्तसुखं, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्वं कुर्वन्तीत्येवं लक्षणमैश्वर्यं, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्वं दैवं भण्यते (माहप्पं जस्स सो अरिहो) इत्थंभूतं माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् भण्यते। इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कारं कृतवन्तः।

उत्थानिका—आगे श्री कुन्दाकुन्दाचार्य देव पूर्वमें कहे हुए लक्षणके धारी अनंतसुखके आधार भूत सर्वज्ञ भगवानको वस्तु-स्वरूपसे स्तवनकी अपेक्षा नमस्कार करते हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तेजो) प्रभाका मंडल (दिट्ठी) तीन जगत व तीन कालकी समस्त वस्तुओंकी सामान्य सत्ताको एक काल ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन (णाणं) तथा उनकी विशेष सत्ताको ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान (इड्ढी) समवशरणकी सर्व विभूति (सोक्खं) बाधा रहित अनन्तत सुख, (ईसरियं) व जिनके पदकी इच्छासे इन्द्रादिक भी जिनकी सेवा करते हैं, ऐसा ईश्वरपना (तहेव तिहुवणपहाणदइयं) तैसे ही तीन भुवनके ईशोंकरके भी वल्लभपना या इष्टपना ऐसा देवपना इत्यादि (जस्स माहप्पं) जिसका महात्म्य है (सो अरिहो) वही अरहंत देव है। इस प्रकार वस्तुका स्वरूप कहते हुए नमस्कार किया ॥ ६८।१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ तस्यैव भगवतः सिद्धावस्थायां गुणस्तवनरूपेण नमस्कारं कुर्वन्ति,—

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥ ६८-२ ॥

(पणमामि) नमस्करोमि (पुणो पुणो) पुनः पुनः। कं। (तं सिद्धं) परमागमप्रसिद्धं सिद्धं। कथंभूतं। (गुणदो अधिगदरं) अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतरं समधिकतरगुणं। पुनरपि कथंभूतं। (अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं) यथा पूर्वमर्हदवस्थायां मनुजदेवेन्द्रादयः समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्वं भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभावं। पुनश्च किं विशिष्टं। (अपुणब्भावणिबद्धं) द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारभवादिलक्षणशुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योसौ मोक्षस्तस्याधीनत्वादपुनर्भवनिबद्धमिति भावः। एवं नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्। इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थलं ज्ञातव्यं। एवमष्टादशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन "सुखप्रपञ्च" नामान्तराधिकारो गतः। इति पूर्वोक्तप्रकारेण "एस सुरासुर" इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पीठिका गता,

तदनन्तरं सप्तगाथाभिः सामान्यसर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः ज्ञानप्रपञ्चः, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन (शुद्धोपयोगाधिकारः) समाप्तः। इत ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकारः प्रारभ्यते, तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथमं तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं "देवदजदिगुरु" इत्यादि दशगाथापर्यन्तं प्रथमज्ञानकण्ठिका कथ्यते। तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं "चत्ता पावारम्भं" इत्यादि सप्तगाथापर्यन्तं द्वितीयज्ञानकण्ठिका, अथानन्तरं द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं "दव्वादीएसु" इत्यादि षट्कगाथापर्यन्तं तृतीयज्ञानकण्ठिका। तदनन्तरं स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पगं' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका। इति चतुष्टयाभिधानाधिकारे समुदायपातनिका। अथेदानीं प्रथमज्ञानकण्ठिकायां स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरं पुण्यं जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमुपसंहाररूपेण गाथाद्वयं इति स्थलत्रयपर्यन्तं क्रमेण व्याख्यानं क्रियते।

उत्थानिका—आगे सिद्ध भगवानके गुणोंका स्तवनरूप नमस्कार करते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(तं) उस (सिद्धं) सिद्ध भगवानको जो (गुणदो अधिगतरं) अव्याबाध, अनन्त सुख आदि गुणों करके अतिशय पूर्ण हैं, (अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं) मनुष्य व देवोंके स्वामीपनेसे उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जैसे पहले अरहंत अवस्थामें मनुष्य व देव व इन्द्रादिक समवशरणमें आकर नमस्कार करते थे इससे प्रभुपना होता था अब यहां उस भावको लांघ गए हैं अर्थात् सिद्ध अवस्थामें न समवशरण है न देवादि आते है, न प्रत्यक्ष नमस्कार करते हैं।

(अपुणब्भावणिबद्धं तथा मुक्तावस्थामें निश्चल अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसारसे विलक्षण शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमय निज आत्माकी प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्षके अधीन हैं अर्थात् स्वाधीन व मुक्त हैं (पुणो पुणो पणमामि) बारबार नमस्कार करता हूँ।

नोट—यहां टीकाकारने अविच्छिदं तथा मणुवदेवपदिभावं इन दोनो पदोंको एकमें मान कर ऐसा अर्थ किया है। यदि हम इन दोनों पदोंको अलग २ मानलें तो यह अर्थ होगा कि वह सिद्ध भगवान् अविनाशी हैं। उनकी अवस्थाका कर्मोंसे अभाव नहीं होगा तथा वे मनुष्य व देवोंके स्वामीपनको प्राप्त हैं अर्थात् उनसे महान इस संसारमें कोई प्राणी नहीं है। सब उनहीका ध्यान करते हैं। यहां तक कि तीर्थंकर भी सिद्धोंका ही ध्यान छद्मस्थअवस्था में करते हैं।

इस प्रकार नमस्कारकी मुख्यतासे दो गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह आठ गाथाओंसे पांचवा स्थल जानना चाहिये। इस तरह अठारह गाथाओसे व स्थलसे सुख प्रपंच नामका अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओंसे पीठिकाका वर्णन किया। फिर सात गाथाओंसे सामान्यपने सर्वज्ञकी सिद्धि की, फिर तेतीस गाथाओंसे ज्ञान-प्रपंच, फिर अठारह गाथाओंसे सुख-प्रपंच, इस तरह समुदायसे बहत्तर गाथाओंके द्वारा तथा चार अन्तर-अधिकारोंसे शुद्धोपयोग नामका अधिकार पूर्ण किया।

उत्थानिका—इसके आगे पचीस गाथा पर्यंत ज्ञानकंठिका चतुष्टय नामका अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इन २५ गाथाओंके मध्यमें पहले शुभ व अशुभ उपयोगमें मूढताको हटानेके लिये "देवद-जदि गुरु" इत्यादि दश गाथाओं तक पहली ज्ञानकंठिका का कथन है। फिर परमात्माके स्वरूपके ज्ञानमें मूढताको दूर करनेके लिये "चत्ता पावारम्भं" इत्यादि सात गाथाओं तक दूसरी ज्ञानकंठिका है। फिर द्रव्यगुण पर्यायके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढताको हटानेके लिये "दव्वादीएसु" इत्यादि छः गाथाओं तक तीसरी ज्ञानकंठिका है। फिर स्व और पर तत्वके ज्ञानके सम्बन्धमें मूढताको हटाने के लिये "णाणप्पगं" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथी ज्ञानकंठिका है। इस चार अधिकारकी समुदायपातनिका है।

अब यहां पहली ज्ञानकंठिकामें स्वतंत्र व्याख्यानके द्वारा चार गाथाएं हैं। फिर पुण्य जीवके भीतर विषयभोगकी तृष्णाको पैदा कर देता है। ऐसा कहते हुए गाथाएं चार हैं। फिर संकोच करते हुए गाथाएं दो हैं-इस तरह तीन स्थलतक क्रमसे व्याख्यान करते हैं।

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मकः आत्मा ॥ ६९ ॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ॥ ६९ ॥

अब, इन्द्रिय सुख स्वरूप के विचार को आरम्भ करते हुये उसके कारण (शुभ परिणाम) के स्वरूप को कहते हैं:—

अन्वयार्थ—[देवता-यतिगुरुपूजासु] देव, यति और गुरुकी पूजा में [चैव] तथा [दाने] दान में [सुशीलेषु वा] तथा सुशीलों में [उपवासादिषु] और उपवासादिकों में [रक्तः आत्मा] लीन आत्मा [शुभोपयोगात्मकः] शुभोपयोगात्मक (शुभोपयोगमयी) है।

टीका—जब यह आत्मा दुःखकी साधनभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रिय-विषय के अनुराग रूप अशुभोपयोग भूमिका को उल्लंघन करके, देव-गुरुयतिकी पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है तब (वह) इन्द्रिय सुखके कारणभूत शुभोपयोग-भूमिका में अधिरूढ कहलाता है।

विशेषार्थ—अतीन्द्रिय सुखका कथन करने के पश्चात्, अब आचार्य महाराज इन्द्रिय सुखको हेय, दुःखरूप तथा त्याज्य दिखलाते हैं। उसी प्रकरण में, इस इन्द्रिय-सुखके साधन-भूत निरतिशय शुभ परिणाम (पुण्य) को भी, कारण में कार्यका उपचार करके, हेय, दुखरूप तथा त्याज्य बतलाते हैं। अतः यहां इस प्रकरण में उस निरतिशय पुण्यका कथन है, जो इन्द्रिय- सुखको उपादेय मानते हुये, मात्र उस इन्द्रिय-सुखकी प्राप्ति के लिये किया जाता है। इस कुल प्रकरणमें इस बातके ध्यान रखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, वरना भ्रम हो सकता है

जो सातिशय पुण्य परमार्थ दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति के लिये किया जाता है, उस सातिशय पुण्यका कथन स्वयं ग्रन्थकार ने आगे गाथा २४५ से प्रारम्भ किया है और उसको मोक्षका साधन बतलाया है। विशेषकर गा० २४५ से २६० तक देखने योग्य हैं। आचार्योंके कथनमें पूर्वापर-विरोध नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां गा० ६९ से कुल प्रकरण निरतिशय पुण्य का है जो मात्र इन्द्रिय-सुखकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इन्द्रिय सुख हेय है, अतः उसके साधनभूत इन्द्रिय-जनित ज्ञान अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान को भी गा० ६४ आदि में हेय बतलाया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्षायोपशमिक ज्ञान तथा शुभोपयोग सर्वथा हेय हैं।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

तद्यथा—अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूपं भणितं तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधकं शुभोपयोगं प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका—पीठिकायां यच्छुभोपयोगस्वरूपं सूचितं तस्येदानीमि-न्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरणं करोति,—

(देवंदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु) देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु (उववासादिसु

रत्तो) तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्तः (अप्पा) जीवः (सुहोवओगप्पगो) शुभोपयोगात्मको भण्यते इति ।

तथाहि—देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः, स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणां तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासम्भवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदानं च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवासा जिनगुणसंपत्त्यादिविधिविशेषाश्च । एतेषु शुभानुष्ठानेषु योसौ रतः, द्वेषरूपे विषयानुरागे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः ॥६६॥

यद्यपि पहले छः गाथाओंके द्वारा इन्द्रियोंके सुखका स्वरूप कहा है तथापि फिर भी उसीको विस्तारके साथ कहते हुए उस इन्द्रिय सुखके साधक शुभोपयोगको कहते हैं:—अथवा दूसरी पातनिका है कि पीठिकामें जिस शुभोपयोगका स्वरूप सूचित किया है उसीका यहां इन्द्रियसुखके विशेष कथनमें इन्द्रिय सुख का साधकरूप विशेष आख्यान करते हैं:—

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो (देवजदिगुरुपूजासु) देवता, यति, गुरुकी पूजामें (चेव दाणम्मि) तथा दानमें (वा सुसीलेसु) और सुशीलरूप चारित्रोंमें (उववासादिसु) तथा उपवास आदिकोंमें (रत्तो) रत है वह (सुहोवओगप्पगो अप्पा) शुभोपयोग धारी आत्मा कहा जाता है ।

विशेष यह है कि जो सर्व दोष-रहित परमात्मा है, वह देवता है, जो इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्माके स्वरूपके साधनमें उद्यमवान है वह यति है, जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का आराधन करनेवाला है और ऐसी आराधना के चाहनेवाले भव्योंको जिन-दीक्षाका देनेवाला है वह गुरु है। इन देवता, यति और गुरुओंकी तथा उनकी मूर्ति आदिकोंकी यथासंभव अर्थात् जहां जैसी संभव हो वैसी द्रव्य और भाव पूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार दान करना, आचारादि ग्रंथोंमें कहे प्रमाण शीलव्रतोंको पालना, तथा जिनगुणसंपत्तिको आदि लेकर अनेक विधि विशेषसे उपवास आदि करना, इतने शुभ कार्योंमें लीनता करता हुआ तथा द्वेषरूप भाव व विषयोंके अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोगसे विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—यहां आचार्यने शुद्धोपयोगमें प्रीतिरूप शुभोपयोगका स्वरूप बताया है अथवा अरहंत सिद्ध परमात्माके मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावोंका वर्णन करके उन परमात्माके आराधनकी सूचना की है अथवा मुख्यता से उपासकका कर्तव्य बताया है । शुभोपयोग तीव्र कषायों के अभावमें होता है ।

श्री समस्त भद्राचार्यने स्वयम्भू स्तोत्रमें भक्ति करते हुए यह भाव झलकाया है, जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः ।

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥ ५ ॥

वह जगतको देखने वाले, साधुओंसे पूजनीय पूर्ण ज्ञानमय देहके धारी, निरंजन व अल्पज्ञानी अन्य वादियोंके मतको जीतनेवाले श्री नाभिराजाके पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्तको पवित्र करो । भावोंकी

निर्मलता होनेसे जो शुभ राग होता है वह तो अतिशय पुण्य कर्मको बांधता है, जो मोक्ष-प्राप्तिमें सहकारी कारण होते हैं। जैसे तीर्थंकर, उत्तम संहनन आदि। शुभोपयोगमें वर्तन करनेसे उपयोग अशुभोपयोगसे बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोगमें चढ़नेके लिये सीढ़ी है। इसलिये शुद्धोपयोगकी भावना करते हुए शुभोपयोगमें वर्तन करना चाहिये। वास्तवमें शुभोपयोग सम्यग्दृष्टिके ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगको इस कालमें उपादेय मानकर उसीकीर भावनासे प्राप्तिके लिये अरहंत-भक्ति आदि शुभोपयोगके मार्गमें वर्तना चाहिये ॥ ६९ ॥

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति--

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविधं ॥ ७० ॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यक् वा मानुषः वा देवः वा।
भूतः तावत्कालं लभते सुखं ऐन्द्रियं विविधम् ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥ ७० ॥

अब, शुभोपयोग के साध्यपने से इन्द्रिय सुखको कहते हैं:—

अन्वयार्थ—[शुभेन युक्तः] शुभ परिणामसे युक्त [आत्मा] आत्मा [तिर्यक्] तिर्यंच [वा] अथवा [मानुषः] मनुष्य [वा] अथवा [देवः] देव [भूतः] होता हुआ [तावत्कालं] उतने समय तक [विविधं] अनेक प्रकारके [ऐन्द्रियं] इन्द्रिय-सम्बन्धी [सुख] सुख को [लभते] पाता है।

टीका—यह आत्मा इन्द्रिय-सुखके साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से, उसके (इन्द्रिय सुखके) स्थानभूत (आधारभूत) तिर्यन्च, मनुष्य और देवत्वकी भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक (उसमें) ठहरता है उतने समय तक अनेक प्रकारके इन्द्रिय-सुखको प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति,—

(सुहेण जुत्तो आदा) यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो भूत्वाऽयं जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखं लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्तः परिणतोऽयमात्मा (तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो) तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा (तावदि कालं) तावत्कालं स्वकीयायुःपर्यन्तं (लहदि सुहं इंदियं विविधं) इन्द्रियजं विविधं सुखं लभते, इति सूत्राभिप्रायः ॥ ७० ॥

उत्थानिका—आगे बताते हैं कि पूर्व गाथामें कथित शुभोपयोगके समय जो पुण्यकर्म बन्ध जाता है उसके उदयसे इंद्रियसुख प्राप्त होता है।

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(सुहेण जुत्तो आदा) जैसे निश्चय रत्नत्रयमय शुद्धोपयोगसे युक्त आत्मा मुक्त होकर अनन्त कालतक अतींद्रिय सुखको प्राप्त करता है तैसे ही पूर्वसूत्रमें कहे हुए शुभोपयोगमें परिणमन करता हुआ यह आत्मा (तिरियो वा माणुसो वा देवोवा भूदो) तिर्यंच, मनुष्य या देव होकर (तावदि कालं) अपनी अपनी आयुपर्यंत (विविधं इंदियं सुहं लहदि) नाना प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखको पाता है। यह इस गाथाका अभिप्राय है ॥ ७० ॥

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणां अपि सिद्धं उपदेशे ।
ते देहवेदनार्ताः रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते। यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥ ७१ ॥

अब, इसप्रकार इन्द्रिय-सुखको उठाकर दुःख-रूपमें डालते हैं (अर्थात् इन्द्रिय-सुख परमार्थसे दुःख ही है, यह बतलाते हैं):—

अन्वयार्थ—[उपदेसे सिद्धं] उपदेश से (आगमसे) सिद्ध है कि [सुराणां अपि] देवों के भी [स्वभावसिद्धं] स्वभाव सिद्ध [सौख्यं] सुख (आत्मा से उत्पन्न होने वाला अतीन्द्रिय सुख) [नास्ति] नहीं है। [ते] वे [देहवेदनार्ताः] (पंचेन्द्रियमय) देहकी वेदना से पीड़ित हुवे [रम्येषु विषयेषु] रम्य (मनोहर) विषयों में [रमन्ते] रमते हैं।

टीका—इन्द्रिय-सुखके भाजनों (पात्रों) में प्रधान देव हैं। उनके भी वास्तवमें स्वाभाविक सुख नहीं है, उलटा उनके स्वाभाविक दुख ही देखा जाता है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीर रूपी पिचाश की पीड़ा के परवश हुए, पर्वत से गिरकर मरने के समान मनोहर इन्द्रिय विषयों में पतन करते है (पडते हैं)॥ ७१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुखं निश्चयनयेन दुःखमेवेत्युपदिशति,—

(सोक्खं सहावसिद्धं) रागाद्युपाधिरहितं चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते। तच्च (णत्थि सुराणंपि) आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति (सिद्धमुवदेसे) इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे। (ते देहवेदणत्ता रमंति विसएसु रम्मेसु) तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति।

अथ विस्तरः—अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाऽजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः पतितः सन् मृत्युस्थानीयहस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते, तथा संसारसुखम्। पूर्वोक्तमोक्षसुखं तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम् ॥ ७१ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य दिखाते हैं कि पूर्व गाथा में जिस इंद्रिय सुखको बतलाया है वह सुख निश्चयनयसे सुख नहीं हैं, दुःखरूप ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थः—मनुष्यादिकोंके सुखकी तो बात ही क्या है (सुराणंपि) देवों व इन्द्रोंके भी (सहावसिद्धं सोक्खं) स्वभावसे सिद्ध सुख अर्थात् रागद्वेषादिकी उपाधिसे रहित चिदानन्दमई एक स्वभावरूप उपादानकारणसे उत्पन्न होनेवाला जो स्वाभाविक अतींद्रिय सुख है सो (णत्थि) सुख नहीं होता है। (उवदेसे सिद्धं) यह परमागमके उपदेशमें उपदेश किया गया है। ऐसे अतींद्रिय सुखको न पाकर (ते देहवेदणट्टा) वे देवादिक शरीरकी वेदनासे पीड़ित होते हुए (रम्मेसु विसयेसु रमंति) रमणीक दीखनेवाले इन्द्रिय विषयोंमें रमण करते हैं।

इसका विस्तार यह है कि-संसारका सुख इस तरहका है कि जैसे कोई पुरुष किसी वनमें हो, हाथी उसके पीछे दौड़े, वह घबड़ाकर ऐसे वृक्ष पर चढ़ जावे जिसके नीचे महा अजगर मुख फाड़े बैठा हो व चार कोनोंमें चार सांप मुख फैलाए बैठे हों। और वह पुरुष उस कूपमें लगे हुए वृक्षकी शाखाको पकड़ कर लटक जावे जिसकी जड़को सफेद और काले चूहे काट रहे हों तथा उस वृक्षमें मधु मक्खियोंका छत्ता लगा हो जिसकी मक्खियां उसके शरीरमें चिपट रही हों, हाथी वृक्षको टक्कर पर टक्कर मार रहा हो ऐसी विपत्ति में पड़ा हुआ यदि वह मधुके छत्तेसे गिरती हुई मधुबूंदके स्वादको लेता हुआ अपनेको सुखी माने, तो उसकी मूर्खता है क्योंकि वह शीघ्र ही कूपमें पड़कर मरणको प्राप्त करेगा, यह दृष्टांत ऐसे है कि यह संसाररूपी महा वन है जिसमें मिथ्यादर्शन आदि कुमार्गमें पड़ा हुआ कोई जीव मरणरूपी हाथीके भयसे त्रासित होता हुआ किसी मनुष्यलोक को प्राप्त हो जिसके नीचे सातवां नरक रूपी अजगर हो व क्रोध मान माया लोभरूप चार सर्प चार कोनोंमें बैठे हों, जीव आयु कर्मरूपी शाखामें लटक जावे जिस शाखा की जड़को शुक्ल कृष्णपक्षरूपी चूहे निरंतर काट रहे हों व उसके शरीरमें मधुमक्खियोंके समान अनेक रोग लग रहे हों तथा मरण रूपी हाथी खड़ा हो और वह मधुकी बूंदके समान इन्द्रिय विषयके सुखको भोगता हुआ अपनेको सुखी माने, सो उसकी अज्ञानता है। विषयसुख दुःखका घर है। ऐसा सांसारिक सुख त्यागने योग्य है, जबकि मोक्षका सुख आपत्ति-रहित स्वाधीन तथा अविनाशी है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ ७१ ॥

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तक-शुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥ ७२ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखं ।
कथं स शुभः वा अशुभः उपयोगः भवति जीवानाम् ॥ ७२ ॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति । ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ॥७२॥

इस प्रकार इन्द्रिय–सुखकी दुःख-रूपता प्रगट करके अब इन्द्रिय-सुखके साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभोपयोग तथा दुःखके साधनभूत पापको उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोगकी अविशेषता को (यानी-दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है, इस बातको) प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव (सभी) [यदि] जो [देहसंभवं] देहोत्पन्न (पांच इन्द्रियमयी शरीर से उत्पन्न होनेवाले) [दुखं] दुःख को [भजंति] अनुभव करते हैं तो [जीवानां] जीवोंके [सः उपयोगः] वह उपयोग [शुभः वा अशुभः] शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारका [कथं भवति] कैसे है (हो सकता है) (अर्थात् नहीं हो सकता है) ।

टीक—यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्यकी सम्पत्तिवाले देवादिक, (शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादिक), तथा अशुभोपयोग-जन्य उदयागत पापकी आपदावाले नरकादिक दोनों ही स्वाभाविक सुखके अभाव (के कारण) से अविशेष रूपसे (विना अन्तर के समानरूप से) पंचेन्द्रियात्मक शरीर के कारण से होने वाले दुःखको ही अनुभव करते हैं, तो इस (कारण) से परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की भिन्नपने की व्यवस्था नहीं ठहरती है ॥ ७२ ॥

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दुःखत्वं ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्वं व्यवस्थापयति,—

(णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं) सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षणं वास्तवसुखमेव ।

सुखमलभमानाः सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषेण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षणं पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्नं निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते (किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं) व्यवहारेण विशेषेपि निश्चयेन सः प्रसिद्धः शुद्धोपयोगाद्विलक्षणः शुभाशुभोपयोगः कथं भिन्नत्वं लभते ? न कथमपीति भावः ॥ ७२ ॥

एवं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे प्रमाण शुभोपयोगसे होनेवाले इन्द्रिय सुखको निश्चयसे दुःखरूप जानकर, मात्र उस इन्द्रिय-सुखके साधक ऐसे शुभोपयोगको भी अशुभोपयोगकी समानतामें स्थापित करते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(जदि) जो (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, पशु और देव स्वाभाविक अतींद्रिय अमूर्तिक सदा आनन्दमई जो सच्चा सुख है उसको नहीं प्राप्त अर्थात् श्रद्धान करते हुए (देह संभवं दुक्खं भजंति) पूर्वमें कहे हुए निश्चय सुखसे विलक्षण पंचेन्द्रियमई शरीरसे उत्पन्न हुई पीडाको ही निश्चयसे सेवते हैं तो (जीवाणं सो सुहो व असुहो उवओगो किध हवदि) ऐसे जीवोंके शुद्धोपयोगसे विलक्षण वे शुभ या अशुभ उपयोग व्यवहारसे भिन्न होनेपर भी निश्चयसे किस तरह भिन्नताको रख सक्ता है ? अर्थात् किसी भी तरह भिन्न नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीवका शुभ व अशुभ उपयोग एकरूप ही है॥ ७२ ॥

इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओंसे प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७३ ॥

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिताः इव अभिरताः ॥ ७३ ॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते। ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥ ७३ ॥

(जैसे इन्द्रिय-सुख को दुःखरूप और शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान बताया है इसी प्रकार) अब शुभोपयोग-जन्य फलवाले पुण्यको विशेष रूपसे दूषण देनेके लिये (इस गाथामें उस पुण्यके अस्तित्वको) स्वीकार करके (अगली गाथामें उसको) खण्डन करते हैं-

अन्वयार्थ— (क्योंकि) [कुलिशायुधचक्रधराः] वज्रधर (इन्द्र) और चक्रधर (चक्रवर्ती) [शुभोपयोगात्मकैः भोगैः] शुभोपयोगमूलक (पुण्योंके फल रूप) भोगों के द्वारा [देहादीनां] देहादि की [वृद्धिं कुर्वन्ति] पुष्टि करते हैं और [अभिरताः] (इस प्रकार) भोगों में रत होते हुए [सुखिताः इव] सुखी-जैसे भासित होते हैं (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य हैं)।

टीका—क्योंकि वास्तव में इन्द्र और चक्रवर्ती, अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगोंके द्वारा शरीरादिको पुष्ट करते हुए, (तथा) जैसे गोंकें (जोंकें) दूषित रक्तमें अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी-जैसी भासित होती हैं, उनकी तरह उन (पुण्य-जन्य भोगों) में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए, सुखी-जैसे भासित होते हैं। इस कारणसे शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते हैं (अर्थात् शुभोपयोग का अस्तित्व अवश्य है) किन्तुः— ॥ ७३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपदं प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशंसां करोति। किमर्थं। तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनार्थम्,—

देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तारः शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। कथंभूताः सन्तः। सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति।

अयमत्रार्थः—यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति ॥ ७३ ॥

उत्थानिका—आगे व्यवहारनय से पुण्यकर्म देवेन्द्र चक्रवर्ती आदिके पद देते हैं इसलिये उनकी प्रशंसा करते हैं, सो इसलिये बताते हैं कि आगे इन्हीं उत्तम फलोंके आधारसे मिथ्यादृष्टियोंके तृष्णाकी उत्पत्तिरूप दुःख दिखाया जायगा।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(कुलिसाउहचक्कधरा) देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदिक (सुहिदा इव अभिरदा) मानों सुखी हैं ऐसे आसक्त होते हुए अर्थात् श्रद्धा करते हुए (सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं) शुभोपयोगके द्वारा पैदा हुए व प्राप्त हुए भोगोंसे विक्रिया करते हुए (देहादीणं) शरीर परिवार आदिकी (विद्धिं करेंति) बढ़ती करते हैं।

यहां यह अर्थ है कि जो परम अतिशयरूप तृप्तिको देनेवाला विषयोंकी तृष्णाको नाश करनेवाला स्वाभाविक सुख है उसकी श्रद्धा न करते हुए जीव, जैसे जोंकें विकारवाले खूनमें आसक्त हो जाती हैं वैसे आशक्त होकर सुखाभासमें सुख जानते हुए देह आदिकी वृद्धि करते हैं। इससे यह जाना जाता है कि उन इन्द्र व चक्रवर्ती आदि बड़े पुण्यवान जीवोंके भी स्वाभाविक सुख की श्रद्धा नहीं है ॥ ७३ ॥

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ॥ ७४ ॥

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्ते इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते। अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्यों के दुःखके बीजरूप-हेतुपने को (न्याय से) प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यदि हि] (पूर्वोक्त प्रकारसे) जो [परिणामसमुद्भवानि] (शुभोपयोग रूप) परिणामों से उत्पन्न होनेवाले [विविधानि पुण्यानि] अनेक प्रकारके पुण्य [संति] हैं (वे पुण्य) [देवान्तानां जीवानां] देवों तक के जीवोंके [विषयतृष्णां] विषय तृष्णाको [जनयन्ति] उत्पन्न करते हैं।

टीका—यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणामों से की है उत्पत्ति जिन्होंने (उत्पन्न होने वाले) ऐसे अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं, यह स्वीकार किया है तो वे (पुण्य) देवों तकके समस्त संसारियों के विषय-तृष्णाको (अवश्य ही उत्पन्न करते हैं (यह भी स्वीकार करना पड़ेगा) । वास्तव में तृष्णा के विना दूषित रक्त में जोंकों (गोंचों) की तरह, समस्त संसारियों की विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे, किन्तु वह (प्रवृत्ति) तो दिखाई देती है, इस कारण से पुण्योंके तृष्णा की स्थापना अबाधित ही है (अर्थात् पुण्य तृष्णा के घर हैं, यह अविरोध रूप से सिद्ध होता है) ॥ ७४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति,—

(जदि संति हि पुण्णाणि य) यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति । पुनरपि किंविशिष्टानि । (परिणामसमुब्भवाणि) निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि (विविहाणि) स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि । तदा तानि किं कुर्वन्ति । (जणयंति विसयतण्हं) जनयन्ति । कां । विषयतृष्णां । केषां । (जीवाणं देवदंताणं) दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धप्रभृतिनानामनोरथहेयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपां सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपां विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिकां स्वरूपतृप्तिमलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखसंसारिजीवानामिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥ ७४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवोंमें विषयकी तृष्णाको पैदा कर देते हैं:-

अन्वय—सहित विशेषार्थ—(जदि हि) यद्यपि निश्चय करके (परिणामसमुब्भवाणि) विकार रहित स्वसंवेदन भावसे विलक्षण शुभ परिणामोंके द्वारा पैदा होनेवाले (विविहाणि पुण्णाणि संति) अपने अनन्तभेदसे नाना तरहके तथा पुण्य व पापसे रहित परमात्मासे विपरीत पुण्य कर्म होते हैं तथापि वे (देवदंताणं जीवाणं) देवता तकके जीवोंके भीतर (विसयतण्हं) विषयोंकी चाहको (जणयंति) पैदा कर देते हैं । ये पुण्य कर्म उन देवेन्द्र आदि बहिर्मुखी जीवोंके भीतर विषयकी तृष्णा बढ़ा देते हैं । जिन्होंने देखे, सुने, अनुभूत भोगोंकी इच्छारूप निदान बन्धको आदि लेकर नाना प्रकारके मनोरथरूप विकल्प जालोंसे रहित जो परम समाधि उससे उत्पन्न जो सुखामृतरूप तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें परम आल्हाद को पैदा करनेवाली एक आकार स्वरूप परम समरसी भावमई और विषयोंकी इच्छारूप अग्निसे पैदा होनेवाली जो परमदाह उसको शांत करनेवाली ऐसी अपने स्वरूपमें तृप्तिको नहीं प्राप्त किया है ।

तात्पर्य यह है कि जो ऐसी विषयोंकी तृष्णा न होवे तो गंदे रुधिरमें जोंकोंकी आसक्तिकी तरह कौन विषयभोगोंमें प्रवृत्ति करै ? और जब वे बहिर्मुखी जीव प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं तब अवश्य यह मालूम होता है कि पुण्यकर्म ऐसे जीवोंके तृष्णाको पैदा कर देनेसे दुःखका कारण है ॥ ७४ ॥

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि ।
इच्छन्ति अणुभवंति व आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

ते पुनः उदीर्णतृष्णाः दुःखिताः तृष्णाभिः विषयसौख्यानि ।
इच्छन्ति अनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति । तद्दुःखसन्तातापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति । यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

अब (निरतिशय) पुण्य के दुखके बीज-रूप विजय को घोषित करते हैं—

अन्वयार्थ—[पुनः] और फिर [उदीर्णतृष्णाः ते] जिनके तृष्णा उदय हुई है, ऐसे जीव [तृष्णाभिः दुःखिता] तृष्णाओं के द्वारा दुखी होते हुए [विषय-सौख्यानि इच्छन्ति] विषयों को चाहते हैं [च] और [दुःखसन्तप्ताः] दुखों से संतप्त होते हुए (दुख दाह को सहन न करते हुए) [आमरणं] मरण पर्यन्त (उन विषयों को) [अनुभवंति] भोगते हैं ।

टीका—अब जिनके तृष्णा उदय हुई है ऐसे देवपर्यन्त वे समस्त संसारी जीव पुण्य से रची हुई होने पर भी दुःखके बीजभूत तृष्णाओंके द्वारा अत्यन्त दुखी होते हुए, मृग-तृष्णा

से जल प्राप्तिकी इच्छाकी भांति, विषयोंसे सुखको चाहते हैं। (जैसे हरिण मृग-तृष्णासे जल प्राप्ति की इच्छा कर दुखी होता है, वैसे ही संसारी जीव विषयोंसे सुखकी इच्छा करके दुखी होते हैं, क्योंकि विषयों में सुख नहीं है, किन्तु आकुलता रूप दुःख ही है)। उस (तृष्णा) के दुःखरूप संतापके वेगको सहन न कर सकनेसे, जोंककी भांति, विषयोंको तब तक भोगते हैं जब तक कि मरणको प्राप्त नहीं हो जाते।

(गाथाका अर्थ समाप्त हो चुका । अब गाथाके भावको टीकाकार स्वयं स्पष्ट करते हैं)—

जैसे जोंक (गोंच), वास्तवमें तृष्णा जिसका बीज है और जो तृष्णा विजयशील है, ऐसे दुःखांकुर से क्रमशः व्याप्त होती हुई दूषित रक्तको चाहती है, और उसीको पीती हुई मरण पर्यन्त दुःखको पाती है। उसी प्रकार ये (निरतिशय) पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवोंकी भांति, तृष्णा जिसका बीज है और जो विजयको प्राप्त है, ऐसे दुखांकुरके द्वारा क्रमशः व्याप्त होते हुए विषयों को चाहते हुए और उनको भी भोगते हुए मरण-पर्यन्त दुःख पाते हैं।

इस कारण से (निरतिशय) पुण्य सुखाभास रूप दुःखका ही साधन है।

विशेषार्थ—गाथा ४४ में ग्रन्थकार स्वयं 'पुण्यका फल अरिहंत पद है' ऐसा कह चुके हैं। इस गाथा में निरतिशय पुण्यका कथन है, जो कि भोगोंकी वांछा से किया जाता है।

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ पुण्यानि दुःखकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति;—

(ते पुण उदिण्णतण्हा) सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलसंसारिजीवाः पुनरुदीर्णतृष्णाः सन्तः (दुहिदा तण्हाहिं) स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिताः सन्तः। किं कुर्वन्ति। (विसयसोक्खाणि इच्छंति निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवलमिच्छन्ति (अणुभवंति य) अनुभवन्ति च। किं पर्यन्तम्। (आमरणं) मरणपर्यन्तं। कथंभूताः। (दुक्खसंतत्ता) दुःखसंतप्ता इति।

अयमत्रार्थः—यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिताः जलौकसः कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दुःखिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसंवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भांसीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरणं दुःखिता भवन्ति। तत एतदायातं तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दुःखकारणानि इति॥७५॥

उत्थानिका—आगे पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवोंके लिये दुःखके कारण हैं, इस ही पूर्वके भावको विशेष करके समर्थन करते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(पुरण) तथा फिर (ते) वे अज्ञानी सर्व संसारी जीव (उदिण्ण-तण्हा) स्वाभाविक शुद्ध आत्मा में तृप्तिको न पाकर तृष्णाको उठाए हुए (तण्हाहिं दुहिदा) स्वसंवेदनसे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख उसकी श्रद्धाके अभावसे अनेक प्रकारकी तृष्णासे दुःखी होते हुए व (आमरणं दुक्खसंतत्ता) मरणपर्यंत दुःखोंसे संतापित रहते हुए (विषयसोक्खानि) विषयोंसे रहित परमात्माके सुखसे विलक्षण विषयके सुखोंको (इच्छंति) चाहते रहते हैं (अणुहवंति य) और भोगते रहते हैं।

यहां यह अर्थ है कि जैसे तृष्णाकी तीव्रतासे प्रेरित होकर जोंक जंतु खराब रुधिरकी इच्छा करता है तथा उसको पीता है, इसतरह करतीहुई जोंक मरणपर्यंत दुःखी रहती है अर्थात् खराब रुधिर पीते पीते उसका मरण हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा नहीं मिटती, तैसे अपने शुद्ध आत्माके अनुभवको न पानेवाले अर्थात् श्रद्धा न करनेवाले जीव भी, जैसे मृग तृषातुर होकर वारवार भांडलीमें जल जान जाता है, परन्तु तृषा न बुझाकर दुःखी ही रहता है, इसी तरह जीव विषयोंको चाहते तथा अनुभव करते हुए मरणपर्यंत दुःखी रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानी जीवोंमें तृष्णारूपी रोगको पैदा करनेके कारणसे पुण्यकर्म वास्तवमें दुःखका ही कारण है ॥ ७५ ॥

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति—

सपरं वाधासहियं विच्छिण्णं बंधकरणं विसमं।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७६ ॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम्।
यत् इन्द्रियैः लब्धं तत्सौख्यं दुःखं एव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात्। सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्वि-

षयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥ ७६ ॥

अब फिर भी पुण्यजन्य इन्द्रिय सुखके अनेक प्रकारसे दुःखपने को प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [इन्द्रियैः लब्धं] इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है [तत् सौख्यं] वह सुख (१) [सपरं] पर सम्बन्ध-युक्त (पराधीन) (२) [बाधा सहितं] बाधा सहित, (३) [विच्छिन्नं] विच्छिन्न, (६) [बंधकारणं] बंधका कारण, (५) [विषमं] और विषम है, [तथा] इस प्रकार [दुःख एव] वह दुख हीं है ।

टीका—पर-सम्बन्ध-युक्त होने से, (२) बाधा-सहित होने से, (३) विच्छिन्न होनेसे (४) बन्धका कारण होनेसे, और (५) विषम होनेसे पुण्य-जन्य भी इन्द्रिय सुख दुख रूप ही है ।

(गाथाका अर्थ पूरा हो चुका । अब उसके भावको स्वयं टीकाकार स्पष्ट करते हैं)—

(१) 'परके सम्बन्ध वाला' होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीनता से, (२) 'बाधा सहित' होता हुआ भोजन, पानी और मैथुन आदि तृष्णा की प्रगटताओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त आकुलता से, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असाता वेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीय के उदय की प्रवर्ततासे अनुभव में आनेके कारण विपक्ष की उत्पत्तिवाला होनेसे (४) 'बंध का कारण' होता हुआ, विषय-उपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार बन्धवाले घन-कर्म-समूह के कारण परिणाम में (फल समय में) दुःसह (दुःखसे सहने योग्य) होनसे और (५) 'विषम' होता हुआ विशेष बुद्धि और विशेष हानि में परिणत होनेके कारण अत्यन्त अस्थिरतासे (इन्द्रिय सुख) दुःख ही है । जबकि ऐसा है (इन्द्रिय सुख दुःख ही है) तो पुण्य भी पापकी भांति दुःख के साधन-पनेको प्राप्त हुआ । (दुःखका साधन ही सिद्ध हुआ) ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वं प्रकाशयति,—

(सपरं) सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपरं भवतीन्द्रियसुखं, पारमार्थिकसुखं तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति । (बाधासहियं) तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुखं, निजात्मसुखं तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधं । (विच्छिण्णं) प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्नं सान्तरितं भवतीन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तरं । (बंधकारणं) दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमतीन्द्रियसुखं तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणं । (विसमं) विगतः शमः परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकरं हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषमं, अतीन्द्रियसुखं तु परमतृप्तिकरं हानिवृद्धिरहितं च । (जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा) यदिन्द्रियैर्लब्धं संसारसुखं तत्सुखं यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषणविशिष्टं भवति तथैव दुःखमेवेत्यभिप्रायः ॥ ७६ ॥

एवं पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर भी पुण्यसे उत्पन्न जो इन्द्रियसुख होता है उसको बहुत प्रकारसे दुःखरूप प्रकाश करते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जं) जो संसारीक सुख (इंदिएहिं लद्धं) पांचों इंद्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है (तं सोक्खं) वह सुख (सपरं) परद्रव्यकी अपेक्षासे होता है इसलिये पराधीन है, जब कि पारमार्थिक सुख परद्रव्यकी अपेक्षा न रखनेसे आत्माके अधीन यानी-स्वाधीन है । इन्द्रियसुख (बाधासहिदं) तीव्र क्षुधा तृषा आदि अनेक रोगोंका सहकारी है, जब कि आत्मीक सुख सर्व बाधाओंसे रहित होनेसे अव्याबाध है । इन्द्रिय सुख (विच्छिण्णं) साताका विरोधी जो असाता वेदनीयकर्म उसके उदय सहित होनेसे नाशवंत तथा अन्तर सहित होनेवाला है, जब कि अतीन्द्रिय सुख असाताके उदयके न होनेसे निरन्तर सदा विना अन्तर पड़े व नाश हुए रहनेवाला है । इन्द्रिय सुख (बन्धकारणं) देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर अनेक खोटे ध्यानके अधीन होनेसे भविष्यमें नरक आदिके दुःखोंको पैदा करनेवाले कर्मबन्धको बांधने वाला है अर्थात् कर्मबंधका कारण है, जबकि अतींद्रिय सुख सर्व अपध्यानोंसे शून्य होनेके कारणसे बंधका कारण नहीं है । तथा (विसमं) यह इन्द्रियसुख परम उपशम या शांतभावसे रहित तृप्तिकारी नहीं है अथवा हानि वृद्धिरूप होनेसे एकसा नहीं चलता किन्तु विषम है, जब कि अतींद्रिय सुख परम तृप्तिकारी और हानि वृद्धिसे रहित है, (तथा दुक्खमेव) इसलिये यह इंद्रिय सुख पांच विशेषण सहित होनेसे दुःखरूप ही है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ७६ ॥

इस तरह (मिथ्यादृष्टि) जीवके भीतर तृष्णा पैदा करनेका निमित्त होनेसे यह पुण्यकर्म दुःखका कारण है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥ ७७॥

न हि मन्यते यः एवं नास्ति विशेषः इति पुण्यपापयोः।
हिण्डति घोरं अपारं संसारं मोहसंछन्नः॥ ७७॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्। यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगलयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति॥ ७७॥

अब, पुण्य और पाप के अविशेषपने को (अन्तर न होनेपनेको—समानता को) निश्चय करते हुए (इस विषय का) उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[एवं] इस प्रकार [पुण्यपापयोः] पुण्य और पापमें [विशेषः नास्ति] अन्तर नहीं है [इति] इस बातको [यः] जो [न मन्यते] नहीं मानता है [मोहसंछन्नः] वह मोहसे आच्छादित (मिथ्या अभिप्राय से युक्त) होता हुआ [घोरं अपारं संसारं] घोर अपार (अन्तरहित) संसार को (में) [हिण्डति] परिभ्रमण करता है।

टीका—यों पूर्वोक्त प्रकार से शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भांति, और सुखदुःखके द्वैतकी भांति, परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नहीं टिकता है क्योंकि दोनों में ही अनात्मधर्मत्व की

अविशेषता (समानता) है। (दोनों आत्माके धर्म नहीं हैं) (ऐसा होने पर भी) जो उन दोनों में, सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भांति, अहंकारिक अन्तर मानता हुआ, (पुण्य) अहमिन्द्र पद आदि सम्पदाओं का हेतु है, इस कारण से अत्यन्त गाढ धर्मानुराग को (शुभ परिणामको (आश्रय करता है। वह वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने के (मनके गाढ रागी हो जाने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है ऐसा वर्तता हुआ, संसार-पर्यन्त शारीरिक दुःखको ही भोगता है ॥ ७७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसंहरति,—

(ण हि मण्णदि जो एवं) न हि मन्यते य एवं । किं । (णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं) पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति। स किं करोति। (हिंडदि घोरमपारं संसारं) हिण्डति भ्रमति । कं । संसारं। कथंभूतं। घोरं अपारं चाभव्यापेक्षया। कथंभूतः। (मोहसंछण्णो) मोहप्रच्छादित इति।

तथाहि—द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनोऽभिन्नत्वाद्भेदो नास्ति। एवं शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेदं योसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्तं निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविपरीतदर्शनचारित्रमोहप्रच्छादितः सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्धः सन् संसाररहितशुद्धात्मनो विपरीतं संसारं भ्रमतीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चयसे पुण्य पापमें कोई विशेष नहीं है ऐसा कहकर फिर इसी व्याख्यान को संकोचते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुण्णपावाणं णत्थि विसेसोत्ति) पुण्य पापकर्ममें निश्चयसे भेद नहीं है (जो एवं ण हि मण्णदि) जो कोई इस तरह नहीं मानता है (मोहसंछण्णो) वह मोहकर्मसे आच्छादित जीव (घोरं अपारं संसारं हिंडदि) भयानक और अभव्यकी अपेक्षासे अपार संसारमें भ्रमण करता है।

विशेष यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्य पापमें व्यवहार नयसे भेद है, भाव पुण्य और भाव पापमें तथा पुण्यके फल रूप सुख और दुःखमें अशुद्ध निश्चयनयसे भेद है। परंतु शुद्ध निश्चयनयके ये द्रव्य पुण्य पापादिक सब शुद्ध आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं, इसलिये इन पुण्य पापोंमें कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्ध निश्चयनयसे पुण्य व पापकी एकताको जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदिके पदोंके निमित्त निदान-बन्धसे पुण्यको चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत

दर्शनमोह तथा चारित्र मोहसे ढका हुआ सोने और लोहेकी दो बेड़ियोंके समान पुण्य पाप दोनोंसे बंधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मासे विपरीत संसारमें भ्रमण करता है ॥ ७७ ॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थः यः द्रव्येषु न रागं एति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः सः क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति, ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥७८॥

अब इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके समस्त ही राग द्वेषके द्वैतको दूर करते हुए सम्पूर्ण दुःखको क्षय करने के लिये मनमें दृढ निश्चय करने वाला जीव शुद्धोपयोग में निवास करता है, शुद्धोपयोग की शरण लेता है:—

अन्वयार्थः—[एवं] इस प्रकार [विदितार्थः] जानलिया है पदार्थ को जिसने [यः] ऐसा जो जीव [द्रव्येषु] द्रव्यों में [रागं वा द्वेषं] राग अथवा द्वेषको [न एति] प्राप्त नहीं होता है, [उपयोगविशुद्धः] उपयोग से विशुद्ध [सः] वह जीव [देहोद्भवं दुःखं] (पंचेन्द्रिय सहित) देह से उत्पन्न हुए दुःखको [क्षपयति] नाश कर देता है।

टीका—शुभ और अशुभ भावोंके अविशेष दर्शन से (समानता की श्रद्धासे) सम्यक्प्रकार से जान लिया है वस्तु के स्वरूप को जिसने ऐसा जो जीव वास्तव में स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहने वाले तथा (अपनी) समस्त पर्यायों सहित (वर्तनेवाले) ऐसे

समस्त द्रव्यों में राग और द्वेष को-सम्पूर्ण को ही (सर्वथा) छोड़ देता है, वह जीव वास्तव में, एकान्त से उपयोग की विशुद्धता (सर्वथा शुद्धोपयोगी होने) से जिसने पर द्रव्यका आलम्बन छोड़ दिया है, ऐसा वर्तता हुआ-लोहेके गोलेमें से लोहेके सारका अनुसरण न करने वाली अग्निकी भांति प्रचंड घनके आघात समान शारीरिक दुःखका क्षय करता है। (जैसे अग्नि लोहेके गोलेमें से लोहेके सत्व को धारण नहीं करती इसलिये अग्नि पर प्रचंड घनके प्रहार नहीं होते, इसी प्रकार पर-द्रव्यका आलम्बन न करने वाले आत्मा को शारीरिक दुःख का वेदन नहीं होता) इस कारणसे मेरे यही एक शुद्धोपयोग शरण है ॥ ७८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथैवं शुभाशुभयोः समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्वः सन् दुःखक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठानं स्वीकरोति,—(एवं विदिदत्थो जो) एवं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेषं हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थतत्त्वो भूत्वा यः (दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा) निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु रागं वा न गच्छति (उवओगविसुद्धो सो) रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्धः सन् सः (खवेदि देहुब्भवं दुक्खं) तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भवं, अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं परमाकुलत्वोत्पादकं लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरम्परास्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीरं दुःखं क्षपयतीत्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

एवमुपसंहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्तं स्थलत्रयसमुदायेन (प्रथमज्ञानकण्ठिका) समाप्ता।

उत्थानिका—इस तरह निश्चय नयसे शुभ तथा अशुभ उपयोगको समान जानकर निश्चय शुद्धात्मतत्व होता हुआ संसारके दुःखोंके क्षयके लिये शुद्धोपयोगके साधनको स्वीकार करता है, ऐसा कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एवं विदिदत्थो जो) इस तरह चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्मतत्वको उपादेय तथा इसके सिवाय अन्य सर्वको हेय जान करके हेयोपादेयके यथार्थ ज्ञानसे तत्त्व स्वरूपका ज्ञाता होकर जो कोई (दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा) अपने शुद्ध आत्मद्रव्यसे अन्य शुभ तथा अशुभ सर्व द्रव्योंमें रागद्वेष नहीं करता है। (सो उपओगविसुद्धो) वह रागादिसे रहित शुद्धात्म अनुभवमई लक्षण वाले शुद्धोपयोगसे विशुद्ध होता हुआ (देहुब्भवं दुःखं खवेदि) देहके संयोगसे उत्पन्न दुःखका नाश करता है। अर्थात् यह शरीर गर्मलोहेके पिण्ड समान है। उससे उत्पन्न दुःखका जो निराकुलता लक्षणमई निश्चय सुखसे विलक्षण है और बडी भारी आकुलताको पैदा करने वाला है, वह संयमी आत्मा लोहपिंडसे रहित अग्निके समान अनेक चोटोंका स्थान जो शरीर उससे रहित होता हुआ नाश कर देता है यह अभिप्राय है ॥ ७८ ॥

इस तरह संक्षेप करते हुए तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं। ऊपर लिखित प्रमाण शुभ तथा अशुभकी मूढताको दूर करनेके लिये दश गाथाओंतक तीन स्थलोंके समुदायसे पहली ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

त्यक्त्वा पापारंभं समुत्थितः वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन् न लभते स आत्मकं शुद्धम्॥ ७९ ॥

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि-शुभोपयोगवृत्त्या—टकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते। अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥ ७९ ॥

अब सर्वसावद्य (सर्व पाप) योगको छोड़कर, चारित्र अङ्गीकार किया हो तो भी, यदि, मैं, शुभोपयोग परिणति के वश के कारण, मोहादि को उन्मूलन न करूं, तो मेरे शुद्ध आत्मा का लाभ कहांसे होगा? (यानी-नहीं होगा) इस प्रकार विचार करके (मोहादि के उन्मूलन के लिये) सर्वारम्भ (सर्व उद्यम-सर्व पुरुषार्थ) से कटिबद्ध होता हूँ:—

अन्वयार्थ—[पापरम्भं] पाप आरम्भ को [त्यक्त्वा] छोड़कर [शुभे चारित्रे] शुभ चारित्रमें [समुत्थितः] उद्यत हुआ भी [यदि] यदि [मोहादीन्] मोह आदिको [न जहाति] नहीं छोडता है तो [सः] वह [शुद्धं आत्मकं] शुद्ध आत्मा को [न लभते] प्राप्त नहीं करता।

टीका—जो जीव वास्तव में समस्त-सावद्य (पाप) योगके प्रत्याख्यान (त्याग) स्वरूप परम सामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायका-कुट्टनी

शील-रहित स्त्री) की भांति शुभ उपयोग परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ (शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ) मोहकी सेना की वशवर्तिता को दूर नहीं कर डालता (तो) जिसे महा-दुःख संकट निकट है, ऐसा वह निश्चयसे कैसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकता है ? (नहीं कर सकता) इस कारण से मेरे द्वारा मोहकी सेना पर विजय प्राप्त करने के लिये यह कमर कसी गई है ॥ ७६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितं । अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्ठिका-प्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मानं न लभते, इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति,—

(चत्ता पावारंभं) पूर्वं गृहवासादिरूपं पापारम्भं त्यक्त्वा (समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि) सम्यगुपस्थितो वा पुनः । क्व । शुभचरित्रे (ण जहदि जदि मोहादी) न त्यजति यदिचेन्मोहरागद्वेषान् (ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं) न लभते स आत्मानं शुद्धमिति ।

इतो विस्तरः—कोपि मोक्षार्थी परमोपेक्षालक्षणं परमसामायिकं पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधकशुभोप-योगपरिणत्या मोहितान्तरङ्गः सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षणपूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्ष-भूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें यह कह चुके हैं कि शुभ तथा अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगसे मोक्ष होती है। अब यहां दूसरी ज्ञानकंठिकाके व्याख्यानके प्रारंभमें शुद्धोपयोगके अभावमें वह आत्मा शुद्ध आत्मीक स्वभावको नहीं प्राप्त करता है ऐसा कहते हुए उसही पहले प्रयोजनको व्यतिरेकपनेसे दृढ करते हैं-

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(पावारंभं चत्ता) पहले गृहमें वास करना आदि पापके आरंभको छोड़कर (वा सुहम्मि चरियम्मि समुट्ठिदो) तथा शुभ चारित्रमें भलेप्रकार आचरण करता हुआ (जदि मोहादी ण जहदि) यदि कोई मोह, रागद्वेषादि भावोंको नहीं त्यागता है (सो अप्पगं सुद्धं ण लहदि) सो शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।

इसका विस्तार यह है कि कोई भी मोक्षका अर्थी पुरुष परम उपेक्षा या वैराग्यके लक्षणको रखने वाले परम सामायिक करनेकी पूर्वमें प्रतिज्ञा करके पीछे विषयोंके सुखके साधनके लिये जो शुभोपयोगकी परिणतियां हैं उनमें परिणमन करके अंतरंगमें मोही होकर यदि निर्विकल्प समाधि लक्षणमई पूर्वमें कहे हुए मोह रहित शुद्ध आत्मतत्वके विरोधी मोह आदिकोंको नहीं छोडता है तो वह जिन या सिद्धके समान अपने आत्मस्वरूपको नहीं पाता है ॥ ७६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृशं जिनसिद्धस्वरूपं न लभते तमेव कथयति,—

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥ ७६-१ ॥

(तवसंजमप्पसिद्धो) समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः, बहिरंगेन्द्रियप्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमनं संयमः, ताभ्यां प्रसिद्धो जातस्तपःसंयमप्रसिद्धः (सुद्धो) क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः (सग्गापवग्गमग्गकरो) स्वर्गः प्रसिद्धः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्गं करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकरः (अमरासुरिंदमहिदो) तत्पदाभिलाषिभिरमरासुरेन्द्रैर्महितः पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहितः (देवो सो) स एवं गुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति । (लोयसिहरत्थो) स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥

उत्थानिका—आगे शुद्धोपयोगके अभावमें जिस तरहके जिन व सिद्ध स्वरूपको यह नहीं प्राप्त करता है उसको कहते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थः— (सो देवो) वह देव (तवसंजमप्पसिद्धो) सर्व रागादि परभावों की इच्छाके त्यागरूप अपने स्वरूपमें दीप्तमान होना ऐसा जो तप तथा बाहरी इन्द्रिय संयम और प्राणि-संयमके बलसे अपने शुद्धात्मामें स्थिर होकर समतारसके भावसे परिणमना जो संयम इन दोनोंसे सिद्ध हुआ है, (सुद्धो) क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित शुद्ध वीतराग है, (सग्गापवग्गकरो) स्वर्ग तथा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षणरूप मोक्ष इन दोनोंके मार्गका उपदेश करनेवाला है, (अमरासुरिंदमहिदो) उसही पदके इच्छुक स्वर्गके व भवनत्रिकके इन्द्रों द्वारा पूजनीय है, तथा (लोयसिहरत्थो) लोकके अग्र शिखरपर विराजित है, ऐसा जिन सिद्धका स्वरूप जानना योग्य है ॥ ७६ । १ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ तमित्थंभूतं निर्दोषिपरमात्मानं ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुखं लभन्त इति प्रज्ञापयति,—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥ ७६-२ ॥

(तं देवदेवदेवं) देवदेवाः सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषां देव आराध्यो देवदेवदेवस्तं देवदेवदेवं, (जदिवरवसहं) जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभस्तं यतिवरवृषभं, (गुरुं तिलोयस्स) अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं (पणमंति जे मणुस्सा) तमित्थंभूतं भगवन्तं ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणमन्त्याराधयन्ति (ते सोक्खं अक्खयं जंति) ते तदाराधनाफलेन परम्परयाऽक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः ॥ ७६-२ ॥

उत्थानिका—आगे सूचना करते हैं कि जो कोई इस प्रकार निर्दोष परमात्माको मानते हैं, अपनी श्रद्धामें लाते हैं वे ही अविनाशी आत्मीक सुखको पाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जे मणुस्सा) जो कोई भव्य मनुष्य आदिक (तं देवदेवदेवं) उस महादेवको जो देवोंके देव सौधर्म इन्द्र आदिका भी देव है अर्थात् उनके द्वारा आराधनाके योग्य है, (जदिवरवसहं) इन्द्रियोंके विषयोंको जीतकर अपने शुद्ध आत्मामें यत्न करनेवाले यतियोंमें श्रेष्ठ जो गणधरादिक उनमें भी प्रधान है, तथा (तिलोयस्स गुरुं) अनन्तज्ञान आदि महान गुणोंके द्वारा जो तीनलोकका भी गुरु है, उसे (पणमंति) द्रव्य और भाव नमस्कारके द्वारा प्रणाम करते हैं तथा पूजते हैं व उसका ध्यान करते हैं (ते) वे उसकी सेवाके फलसे (अक्खयं सोक्खं जंति) परम्परा करके अविनाशी अतीन्द्रिय सुखको पाते हैं, ऐसा सूत्रका अर्थ है ।। ७९–२ ।।

भावार्थ—यहां आचार्यने उपासक के लिये यह शिक्षा दी है कि जो जैसा भावे सो तैसा होजावै अविनाशी अनंत अतींद्रिय सुखका निरंतर लाभ आत्माकी शुद्ध अवस्थामें होता है । उस अवस्थाकी प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोगमें तन्मय होकर निर्विकल्प समाधिमें वर्तन करना है तथापि परम्पराय से उसका उपाय अरहंत और सिद्ध परमात्मामें श्रद्धा जमाकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है ।। ७९–२ ।।

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।। ८० ।।

यः जानाति अर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
सः जानाति आत्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ।। ८० ।।

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणाः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमु-

त्पश्यति । यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमानकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते । यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

अब कैसे मेरे द्वारा मोहकी सेना जीतने योग्य है, इसके उपाय को सोचते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [अरहंतं] अरहन्त को [द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः] द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने द्वारा [जानाति] जानता है, [सः] वह [आत्मानं] (अपने) आत्मा को [जानाति] जानता है और [तस्य मोहः] उस जीवका मोह [खलु] अवश्य [लयं याति] नाशको प्राप्त होता है ।

टीका—जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से गुणरूप से और पर्यायरूपसे जानता है वह वास्तव में अपने आत्माको जानता है क्योंकि दोनों (अरहंत और अपनी आत्मा) में निश्चय से अन्तर नहीं है । अरहंत का रूप भी अन्तिम तावको प्राप्त सोनेके स्वरूपकी भांति परिस्पष्ट (शुद्ध) आत्माका रूप (ही) है, इस कारण से उनका (अरहन्तका) ज्ञान होने पर सर्व आत्माका ज्ञान होता है । वहां (अरहन्त में) अन्वय रूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, और अन्वयके व्यतिरेक (भिन्न भिन्न, क्रमसे होनेवाली) पर्यायें हैं । वहां सर्वतः विशुद्ध भगवान् अरहन्त में (जीव) तीनों प्रकार युक्त समयको भी (द्रव्य गुण पर्यायमय निज आत्मा को भी) अपने मनसे देख लेता है । जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है, जो अन्वय के आश्रय रहनेवाला चैतन्य है, यह विशेषण है, वह गुण है, और जो एक समय मात्र मर्यादित कालपरिमाण के कारण से परस्पर भिन्न भिन्न अन्वयके व्यतिरेक हैं वे पर्यायें हैं-जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियां (गांठें) हैं । इस प्रकार अरहन्तके द्रव्य गुण पर्यायका स्वरूप है ।

अब, (१) इस प्रकार त्रैकालिकको भी (त्रिकाल इसी स्वभावको धारण करनेवाली अपनी आत्माको भी) एक काल में समझ लेनेवाले, (२) झूलते हुए हार में मोतियोंकी तरह (जैसे मोतियों को झूलते हुए हारमें अन्तर्गत माना जाता है उसी प्रकार चिद्विवर्तों को (चैतन्य पर्यायों को) चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यताकी वासनाका अन्तर्धान होनेसे, हारमें सफेदी की तरह (जैसे सफेदीको हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार) चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके केवल हारकी तरह (जैसे मोती व सफेदी आदिके विकल्पको छोडकर मात्र हारको जानता है, उसी प्रकार) केवल आत्माको जाननेवाले, (३) उसके उत्तर उत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग नाशको प्राप्त होजाने के निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होनेवाले, (४) उत्तम मणिकी भांति अकम्परूपसे प्रवर्त रहा है निर्मल प्रकाश जिसका, ऐसे उस जीवके अवश्य ही निराश्रयताके कारणसे मोहांधकार नष्ट होजाता है। यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोहकी सेनाको जीतने के लिये उपाय प्राप्त करलिया गया ॥ ८० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ "चत्तापावारंभं" इत्यादि सूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति,—

(जो जाणदि अरहंतं) यः कर्ता जानाति । कं । अर्हन्तं । कैः कृत्वा । (दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं) द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः (सो जाणदि अप्पाणं) स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मानं जानाति (मोहो खलु जाइ तस्स लयं) तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लयं विनाशं यातीति ।

तद्यथा-केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः, परमौदारिकशरीराकारेण यदात्म-प्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः, एवं लक्षणगुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति, इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चियनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति । तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाभेदनयेन हार एव, तथा पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते । इति भावार्थः ॥ ८० ॥

उत्थानिका—आगे "चत्तापावारम्भं" इत्यादि सूत्रसे जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोगके विना मोह आदिका नाश नहीं होता है और मोहादिके नाशके विना शुद्धात्माका लाभ नहीं होता है, उस ही शुद्धात्माके लाभके लिये अब उपाय बताते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई (अरहंतं) अरहंत भगवान को (दव्वत्तगुणत्तपज्जत्तेहिं) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपनेका (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अर्हंतके ज्ञानके पीछे अपने आत्माको जानता है। उस आत्मज्ञानके प्रतापसे (तस्स मोहो) उस पुरुषका दर्शन मोह (खलु लयं जादि) निश्चयसे क्षय हो जाता है।

इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्माके केवलज्ञान आदि विशेषगुण हैं। अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। परम औदारिक शरीरके आकार जो आत्माके प्रदेशोंका होना सा व्यंजन पर्याय है। अगुरुलघुगुण द्वारा छः प्रकार वृद्धि हानिरूपसे वर्तन करनेवाले अर्थ-पर्याय हैं। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायोंके आधाररूप, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमई अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्माको पहले जानकर फिर निश्चयनयसे उसी द्रव्यगुण पर्यायको आगमका सारभूत जो अध्यात्मभाषा है उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्माकी भावनाके सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प-सहित स्वसंवेदन ज्ञानमें परिणमन करते हुए तैसे ही आगमकी भाषासे अधःकरण, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण नामके परिणामविशेषोंके बलसे जो विशेष भाव दर्शनमोहके अभाव करनेमें समर्थ हैं, अपने आत्मामें जोडता है। उसके पीछे निर्विकल्प स्वरूपकी प्राप्ति के लिये जैसे पर्याय रूपसे मोतीके दाने, गुणरूपसे सफेदी आदि अभेद नयसे एक हार रूप ही मालूम होते हैं तैसे पूर्वमें कहे हुए द्रव्य गुण पर्याय अभेद-नयसे आत्मा ही हैं, इस तरह भावना करते करते दर्शनमोहका अंधकार नष्ट होजाता है ॥ ८० ॥

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

जीवः व्यपगतमोहः उपलब्धवान् तत्त्वं आत्मनः सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ सः आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ८१ ॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तेते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति। अतो मया रागद्वेष-निषेधायात्यन्तं जागरितव्यम्॥ ८१॥

अब, इस प्रकार, प्राप्त कर लिया है चिन्तामणि रत्न जिसने ऐसे मेरे भी प्रमाद चौर हैं-यह विचार कर जागृत रहता है:—

अन्वयार्थ—[व्यपगतमोहः] दूर हो गया है मोह जिसका और [आत्मनः सम्यक् तत्त्वं उपलब्धवान्] आत्मा के सम्यक् (वास्तविक) तत्त्वको प्राप्त हुआ—जैसा [जीवः] जीव [यदि] जो [रागद्वेषौ] राग द्वेषको [जहाति] छोड़ता है तो [सः] वह [शुद्धं आत्मानं] शुद्ध आत्माको [लभते] प्राप्त कर लेता है।

टीका—इस प्रकार जिस उपायका स्वरूप वर्णन किया गया है उस उपायके द्वारा मोहको दूर करके भी तथा सम्यक् आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि (जीव) राग द्वेषको निर्मूल करता है तो शुद्ध आत्माको अनुभव करता है। और यदि पुनः पुनः (राग-द्वेष) को अनुसरण करता है, तो प्रमाद की अधीनता से शुद्धात्म-तत्त्व की प्राप्तिरूप चिंतामणि-रत्न लुटगया है जिसका, ऐसा वह जीव अन्तरंग में खेदको प्राप्त होता है। इसलिये मुझको राग द्वेषको दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये॥ ८१॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसंज्ञश्चौरोस्तीति मत्वाप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति,—

(जीवो) जीवः कर्ता। किं विशिष्टः। (ववगदमोहो) शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः। पुनरपि किंविशिष्टः। (उवलद्धो) उपलब्धवान् ज्ञातवान्। किं। (तच्चं) परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वं। कस्य संबन्धि। (अप्पणो) निजशुद्धात्मनः। कथं। (सम्मं) सम्यक् संशयादिरहितत्वेन (जहदि जदि रागदोसे) शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति (सो अप्पाणं लहदि सुद्धं) स एवाभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते, मुक्तो भवतीति।

किंच पूर्वं ज्ञानकण्ठिकायां "उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं" इत्युक्तं, अत्र तु "चय (जह) दि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं" इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोस्ति को विशेषः ? प्रत्युत्तरमाह—तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्षं लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका भण्यते । अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका इत्येतावान् विशेषः ॥ ८१ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगत्‌में प्रमादको उत्पन्न करनेवाला चारित्र मोह नामका चोर है, ऐसा मानकर आप्त श्री अरहंत भगवानके स्वरूपके ज्ञानसे जो शुद्धात्मारूपी चिंतामणिरत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षाके लिये ज्ञानी जीव जागता रहता है।

अन्वय-सहित विशेषार्थः-(ववगदमोहो जीवो) शुद्धात्म तत्वकी रुचिके रोधक दर्शन मोहको जिसने दूरकर दिया है ऐसा सम्यग्दृष्टी आत्मा (अप्पणो तच्चं सम्मं उवलद्धो) अपने ही शुद्ध आत्माके परमानंदमई एक स्वभावरूप तत्त्वको संशय आदिसे रहित भले प्रकार जानता हुआ (जदि रागदोसे जहदि) यदि शुद्धात्माके अनुभवरूपी लक्षणको धरनेवाले वीतराग चारित्रके बाधक चारित्र मोहरूपी रागद्वेषोंको छोड़ देता है (सो सुद्धं अप्पाणं लहदि) तब वह निश्चय अभेद रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त होजाता है।

शंका—ज्ञानकंठिकामें (उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं " ऐसा कहा था यहां "जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं' ऐसा कहा है। दोनोंमें ही एक मोक्षकी बात है, इनमें विशेष क्या है ?

समाधान—वहां तो शुभ या अशुभ उपयोगको निश्चयसे समान जानकर फिर शुभसे रहित शुद्धोपयोगरूप निज आत्मस्वरूपमें ठहरकर मोक्ष पाता है, इस कारणसे शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढ़ता हटाने के लिये ज्ञानकंठिकाको कहा है। यहां तो द्रव्य, गुण, पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहंतके स्वरूपको जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपमें ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस कारणसे यहां आप्त और कंठिकाको कहा है इतना ही विशेष है॥ ८१ ॥

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य ने स्पष्ट रूपसे चारित्रकी आवश्यकता को बता दिया है।

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वेपि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सर्वे अपि च अर्हन्तः तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः ।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृताः ते नमः तेभ्यः ॥ ८२ ॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥ ८२ ॥

अब, (पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित यह ही एक, भगवन्तोंके द्वारा स्वयं अनुभव करके दिखलाया गया मोक्षका सच्चा मार्ग है, इसप्रकार बुद्धिको व्यवस्थित (निश्चित) करता हैः—

अन्वयार्थः—[सर्वे अपि च] सब ही [अर्हन्तः] अरहन्त [तेन विधानेन] उसी विधि से [क्षपितकर्मांशाः] कर्मांशों का क्षय करके (और) [तथा] उसी प्रकार [उपदेशं कृत्वा] उपदेशको करके [ते निर्वृताः] वे निर्वाणको प्राप्त हुए [नमः तेभ्यः] उनके लिये नमस्कार हो ।

टीका—क्योंकि वास्तव में भूतकालमें क्रमशः हुए सब ही तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तर का असंभव होनेसे जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इस एक ही प्रकारसे कर्मांशों के क्षयको स्वयं अनुभव करके (तथा) परम आप्तताके कारण भविष्य कालमें अथवा इस (वर्तमान) कालमें अन्य मुमुक्षुओं के भी इसी प्रकार से उस (कर्मक्षय) का उपदेश देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए । इस कारणसे निर्वाणका अन्य कोई मार्ग नहीं है यह निश्चित किया जाता है । अथवा, अधिक प्रलापसे बस हो, मेरी बुद्धि व्यवस्थित (सुनिश्चित) हो गई है । भगवन्तों के लिये नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेप्यर्हन्तो मोक्षं गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति,—

(सव्वेवि य अरहंता) सर्वेऽपि चार्हन्तः (तेण विधाणेण) द्रव्यगुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूत-स्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण (खविदकम्मंसा) क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा (किच्चा तधोव-देसं) अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा (णिव्वादा) निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः, (ते) ते भगवन्तः । (णमो तेसिं) एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा श्रीकुन्द (ण्ड) कुन्दाचार्यदेवास्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो 'नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः ॥ ८२ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य अपने मनमें यह निश्चय करके वैसा ही कहते हैं कि पहले द्रव्य गुण पर्यायोंके द्वारा आप्त अरहंतके स्वरूपको जानकर पीछे उसी रूप अपने आत्मामें ठहर कर सर्व ही अर्हंत हुए मोक्ष गए हैं—

अन्वय—सहित विशेषार्थ—(तेण विधाणेण) इसी विधानसे जैसा पहले कहा है कि पूर्वमें द्रव्य गुण, पर्यायोंके द्वारा अरहंतोंके स्वरूपको अपने आत्मामें ठहरकर अर्थात् पुनः पुनः आत्मध्यान करके (खविदकम्मंसा) कर्मोंके भेदोंको क्षय करके (सव्वे वि य अरहंता) सर्व ही अरहंत हुए (तधोवदेसं किच्चा) फिर वैसा ही उपदेश करके कि अहो भव्य जीवो ! यह निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धात्माकी प्राप्ति रूप लक्षणको धरनेवाला मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं है, (ते णिव्वादा) वे भगवान निर्वृत्त होगए अर्थात् अक्षय अनंत सुखसे तृप्त सिद्ध हो गए (तेसिं णमो) उनको नमस्कार होहु । श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव इस तरह मोक्षमार्गका निश्चय करके अपने शुद्ध आत्माके अनुभव स्वरूप मोक्षमार्गको और उसके उपदेशक अरहंतोंको इन दोनों के स्वरूपकी इच्छा करते हुए "नमोस्तु तेभ्यः" इस पदसे नमस्कार करते हैं—यह अभिप्राय है ॥ ८२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्कारार्हा भवन्ति नान्य इति कथयति,—

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥ ८२-१ ॥

(दंसणसुद्धा) निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धान-लक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः (पुरिसा) पुरुषा जीवाः । पुनरपि कथंभूताः । (णाणपहाणा) निरुपमस्वसंवेदन-ज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधानाः समर्थाः प्रौढज्ञानप्रधानाः । पुनश्च कथंभूताः । (समग्गचरियत्था) निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठा-नादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णाः समग्रचारित्रस्थाः (पूजासक्काररिहा) द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति । (दाणस्स य हि) दानस्य च हि स्फुटं (ते) ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधाराः (णमो

तेसिं) नमस्तेभ्य इति नमस्कारस्यापि त एव योग्याः ॥ ८२-१ ॥

एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्ठिका गता ।

उत्थानिका:—आगे कहते हैं कि जो पुरुष रत्नत्रयके आराधन करनेवाले हैं वे ही दान, पूजा, गुणानुवाद, प्रशंसा तथा नमस्कारके योग्य होते हैं, और कोई नहीं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ--(दंसणसुद्धा) अपने शुद्ध आत्माकी रुचि-रूप सम्यग्दर्शनको साधनेवाले, तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित तत्त्वार्थका श्रद्धानरूप लक्षणके धारी सम्यग्दर्शनसे जो शुद्ध हैं (णाणपहाणा) उपमा रहित स्वसंवेदन ज्ञानके साधक वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके अभ्यासरूप लक्षणके धारी ज्ञानमें जो समर्थ हैं तथा (समग्गचरियत्था) विकार रहित निश्चल आत्मानुभूतिके लक्षणरूप निश्चय चारित्रके साधनेवाले आचार आदि शास्त्रमें कहे हुए मूलगुण और उत्तरगुणकी क्रियारूप चारित्रसे जो पूर्ण हैं अर्थात् पूर्ण चारित्रके पालनेवाले (पुरिसा) जो जीव हैं वे (पूज्जासक्काररिहा) द्रव्य व भावरूप पूजा व गुणोंकी प्रशंसारूप सत्कारके योग्य हैं, (दाणस्स य हि) तथा प्रगटपने दानके योग्य हैं । (णमो तेसिं) उन पूर्वमें कहे हुए रत्नत्रयके धारियोंको नमस्कार हो क्योंकि वे ही नमस्कारके योग्य हैं ॥

भावार्थ:—आचार्यने इसके पहलेकी गाथामें सच्चे आप्तको नमस्कार करके यहां सच्चे गुरुको नमस्कार किया है । इस गाथामें बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं उनही को अष्ट द्रव्यसे भाव सहित पूजना चाहिये, व उनहीकी प्रशंसा करनी चाहिये । उनहीका पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उनहींको दान देना चाहिये व उनहीको नमस्कार करना चाहिये । प्रयोजन यह है कि उच्च आदर्श ही हमारा हितकारी होसक्ता है । उनहीका भाव व आचरण हम उपासकोंको उन रूप वर्तन करने की योग्यताकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा करता है । निर्ग्रंथ साधु ही मोक्षमार्गपर चलते हुए भक्तजनोंको साक्षात् मोक्षका मार्ग दिखाने वाले होते हैं । जैन गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओंकी सेवा करे व साधुपद धारनेकी चेष्टामें उत्साही रहे ॥ ८२ । १ ॥

इस तरह आप्त और आत्माके स्वरूपमें मूढता या अज्ञानताको दूर करनेके लिये सात गाथाओं से दूसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण की ।

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥ ८३ ॥

द्रव्यादिकेषु मूढः भावः जीवस्य भवति मोहः इति ।
क्षुभ्यति तेन अवच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा ॥ ८३ ॥

ये हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥ ८३ ॥

अब, शुद्धात्म लाभके लुटेरे मोहके स्वभावको और भेदोंको व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवका [द्रव्यादिकेषु] द्रव्यात्रिकों में [मूढः भावः) जो मूढ भाव अर्थात् अज्ञान भाव है [इति मोहः भवति] वह मोह है [तेन अवच्छन्नः] उस मोहसे व्याप्त हुआ (यह जीव) [रागं वा द्वेषं प्राप्य] राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके [क्षुभ्यति] क्षुब्ध होता है ।

टीका—पूर्व (गाथा ८० में) वर्णित द्रव्य गुण पर्यायों में धतूरा खाये हुए पुरुष की भांति जीवके जो तत्त्वमें अप्रतिपत्ति लक्षण (वास्तविक स्वरूप की अश्रद्धारूप) मूढ भाव (अज्ञान भाव) है, वह वास्तव में मोह है। उस मोहसे आच्छादित होगया है निज रूप जिसका, ऐसा आच्छादित होता हुआ यह आत्मा (१) पर-द्रव्यको आत्मद्रव्य रूपसे, पर-गुणको आत्म-गुण रूपसे और पर-पर्यायको आत्म-पर्याय भावसे समझता हुआ (अंगीकार करता हुआ, (२) अतिरूढ दृढतर संस्कार के कारण से पर-द्रव्यको ही दिन प्रतिदिन (सदा) ग्रहण करताहुआ, (३) (निन्दनीय) इन्द्रियोंकी रुचिके वशसे अद्वैत में भी द्वैतरूप प्रवर्तित होते हुए रुचिकर और अरुचिकर विषयों में रागद्वेषको करके, अति प्रचुर जल-समूहके वेगसे प्रहार को प्राप्त (खण्डों को प्राप्त) सेतुबन्ध (पुल) की भांति (रागद्वेष रूप) दो भागोंमें खंडित हुआ, अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होता है। इस कारण मोह, राग और द्वेषके भेदसे मोह तीन प्रकारका है ॥ ८३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपादयति,—

(दव्वादिएसु) शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषां द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासंभवं पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च (मूढो भावो एतेषु पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसंशयजनको मूढो भावः (जीवस्स हवदि मोहोत्ति) इत्थंभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति । (खुब्भदि तेणुच्छण्णो) तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पितः सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति । किं कृत्वा । (पप्पा रागं व दोसं वा) निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति । अनेन किमुक्तं भवति । मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वयं चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥ ८३ ॥

उत्थानिका—आगे शुद्ध आत्माके लाभके विरोधी मोहके स्वरूप और भेदोंको कहते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(दव्वादिएसु) शुद्ध आत्मा आदि द्रव्योंके अनन्त ज्ञानादि व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणोंमें तथा शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप सिद्धत्व आदि पर्यायोंमें जिनका यथासंभव पहले वर्णन हो चुका है व जिनका आगामी वर्णन किया जायगा इन सब द्रव्य गुण पर्यायोंमें विपरीत अभिप्राय रखकर (मूढो भावो) तत्वोंमें संशयरूप अज्ञान भावको उत्पन्न करनेवाला (जीवस्य मोहोत्ति हवदि) इस संसारी जीवके दर्शन-मोहनीय-कर्म है (तेणोच्छण्णो) इस दर्शन-मोहनीय कर्मसे आच्छादित हुआ यह जीव (रागं व दोसं वा पप्पा) विकार रहित शुद्धात्मासे विपरीत इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें हर्ष विषाद रूप चारित्र मोहनीय नामके रागद्वेष भावको पाकर (खुब्भदि) क्षोभ रहित आत्मतत्वसे विपरीत क्षोभके कारण अपने स्वरूपसे चलकर वर्तन करता है। इस कथनमें यह बतलाया गया कि दर्शन मोहका एक और चारित्र मोहके भेद राग, द्वेष दो इन तीन भेदरूप मोह है ॥ ८३ ॥

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधः बन्धः तस्मात् ते संक्षपयितव्याः ॥ ८४ ॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य

तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

अब, (मोह के) अनिष्ट कार्यके कारण-पनेको कह कर तीन भेद वाले भी मोहके नाश करनेको सूत्र द्वारा कहते हैं:—

अन्वयार्थ—[वा मोहेन] अथवा मोहसे, [वा रागेण] अथवा रागसे, [वा द्वेषेण] अथवा द्वेषसे [परिणतस्य जीवस्य] परिणत जीवके [विविधः बन्धः] विविध (नाना प्रकार) का बन्ध [जायते] होता है। [तस्मात्] इसलिये [ते] वे (मोह, राग, द्वेष) [संक्षपयितव्याः] पूर्णतया नाश करने योग्य हैं।

टीका—इस प्रकार (१) तत्त्वकी अप्रतिपत्ति (वस्तु-स्वरूपके अज्ञान) से (२) मोहरूप से अथवा रागरूप से अथवा द्वेषरूप से परिणत, ऐसे इस जीवके (१) घासके ढेरसे ढके हुए खड्डेको प्राप्त होने वाले, (२) हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीरमें आसक्त, तथा (३) विरोधी हाथीको देखकर उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौडने वाले हाथी की भांति, विविध प्रकार का बन्ध होता है। इस कारणसे अनिष्ट कार्यको करनेवाले मोह, राग और द्वेष मुमुक्षु द्वारा भले प्रकार जड़मूलसे उखाड़कर नाश करने चाहिये (अर्थात् जिस प्रकारसे उनकी सत्ता बिलकुल समाप्त हो जाय, उस प्रकार से नाश करने चाहिये) ॥ ८४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीया इत्याघोषयति,—

(मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स) मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य (जायदि विविहो बंधो) शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेशकर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थंभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षणः सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते। (तम्हा ते संखवइदव्वा) यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थंभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहाः सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य यह घोषणा करते हैं कि इन राग द्वेष मोहको जो संसारके दुःखोंके कारणरूप कर्मबंधके कारण हैं, निर्मूल करना चाहिये।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(मोहेण व रागेण व दोसेण वा परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेपसे वर्तनेवाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवके जा मोहादि-रहित परमात्माके स्वरूपमें परिणमन करनेसे दूर है (विविहो बंधो जायदि) नाना प्रकार कर्मोका बंध उत्पन्न होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणको रखनेवाला भाव—मोक्ष है, उस भावमोक्षके बलसे जीवके प्रदेशों से कर्मोके प्रदेशोंका बिलकुल अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है, इस प्रकार द्रव्य, भाव मोक्षसे विलक्षण तथा सर्व तरहसे ग्रहण करने योग्य स्वाभाविक सुखसे विपरीत जो नरक आदिका दुःख उसको उदयमें लानेवाला कर्म—बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिये जब राग द्वेष मोहमें वर्तनेवाले जीवके इस तरहका कर्म बंध होता है, तब रागादिसे रहित शुद्ध आत्मध्यानके बलसे इन रागद्वेप मोहका भले प्रकार क्षय करना योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ ८४ ॥

अथामी अमोभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावः च तिर्यङ्मनुजेषु।
विषयेषु च प्रसंगः मोहस्य एतानि लिंगानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्धया च मोहमभीष्टविषयप्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥ ८५ ॥

अब, ये (राग, द्वेष और मोह) इन चिन्होंद्वारा पहिचान कर, उत्पन्न होते ही नष्ट करने योग्य हैं, यह प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[अर्थे अयथाग्रहणं] पदार्थ में अन्यथा ग्रहण (पदार्थोंका मिथ्यास्वरूप ग्रहण करना) [च] और [तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभावः] तिर्यंचों मनुष्योंमें करुणा भाव, [विषयेषु प्रसंगः च] तथा विषयोंमें प्रसंग (इष्ट विषयोंमें प्रीति और अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति) [एतानि] ये सब [मोहस्य लिंगानि] मोहके चिन्ह हैं।

टीका—पदार्थों की अयथार्थ (मिथ्या) प्रतिपत्ति (जानना श्रद्धान) से तथा जानने देखने योग्य तिर्यञ्चों, मनुष्यों में करुणाबुद्धि से मोह मिथ्यात्व को (जानकर), इष्ट विषयों की प्रीतिसे राग को और अनिष्ट विषयोंकी अप्रीतिसे द्वेषको (जानकर)-इस प्रकार तीन लिंगों से (तीन प्रकारके मोहको) पहिचान कर, तत्काल ही-उत्पन्न होते ही तीन प्रकारका मोह नष्ट कर देने योग्य है ॥ ८५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गैः रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासंभवं त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति,—

(अट्ठे अजधागहणं) शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहणं (करुणाभावो य) शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः। केषु विषयेषु। (मणुवतिरिएसु) मनुष्यतिर्यग्जीवेषु, इति दर्शनमोहचिन्हं। (विसयेसु अप्पसंगो) निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवानां मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योसौ प्रकर्षेण सङ्गः संसर्गस्तं दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्यां चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभिः, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि राग द्वेष मोहोंकों उनके चिन्होंसे पहचानकर यथासंभव उनका विनाश करना चाहिये।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(अट्ठे अजधागहणं) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंके स्वरूपमें उनका जैसा स्वभाव है उस स्वभावमें उनको रहते हुए भी विपरीत अभिप्रायसे औरका और अन्यथा समझना तथा (करुणाभावो य तिरिय मणुएसु) शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप परम उपेक्षा संयमसे विपरीत दयाका परिणाम अथवा व्यवहार नयकी अपेक्षा से तिर्यञ्च मनुष्योंमें दयाका अभाव होना दर्शन मोहका चिन्ह है (विसएसु अप्पसंगो) विषय-रहित सुखके स्वादको न पानेवाले बहिरात्मा जीवोंका इष्ट अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें जो अधिक संसर्ग रखना क्योंकि इसको देखकर विवेकी पुरुष प्रीति अप्रीतिरूप चारित्र मोहके राग द्वेष भेदको जानते हैं, इसलिये (मोहस्सेदाणि लिंगाणि) मोहके ये ही चिन्ह हैं। अर्थात् इन चिन्होंको जाननेके पीछे ही विकार-रहित अपने शुद्ध आत्माकी भावनाके द्वारा इन राग द्वेष मोहका घात करना चाहिये, ऐसा सूत्रका अर्थ है ॥ ८५ ॥

भावार्थ—यहाँ पर करुणा में जो अध्यवसाय है उसको अथवा करुणाके अभावको मोहका चिन्ह कहा है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोध पाहुड गाथा २५ में 'धम्मो दयाविसुद्धो' शब्दों द्वारा यह कहा है

कि धर्म दया करि विशुद्ध है, भाव पाहुड गाथा १३१ में मुनि को जीवोंकी रक्षा करनेका उपदेश दिया है। शील पाहुड गाथा १९ में जीव-दयाको जीवका स्वभाव बतलाया है—

जीवदया दम सच्चे अचोरियं बंभचेर संतोसे।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो॥

अर्थात्—जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सब शील (जीव स्वभाव) के परिवार हैं।

श्री वीरसेन स्वामी ने भी धवल ग्रंथमें कहा है—

"करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं ? ण, करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादि-कम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।"

शंका—करुणाका कारण भूत करुणा कर्म है, यह क्यों नही कहा ?

समाधान—नहीं, करुणा जीवका स्वभाव है, अत एव उसे कर्म-जनित मानने में विरोध आता है।

शंका—तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे संयम-घाती कर्मोंके फलरूपसे स्वीकार किया गया है।

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥ ८६॥

जिनशास्त्रात् अर्थान् प्रत्यक्षादिभिः बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयन्ते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम्॥ ८६॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहो-

पचयः । अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥ ८६ ॥

अब, मोहके नाशके दूसरे उपायका विचार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[जिनशास्त्रात्] जिन (जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत) शास्त्रसे [प्रत्यक्षादिभिः] (तथा) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे [अर्थान्] पदार्थों को [बुध्यमानस्य] जाननेवाले (पुरुष) के [नियमात्] नियमसे [मोहोपचयः] मोह-समूह [क्षीयते] नष्ट हो जाता है । [तस्मात्] इस कारणसे [शास्त्रं] शास्त्र [समध्येतव्यं] सम्यक् प्रकारसे अध्ययन करने योग्य है ।

टीका—जो द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव रूप अरहन्तके ज्ञानसे आत्माका वैसा ज्ञान मोह क्षय के उपाय-पनेसे वास्तवमें पहले (अस्सीवीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया है वह उपाय वास्तव में इस (निम्नलिखित) उपायान्तर को अपेक्षित करता है (उपायान्तर की अपेक्षा रखता है) ।

(१) प्रथम भूमिका में गमन करनेवाले के (२) जो सर्वज्ञ के द्वारा जान कर कहा हुवा होनेसे सर्व प्रकार से अबाधित है, ऐसे इस शब्द प्रमाण को (द्रव्य श्रुत प्रमाण को) प्राप्त करके क्रीडा करने वाले के, (३) उसके संस्कारसे प्रगट होगई है विशिष्ट संवेदन शक्ति रूप सम्पदा जिसके, (४) (विद्वान-पंडित) सहृदयजनों के हृदय को आनन्दका उद्भेद देने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा उससे अविरोधी अन्य प्रमाण समूहसे तत्वतः समस्त वस्तु मात्र को जानने वालेके, ऐसे जीवके अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार को करनेवाला मोहोपचय (मोहसमूह) क्षयको प्राप्त होता ही है । इस कारण से वास्तवमें मोहके क्षय करनेमें शब्दब्रह्म की उत्कृष्ट उपासना (अर्थात्) भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना उपायान्तर है । (अर्थात् जो परिणाम भावज्ञानके अवलम्बनसे दृढीकृत हो ऐसे परिणामसे द्रव्य श्रुतका अभ्यास करना सो मोहक्षय करनेकेलिये उपायान्तर है) ॥८६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्तं पूर्वं तदर्थमागमाभ्यासं कारयति, अथवा द्रव्यगुणत्वपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञानं भवतीति यदुक्तं, तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वयं मनसि

धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

(जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा) जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात् । किं फलं भवति । (खीयदि मोहोवचओ) दुरभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः (खीयदि) क्षीयते प्रलीयते क्षयं याति । (तम्हा सत्थं समधिदव्वं) तस्माच्छास्त्रं सम्यगध्येतव्यं पठनीयमिति ।

तद्यथा—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् "एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद्भव्यः, तदनन्तरं विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति । तथैवानुमानेन वा, तथाहि—अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति । कस्माद्धेतोः । निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येपि पदार्था यथासंभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते । ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ८६ ॥

उत्थानिका—आगे यह पहले कह चुके हैं कि द्रव्य, गुण पर्यायका ज्ञान न होनेसे मोह रहता है इसलिये अब आचार्य आगमके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं अथवा यह पहले कहा था कि द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपनेके द्वारा अरहंत भगवानका स्वरूप जाननेसे आत्माका ज्ञान होता है । ऐसे आत्मज्ञानके लिये आगमके अभ्यासकी अपेक्षा है । इसप्रकार दोनों पातनिकाओंको मनमें रखकर आचार्य सूत्र कहते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जिणसत्थादो) जिन शास्त्रकी निकटतासे (अट्ठे) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थोंको (पच्चक्खादीहिं) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा (बुज्झदो) जाननेवाले जीवके (णियमा) नियमसे (मोहोवचयो) मिथ्या अभिप्रायके संस्कारको करनेवाला मोहकर्मका समूह (खीयदि) क्षय होजाता है (तम्हा) इसलिये (सत्थं समधिदव्वं) शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ना चाहिये ।

विशेष यह है कि कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए शास्त्रसे "एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्माके उपदेशक श्रुतज्ञानके द्वारा प्रथम ही अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, फिर विशेष अभ्यासके वशसे परम समाधिके कालमें रागादि विकल्पोंसे रहित मानस प्रत्यक्षसे उस ही आत्माका अनुभव करता है । तैसे ही अनुमानसे भी निश्चय करता है । जैसे इस ही देहमें निश्चय नयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है क्योंकि विकार-रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वह इस ही तरह जाना जाता है जिस तरह सुख दुःख आदि । तैसे ही अन्य भी पदार्थ यथासंभव आगमसे उत्पन्न प्रत्यक्षसे वा अनुमानसे जाने जासक्ते हैं । इसलिये मोक्षके अर्थी पुरुषको आगमका अभ्यास करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ ८६ ॥

भावार्थ—जिनवाणीमें प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगोंका कथन हरएक मुमुक्षुको जानना चाहिये । जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा । जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा । प्रथमानुयोगमें पूज्य पुरुषोंके जीवनचरित्र उदाहरण रूपसे कर्मोंके प्रपंचको व संसार या मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं । करणानुयोगमें जीवोंके भावोंके वर्तनकी अवस्थाओंको व कर्मोंकी रचना को व लोकके

स्वरूपको इत्यादि तारतम्य कथनको किया गया है। चरणानुयोगमें मुनि तथा श्रावकके चारित्रके भेदोंको बताकर व्यवहारचारित्रपर आरूढ किया गया है। द्रव्यानुयोगमें छः द्रव्योंका स्वरूप बताकर आत्म-द्रव्य के मनन, भजन व ध्यानका उपाय बताकर निश्चय रत्नत्रयके पथको दर्शाया गया है। इन चारों ही प्रकार के सैकड़ों ग्रन्थ जिनवाणीमें हैं-इनका अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त्व होनेके पीछे सम्यक्चारित्रकी पूर्णता व सम्यग्ज्ञानकी पूर्णताके लिये भी जिनवाणीका अभ्यास कार्यकारी है। इस पंचमकालमें तो इसका आलम्बन हर एक मुमुक्षुके लिये बहुत ही आवश्यक है क्योंकि यथार्थ उपदेष्टाओंका सम्बन्ध बहुत दुर्लभ है। जिनवाणीके पढते रहनेसे एक मूढ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्महितके लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्यायके द्वारा आत्मामें ज्ञान प्रगट होता है, कषायभाव घटता है संसारसे ममत्व हटता है, मोक्ष भावसे प्रेम जगता है। इसीके निरन्तर अभ्याससे मिथ्यात्व कर्म और अनंतानुबन्धी कषायका उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा होजाता है। श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्री समयसार कलशमें कहा है

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

भावार्थ—निश्चयनय और व्यवहारनयके विरोधको मेटनेवाली स्याद्वादसे लक्षित जिनवाणीमें जो रमते हैं वे स्वयं मोहको वमनकर शीघ्र ही परमज्ञान ज्योतिमय शुद्धात्माको, जो नया नहीं है और न किसी नयके पक्षसे खंडन किया जा सकता है, देखते ही हैं।

यह स्वाध्याय श्रावक धर्म और मुनि धर्मके पालनमें भी उपकारी है। मनको अपने अधीन रखनेमें सहायक है ॥ ८६ ॥

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि गुणाः तेषां पर्यायाः अर्थसंज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणां आत्मा द्रव्यं इति उपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्याया-नियर्ति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्थाः द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयर्ति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयर्ति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः

पर्यायाः। यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयर्ति तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयर्ति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि। यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥ ८७ ॥

अब, जिनेन्द्रके शब्द ब्रह्ममें पदार्थोंकी व्यवस्था (स्थिति) किस प्रकार है, सो विचार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[द्रव्याणि] द्रव्य [गुणाः] गुण [तेषां पर्यायाः] और उन द्रव्यों और गुणोंकी पर्यायें [अर्थसंज्ञया] अर्थ नामसे [भणिताः] कहे गये हैं। उनमें [गुणपर्यायाणां आत्मा द्रव्यं] गुण पर्यायोंका आत्मा (तदात्मरूप आधार) द्रव्य है [इति उपदेशः] ऐसा उपदेश है।

टीका—द्रव्य, गुण और पर्यायें, अभिधेयभेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से, 'अर्थ' हैं [अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्यायों में वाच्यका भेद होने पर भी वाचक में भेद न रखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (शब्द) से ये तीनों कहे जाते हैं।] उनमें (उन द्रव्य, गुण और पर्यायोंमें), जो गुणों को और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ' द्रव्य हैं। जो द्रव्योंको आश्रय-पनेसे प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, 'अर्थ' गुण हैं। जो द्रव्योंको क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रमपरिणामसे प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ' पर्याय हैं।

जैसे वास्तव में जो (सुवर्ण) पीलापन इत्यादि गुणोंको और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंको प्राप्त करता है अथवा उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह स्वर्ण पदार्थ द्रव्यके स्थान पर है। जैसे (जो) सुवर्ण को आश्रय-पनेसे प्राप्त करते हैं, अथवा आश्रयभूत सुवर्णके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं वे पदार्थ पीलापन आदि गुण हैं। और जैसे (जो) सुवर्णको क्रम-परिणाम से

प्राप्त करती हैं अथवा सुवर्णके द्वारा उस क्रम परिणामसे प्राप्त की जाती हैं वे पदार्थ कुण्डल आदि पर्यायें हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी है (इस दृष्टान्तकी भांति सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें भी समझना चाहिये)। और जैसे उन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंमें पीलापन आदि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंके सुवर्णसे अपृथक्पना होनेसे, सुवर्ण ही आत्मा है, उसी प्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायोंमें, गुण-पर्यायोंका आत्मा, द्रव्य से अपृथक्पना होनेसे, द्रव्य ही है ॥ ८७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञां कथयति,—

(दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया) द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायाश्च त्रयोप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । (तेसु) तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये (गुणपज्जयाणं अप्पा) गुणपर्यायाणां संबन्धी आत्मा स्वभावः । कः इति पृष्टे । (दव्वत्ति उवदेसो) द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभाव ? इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति ।

अथ विस्तरः—अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । किं । शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियरति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोर्था भण्यन्ते । के ते । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाः । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभावः । क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभावः, अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव । एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा बोद्धव्येत्यर्थः ॥ ८७ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य, गुण पर्यायोंको अर्थसंज्ञा है, ऐसा कहते हैः—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(दव्वाणि) द्रव्य, (गुणा) उनके सहभावी गुण व (तेसिं पज्जाया) उन द्रव्योंकी पर्यायें ये तीनों ही (अट्ठसण्णया) अर्थके नामसे (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् तीनोंको ही अर्थ कहते हैं। (तेसु) इन तीन द्रव्य गुण पर्यायोंमेंसे (गुणपज्जयाणं अप्पा) अपने गुण और पर्यायों का सम्बन्धी स्वभाव (दव्वत्ति) द्रव्य है, ऐसा उपदेश है। अथवा यह प्रश्न होनेपर कि द्रव्यका क्या स्वभाव है? यही उत्तर होगा कि जो गुण पर्यायोंका आत्मा या आधार है, वही द्रव्य है, वही गुण पर्यायोंका निजभाव है।

विस्तार यह है कि जिस कारणसे शुद्धात्मा अनन्त ज्ञान, अनंत सुख आदि गुणोंको तैसे ही अमूर्तिकपना, अतींद्रियपना, सिद्धपना आदि पर्यायोंको इयर्ति अर्थात परिणमन करता है व आश्रय करता है

इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य अर्थ कहा जाता है। तैसे ही जिस कारणसे ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायें अपने आधारभूत शुद्धात्मा द्रव्यको इयरति अर्थात् परिणमन करती हैं-आश्रय करती हैं, इसलिये वे ज्ञानगुण व सिद्धत्व आदि पर्यायें भी अर्थ कही जाती हैं। ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायोंका जो कुछ सर्वस्व है वही उनका निज भाव स्वभाव है और वह शुद्धात्मा द्रव्य ही स्वभाव है। अथवा यह प्रश्न किया जाय कि शुद्धात्मा द्रव्यका क्या स्वभाव है तो कहना होगा कि पूर्वमें कही हुई गुण और पर्यायें हैं। जिस तरह आत्माको अर्थ संज्ञा जानना उसी तरह अन्य द्रव्योंको व उनके गुण पर्यायोंको अर्थ संज्ञा है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ८७ ॥

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

यः मोहरागद्वेषान् निहन्ति उपलभ्य जैनं उपदेशम्।
सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति अचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव। अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥ ८८ ॥

अब, इस प्रकार मोह क्षयके उपायभूत जिनेश्वरके उपदेशकी प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थ-क्रियाकारी (प्रयोजन-भूत क्रिया का करनेवाला) है, इसलिये पुरुषार्थ करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यः] जो [जैनं उपदेशं] जिनेन्द्रके उपदेशको [उपलभ्य] प्राप्त करके [मोहरागद्वेषान्] मोह, राग, द्वेषको [निहंति] हनता है (नाश करता है) [सः] वह [अचिरेण कालेन] अल्प कालमें [सर्वदुःखमोक्षं] सब दुःखोंसे छुटकारेको [प्राप्नोति] पाता है।

टीकाः—वास्तव में इस अति-दीर्घ संसारमार्ग में किसी भी प्रकारसे जिनेन्द्र देवके इस तीक्ष्ण असिधारा (तलवार की धार) समान उपदेशको प्राप्त करके भी, जो कोई मोह राग द्वेषके ऊपर अतिदृढता-पूर्वक हाथ में तलवार लिये हुए (पुरुष) की भांति प्रहार करता है वही सब दुखोंसे छुटकारेको शीघ्र ही प्राप्त होता है। अन्य (कोई) व्यापार (प्रयत्न-क्रिया) समस्त दुखोंसे परिमुक्त नहीं (करता) (जैसे मनुष्यके हाथमें तीक्ष्ण तलवार होने पर भी वह शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे तो ही वह शत्रु-सम्बन्धी दुःखसे मुक्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार इस अनादि संसारमें महा भाग्यसे जिनेश्वर देवके उपदेश रूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी जो जीव मोह राग द्वेष रूपी शत्रुओं पर अति दृढता-पूर्वक उसका प्रहार करता है वही सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है-अन्यथा नहीं)। इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से मोहका क्षय करने के लिये मैं पुरुषार्थ में स्थित होता हूँ ॥ ८८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका–

अथ दुर्लभजैनोपदेशं लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेषदुःखक्षयं प्राप्नोतीत्यावेदयति,—

य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति। किं कृत्वा। उपलभ्य प्राप्य। कम्। जैनोपदेशं, स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति। केन। स्तोककालेनेति।

तद्यथा—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरम्परया जैनोपदेशं प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षणं निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणं निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूतं वीतरागचारित्रसंज्ञं निशितखड्गं य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतरं पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखानां क्षयं करोतीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

एवं द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्ठिका गता।

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि इस दुर्लभ जैनके उपदेशको प्राप्त करके भी जो कोई मोह रागद्वेषोंको नाश करते हैं, वे ही सर्व दुःखोंका क्षय करके निज स्वभाव प्राप्त करते हैं।

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई भव्य जीव (जोण्हमुवदेसं उवलद्ध) जैनके उपदेशको पाकर (मोहरागदोसे णिहणदि) मोह रागद्वेषको नाश करता है (स) वह (अचिरेण कालेण) अल्पकालमें ही (सव्वदुक्खमोक्खं पावदि) सर्व दुःखोंसे छूट जाता है।

विशेष यह है कि जो कोई भव्यजीव एकेन्द्रियसे विकलेंद्रिय, फिर पंचेंद्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपनेकी परम्पराको समझकर अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाले जैन तत्वके उपदेशको पाकर

मोह राग द्वेषसे विलक्षण अपने शुद्धात्माके निश्चल अनुभवरूप निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे अविनाभूत वीतराग चारित्ररूपी तीक्ष्ण खड्गको मोह राग द्वेष शत्रुओंके ऊपर पटकता है वह ही वीर पुरुष परमार्थरूप अनाकुलता लक्षणको रखनेवाले सुखसे विलक्षण सब दुःखोंका क्षय कर देता है यह अर्थ है ॥ ८८ ॥

भावार्थ—आचार्यने इस गाथामें चारित्र पालनेकी प्रेरणा की है। तथा वृत्तिकारके भावानुसार यह बात समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्मका पाना ही अति कठिन है। निगोद एकेन्द्रियसे उन्नति करते हुए पंचेन्द्रिय शरीरमें आना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवानका सार-उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रोंका मनन करेगा और गुरुसे समझेगा तथा अनुभवमें लायेगा तो उसे जिन भगवान का उपदेश समझ पड़ेगा। भगवानका उपदेश आत्माके शत्रुओंके नाशके लिये निश्चय रत्नत्रयरूप स्वात्मानुभव है। इसीके द्वारा रागद्वेष मोहका नाश हो सकता है। सिवाय इस खड्गके और किसीमें बल नहीं है जो इन अनादिसे लगे हुए आत्माके वैरियोंका नाश कर सके। जो कोई इस उपदेशको समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तो वह कभी भी दुःखोंसे छूटकर मुक्त नहीं हो सक्ता। जैसा यहां आचार्यने कहा है, वैसा ही श्री समयसारजीमें आपने इन रागद्वेष मोहके नाशका उपाय इस गाथासे सूचित किया है—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥

भावार्थ—जो कोई मुनि नित्य उद्यमवंत होकर निज आत्माकी भावनाको आचरण करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ८८ ॥

इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायके संबन्धमें मूढताको दूर करनेके लिये छह गाथाओंसे तीसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

ज्ञानात्मकं आत्मानं परं च द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतः यः सः मोहक्षयं करोति॥ ८९ ॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन

द्रव्यत्वेनाभिसम्बद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति । अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥ ८९ ॥

अब, स्व-परके विवेक की (भेद ज्ञानकी) सिद्धि से ही मोहका क्षय हो सकता है। इसलिये स्व-पर के विभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यः] जो [ज्ञानात्मकं आत्मानं] ज्ञानमयी (ज्ञान-स्वरूप) अपनेको [च] और [परं] परको [द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धं] (निज निज) द्रव्यत्वसे संबद्ध [निश्चयतः] निश्चय से (जानाति) जानता है [सः] वह [मोहक्षयं करोति] मोहके क्षयको करता है।

टीका—जो स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से भले प्रकार संबद्ध (संयुक्त) अपने को और परको परकीय (दूसरे के) यथोचित द्रव्यत्वसे भले प्रकार संबद्ध ही निश्चय से जानता है, स्व-परके विवेक को प्राप्त वह ही सम्पूर्ण मोहको नष्ट करता है। इस कारण से स्व-परके विवेक के लिये मैं प्रयत्नशील हूँ ॥ ८६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ स्वपरात्मयोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति,—

(णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि) ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि। कथंभूतं। स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं, न केवलमात्मानं। परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं। कस्मात्। (णिच्छयदो) निश्चयतः निश्चयनयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य। (जो) यः कर्ता (सो) सः (मोहक्खयं कुणदि) निर्मोहपरमानन्दैकस्वभाव-शुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः ॥ ८९ ॥

उत्थानिका—आगे सूचित करते हैं कि अपने आत्मा और परके भेद-विज्ञानसे मोहका क्षय होता है—

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(जो) जो कोई (णिच्छयदो) निश्चय नयके द्वारा भेदज्ञानको आश्रय करके (जदि) यदि (णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि) अपने ज्ञान-स्वरूप आत्माको अपने ही शुद्ध चैतन्य द्रव्यसे सम्बंधित तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंको यथायोग्य अपनेसे भिन्न चेतन अचेतन द्रव्यसे सम्बंधित जानता है या अनुभव करता है (सो मोहक्खयं कुणदि) वही मोह-रहित परमानन्दमई एक स्वभावरूप शुद्धात्मासे विपरीत मोहका क्षय करता है ॥ ८६ ॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥ ९०॥

तस्मात् जिनमार्गात् गुणैः आत्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहं इच्छति यदि आत्मनः आत्मा ॥ ९० ॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतया साधारणतामुपादाय विशेषणतामुमगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः तथाहि—यदिदं सदकारणतया, स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि । एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि । ततो नाहमाकाशं न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव, संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति । एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥ ९० ॥

अब, सब प्रकारसे स्व-परके विवेक की सिद्धि आगमसे करने योग्य है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[तस्मात्] इस कारण से (क्योंकि स्व-परके विवेक द्वारा मोहका नाश हो सकता है इस कारणसे) [यदि] जो [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] अपनी [निर्मोहं] निर्मोहता [इच्छति] चाहता है तो [जिनमार्गात्] जिन मार्गसे (जिन आगमसे) [द्रव्येषु] (छह) द्रव्यों में से [गुणैः] (विशेष) गुणोंके द्वारा [आत्मानं परं च] स्व और परको [अभिगच्छतु] जानो ।

टीका—मोहका क्षय करनेके प्रति अभिमुख बुध-जन इस जगतमें निश्चयसे आगममें कथित अनन्त गुणोंमेंसे किन्हीं गुणोंके द्वारा—जो गुण अन्य (द्रव्य) के साथ योग (सम्बंध)

रहित होने से असाधारणता को धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं, उनके द्वारा-अनन्त द्रव्य-परम्परा में स्व-परके विवेक को प्राप्त करो (मोहका क्षय करने के इच्छुक पंडित जन आगम-कथित अनन्त गुणोंमें से असाधारण लक्षणभूत गुणोंके द्वारा अनन्त द्रव्य-परम्परा में "यह स्व-द्रव्य है और यह पर द्रव्य है" ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है:—

सत् और अकारण होनेसे स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होनेसे स्व-पर का ज्ञायक, ऐसा जो यह मेरे साथ संबन्धवाला मेरा चैतन्य है तथा जो (चैतन्य) समान-जातीय अथवा असमान-जातीय अन्य द्रव्यको छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उस (चैतन्य) के द्वारा मैं अपने आत्माको सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ, इस प्रकार पृथक् रूपसे वर्तनेवाले स्वलक्षणोंके द्वारा जो अन्य द्रव्यको छोड़कर उसी द्रव्यमें वर्तते हैं उनके द्वारा-आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्माको सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व-धारक द्रव्यके रूपमें निश्चित करता हूँ (जैसे चैतन्य लक्षणके द्वारा आत्माको ध्रुव द्रव्यके रूपमें जाना, उसी प्रकार अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व, इत्यादि लक्षणोंसे जो कि स्वलक्षण-भूत द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंमें नहीं पाये जाते उनके द्वारा-आकाश धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न भिन्न ध्रुव द्रव्योंके रूपमें जानता हूं)। इसलिये न मैं आकाश हूं, न धर्म हूं, न अधर्म हूं, न काल हूं, न पुद्गल हूं, और न आत्मान्तर (अन्य आत्मा) हूँ, क्योंकि मकान के एक ही कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशोंकी भांति, इकट्ठे (एक क्षेत्रावगाही) रहनेवाले द्रव्योंमें भी मेरा चैतन्य, निजस्वरूपसे अच्युत ही रहता हुआ, मुझको पृथक् जनाता (प्रगट करता) है। इस प्रकार निश्चित किया है स्व-परका विवेक जिसने-ऐसे इस आत्माके वास्तव में विकार को उत्पन्न करने वाले मोहांकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ ६० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्धयतीति प्रतिपादयति,—

(तम्हा जिणमग्गादो) यस्मादेवं भणितं पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिनमार्गाज्जिनागमात् (गुणेहिं) गुणैः (आदं) आत्मानं, न केवलमात्मानं परं च परद्रव्यं च। केषु मध्ये। (दव्वेसु)

शुद्धात्मादिषड्द्रव्यमध्येषु (अभिगच्छदु) अभिगच्छतु जानातु यदि। किं। (णिम्मोहं इच्छदि जदि) निर्मोहभाव-मिच्छति यदिचेत्। स कः। (अप्पा) आत्मा। कस्य संबन्धित्वेन (अप्पणो) आत्मन इति।

तथाहि—यदिदं मम चैतन्यं स्वपरप्रकाशकं तेनाहं कर्ता शुद्धज्ञानदर्शनभावं स्वकीयमात्मानं जानामि, परं च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं शेषजीवान्तरं च पररूपेण जानामि, ततः कारणादेकापवरकप्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्वेव संभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्रायः॥ ९०॥

एवं स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका गता। इति पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञा-नकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें जिस स्व-परके भेद-विज्ञानकी बात कही है, वह भेद-विज्ञान जिन-आगमके द्वारा सिद्ध हो सकता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वय—सहित विशेषार्थः—(तम्हा) क्योंकि पहले यह कह चुके हैं कि स्वपरसे भेद-विज्ञानसे मोहका क्षय होता है इसलिये (जिणमग्गादो) जिन-आगमसे (दव्वेसु) शुद्धात्मा आदि छः द्रव्योंके मध्यमेंसे (गुणैः) उन उनके गुणोंके द्वारा (आदं परं च) आत्माको और परद्रव्यको (अभिगच्छदु) जाने, (जदि) यदि (अप्पा) आत्मा (अप्पणो) अपने भीतर (णिम्मोहं) मोह-रहित भावको (इच्छदि) चाहता है।

विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्य भाव अपनेको और परको प्रकाशमान करनेवाला है उसी करके मैं शुद्ध ज्ञानदर्शन भावको अपना आत्मा रूप जानता हूँ तथा पर जो पुद्गल आदि पांच द्रव्य हैं तथा अपने जीवके सिवाय अन्य सर्व जीव हैं, उन सबको पररूपसे जानता हूँ। इस कारणसे जैसे एक घरमें जलते हुए अनेक दीपकोंका प्रकाश है किन्तु सबका प्रकाश अलग अलग है। इस ही तरह सर्वद्रव्योंके भीतर में मेरा सहज शुद्ध चिदानन्दमय एक स्वभाव अलग है उसका किसीके साथ मोह नहीं है, यह अभिप्राय है ९०

इस तरह स्व-परके ज्ञानमें मूढताको हटाते हुए दो गाथाओंके द्वारा चौथी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

इस तरह पच्चीस गाथाओंके द्वारा ज्ञानकंठिका का चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि॥ ९१॥

सत्तासम्बद्धान् एतान् सविशेषान् यः हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्धधाति न सः श्रमणः ततः धर्मः न संभवति॥ ९१॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः। यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥ ९१ ॥

अब, जिनेन्द्रके कहे हुए पदार्थोंके श्रद्धान विना धर्मलाभ नहीं होता, यह न्यायपूर्वक विचार करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यः श्रामण्ये] जो श्रमण अवस्था में [एतान् सत्तासंबद्धान् सविशेषान्] इन सत्ता-संयुक्त सविशेष पदार्थोंको [न एव श्रद्दधाति] श्रद्धान नहीं करता [सः] वह [श्रमणः न] श्रमण नहीं है [ततः] उस (श्रमणाभासपने) से [धर्मः न संभवति] धर्म का उद्भव नहीं होता है।

टीका—जो (जीव) सादृश्य अस्तित्वसे समानताको धारण करते हुए भी स्वरूप अस्तित्व से विशेष-युक्त इन द्रव्योंको स्व-परके भेदसे नहीं जानता हुआ और श्रद्धान नहीं करता हुआ, यों ही (ज्ञान श्रद्धानके विना) मात्र श्रमणता से (द्रव्य मुनित्व से) आत्माको (अपने को) दमन करता है, वह वास्तव में श्रमण नहीं है। क्योंकि जैसे रेत और स्वर्ण-कणों में भेद ज्ञात न होने पर, मात्र धूलके (रेतके) धोनेसे स्वर्णका उद्भव नहीं होता, इसी प्रकार स्व-पर का भेद ज्ञान न होनेसे, मात्र श्रमणाभासपने से निरुपराग (निर्विकार) आत्मतत्त्व की उपलब्धि (प्राप्ति) लक्षणवाला धर्मलाभ का भी उद्भव नहीं होता ॥ ९१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोपि न संभवतीति निश्चिनोति,—

(सत्तासंबंधे) महासत्तासंबन्धेन सहितान् (एदे) एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान्। पुनरपि किं विशिष्टान्। (सविसेसे) विशेषसत्तावान्तरसत्तास्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् (जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि) यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोपि न श्रद्धत्ते हि स्फुटं (ण सो समणो) निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति। इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् (तत्तो धम्मो ण संभवदि) तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोपि न संभवतीति सूत्रार्थः ॥ ९१ ॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते हैं कि दोषरहित अरहंत परमात्मा द्वारा कहे हुए पदार्थोंके श्रद्धानके विना कोई श्रमण या साधु नहीं हो सकता है। ऐसे श्रद्धारहित साधुमें शुद्धोपयोग लक्षणको रखने वाला धर्म भी संभव नहीं है–

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई जीव (हि) निश्चयसे (सामण्णे) द्रव्य रूपसे साधु अवस्थामें विराजमान होकर भी (सत्तासंबंधे सविसेसे) महासत्ताके सबंधरूप सामान्य अस्तित्व सहित तथा विशेष सत्ता या अवान्तर सत्ता या अपने स्वरूपकी सत्ता सहित विशेष अस्तित्व सहित (एदे) इन पूर्वमें कहे हुए शुद्ध जीव आदि पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (सो समणो ण) वह अपने शुद्ध आत्माकी रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक परम सामायिक संयम लक्षणको रखनेवाले साधु-पनेके विना भावसाधु नहीं है, इस तरह भावसाधुपनेके अभावसे (तत्तो धम्मो ण संभवदि) उस पूर्वोक्त द्रव्यसाधुसे वीतराग शुद्धात्मानुभव लक्षणको धरनेवाला धर्म भी नहीं पालन हो सकता है, यह सूत्रका अर्थ है ॥ ६१ ॥

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदन-स्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्।

तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिःस्पृहमात्मतृप्तां पारमेश्वरी-प्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते–

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥ ९२ ॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥ ९२ ॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमति विस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥ ९२ ॥

"उपसंपद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः" इस प्रकार (पांचवीं गाथा में) प्रतिज्ञा करके, 'चारित्रं खलु धर्मः' धर्मः यः तत् साम्यं इति निर्दिष्टं' इस प्रकार (सातवीं गाथा में) साम्यके धर्म-पनको निश्चित करके, 'परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयं इति प्रज्ञप्तं, तस्मात् धर्मपरिणतः आत्मा धर्मः मन्तव्यः" इस प्रकार (आठवीं गाथा में) जो आत्माका धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धि के लिये "धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः प्राप्नोति निर्वाणसुखं" इस प्रकार (ग्यारहवीं गाथामें) निर्वाण सुखका साधन शुद्धोपयोग कथन करनेके लिये प्रारम्भ किया, विरोधी शुभ अशुभ उपयोगोंको नष्ट किया (हेय बताया), शुद्धोपयोग के स्वरूपको (चौदहवीं गाथामें) वर्णन किया, उस (शुद्धोपयोग) के प्रसादसे उत्पन्न होने वाले आत्माके सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुवे ज्ञानके स्वरूपका (गाथा २१ से ५२ तक) और सुखके स्वरूपका (गाथा ५३ से ६८ तक) विस्तार किया, उसको (आत्माके धर्मत्वको) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोगके प्रसाद से (गाथा ७८ से ६१ तक) सिद्ध करके, परम निःस्पृह आत्मतृप्त परमेश्वरी प्रवृत्तिको प्राप्त होते हुये कृतकृत्यताको प्राप्त करके, अत्यन्त अनाकुल होकर, जिनके भेदवासना (विकल्प परिणाम) की प्रगटताका प्रलय हुआ है ऐसे होते हुए ठहरते हैं । अब (आचार्यदेव) मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूं" इस प्रकार रहते हैं (ऐसे भावमें निश्चल-स्थिर होते हैं):—

अन्वयार्थ—[यः] जो [निहतमोहदृष्टिः] जिसकी मोहदृष्टि नष्ट हो गई है (सम्यग्दृष्टि है) [आगम-कुशलः] आगम में कुशल है (सम्यग्ज्ञानी है। और [विरागचरिते अभ्युत्थितः] जो वीतराग चारित्रमें आरूढ है, [महात्मा श्रमणः] (वह) महात्मा श्रमण [धर्मः इति विशेषितः] "धर्म" इस नामसे विशेषित किया गया है (अर्थात् वह धर्म ही है

टीका—जो यह आत्मा स्वयं धर्म होता है, वह वास्तवमें मनोरथ ही है। उसके (आत्मा के या मनोरथ के) तो विघ्न डालने वाली एक (मात्र) बहिर्मोहदृष्टि (बहिर्मुख मोहदृष्टि) ही है, और वह (मोह-दृष्टि) आगम-कौशल्य (आगम में कुशलता) से तथा आत्मज्ञानसे नष्ट हो चुकी है। इसलिये अब वह मेरे पुनः उत्पन्न नहीं होगी। इसलिये वीतराग चारित्र रूपसे प्रगटता को प्राप्त (वीतराग चारित्ररूप पर्याय में परिणत) मेरा यह आत्मा, स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नोंका नाश हो जानेसे, सदा निष्कम्प ही रहता है।

अधिक विस्तार से बस हो। जयवन्त वर्तो स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र-शब्द-ब्रह्म और जयवन्त वर्तो शब्द-ब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि, कि जिसके प्रसादसे अनादि संसारसे बंधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गई है। और जयवन्त वर्तो परम वीतराग चारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग, कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ॥ ६२ ॥

कलश (मन्दाक्रांता छन्द)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं,
नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीं ॥ ५ ॥

अन्वयः—इति शुद्धोपयोगं प्राप्य आत्मा स्वयं धर्मः भवन् नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे उच्चैः अविचलतया स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य निःप्रकम्पप्रकाशां लक्ष्मीं प्राप्स्यति

अन्वयार्थ—[इति] इस प्रकार [शुद्धोपयोगं] शुद्धोपयोग को [प्राप्य] प्राप्त करके [आत्मा] आत्मा [स्वयं] स्वयं [धर्मः भवन्] धर्म होता हुवा (अर्थात् स्वयं धर्मरूप

परिणत होता हुआ) [नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे] नित्य आनन्दके प्रसार से सरस (शाश्वत आनन्द के प्रसार से रस-युक्त) ज्ञान तत्त्व में (लीन होकर) [उच्चैः अविचलतया] अत्यन्त अविचलता के कारण [स्फूर्जज्ज्योतिः-सहजविलसद्रत्नदीपस्य] दैदीप्यमान और सहजरूप से विलसित (स्वभावसे ही प्रकाशित) रत्नदीपक की [निष्कंप-प्रकाशं] निष्कंपप्रकाशमय [लक्ष्मीं] शोभा को [प्राप्स्यति] पाता है (अर्थात् रत्नदीपक की भांति स्वभाव से ही निष्कंपतया अत्यन्त प्रकाशित होता जानता रहता है) ।

कलश

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः ।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥ ६ ॥

अन्वयः—आत्मनि अधिकृतं ज्ञानतत्त्वं इति यथावत् निश्चित्य तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वान् अर्थान् द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या यथा कलयति येन मोहांकुरस्य जातु प्रादुर्भूतिः न भवति ।

अन्वयार्थ—[आत्मनि अधिकृतं] आत्मा रूपी अधिकरण (आश्रय) में रहनेवाले [ज्ञानतत्त्वको [इति] इस प्रकार [यथावत् निश्चित्य] यथार्थतया निश्चय करके, [तत्सिद्ध्यर्थं] उसकी सिद्धिके लिये (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) [प्रशमविषयं] प्रशमके लक्ष्यसे (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) [ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः] ज्ञेय तत्त्वको जाननेका इच्छुक (जीव) [सर्वान् अर्थान्] सब पदार्थों को [द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या] द्रव्य-गुण-पर्याय सहित [यथा] इस प्रकारसे [कलयति] जानता है ['येन'] (कि) जिससे [मोहांकुरस्य] मोहांकुर की [जातु] कभी किंचित् मात्र भी [प्रादुर्भूतिः न भवति] उत्पत्ति नहीं होती ।

इस प्रकार श्री प्रवचनसार जी शास्त्रकी श्रीमत् अमृतचन्द्र आचार्य देव विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीकामें ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन नामक पहला श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ "उवसंपयामि सम्मं" इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तदनन्तरं "चारित्तं खलु धम्मो" इत्यादि-सूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्वं व्यवस्थापितं, अथ "परिणमदि जेण दव्वं" इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्वं भणितमित्यादि। तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानीं निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते। अथवा द्वितीयपातनिका—सम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति तस्मात् श्रमणाद्धर्मोऽपि न भवति, तर्हि कथं श्रमणो भवति? इति पृष्टे प्रत्युत्तरं प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसंहरति,—

(जो णिहदमोहदिट्ठी) तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वंसितदर्शनमोहो यः। पुनश्च किं रूपः। (आगमकुसलो) निर्दोषिपरमात्मप्रणीत-परमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीणः। पुनश्च किं रूपः। (विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो) व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थितः उद्यतः। पुनरपि कथंभूतः। (महप्पा) मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा (धम्मोत्ति विसेसिदो समणो) जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य महाराजने पहली नमस्कारकी गाथामें "उवसंपयामि सम्मं" आदिमें जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे "चारित्तं खलु धम्मो" इत्यादि सूत्रसे चारित्रके धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा "परिणमदि जेण दव्वं" इत्यादि सूत्रसे आत्माके धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोगके प्रसादसे साधने योग्य है। अब यह कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रयमें परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्त्वके विना मुनि नहीं होता है, ऐसे मिथ्यादृष्टी श्रमणसे धर्म सिद्ध नहीं होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकार को संकोच करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो समणो) जो साधु (णिहदमोहदिट्ठी) तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सयक्त्वके द्वारा उत्पन्न निश्चय सम्यग्दर्शनमें परिणमन करनेसे दर्शन मोहको नाश कर चुका है, (आगमकुसलो) निर्दोष परमात्मासे कहे हुए परमागमके अभ्याससे उपाधि रहित स्वसंवेदन ज्ञानकी चतुराई से आगमज्ञानमें प्रवीण है, (विरागचरियम्मि अब्भुट्ठिदो) व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्रके साधनके वशसे अपने शुद्धात्मामें निश्चल परिणमनरूप वीतराग चारित्रमें वर्तनेके द्वारा परम वीतराग चारित्रमें भले प्रकार उद्यमी है तथा (महप्पा) मोक्ष रूप महा पुरुषार्थको साधनेके कारण महात्मा है वही (धम्मोत्ति विसेसिदो) जीना, मरना, लाभ, अलाभ आदिमें समताकी भावनामें परिणमन करने वाला श्रमण ही अभेद नयसे मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणामरूप निश्चय धर्म कहा गया है ॥ ९२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथैवंभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योसौ भक्ति करोति तस्य फलं दर्शयति—

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं ।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥ ६२-१ ॥

(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणतं पूर्वसूत्रोक्तं मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण संतुष्टः सन् । किं करोति । (अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं) अभ्युत्थानं कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणानां सत्कारं प्रशंसां करोति (वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि) "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वंदना भण्यते, नमोस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्यं गृह्णाति इत्यर्थः ॥ ६२-१ ॥

उत्थानिका—आगे ऐसे निश्चय रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले महा मुनिकी जो कोई भक्ति करता है उसके फलको दिखाते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) जो कोई भव्योमें प्रधान वीतराग शुद्धात्माके अनुभवरूप निश्चय धर्ममें परिणमनेवाले पूर्व सूत्रमें कहे हुए मुनीश्वरको देखकर पूर्ण गुणोंमें अनुरागभाव से संतोषी होती हुआ (अब्भुट्ठित्ता) उठकर (वंदणणमंसणादिहिं सक्कारं करेदि) "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वंदना तथा "नमोस्तु" रूप नमस्कार इत्यादि भक्तिविशेषोंके द्वारा सत्कार या प्रशंसा करता है (सो तत्तो धम्ममादियदि) सो भव्य उस यतिवरके निमित्तसे धर्म प्राप्त करता है ॥ ६२ । १ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फलं भवतीति प्रतिपादयति—

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा ।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥ ६२-२ ॥

(तेण णरा व तिरिच्छा) तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो वा (देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा) भवान्तरे दैवीं वा मानुषीं वा गतिं प्राप्य (विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति) राजाधिराजरूप-

लावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्यां विभवैश्वर्याभ्यां संपूर्णमनोरथा भवन्तीति । तदेव पुण्यं भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वकं भवति तर्हि तेन परम्परया मोक्षं लभत इति भावार्थः ॥ ६२-२ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्य-कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण "एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं" इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवजदिगुरुपूजासु" इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः ततश्च "सत्तासंबंधेदे" इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः सम्भवतीति "जो णिहदमोहदिट्ठी" इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्ति करोति तत्फलकथनेन "जो तं दिट्ठा" इत्यादि गाथाद्वयम् । इत्यधिकार-द्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभि- र्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक-नामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उस पुण्यसे परभवमें क्या फल होता है:—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(तेण) उस पूर्वमें कहे हुए पुण्यसे (णरा वा तिरिच्छा) वर्तमानके मनुष्य या तिर्यंच (देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा) मरकर अन्यभवमें देव या मनुष्यकी गतिको पाकर (विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति) राजाधिराज-संबंधी रूप, सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदिसे पूर्ण विभूति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्यसे सफल मनोरथ होते हैं। वही पुण्य यदि भोगोंके निदान विना सम्यक् दर्शन-पूर्वक होता है तो उस पुण्यसे परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह भावार्थ है ॥६२।२

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य-वृत्ति टीकामें पूर्वमें कहे प्रमाण "एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं" इस गाथाको आदि लेकर ७२ बहत्तर गाथाओंमें शुद्धोपयोगका अधिकार है, फिर "देवदजदि गुरु पूजासु" इत्यादि पच्चीस गाथाओंसे ज्ञानकंठिका चतुष्टय नामका दूसरा अधिकार है फिर "सत्तासंबद्धे" इत्यादि सम्यक्दर्शनका कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रयके धारी पुरुषके ही धर्म संभव है, ऐसा कहते हुए "जो णिहदमोहदिट्ठी" इत्यादि दूसरी गाथा है, इस तरह दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। उस निश्चय धर्मधारी तपस्वीकी जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो तं दिट्ठा" इस तरह दो अधिकारों से व पृथक् चार गाथाओंसे, सब एकसौएक गाथाओंसे यह ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक नामक—

प्रथम महा-अधिकार समाप्त ।

ज्ञेयतत्त्व–प्रज्ञापन

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि ।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥ ९३ ॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव । यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभि-

निर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तार-सामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटि-केति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्वयणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः । यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिके-त्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमान-जातीयो द्रव्यपर्यायः । यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानि-नानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः । यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमा-नपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्था-वतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मकोविभावपर्यायः इयं हि सर्व-पदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा । यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥ ६३ ॥

अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन करते हैं, अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं । उसमें (प्रथम ही) पदार्थके द्रव्यगुणपर्यायके सम्यक् (यथार्थ) स्वरूपका वर्णन करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अर्थः खलु] पदार्थ वास्तवमें [द्रव्यमयः] द्रव्यस्वरूप है, [द्रव्याणि] द्रव्य [गुणात्मकानि] गुणात्मक [भणितानि] कहे गये हैं; [तैः तु पुनः] और द्रव्य तथा गुणोंसे [पर्यायाः] पर्याय होती हैं । [पर्यायमूढाः हि] पर्यायमूढ जीव [परसमयाः] परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं ।

टीका—इस विश्वमें वास्तवमें जो कोई जाननेमें आनेवाला पदार्थ है, वह समस्त ही विस्तारसामान्यसमुदायात्मक (गुणात्मक अर्थात् गुणोंका समूह) और आयतसामान्यसमुदा-यात्मक (क्रमभावी पर्यायात्मक-पर्यायोंका समूह) द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्यमय है अर्थात् द्रव्य है । और द्रव्य एक जिनका आश्रय हैं ऐसे विस्तार विशेषस्वरूप गुणोंसे रचित होनेसे, गुणात्मक है ।

और पर्यायें जो कि आयतविशेष स्वरूप हैं,-जिनके लक्षण (ऊपर) कहे गये हैं ऐसे द्रव्योंसे, तथा जिनके लक्षण उपर कहे गये ऐसे गुणोंसे रचित होनेसे-द्रव्यात्मक भी हैं तथा गुणात्मक भी हैं। उनमें, अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिकी (ज्ञान करानेकी) कारण-भूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है। (१) समान जातीय और (२) असमानजातीय। उसमें (१) समान जातीय वह है,-जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक इत्यादि (२) असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयतरूप अनेकता की प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्याय है। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभावपर्याय, और (२) विभावपर्याय। उसमें, समस्त द्रव्योंके अपने अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति स्वभाव-पर्याय है, (२) रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके कारण* प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्व से आ पड़ने वाली विभावपर्याय है।

अब यह (पूर्वोक्त) कथन दृष्टान्तसे दृढ करते हैं:-

जैसे सम्पूर्ण पट अवस्थायी (स्थिर) विस्तारसामान्य समुदायसे (चौड़ाई से) और दौड़ते (बहते, प्रवाहरूप काल-क्रमसे चलते हुये) आयतसामान्यसमुदायसे (लम्बाईसे) रचित होता हुआ-तन्मय ही है, इसी प्रकार सबही पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तारसामान्य-समुदायसे और दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है। और जैसे पटमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदाय (रूप पट) गुणोंसे रचित होता हुआ गुणोंसे पृथक् नहीं प्राप्त होनेसे गुणात्मक ही है, उस ही प्रकार से पदार्थोंमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ता हुआ आयतसामान्यसमुदाय-जिसका नाम 'द्रव्य' है वह-गुणोंसे रचित होता हुआ गुणोंसे पृथक् नहीं प्राप्त होनेसे गुणात्मक ही है। और जैसे अनेक पटात्मक (एकसे अधिक वस्त्रोंसे निर्मित) द्विपटिक,+ त्रिपटिक समानजातीय द्रव्यपर्याय

*—स्व उपादान और पर निमित्त है। +—द्विपटिक-दो थानोंको जोड़कर (सींकर) बनाया गया एक वस्त्र (यदि दोनों थान एक ही जातिके हों तो समानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है, और यदि दो थान भिन्न जाति के हों (जैसे एक रेशमी और दूसरा सूती) तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है।

है, उसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रिअणुक आदि समानजातीय द्रव्यपर्याय है, और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटोंके बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक ऐसी असमानजातीय द्रव्य-पर्याय है, उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य ऐसी असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। जैसे कभी पटमें अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रमसे प्रवर्तमान अनेक प्रकाररूपसे परिणमित होनेके कारण अनेकत्वकी प्रतिपत्तिरूप गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें अपने अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थान-पतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति रूप (नाना-पनका ज्ञान करानेवाली) गुणात्मक स्वभावपर्याय है, और जैसे पटमें स्व-परके कारण रूपादिकके प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभावविशेष अनेकत्व से आपड़नेरूप गुणात्मक विभाव-पर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें, रूपादिके या ज्ञानादिके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभावविशेष से अनेकपने से आपड़ने रूप गुणात्मक विभाव-पर्याय है।

वास्तवमें यह, सर्व पदार्थोंके द्रव्यगुणपर्यायस्वभावकी प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली उत्तम-पूर्ण-योग्य है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि बहुतसे (जीव) पर्यायमात्र ही अवलम्बन करके तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोहको प्राप्त होते हुए परसमय (मिथ्यादृष्टि) होते हैं॥ ९३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

इतः ऊर्ध्वं "सत्तासंबंधेदे" इत्यादि गाथासूत्रेण पूर्वं संक्षेपेण यद्व्याख्यातं सम्यग्दर्शनं तस्येदानीं विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्तं विस्तरव्याख्यानं करोति। अथवा द्वितीयपातनिका—पूर्वं यद्व्याख्यातं ज्ञानं तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति। तत्र त्रयोदशाधिकशतगाथासु मध्ये प्रथमस्तावत् "तम्हा तस्स णमाइं" इमां गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं, तदनन्तरं "दव्वं जीवमजीवं" इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं विशेषज्ञेयव्याख्यानं, अथानन्तरं "सपदेसेहिं समग्गो लोगो" इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, ततश्च "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्याद्येकपञ्चाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेति, द्वितीयमहाधिकारे समुदायपातनिका।

अथेदानीं सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यानगाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति पीठिकाभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्र-गाथाचतुष्टयं । तदनन्तरं "सब्भावो हि सहावो" इत्यादिगाथाचतुष्टयपर्यंन्तं सत्तालक्षणव्याख्यानमुख्यत्वं, तदनन्तरं "ण भवो भंगविहीणो" इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणकथनमुख्यता, ततश्च "पाडुब्भवदि य अण्णो' इत्यादि गाथाद्वयेन द्रव्यपर्याय-निरूपणमुख्यता । अथानन्तरं "ण हवदि जदि सद्दव्वं" इत्यादि गाथाचतुष्टयेन सत्ता-द्रव्ययोरभेदविषये युक्तिं कथयंति, तदनन्तरं 'जो खलु दव्वसहाओ" इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथम गाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन "णत्थि गुणोत्ति य कोई' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयं, तदनन्तरं द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिकनयेनासदित्यादिकथनरूपेण 'एवंविहं' इतिप्रभृति गाथाचतुष्टयं, ततश्च 'अत्थित्ति य' इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभङ्गीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैर्व्यनि-र्णयं करोति । तद्यथा—अथ सम्यक्त्वं कथयति;—

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चंपि तम्मणो होज्ज ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥

तस्मात् तस्य नमस्यां कृत्वा, नित्यं अपि तन्मता भूत्वा ।
वक्ष्यामि संग्रहात् परमार्थविनिश्चयाधिगमम् सम्यक्त्वं ॥

(तम्हा तस्स णमाइं किच्चा) यस्मात्सम्यक्त्वं विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्चारित्रयु-क्तस्य पूर्वोक्ततपोधनस्य नमस्यां नमस्क्रियां नमस्कारं कृत्वा (णिच्चं पि तम्मणो होज्ज) नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा(वोच्छामि) वक्ष्याम्यहं कर्ता (संगहादो) संग्रहात्संक्षेपात्संक्षेपात्सकाशात् । किं । (परमट्ठविणिच्छयाधिगमं) परमार्थविनिश्चयाधिगमं सम्यक्त्वमिति परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्वं कथं भण्यत इति चेत्—परमोऽर्थः परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा, परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः परमार्थनिश्चयरूपोऽधिगमः शङ्काद्यष्टदोषरहितश्च यः परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् परमार्थविनिश्चयाधिगमं । अथवा परमार्थविनि-श्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थसमूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ॥ ९३-१ ॥

अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं निरूपयति,—

(अत्थो खलु दव्वमओ) अर्थो ज्ञानविषयभूतः पदार्थः खलु स्फुटं द्रव्यमयो भवति । कस्मात् । तिर्यक्सामा-न्योर्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात् । तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्यलक्षणं कथ्यते—एककाले नानाव्यक्ति-गतोन्वयस्तिर्यक्सामान्यं भण्यते, तत्र दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्र-त्ययः । नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते । तत्र दृष्टान्तः यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीतिः, अथवा नाना गोशरीरेषु गौरयं गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सा-मान्यं । यथैव चैकस्मिन् पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवायं देवदत्त इतिप्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम् ।

(दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि) द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणं। यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मकं भवति सिद्धजीवद्रव्यं, तथैव स्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्यः सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि भवन्ति।

(तेहिं पुणो पज्जाया) तैः पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यगुणैश्च पर्याया भवन्ति, व्यतिरेकिणः पर्याया, अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्यायलक्षणं। यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किञ्चिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणविलक्षणसिद्धगतिपर्यायः तथागुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपाः साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्यायाः स्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च, तथैव स्वभावविभावगुणपर्यायाश्च "जेसिं अत्थसहाओ" इत्यादिगाथायां, तथैव "भावा जीवादीया" इत्यादिगाथायां च पञ्चास्तिकाये पूर्वं कथितक्रमेण यथासंभवं ज्ञातव्याः।

(पज्जयमूढा हि परसमया) यस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः ॥ ९३ ॥

आगे इस द्वितीय अधिकारकी सूची लिखते हैं—

इसके आगे " सत्ता संबंधेदे " इत्यादि गाथा सूत्रसे जो पूर्वमें संक्षेपसे सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया था उसीको यहां विषयभूत पदार्थोंके व्याख्यानके द्वारा एकसौ तेरह गाथाओंमें विस्तारसे व्याख्यान करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि पूर्वमें जिस ज्ञानका व्याख्यान किया था उसी ज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य पदार्थोंको अब कहते हैं। यहां इन एकसौ तेरह गाथाओंके मध्यमें पहले ही 'तम्हा तस्स णमाइं' इस गाथाको आदि लेकर पाठके क्रमसे ३५ पैंतीस गाथाओं तक सामान्य ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " दव्वं जीवमजीवं " इत्यादि १९ उगनीस गाथाओं तक विशेष ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " सपदेसेहिं समग्गो लोगो " इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदकी भावना है फिर " अत्थित्तणिच्छिदस्स हि " इत्यादि ५१ इक्यावन गाथाओंतक विशेष भेदकी भावना है। इस तरह इस दूसरे अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

अब यहां सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमें पहले ही नमस्कार गाथा है फिर द्रव्य गुण पर्यायकी व्याख्यान गाथा है। तीसरी स्वसमय परसमयको कहनेवाली गाथा है। चौथी द्रव्यकी सत्ता आदि तीन लक्षणको सूचना करनेवाली गाथा है, इस तरह पीठिका नामके पहले स्थलमें स्वतंत्ररूपसे गाथाए चार हैं। उसके पीछे " सब्भावो हि सहावो " इत्यादि चार गाथाओं तक सत्ताके लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता है फिर " ण भवो भंगविहीणो" इत्यादि तीन गाथाओं तक उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणके कथनकी मुख्यता है फिर ' पाडुब्भदि य अण्णो " इत्यादि दो गाथाओंसे द्रव्यकी पर्यायके निरूपणकी मुख्यता है। फिर " ण हवदि जदि सद्दव्वं " इत्यादि चार गाथाओंसे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमें युक्तिको कहते हैं। फिर " जो खलु दव्वसहाओ " इत्यादि सत्ता और द्रव्यमें गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्यके साथ गुण और पर्यायोंका अभेद है इस मुख्यतासे " णत्थि गुणोत्ति य कोई " इत्यादि

दूसरी ऐसी दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। फिर द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सतका उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए "एवं विहं" इत्यादि गाथाएं चार हैं। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्रसे सप्तभंगीका व्याख्यान है। इस तरह समुदायसे चौवीस गाथाओंसे और आठ स्थलोंसे द्रव्यका निर्णय करते हैं।

आगे सम्यक्त्वको कहते हैं:—

अन्वय-सहित विशेषार्थ:—क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना साधु नहीं होता है (तम्हा) इस कारणसे (तस्स) उस सम्यक्त्व सहित सम्यक्चारित्रसे युक्त पूर्वमें कहे हुए साधुको (णमाइं किचा) नमस्कार करके (णिच्चंपि तं मणो होज्ज) तथा नित्य ही उन साधुओंमें मनको धारण करके (परमट्ठविणिच्छयाधिगमं) परमार्थ जो एक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है उसको विशेष करके संशय आदिसे रहित निश्चय करानेवाले सम्यक्त्वको अर्थात् जिस सम्यक्त्वसे शंका आदि आठ दोष रहित वास्तवमें जो अर्थका ज्ञान होता है उस सम्यक्त्वको अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थ-समूहका अधिगम जिससे होता है ऐसे कथनको (संगहादो) संक्षेपसे (वोच्छामि) कहूँगा।

उत्थानिका—आगे पदार्थके द्रव्य गुण पर्याय स्वरूपको कहते हैं:—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्थो) ज्ञानका विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमय होता है। क्योंकि वह पदार्थ तिर्यक्-सामान्य तथा ऊर्ध्वता सामान्यमय द्रव्यसे निष्पन्न होता है अर्थात् उसमें तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्यका लक्षण पाया जाता है। इन दो प्रकारके सामान्यका स्वरूप ऐसा है—एक ही समयमें नाना व्यक्तियोंमें पाया जानेवाला जो अन्वय उसको तिर्यक् सामान्य कहते हैं। यहां यह दृष्टांत है कि जैसे नाना प्रकार सिद्ध जीवोंमें यह सिद्ध हैं, ऐसा जोड़ रूप एक तरहके स्वभावको रखनेवाला सिद्धकी जातिका विश्वास है—इस एक जातिपनेको तिर्यक् सामान्य कहते हैं तथा भिन्न २ समयोंमें एक ही व्यक्तिका एक तरहका ज्ञान होना सो ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है। यहां यह दृष्टांत है कि जैसे जो कोई केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मुक्तात्मा है दूसरे तीसरे आदि समयोंसे भी वही है, ऐसी प्रतीति होना सो ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा दोनों सामान्यके दो दूसरे दृष्टांत हैं—जैसे नाना गौके शरीरोंमें यह गौ है, यह गौ है ऐसी गो-जातिकी प्रतीति होना सो तिर्यक्सामान्य है। तथा जो कोई पुरुष बाल,कुमारादि अवस्थाओंमें था सो ही यह देवदत्त है ऐसा विश्वास सो ऊर्ध्वता सामान्य है।

(दव्वाणि) द्रव्य सब (गुणप्पगाणि) गुणमई (भणिदाणि) कहे गए हैं। जो द्रव्यके साथ अन्वयरूप रहें अर्थात् उसके साथ साथ वर्तें वे गुण होते हैं-ऐसा गुणका लक्षण है। जैसे सिद्ध जीव द्रव्य है, सो अनन्तज्ञान सुख आदि विशेष गुणोंसे तथा अगुरुलघुक आदि सामान्य गुणोंसे अभिन्न हैं-अर्थात् ये सामान्य विशेष गुण सिद्ध आत्माके साथ सदा पाए जाते हैं, तैसे ही सर्व द्रव्य अपने २ सामान्य विशेष गुणोंसे अभिन्न हैं, इसलिये सब द्रव्य गुणरूप होते हैं।

(पुणो) तथा (तेहिं पज्जाया) उन्हीं पूर्वमें कहे हुए लक्षण स्वरूप द्रव्य व गुणोंसे पर्यायें होती हैं। जो एक दूसरेसे भिन्न अथवा क्रम क्रमसे हों, उनको पर्याय कहते हैं, यह पर्यायका लक्षण है। जैसे एक सिद्ध भगवानरूपी द्रव्यमें अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारमयी, गति मार्गणासे विलक्षण सिद्धगति रूप पर्याय है तथा अगुरुलघु गुणमें षट्गुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें तैसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्यायें होती हैं। "जेसिं अत्थिसहाओ" इत्यादि गाथामें तथा "भावा जीवादीया" इत्यादि गाथामें श्री पंचास्तिकायके भीतर पहले कथन किया गया है सो वहांसे यथासंभव जान लेना योग्य है।

(पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायके ज्ञानसे मूढ़ हैं अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नहीं हूँ इस भेदविज्ञानको अथवा अनेकान्तको न समझकर अज्ञानी हैं वे (हि) वास्तवमें (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी हैं। इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वरकी करी हुइ समीचीन द्रव्यगुण पर्याय की व्याख्या कल्याणकारी है, यह अभिप्राय है ॥ ६३ ॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ ६४ ॥

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः ॥६४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा

मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना, अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलंबमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते । अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥ ९४ ॥

अब आनुषंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमयकी व्यवस्था (भेद) निश्चित करके (उसका) उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थः—[ये जीवाः] जो जीव [पर्यायेषु निरताः] (विभाव) पर्यायोंमें लीन हैं [परसमयिकाः इति निर्दिष्टाः] उन्हें पर-समय कहा गया है [आत्मस्वभावे स्थिताः] जो जीव आत्मस्वभावमें स्थित हैं [ते] वे [स्वकसमयाः ज्ञातव्याः] स्व-समय जानने योग्य हैं ।

टीका—जो (१) जीवपुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायका, जो सकल अविद्याओंकी (मिथ्या-ज्ञानकी) एक जड़ है, आश्रय करते हैं (२) यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावना (अनुभव) करनेमें नपुंसक है, (३) उस (पर्याय) में ही आसक्ति को प्राप्त हैं, वे (१) जिनकी निरर्गल एकान्तदृष्टि उछलती है, (२) 'यह मैं मनुष्य ही हूं, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार-ममकारसे ठगाये हुये, (३) अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत होकर (४) जिसमें समस्त क्रिया-कलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके, (५) रागी-द्वेषी होते हुए, (६) पर-द्रव्यरूप कर्मके साथ संगतिके कारण वास्तवमें परसमय होते हैं (अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं।

जो, (१) असंकीर्ण पर से भिन्न द्रव्य गुण-पर्यायोंसे सुस्थित भगवान आत्माके स्वभावका, जो सकल विद्याओंका एक मूल है, आश्रय करके, (२) यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावनामें (अनुभव में) समर्थ होनेसे (३) पर्यायमात्र की आसक्तिको छोड़ करके, आत्माके स्वभावमें ही स्थिति करते हैं (लीन होते हैं), वे (१) जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्त-

दृष्टिसे समस्त एकान्तदृष्टिके परिग्रहके आग्रह प्रक्षीण (नष्ट) कर दिये हैं, (२) मनुष्यादि गतियोंमें और उन गतियोंके शरीरोंमें अहंकार-ममकार न करके, अनेक कक्षों (कमरों) में संचारित रत्नदीपककी भांति एकरूप ही आत्माको उपलब्ध (अनुभव) करते हुये, (३) अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारको अंगीकार करके, (४) जिसमें समस्त क्रिया-कलापसे भेंट की जाती है ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय नहीं करते हुवे, (५) रागद्वेषकी प्रगटता रुक जानेसे, परम उदासीनताका आलंबन लेते हुये, (६) समस्त परद्रव्योंकी संगति दूर करदेनेसे, मात्र स्वद्रव्यके साथ ही संगति होनेसे, वास्तवमें स्वसमय होते हैं, अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं। इसलिये स्वसमय ही आत्माका तत्व है।

(नोट—परसमय के कथन में जो बात जिस नम्बर पर कही गई है, स्वसमय के कथन में उसके सापेक्ष नम्बर पर ठीक उसके विपरीत बात दिखलाई गई है। इसी बातका ध्यान दिलाने के लिये भाषा टीका में नम्बर डाले गये हैं।) ॥ ९४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ प्रसंगायातां परसमयस्वसमयव्यवस्थां कथयति,—

(जे पज्जयेसु णिरदा जीवा) ये पर्यायेषु निरताः जीवाः (परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा) ते परसमया इति निर्दिष्टाः कथिताः। तथाहि—मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्यां परिणताः ममकाराहङ्काररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते।

(आदसहावम्मि ठिदा) ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्ते (सगसमया मुणेदव्वा) स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या इति। तद्यथा—अनेकापवरकसंचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोहमिति दृढसंस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

उत्थानिका—आगे यहां प्रसंग पाकर परसमय और स्वसमयकी व्यवस्था बताते हैं:—

अन्वय-सहित विशेषार्थः—(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायोंमें लवलीन हैं। अर्थात् जिनको पर्यायके अतिरिक्त द्रव्य सामान्य का बोध नहीं है (परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए हैं। विस्तार यह है कि मैं मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप ही हूं; इस भावको अहं-

कार कहते हैं। यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पंचेन्द्रियोंके विषय रूप सुख मेरे स्वभाव हैं इस भावको ममकार कहते हैं। जो अज्ञानी ममकार और अहंकारसे रहित परम चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे अनभिज्ञ इन अहंकार ममकार भावोंसे परिणमन करते हैं वे जीव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न परपर्यायमें सर्वथा लीन होनेके कारणसे परसमय कहे जाते हैं।

(आदसहावम्मि ठिदा) जो ज्ञानी अपने आत्माके स्वभावमें ठहरे हुए हैं (ते सगसमया मुणेदव्वा) वे स्वसमयरूप जानने चाहिये। विस्तार यह है कि जैसे एक रत्न-दीपक अनेक प्रकारके घरोंमें घुमाए जानेपर भी एक रत्न-रूप ही है, इसी तरह अनेक शरीरोंमें घूमते रहने पर भी मैं एक वही आत्म-द्रव्य हूँ, इस तरह दृढ संस्कारके द्वारा जो अपने शुद्धात्मामें ठहरते हैं वे कर्मोंके उदयसे होनेवाली मनुष्य पर्यायमें परिणति से रहित अर्थात् रागद्वेष न करते हुए स्वसमयरूप होते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ६४ ॥

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥६५॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ६५ ॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम्। तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति। तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः। गुणा विस्तारविशेषाः ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः। अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः। पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः। न च

तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत् । यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥ ९५ ॥

अब द्रव्यका लक्षण बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभावको छोड़े बिना [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' ऐसा [ब्रुवन्ति] कहते हैं ।

टीका—यहां (इस विश्वमें) वास्तव में जो, स्वभावभेद किये बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य त्रयसे और गुण पर्यायद्वयसे लक्षित होता है, वह द्रव्य है। इनमेंसे (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य गुण और पर्यायमें से) वास्तव में द्रव्यका स्वभाव अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय × है, अस्तित्वको तो दो प्रकारका आगे कहेंगेः-१-स्वरूप अस्तित्व, २—सादृश्य-अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना—उत्पन्न होना)है, व्यय, प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य, अवस्थिति (टिकना) है, गुण, विस्तार-विशेष हैं। वे सामान्य-विशेषात्मक * होनेसे दो प्रकारके हैं। इनमें, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। अवगाह—हेतुत्व, गतिनिमित्तता,स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयत, विशेष हैं। वे पूर्व ही (९३ वीं गाथाकी टीकामें) कही गई चार प्रकारकी हैं।

द्रव्यका उन उत्पादादिके साथ अथवा गुणपर्यायोंके साथ लक्ष्य लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूपसे ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादिरूप तथा गुणपर्यायरूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है), वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोनेपर निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूप भेद (सत्ता भेद) नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है (अर्थात् स्वयं उत्पादरूपसे ही परिणत है), उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी-जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्य के सद्भावमें अनेक प्रकारकी बहुतसी अवस्थायें करता है-अन्तरंगसाधनभूत+ स्वरूपकर्ता

×—अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है, है, है, ऐसा एकरूप भाव द्रव्यका स्वभाव है। अर्थात् विशेष-पर्यायोंसे निरपेक्ष धारावाही सामान्य स्वरूप। (अन्वय-एकरूपता, सादृश्यभाव।) *—जो गुण एकसे अधिक द्रव्यों में पाया जाय वह सामान्य है। जो मात्र एक ही द्रव्य में पाया जाय वह विशेष है।

+—द्रव्यमें निजमें ही स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण होनेकी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्यस्वरूप स्वभाव ही अपने परिणमनमें (अवस्थान्तर करनेमें) अन्तरंग साधन है।

और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत (सहित) हुआ अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद (सत्ता भेद) नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है।

और जैसे वही वस्त्र निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है, उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है।

और जैसे वही वस्त्र एक ही समयमें निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली वस्त्रत्व-अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी एकही समय उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्थासे व्यय होता हुआ, और टिकनेवाली द्रव्यत्व अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है। किन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है।

और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप (शुक्लत्वादि) गुणोंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेषस्वरूप गुणोंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोंके साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है। और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषरूप पर्यायवर्ती (पर्यायस्थानीय) तंतुओंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है। उसी प्रकार वही द्रव्य भी आयतविशेषस्वरूप पर्यायोंसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उन पर्यायोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वसा है ॥ ९५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका–

अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयं सूचयति,

(अपरिच्चत्तसहावं) अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पादव्ययध्रौव्यैः सह संयुक्तं (गुणवं च सपज्जायं) गुणवत्पर्यायसहितं च (जं) यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं (तं दव्वत्ति बुच्चंति) तं द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।

इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेदं न गच्छति । तर्हि किं करोति । स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते । कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपं गुणपर्यायरूपं च परिणमति शुद्धात्मवदेव ।

तथाहि—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरूपपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमयसारस्योत्पादः कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यं च । तथानन्तज्ञानादिगुणाः, गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगतिः, इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणाः शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति । यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्नं परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि सति तैः सह सत्ताविभेदं न करोति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोर्थः ? उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोऽर्थः ? उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति । अथवा यथा वस्त्रं निर्मलपर्यायेणोत्पन्नं मलिनपर्यायेण विनष्टं तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविनश्वरं, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहितं च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुणपर्यायैः सह संज्ञादिभेदेपि सति सत्तारूपेण भेदं न करोति । तर्हि किं करोति । स्वरूपत एवोत्पादादिरूपेण परिणमति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्रायः ॥ ९५ ॥

एवं नमस्कारगाथा द्रव्यगुणपर्यायकथनगाथा स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकाभिधानं प्रथमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे द्रव्यका लक्षण सत्ता आदि तीनरूप है ऐसा सूचित करते हैं—

अन्वय-सहित विशेषार्थ—(जत्) जो (अपरिच्चत्तसहावेण) अभिन्न स्वभाव रूपसे रहता है अर्थात् अपने अस्तित्व या सत् स्वभावसे भिन्न नहीं है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है। (गुणवं च सपज्जायं) गुणवान होकर पर्याय-सहित है, इस तरह सत्ता आदि तीन लक्षणोंको रखनेवाला है (तं दव्वत्ति) उसको द्रव्य ऐसा (वुच्चंति) सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायोंके साथ लक्ष्य और लक्षणकी अपेक्षा भेद रूप होने पर भी सत्ताके भेदको नहीं रखता है। जिसका लक्षण या स्वरूप कहा जाय वह लक्ष्य है। और जो

उसका विशेष स्वरूप है वह लक्षण है। तब यह द्रव्य क्या करता है ? अपने स्वरूपसे ही उस-विधपनेको आलंबन करता है। इसका भाव यह है कि यह द्रव्य शुद्धात्माकी तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणमन करता है,

केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समयमें शुद्ध आत्माके स्वरूप ज्ञानमई निश्चल अनुभवरूप कारण समयसार रूप पर्यायका विनाश होते हुए शुद्धात्माका लाभ या उसकी प्रगटता रूप कार्य-समयसारका उत्पाद या जन्म होता है और इन दोनों पर्यायोंके आधार रूप परमात्म द्रव्यकी अपेक्षासे ध्रुवपना या स्थिरपना रहता है। तथा उस परमात्माके अनंत ज्ञानादि गुण होते हैं। गति मार्गणासे विपरीत सिद्ध गति व इन्द्रियं मार्गणासे विपरीत अतींद्रियपना आदि लक्षणकी रखनेवाली शुद्ध पर्यायें होती हैं अर्थात् वह परमात्म-द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्तासे भिन्न नहीं है, एक है, पूर्वमें कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावोंसे तथा गुण पर्यायोंसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेद रूप होनेपर भी उनके साथ सत्ता आदिके भेदको नहीं रखता है, स्वरूपसे ही उसी प्रकारपनेको धारण करता है अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तथा गुण-पर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेसे तथा गुण पर्यायोंके साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद रखते हैं तथापि सत्ता स्वरूपसे भेद नहीं रखते हैं, स्वभावसे ही उन प्रकार-रूपपनेको आलम्बन करते हैं, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय-स्वरूप परिणमन करते हैं।

अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्यायसे पैदा होता है, मलिन पर्यायसे नष्ट होता है। और इन दोनोंके आधार रूप वस्त्र स्वभावसे ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलिन यथा स्वच्छ पर्यायोंके साथ संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ता रूपसे भेद नहीं रखता है, तब क्या करता है ? स्वरूपसे ही उत्पाद आदि रूपसे परिणमन करता है, तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते हैं यह अभिप्राय है ॥ ६५ ॥

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके तीन लक्षण बताए हैं। सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप और गुणपर्याय रूप। अभेदकी अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत् स्वभावसे एक है वैसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुण पर्यायोंसे एक है, भेदकी अपेक्षा वह जैसे सत्‌पनेको रखता है वैसे वह उत्पादिको रखता है ॥ ६५ ॥

इस तरह नमस्कार गाथा, द्रव्य गुण पर्याय कथन गाथा, स्वसमय परसमय निरूपण गाथा, सत्तादि लक्षणत्रय-सूचन गाथा, इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओंसे पीठिका नामका पहला स्थल पूर्ण हुआ।

अथ क्रमेणास्त्वं द्विविधमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥९६॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥९६॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च, भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् । तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते । यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् । यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृ करणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं, कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृ करणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायैश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृ करणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्याययैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृ करणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । किंच— यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृ करणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा

भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादिनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ॥९६॥

अब अनुक्रमसे दो प्रकारका अस्तित्व कहते हैं। स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व इनमेंसे यह स्वरूपास्तित्वका कथन है:—

अन्वयार्थः— [चित्रैः गुणैः] अनेक प्रकार के गुण तथा [चित्रैः स्वकपर्यायैः] अनेक प्रकारकी अपनी पर्यायोंसे [उत्पादव्ययध्रुवत्वैः] और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे [सर्वकालं] सर्वकालमें [द्रव्यस्य सद्भावः] द्रव्यका जो अस्तित्व है [हि] वह वास्तवमें [स्वभावः] स्वभाव है।

टीकाः—अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है, और वह (अस्तित्व) (१) अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारणसे, (२) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवृत्त होनेके कारणसे, (३) विभावधर्मसे विलक्षण होनेसे, (४) भाव और भाववानताके × भावसे अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होनेसे, द्रव्यके साथ एकत्वको धारण करता हुआ द्रव्यका स्वभाव ही क्यों न हो ? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें प्रत्येकमें समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रत्येकमें समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि वास्तवमें परस्पर में साधित सिद्धि (युक्त होनेसे) अर्थात् द्रव्य गुण और पर्याय एक दूसरेसे परस्पर सिद्ध होते हैं इसलिये,—यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, इसलिये) उनका अस्तित्व एक ही है, सुवर्णकी भांति।

× १-अस्तित्व तो (द्रव्य का) भाव है और द्रव्य भाववान् है।

जैसे वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सुवर्ण से पृथक् न प्राप्त होने वाले तथा सुवर्ण के अस्तित्व से बने हुये पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंके द्वारा जो अस्तित्व है वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंके स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान सुवर्ण का स्वभाव है। उसी प्रकार वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे पृथक प्राप्त न होने वाले तथा द्रव्यके अस्तित्व से बने हुये गुणों और पर्यायोंके द्वारा जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे गुणोंके और पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति-युक्त द्रव्यका स्वभाव है।

(द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे सुवर्णसे भिन्न न दिखाई देनेवाले पीतत्वादिक और कुण्डलादिकका जो अस्तित्व है वह सुवर्णका ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिकके और कुण्डलादिकके स्वरूपको सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्णके अस्तित्वसे ही पीतत्वादिककी और कुण्डलादिकी निष्पत्ति-सिद्धि होती है, सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों। इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे भिन्न नहीं दिखाई देनेवाले गुणों और पर्यायोंका जो अस्तित्व है वह द्रव्यका ही अस्तित्व है, क्योंकि गुणों और पर्यायोंके स्वरूपको द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही गुणोंको और पर्यायोंकी निष्पत्ति होती है, द्रव्य न हो तो गुण और पर्यायें भी न हों। ऐसा अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे पीतत्वादि गुणोंसे और कुण्डलादि पर्यायोंसे पृथक् प्राप्त नहीं होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे निष्पन्न होनेवाले सुवर्णका, मूलसाधन रूपसे उनसे (पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे) निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है, इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, या भावसे गुणोंसे और पर्यायोंसे जो पृथक नहीं दिखाई देने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायोंसे निष्पन्न होने वाले द्रव्यका, मूलसाधनरूपसे उनसे (गुणों और पर्यायों से) निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है।

(पीतत्वादिकसे और कुण्डलादिकसे भिन्न न दिखाई देनेवाले सुवर्णका अस्तित्व है वह पीतत्वादिक और कुण्डलादिकका ही अस्तित्व है, क्योंकि सुवर्णके स्वरूपको पीतत्वादिक और कुण्डलादिक ही धारण करते हैं, इसलिये पीतत्वादिक और कुण्डलादिकके अस्तित्वसे ही सुवर्णकी निष्पत्ति होती है। पीतत्वादिक और कुण्डलादिक न हों तो सुवर्ण भी न हो, । इसी प्रकार गुणोंसे और पर्यायोंसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व है वह गुणों और पर्यायोंका ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको गुण और पर्यायें ही धारण करती हैं, इसलिये गुण और पर्यायोंके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि गुण और पर्यायें न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है।)

(जिस प्रकार द्रव्यका और गुण पर्यायका एकही अस्तित्व है, ऐसा सुवर्णके दृष्टान्त-पूर्वक समझाया, उसी प्रकार अब सुवर्णके दृष्टान्त-पूर्वक ऐसा बताया जा रहा है कि द्रव्यका और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका भी एक ही अस्तित्व है।)

जैसे वास्तवमें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, या भावसे सुवर्णसे पृथक नहीं प्राप्त होने वाले तथा सुवर्णके अस्तित्वसे बने हुये कुण्डलादिके उत्पाद, बाजूबंधादिके व्यय और पीतत्वादिके ध्रौव्य से जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे कुण्डलादि के उत्पादको, बाजूबंधादिके व्ययके और पीतत्वादिके ध्रौव्य के स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्तियुक्त सुवर्णका स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्यसे जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यका स्वभाव है।

(द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे भिन्न दिखाई न देनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का जो अस्तित्व है वह द्रव्यका ही अस्तित्व है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी न हों। ऐसा अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है।

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, या भावसे कुण्डलादिके उत्पादसे बाजूबंधादिके व्यय से और पीतत्वादिके ध्रौव्यसे पृथक नहीं प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे

सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादिके उत्पादसे, बाजूबंधादिके व्ययसे और पीतत्वादिके ध्रौव्यसे निष्पन्न होनेवाले सुवर्णका, मूलसाधनरूप उनसे (कुण्डलादिके उत्पादसे, बाजूबंधादिके व्ययसे पीतत्वादिके ध्रौव्यसे निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे पृथक नहीं प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद व्यय-ध्रौव्यसे निष्पन्न होनेवाले द्रव्यका, मूल साधनपनेसे उनसे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से) निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है।

(उत्पादसे, व्ययसे और ध्रौव्यसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही धारण करते हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है।॥ ९६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ प्रथमं तावत्स्वरूपास्तित्वं प्रतिपादयति,—

(सब्भावो हि) स्वभावः स्वरूपं भवति हि स्फुटं। कः कर्ता। (सहावो) सद्भावः शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्वं। कस्य स्वभावो भवति। (दव्वस्स) मुक्तात्मद्रव्यस्य, तच्च स्वरूपास्तित्वं यथा मुक्तात्मनः सकाशात्पृथग्भूतानां पुद्गलादि-पञ्चद्रव्याणां शेषजीवानां च भिन्नं भवति न च तथा। कैः सह। (गुणेहिं सह पज्जएहिं) केवलज्ञानादिगुणैः किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह। कथंभूतैः। (चित्तेहिं) सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैः न केवलं गुणपर्यायैः सह भिन्नं भवति। (उप्पादव्वयधुवत्तेहिं) शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षणं ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्नं न भवति। कथं। (सव्वकालं) सर्वकालपर्यंतं यथा भवति। कस्मात्तैः सह भिन्नं न भवतीति चेत्। यतः कारणाद्गुणपर्यायोऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वं साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वं साध्यत इति।

तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सुवर्णादभिन्नानां पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव सुवर्णस्य सद्भावः, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परमात्मद्रव्यादभिन्नानां केवलज्ञानादिगुणकिंचिदू-

नचरमशरीरादिपर्यायाणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भावः। यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्वं स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्यः सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणां स्वभावो ज्ञातव्यः। अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्वं कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नानां कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां संबन्धि यदस्तित्वं, स एव सुवर्णसद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नानां मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां संबन्धि यदस्तित्वं स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभावः। यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणां सद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव इति। एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं, तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—आगे अस्तित्व या सत्के दो प्रकार अस्तित्वमेंसे स्वरूप अस्तित्वको बताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणेहिं सगपज्जएहिं) नाना प्रकारके अपने गुण और अपनी पर्यायोंके साथ सिद्ध जीवकी अपेक्षा से अपने केवलज्ञान आदि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकाररूप अपनी पर्याय तथा सिद्ध गतिपना, अतीन्द्रियपना, कायरहितपना, योगरहितपना, वेदरहितपना इत्यादि नाना प्रकारकी अपनी अवस्थाओंके साथ और (उप्पादव्वयधुवत्तेहिं) उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेके साथ सिद्ध जीवकी अपेक्षा से शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्यायका उत्पाद, रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित परमसमाधि रूप मोक्षमार्गकी पर्यायका व्यय तथा मोक्षमार्ग और मोक्षके आधारभूत चले आनेवाले द्रव्यपनेका लक्षणरूप ध्रौव्यपना इन तीन प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ (दव्वस्स) द्रव्यका अर्थात् मुक्तात्मा रूपी द्रव्यका (सव्वकालं) सर्व कालोंमें अर्थात् सदा ही (सब्भावो) शुद्ध अस्तित्व है या उसकी शुद्ध सत्ता है (हि) सो ही निश्चय करके (सहावो) उसका निज भाव या निज रूप है, क्योंकि मुक्तात्मा इनके साथ अभिन्न हैं इसका हेतु यह है कि गुण पर्यायोंके अस्तित्वसे तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेके अस्तित्वसे ही शुद्ध आत्माके द्रव्यका अस्तित्व साधा जाता है और शुद्ध आत्माके द्रव्यके अस्तित्वसे गुण पर्यायोंका और उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेका अस्तित्व साधा जाता है।

किस तरह परस्पर साधा जाता है सो बताते हैं—जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायोंका जो सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे भिन्न नहीं है, जो अस्तित्व है वही सुवर्णका अपना अस्तित्व है या सद्भाव है। तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका जो मुक्तात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा परमात्म-

द्रव्यसे भिन्न नहीं है, जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अपना अस्तित्त्व या सद्भाव है। और जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण और कुंडल आदि पर्यायोंके साथ जो सुवर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है, उस सुवर्णका जो अस्तित्त्व है वही पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायोंका अस्तित्त्व या निज भाव है। तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंके साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्मा का जो अस्तित्त्व है वही केवलज्ञानादि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका अस्तित्त्व या निजभाव जानना चाहिये। अब उत्पाद व्यय ध्रौव्यका भी द्रव्यके साथ जो अभिन्न अस्तित्त्व है उसको कहते हैं। जैसे सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे अभिन्न कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका विनाश तथा सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही सुवर्णका अस्तित्व व उसका निज भाव या स्वरूप है। तैसे ही परमात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा परमात्मासे अभिन्न मोक्ष पर्यायका उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत परमात्म-द्रव्यपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अस्तित्त्व या उसका निजभाव या स्वरूप है। और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो सुवर्ण उसका जो अस्तित्त्व है वही कटक पर्यायका उत्पाद, कंकण पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत सुवर्णपना रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्त्व या निजभाव या स्वरूप है। तैसे ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा मोक्ष पर्यायका उत्पाद, और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा दोनोंके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यपनारूप ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो परमात्मा द्रव्य उसका जो अस्तित्त्व है वही मोक्ष पर्यायका उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यरूप ध्रौव्य इनका अस्तित्त्व या निजभाव या स्वरूप है। इस तरह जैसे मुक्तात्मा द्रव्यका अपने ही गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ स्वरूपका अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्त्व अभिन्न स्थापित किया गया है तैसे ही शेष सर्व द्रव्योंका भी स्वरूप-अस्तित्त्व या अवान्तर अस्तित्व स्थापित करना चाहिये। इस गाथाका यह अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्वरूप-अस्तित्त्व या अवान्तर-सत्ताका स्वरूप बताया है। हरएक द्रव्य अपने अखंड जितने प्रदेशोंको लिये है चाहे वह एक प्रदेश हो व अनेक, वह द्रव्य उतने प्रदेशोंके साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है। तथा उसकी इस अवान्तर या पृथक् सत्तामें ही गुणपर्यायपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहते हैं। जिसका भाव यह है कि जहां द्रव्यका अस्तित्व है वहीं उसके गुण-पर्याय हैं व वहीं उसके उत्पाद व्यय ध्रौव्य। इन तीन लक्षणोंकी अभिन्नता है, एकता है। ये तीनों लक्षण द्रव्यमें अविनाभावी हैं, न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोड़ता है, न गुणपर्यायोंसे रहित होता है, न उत्पाद व्यय ध्रौव्यको त्यागता है। द्रव्यमें हरसमय द्रव्यके ये तीनों ही लक्षण पाए जाते हैं। यही द्रव्यका स्वभाव है ॥ ९६ ॥

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥९७॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्।

उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ९७ ॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम्। एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्। यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत्। यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षण-भूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥ ९७ ॥

अब सादृश्य-अस्तित्वका कथन करते हैं :—

अन्वयार्थः—[धर्मं] धर्मका [उपदिशता] उपदेश करने वाले [जिनवरवृषभेण] जिनवरवृषभके द्वारा [इह] इस विश्वमें [विविधलक्षणानां] विविध लक्षण वाले (भिन्न

भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले सर्व) द्रव्योंका [खलु] वास्तव में [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्व गतं] सर्वगत (सबमें व्यापनेवाला) [एक लक्षणं] एक लक्षण [प्रज्ञप्तम्] कहा गया है।

टीका:—वास्तवमें इस विश्वमें, विचित्रताको विस्तारित करते हुये (विविधता-अनेकत्वको दिखाते हुये), अन्य द्रव्योंसे व्यावृत (भिन्न) रहकर प्रवर्तमान, और प्रत्येक द्रव्यकी सीमाको बांधते हुवे, ऐसे विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे लक्षित भी सर्व द्रव्योंकी, विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्योंमें प्रवृत्त होकर रहनेवाला, और प्रत्येक द्रव्य की बंधी हुई सीमाको भेदता (तोड़ता) हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्यलक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तवमें एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थोंका परामर्श (स्पर्श-ग्रहण) करनेवाला है। यदि वह ऐसा (सर्वपदार्थपरामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है, और यह ('सत्' ऐसा कथन और ज्ञानके सर्वपदार्थपरामर्शी होनेकी बात) तो सिद्ध हो सकती है, वृक्षकी भांति।

जैसे वास्तव में बहुतसे और अनेक प्रकारके वृक्षोंको अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते (खड़े होते) अनेकत्वको, सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित (अदृश्य) कर देता है, इसीप्रकार बहुतसे और अनेक प्रकारके द्रव्योंको अपने अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते अनेकत्वको, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे ('सत्' ऐसे भावसे, अस्तित्वसे, है—पनेसे) उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है। और जैसे उन वृक्षोंके विषयमें सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित होता है तो भी, (अपने अपने) विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, (बना रहता है, नष्ट नहीं होता), इसी प्रकार सर्व द्रव्योंके विषय में भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्'पनेसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित होने पर भी, (अपने अपने) विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है ॥ ९७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ साहश्यास्तित्वशब्दाभिधेयां महासत्तां प्रज्ञापयति,—

(इह विविहलक्खणाणं) इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणानां भिन्नलक्षणानां चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थानां (लक्खणमेगं तु) एकमखण्डलक्षणं भवति । किं कर्तृ (सदिति) सर्वं सदिति महासत्तारूपं । किंविशिष्टं । (सव्वगयं) संकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थव्यापकं । इदं केनोक्तं । (उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं) धर्मं वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति ।

तद्यथा—यथा सर्वे मुक्तात्मनः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च संकरव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति, तथा "सर्वं सत्" इत्युक्ते संग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति । अथवा सेनेयं वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नानां युगपद्ग्रहणं भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति साहश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसंग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

उत्थानिका—आगे सादृश्य अस्तित्व शब्दसे कहे जानेवाली महासत्ताका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—(इह) इस लोकमें (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न २ लक्षण रखनेवाले पदार्थोंका (एगं) एक (सव्वगयं) सर्व पदार्थोंमें व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदित्ति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तुके स्वभावको (उवदिसदा) उपदेश करनेवाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेंद्रने (खलु) प्रगट रूपसे (पण्णत्तं) कहा है ।

टीकार्थ—इस जगतमें भिन्न २ लक्षणको रखनेवाले चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त अनेक पदार्थ हैं, उनमेंसे प्रत्येक पदार्थकी सत्ता या स्वरूपास्तित्व भिन्न २ है तो भी इन सबका एक अखंड सर्वव्यापक लक्षण भी है । यह लक्षण मिलाप व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी २ जातिमें विरोध न पडने देनेवाले शुद्ध संग्रह नयसे सर्व पदार्थोंमें व्यापक एक सत् रूप है या महासत्ता रूप है ऐसा वस्तु स्वभावोंके संग्रहको उपदेश करनेवाले श्री तीर्थंकर भगवान्ने प्रगटरूपसे वर्णन किया है ।

इस प्रकारः—जैसे 'सर्व मुक्तात्मा हैं, ऐसा कहा जानेसे सर्व ही सिद्धोंका एक साथ ग्रहण हो जाता है । यद्यपि वे सर्व सिद्ध परमानंदमई एक लक्षण वाले सुखामृत रस स्वादसे भरे हुए अपने २ शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षा तथा अपने २ अंतिम शरीरसे किंचित् ऊन पर्यायकी अपेक्षा मिश्र व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी अपनी जातिके भेदसे भिन्न हैं तो भी एक सत्ता लक्षणकी अपेक्षा उन सब सिद्धोंका ग्रहण होजाता है । वैसे ही 'सर्वं सत्' ऐसा कहनेपर संग्रह नयसे सर्व पदार्थोंका ग्रहण हो जाता है । अथवा यह सेना है, ऐसा कहनेपर अपनी २ जातिसे भिन्न घोडे, हाथी आदि पदार्थोंकी

भिन्नता है तो भी सबका एक कालमें ग्रहण होजाता है, अथवा यह वन है, ऐसा कहनेपर अपनी जातिसे भिन्न निम्ब, आम्र आदि वृक्षोंकी भिन्नता है तो भी सब वृक्षोंका एक कालमें ग्रहण हो जाता है। तैसे ही सर्वं सत् ऐसे सदृश सत्ता कहनेपर महासत्ता रूपसे शुद्ध संग्रह नयकी अपेक्षा सर्व ही पदार्थोंका विना उनकी जातिसे विरोधके एक साथ ग्रहण होजाता है, ऐसा अर्थ है ॥ ९७ ॥

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ९८ ॥

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात्। अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते। इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः। भेदनिबन्धनेतिचेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि—यदेव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदेव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा

तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति । एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति । तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति । ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते । यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥ ९८ ॥

अब, द्रव्योंसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होनेका और द्रव्यसे सत्ताका अर्थान्तरत्व (अन्य भिन्न पदार्थ) होनेका खण्डन करते हैं। (अर्थात् ऐसा निश्चित करते हैं कि किसी द्रव्यसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती और द्रव्यसे अस्तित्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं है):—

अन्वयार्थः—[द्रव्यं] द्रव्य [स्वभाव–सिद्धं] स्वभावसे सिद्ध और [सत् इति] (स्वभावसे ही) 'सत्' है, ऐसा [जिनाः] जिनेन्द्रदेवने [तत्त्वतः] यथार्थतः [समाख्यातवन्तः] कहा है, [तथा] इस प्रकार [आगमतः] आगमसे [सिद्धं) सिद्ध है, [यः] जो [न इच्छति] (इसको) नहीं मानता [सः] वह [हि] वास्तवमें [परसमयः] परसमय है।

टीकाः—वास्तवमें द्रव्योंसे द्रव्यान्तरोंकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्योंके स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य, पर–द्रव्यकी अपेक्षा विना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध हैं) उनकी-स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनतासे है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुणपर्यायात्मक अपने स्वभावको ही-जो कि मूलसाधन है, धारण करके स्वयमेव सिद्ध और सिद्धिवाला हुआ वर्तता है।

जो द्रव्योंसे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कादाचित्कता (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है, जैसे-द्विअणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि । द्रव्य तो अनवधि (मर्यादा रहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकालस्थायी) है, (इसलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

अब इस प्रकार-जैसे द्रव्य स्वभावसे ही सिद्ध है उसी प्रकार (वह) 'सत् है' ऐसा भी वह स्वभावसे ही सिद्ध है, ऐसा निर्णय हो, क्योंकि सत्तात्मक ऐसे अपने स्वभावसे निष्पन्न निष्पत्तिमत् भाववाला है (-द्रव्यका 'सत् है' ऐसा भाव द्रव्यके सत्तास्वरूप स्वभावका ही बना हुआ है) ।

द्रव्यसे अर्थान्तरभूत सत्ता की उत्पत्ति नहीं है, कि जिसके समवायसे वह द्रव्य 'सत्' हो । (इसीको स्पष्ट समझाते हैं) :—

प्रथम तो सत्के (द्रव्यके) और सत्ताके युतसिद्धता से अर्थान्तरत्व नहीं है, क्योंकि दण्ड और दण्डीकी भांति उनके संबंधमें युतसिद्धता दिखाई नहीं देती । (दूसरे) अयुत-सिद्धतासे भी वह (अर्थान्तरत्व) नहीं बनता । 'इसमें यह है' (अर्थात् द्रव्यमें सत्ता है) ऐसी प्रतीति होती है इसलिये वह बन सकता है,-ऐसा कहा जाय तो (पूछते हैं कि) 'इसमें यह है, ऐसी प्रतीति किसके आश्रय (कारण) से होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेदके आश्रयमे (अर्थात् द्रव्य और सत्तामें भेद होनेसे) होती है तो, वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो है नहीं, क्योंकि युतसिद्धत्वका पहले ही निषेध कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक कहा जाय तो वह उपपन्न (ठीक) ही है, क्योंकि ऐसा (शास्त्रका) वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण नहीं है ।' परन्तु (यहां यह भी ध्यानमें रखना कि) यह अताद्भाविक भेद 'एकान्तसे इसमें यह है' ऐसी प्रतीतिका आश्रय (कारण) नहीं है, क्योंकि वह स्वयमेव उन्मग्न (प्रगट) और निमग्न (गौण) होता है। वह इस प्रकार है:—जब द्रव्यको पर्यायकी मुख्यतासे (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (पर्यायार्थिक नयसे देखा जाय) तब ही—'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादि की भांति, 'गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इस प्रकार अता-द्भाविक भेद उन्मग्न होता है,परन्तु जब द्रव्यको द्रव्यकी मुख्य-तासे (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (द्रव्यार्थिक नयसे देखा जाताहै), तब जिसके समस्त गुणवा-सनाके उन्मेष (प्रगटता) अस्त हो गयी है, ऐसे उस जीवके—'शुक्लवस्त्र ही है' इत्यादिकी भांति-'ऐसा द्रव्य ही है, इसप्रकार देखने वालेके समूल ही अताद्भाविक भेद निमग्न (गौण) होता है ।

इस प्रकार वास्तवमें भेदके निमग्न होने पर उसके आश्रयसे (कारणसे) होने वाली प्रतीति निमग्न होती है। उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता है, इसलिये समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है। और जब भेद उन्मग्न होता है, उसके उन्मग्न होने पर उसके आश्रय (कारण) से होने वाली प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी वह (सत्) द्रव्यके पर्यायरूपसे उन्मग्न होनेसे,—जैसे जलराशिसे जलतरंगें व्यतिरिक्त नहीं हैं (अर्थात् समुद्रसे तरंगें अलग नहीं हैं) उसी प्रकार द्रव्यसे व्यतिरिक्त नहीं होता।

ऐसा होनेसे (यह निश्चित हुआ कि द्रव्य स्वयमेव सत् है। जो ऐसा नहीं मानता वह वास्तवमें 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि) ही मानना ॥ ९८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सदपि स्वभावत एवेत्याख्याति,—

(दव्वं सहावसिद्धं) द्रव्यं परमात्मद्रव्यं स्वभावसिद्धं भवति। कस्मात्। अनाद्यनन्तेन परहेतुनिरपेक्षेण स्वतःसिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिणतसर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात्। यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद्द्रव्यमपि न भवति। द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च। (सदिति) यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्नसत्तासमवायात्। अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योसौ सत्तागुणः सोपि स्वभावसिद्ध एव। कस्मादिति चेत्। सत्ताद्रव्ययोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात्। इदं के कथितवन्तः। (जिणा तच्चदो समक्खादा) जिनाः कर्तारः तत्त्वतः सम्यगाख्यातवन्तः कथितवन्तः (सिद्धं तह आगमदो) सन्तानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्धं (णेच्छदि जो, सो हि परसमओ) नेच्छति न मन्यते य इदं वस्तुस्वरूपं स हि स्फुटं परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति। एवं यथा परमात्मद्रव्यं स्वभावतः सिद्धमवबोद्धव्यं तथा सर्वद्रव्याणीति। अत्र द्रव्यं केनापि पुरुषेण न क्रियते। सत्तागुणोपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ ९८ ॥

उत्थानिका—आगे यह कहते हैं कि जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे ही सत् भी स्वभावसे सिद्ध है—

गाथार्थ—(दव्वं) द्रव्य (सहावसिद्धं) स्वभावसे सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रोंने (तच्चदा) तत्त्वसे (समक्खादो) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगमसे (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नहीं मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगटरूपसे परसमयरूप है।

टीकार्थ—यहां परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते हैं कि परमात्मारूपी द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है क्योंकि परमात्मा अनादि अनन्त, विना अन्य कारणोंकी अपेक्षाके अपने स्वतः-सिद्ध केवलज्ञानादि गुणोंके आधारभूत हैं, सदा आनन्दमई सुखामृतरूपी परम समरसी भावमें परिणमन करते हुए सर्व शुद्ध आत्मप्रदेशोंसे भरपूर हैं तथा शुद्ध उपादान रूपसे अपने ही स्वभावसे उत्पन्न हैं। जो सत् स्वरूप स्वभावसे सिद्ध नहीं होता है वह द्रव्य भी नहीं होता है। जैसे द्विणुक आदि पुद्गलस्कंधकी पर्याय व मनुष्यादि जीवपर्याय। जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है, सत्ता किसी भिन्न सत्ताके समवायसे नहीं हुई है। क्योंकि सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिसे भेद होनेपर भी जैसे दंड और दंडी पुरुषके प्रदेशोंका भेद है, ऐसी प्रदेशोंकी भिन्नता सत्ता और द्रव्यमें नहीं है। इस बातको तीर्थंकरों ने भले प्रकार वर्णन किया है। तथा यही बात सन्तानकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनंत आगमसे भी सिद्ध है। जो ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं स्वीकार करता है वह मिथ्यादृष्टी है। इस तरह जैसा परमात्म द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है तैसे ही सर्व द्रव्योंको स्वभावसे सिद्ध जानना चाहिये द्रव्यको किसी पुरुषने रचा नहीं है और न द्रव्यका सत्ता गुण ही द्रव्यसे भिन्न है, इस गाथाका यह अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥६६॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ६६ ॥

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः। यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः। यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्पर-व्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः। यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपा-

भ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूति-संहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति । यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतया तदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतदाघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥ ९९ ॥

अब, यह बतलाते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेपर भी द्रव्य 'सत्' है:—

अन्वयार्थ—[स्वभावे] स्वभावमें [अवस्थितं] अवस्थित [सत्] सत् [द्रव्यं] द्रव्य है, [द्रव्यस्य] द्रव्यका [अर्थेषु] गुणपर्यायों में [यः हि] जो [स्थितिसंभवनाशसंबद्धः] उत्पादव्ययध्रौव्य सहित [परिणामः] परिणाम है [सः] वह [स्वभावः] उसका स्वभाव है ।

टीका:—यहां (विश्वमें) वास्तवमें स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेसे सत् द्रव्य है । स्वभाव द्रव्यका ध्रौव्य-उत्पाद-विनाशकी एकतास्वरूप परिणाम है । जैसे द्रव्य वास्तुके +समग्रतया (अखण्डतासे) एक होनेपर भी, विस्तारक्रमकी प्रवृत्ति में वर्तने वाले सूक्ष्म अंश प्रदेश हैं, इसीप्रकार द्रव्यकी वृत्ति (द्रव्य परिणति, द्रव्य प्रवाह) के, समग्रतया एक होनेपर भी, प्रवाहक्रमकी प्रवृत्तिमें वर्तनेवाला सूक्ष्म अंश परिणाम हैं । जैसे प्रदेशोंके परस्पर व्यतिरेक के कारण से होनेवाला विष्कम्भ क्रम है, उसी प्रकार परिणामों के परस्पर व्यतिरेकके कारण से होनेवाला प्रवाहक्रम है ।

+—द्रव्यका वास्तु—द्रव्यका स्व-विस्तार, द्रव्यका स्व क्षेत्र, द्रव्यका स्व-आकार, द्रव्यका स्व-बल । (वास्तु घर, निवासस्थान, आश्रय, भूमि ।)

जैसे वे प्रदेश अपने स्थानमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्व-रूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकवास्तुपनेसे अनुत्पन्न-अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति संहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूप को धारण करते हैं, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसरमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्व-रूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहपनेसे अनुत्पन्न अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूपको धारण करते हैं। और जैसे जो पूर्व प्रदेशके विनाश रूप वस्तुका सीमान्त है, वही उसके बादके प्रदेशका उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक वास्तुत्वसे दोनों (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नहीं है (ध्रुव है) इसी प्रकार जो ही पूर्व परिणामके विनाशरूप प्रवाहका सीमान्त है, वही उसके बादके परिणामके उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहत्वसे दोनों (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नहीं है (ध्रुव है)।

इस प्रकार स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धतिमें (परिणामोंकी परम्परामें) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम नहीं करता, इसलिये सत्त्वको त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिये मोतियोंके हारकी भांति।

जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुये मोतियोंके हारमें, अपने अपने स्थानोंमें प्रकाशित होते हुये समस्त मोतियोंमें, अगले-अगले स्थानोंमें अगले-अगले मोती प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहलेके मोती प्रगट नहीं होते इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता सूत्र अवस्थित होनेसे, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। इसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहणकी है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुये समस्त परिणामों में अगले-अगले अवसरों पर अगले परिणाम प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहलेके परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होनेसे, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९९ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्यं भवतीति प्रज्ञापयति,—

(सवट्ठिदं सहावे दव्वं) द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं भवति। किं कर्तृ। सदिति शुद्धचेतनान्वयरूपमस्तित्वं। किं-

विशिष्टं । अवस्थितं । क्व । स्वभावे । स्वभावं कथयति—(दव्वस्स जो हि परिणामो) तस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धी हि स्फुटं यः परिणामः । केषु विषयेषु । (अत्थेसु) परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनयेनार्था भण्यन्ते । के ते । केवलज्ञानादिगुणाः सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु योसौ परिणामः । (सो सहाओ) केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति । स च कथंभूतः । (ठिदिसंभवणाससंबंधो) स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य संभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कविचारद्वितीयशुक्लध्यानसंज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण संबन्धो भवतीति । एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्यं परिणतं, तथापि द्रव्यार्थिकनयेन सत्तालक्षणमेव भवति । त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षणं कथं भण्यत इति चेत् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । यथेदं परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्यैः परिणतमेव सत्तालक्षणं भण्यते, तथा सर्वद्रव्याणीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

एवं स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वतःसिद्धं तथा सत्तागुणोपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेपि सत्तैव द्रव्यं भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए सत्ता ही द्रव्य स्वरूप है अथवा द्रव्य सत् स्वरूप है—

गाथार्थ—(सहावे) स्वभावमें (अवट्ठियं) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्वं) द्रव्य है । (दव्वस्स) द्रव्यका (अत्थेसु) गुण पर्यायोंमें (जो) जो (ठिदिसंभवणाससंबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है ।

टीकार्थ—स्वभावमें तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतनाका अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है । उस परमात्मा द्रव्यका अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व (यहां अरहंतपनेसे मतलब है) आदि पर्यायोंमें अपने आत्माकी प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समयमें परमागमकी भाषासे एकत्ववितर्क अवीचार रूप दूसरे शुक्ल ध्यानका या शुद्ध उपादानरूप सर्व रागादिके विकल्पकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञान पर्यायका नाश तथा उसी समय इन दोनों उत्पाद व्ययके आधाररूप परमात्म द्रव्यका स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चयसे उस परमात्म द्रव्यका केवलज्ञानादि गुण वा सिद्धत्व आदि पर्यायरूप स्वभाव है । गुण पर्याय द्रव्यके स्वभाव हैं इसलिये उनको अर्थ कहते हैं । इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभावसे एक समयमें यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे परमात्म द्रव्य परिणमन करते हैं तथापि द्रव्यार्थिक नयसे सत्ता लक्षण रूप ही हैं । तीन लक्षण रूप होते हुए भी सत्ता लक्षण क्यों कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है । जैसा कहा है " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " जैसे यह परमात्म द्रव्य एक समयमें ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणमन करता हुआ ही सत्ता लक्षण कहा जाता है तैसे ही सर्व द्रव्योंका स्वभाव है यह अर्थ है ॥ ९९ ॥

इस तरह स्वरूप सत्ताको कहते हुए प्रथम गाथा, महासत्ताको कहते हुए दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसे उसकी सत्ता गुण भी स्वतः सिद्ध है ऐसा कहते हुए तीसरी गाथा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए भी सत्ता हीको द्रव्य कहते हुए चौथी गाथा इस तरह चार गाथाओंके द्वारा सत्ता लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता करके दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढयति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥१००॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीनः ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥१००॥

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण । य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति । तथाहि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात् । य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात् । यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात् । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात् । यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा । तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत् । असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात् । तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा । तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत् । सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात् । तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा । तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् । क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात् । तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥१००॥

अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका परस्पर अविनाभाव दृढ करते हैं:—

अन्वयार्थः—[भवः] उत्पाद [भङ्गविहीनः] भंग (व्यय) रहित [न] नहीं होता [वा] और [भङ्गः] व्यय [संभवविहीनः] उत्पाद-रहित [नास्ति] नहीं होता, [उत्पादः] उत्पाद [अपि च] तथा [भङ्गः] व्यय [ध्रौव्येण अर्थेन विना] ध्रौव्य पदार्थके बिना [न] नहीं होता।

टीकाः—वास्तवमें उत्पाद, व्ययके बिना नहीं होता और व्यय, उत्पादके बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्ययके बिना नहीं होता।

जो उत्पाद है वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है। वह इसप्रकार है कि-जो कुम्भका उत्पाद है वही मृत्तिका-पिण्डका व्यय है, क्योंकि भावका भावान्तरके अभाव स्वभावसे अवभासन है; (अर्थात् भाव अन्यभावके अभावरूप स्वभावसे प्रकाशित है—दिखाई देता है।) और जो मृत्तिका-पिण्डका व्यय है वही कुम्भका उत्पाद है, क्योंकि अभावका भावान्तरके भावस्वभावसे अवभासन है; (अर्थात् व्यय अन्यभावके उत्पादरूप स्वभावसे प्रकाशित है।)

और जो कुम्भका उत्पाद और पिण्डका व्यय है वही मृत्तिकाका ध्रौव्य है, क्योंकि व्यतिरेकोंके द्वारा ही अन्वयका प्रकाशन है। और जो मृत्तिकाका ध्रौव्य है वही कुम्भका उत्पाद और मृत्पिण्डका व्यय है, क्योंकि व्यतिरेकों के अन्वयका उल्लंघन नहीं है। और यदि ऐसा न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है। (अर्थात् तीनों पृथक् पृथक् हैं, ऐसा माननेका प्रसंग आजायगा।) ऐसा होने पर क्या दोष आता है, सो समझाते हैं):—

केवल उत्पाद-अन्वेषकको कुम्भकी (व्यय और ध्रौव्यसे भिन्न मात्र उत्पाद को जाननेवाले व्यक्तिको कुम्भकी), उत्पादनके (उत्पत्तिके) कारणका अभाव होनेसे, उत्पत्ति ही नहीं मिलेगी, अथवा असत्का ही उत्पाद होगा। और वहां, (१) यदि कुम्भकी उत्पत्ति न होगी तो

समस्त ही भावों की उत्पत्ति ही न होगी। (अर्थात् जैसे कुम्भ की उत्पत्ति नहीं होगी, उसही प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य में किसी भी भाव का उत्पाद नहीं होगा, यह दोष आयगा), अथवा (२) यदि असत् का उत्पाद होवे तो आकाश के पुष्प इत्यादि का भी उत्पाद होगा, (अर्थात् शून्य में से पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे,—यह दोष आयगा ।)

और, केवल व्ययको आरम्भ करने वाले (उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय करने को उद्यत) मृत्पिण्डका, व्ययके कारणका अभाव होनेसे, व्यय ही नहीं होगा, अथवा सत्का ही उच्छेद होगा। वहां, (१) यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावोंका व्यय ही नहीं होगा, (अर्थात् जैसे मृत्तिकापिण्डका व्यय नहीं होगा उसी प्रकार विश्वके किसी भी द्रव्यमें किसी भी भावका व्यय ही नहीं होगा,-यह दोप आयगा), अथवा (यदि सत्का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादिका भी उच्छेद हो जायगा, (अर्थात् समस्त द्रव्योंका सम्पूर्ण नाश हो जायगा,-यह दोप आयगा।)

और केवल ध्रौव्यको प्राप्त करनेको जानेवाली मृत्तिका का, व्यतिरेक सहित ध्रौव्यका, अन्वयका (मृत्तिका का) अभाव होनेसे, ध्रौव्य ही नहीं होगा, अथवा क्षणिकको ही नित्यत्व आजायगा। वहां (१) मृत्तिकाका ध्रौव्यत्व न हो तो समस्त ही भावोंका ध्रौव्य ही नहीं होगा, (अर्थात् यदि मिट्टी ध्रुव न रहे तो मिट्टीकी ही भांति विश्वका कोई भी द्रव्य ध्रुव ही नहीं रहेगा,—यह दोप आयगा।) अथवा (२) यदि क्षणिकका नित्यत्व हो तो चित्तके क्षणिक-भावोंका भी नित्यत्व होगा, (अर्थात् मनका प्रत्येक विकल्प भी त्रैकालिक ध्रुव होजाय यह दोप आयेगा।)

इसलिये उत्तर उत्तर व्यतिरेकोंकी उत्पत्तिके साथ, पूर्व पूर्व व्यतिरेकोंके संहारके साथ और अन्वयके अवस्थान (ध्रौव्य) के साथ अविनाभाववाला, जिसका निर्विघ्न (अबाधित) त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है, ऐसा द्रव्य अवश्य मानने योग्य है ॥ १०० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्परसापेक्षत्वं दर्शयति,—

(ण भवो भंगविहीणो) निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पादः, तद्विपरीतमिथ्यात्वपर्यायस्य भङ्गं विना न भवति । कस्मात् । उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभङ्गाभावे घटोत्पाद इव । द्वितीयं च कारणं मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात् । तदपि कस्मात् । "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभावः" इति वचनात् । घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभङ्ग इव । यदि पुनर्मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तर्ह्युपादानकारणरहितानां खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु ? न च तथा । (भंगो वा णत्थि संभवविहीणो) परद्रव्योपादेयरूपमिथ्यात्वस्य भङ्गो नास्ति । कथंभूतः । पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसंभवरहितः । कस्मादिति चेत् । भङ्गकारणाभावात्, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीयं च कारणं सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्यायाभावरूपेण दर्शनात् । तदपि कस्मात् । पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वाद्, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव । यदि पुनः सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्वपर्यायाभावस्तर्ह्यभाव एव न स्यात् । कस्मात् । अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव । (उप्पादोवि य भंगो ण विणा दव्वेण अत्थेण) परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भङ्गो वा नास्ति । कं विना । तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थं विना । कस्मात् । द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्याभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभङ्गाभावादिति । यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादादित्रयं दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषु द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ १०० ॥

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंमें परस्पर अपेक्षापना है, ऐसा दिखलाते हैं—

गाथार्थ—(भंग विहीणो भवो ण) व्ययके विना उत्पाद नहीं होता है (वा) तथा (संभवविहीणो भंगो णत्थि) उत्पादके विना भंग या व्यय नहीं होता है (य) और (उप्पादो वि) उत्पाद तथा (भंगो) व्यय (धोव्वेण अत्थेण विणा ण) ध्रौव्य पदार्थके विना नहीं होते।

टीकार्थ—निर्दोष परमात्माकी रूचिरूप सम्यक्त्व अवस्थाका उत्पाद सम्यक्त्वसे विपरीत मिथ्यात्व पर्यायके नाशके विना नहीं होता है क्योंकि उपादान कारणके अभावसे कार्य नहीं बन सकेगा। जब उपादान कारण होगा तब ही कार्य होसक्ता है। जैसे मिट्टीके पिंडका नाश हुए विना घड़ा नहीं पैदा होसक्ता है। मिट्टीका पिंड उपादान कारण है। दूसरा कारण यह है कि जो मिथ्यात्व पर्यायका नाश है वही सम्यक्त्वकी पर्यायका प्रतिभास है क्योंकि ऐसा सिद्धांतका वचन है कि "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभावः" अन्य भाव रूप स्वभाव ही अभाव होता है अर्थात् अभाव नहीं होता—अन्य अवस्थारूप परिणमना ही अभाव है जैसे घटका उत्पन्न होना ही मिट्टीके पिंडका भंग है। यदि मिथ्यात्व पर्यायके भंगरूप सम्यक्त्वके उपादान कारणके अभावमें भी शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप सम्यक्त्वका उत्पाद हो जावे तो उपादान कारणसे रहित आकाशके पुष्पोंका भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सक्ता है। इसीतरह पर-द्रव्य उपादेय है-ग्राह्य है, ऐसे मिथ्यात्वका नाश पूर्वमें कहे हुए सम्यक्त्व पर्यायके उत्पाद विना नहीं होता है क्योंकि

भंगके कारणका अभाव होनेसे भंग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्तिके अभावमें मिट्टीके पिंडका नाश नहीं बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त्व रूप पर्यायकी उत्पत्ति मिथ्यात्व रूप पर्यायके अभाव रूपसे ही देखने में आती है क्योंकि एक पर्यायका अन्य पर्यायमें पलटना होता है। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्ति मिट्टीके पिंडके अभाव रूपसे ही होती है। यदि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी अपेक्षाके विना मिथ्यात्व पर्यायका अभाव होता है, ऐसा माना जाय तो मिथ्यात्व पर्यायका अभाव हो ही नहीं सक्ता क्योंकि अभावके कारणका अभाव है अर्थात उत्पाद नहीं है। जैसे घटकी उत्पत्तिके विना मिट्टीके पिंडका अभाव नहीं हो सक्ता इसी तरह परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्त्वका उत्पाद तथा उससे विपरीत मिथ्यात्व पर्यायका नाश ये दोनों बातें इन दोनोंके आधारभूत परमात्म-रूप द्रव्य पदार्थके विना नहीं होतीं। क्योंकि द्रव्यके अभावमें व्यय और उत्पादका अभाव है। मिट्टी द्रव्यके अभाव होने पर न घटकी उत्पत्ति होती है, न मिट्टीके पिंडका भंग होता है। जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व पर्याय दोनोंमें परस्पर अपेक्षापना है ऐसा समझकर ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों दिखलाए गए हैं इसी तरह सर्व द्रव्यकी पर्यायोंमें देख लेना व विचार लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥ १०० ॥

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०१॥

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः।
द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०१॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजांकुरपादपत्ववत्। यथा किलांशिनः पादपस्य बीजांकुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोऽशा भङ्गोत्पाद—ध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो

द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति । यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते । तथाहि भंगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः सदुच्छेदो वा । उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा । ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा । अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥१०१॥

अब, उत्पादादिका द्रव्यसे अर्थान्तरत्वको नष्ट करते हैं, (अर्थात् यह सिद्ध करते हैं कि उत्पाद्व्यय-ध्रौव्य द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं हैं):—

अन्वयार्थः—[उत्पाद-स्थिति-भङ्गाः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [पर्यायेषु] पर्यायोंमें (अंशों में) [विद्यन्ते] रहते हैं [हि] निश्चय से [पर्यायाः] पर्यायें [द्रव्ये हि सन्ति] द्रव्य में होती हैं, [तस्मात्] इसलिये [नियतं] नियमसे [सर्वं] वह सब (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) [द्रव्यं भवति] द्रव्य है।

टीका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तवमें पर्यायों (अंशों) को आलम्बन करते हैं, और वे पर्यायें द्रव्यको आलम्बन करती हैं, इसलिये यह सब द्रव्य ही है, द्रव्यान्तर नहीं (उत्पाद व्यय-ध्रौव्य द्रव्यसे पृथक पदार्थ नहीं हैं)

वास्तव में प्रथम तो द्रव्य पर्यायोंके (अंशों) के द्वारा आलम्बित किया जाता है, क्योंकि समुदायी (समुदायवान्) समुदायस्वरूप होता है, वृक्षकी भांति जैसे समुदायी वृक्ष, स्कंध मूल और शाखाओं का समुदायस्वरूप होनेसे स्कंध, मूल और शाखाओंसे आलम्बित ही प्रतिभासित होता है (दिखाई देता है), इसही प्रकार समुदायी द्रव्य, पर्यायोंका समुदायस्वरूप होनेसे पर्यायोंके द्वारा आलम्बित ही प्रतिभासित होता है । (अर्थात् जैसे स्कंध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रित ही हैं—वृक्षसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं, उसही प्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं,—द्रव्यसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं ।)

और पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके द्वारा आलम्बित हैं (अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं) क्योंकि उत्पाद-व्यय ध्रौव्य के अंश-धर्मपना है, बीज, अंकुर और वृक्षत्वकी भांति। जैसे अंशीवृक्षके बीज वृक्षत्वस्वरूप तीन अंश, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निज धर्मोंसे आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं, उसी प्रकार अंशी-द्रव्यके, नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव, और अवस्थित रहने वाला भाव-यह हैं लक्षण जिनके ऐसे तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निजधर्मोंके द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं। किन्तु यदि द्रव्यका ही (१) व्यय, (२) उत्पाद और (३) ध्रौव्य माना जाय तो सारी गड़बड़ी होजायगी। यथा-(१) अकेले, यदि द्रव्यका ही व्यय माना जाय, तो क्षणभंगसे लक्षित समस्त द्रव्योंका एक क्षणमें ही व्यय होजानेसे द्रव्यशून्यता आजायगी, अथवा सत्का उच्छेद होजायगा। (यदि द्रव्यका ही उत्पाद माना जाय, तो समय-समय पर होनेवाले उत्पादके द्वारा चिन्हित द्रव्योंको अनन्तता आजायगी। (अर्थात् समय-समयपर होनेवाला उत्पाद जिसका चिह्न हो ऐसा प्रत्येक द्रव्य अनन्त द्रव्यत्वको प्राप्त होजायगा) अथवा असत्का उत्पाद हो जायगा, (३) यदि द्रव्यका ही ध्रौव्य माना जाय तो क्रमशः होनेवाले भावोंके अभावके कारण द्रव्यका अभाव हो जायगा, अथवा क्षणिकत्व आजायगा।

इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके द्वारा पर्यायें आलम्बित हों, और पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आलम्बित हो, कि जिससे यह सब एक ही द्रव्य होता है॥ १०१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति,—

(उप्पादट्ठिदिभंगा) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्गः, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्युक्तलक्षणास्त्रयो भङ्गाः कर्तारः (विज्जंते) विद्यन्ते तिष्ठन्ति। केषु। (पज्जएसु) सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसंवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भंगस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्यं चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु (पज्जाया दव्वं हि संति) ते चोक्तलक्षणज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुटं द्रव्यं सन्ति (णियदं) निश्चितं प्रदेशाभेदेपि स्वकीयस्वकीयसंज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन (तम्हा दव्वं हवदि

सव्वं) यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रयं स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयं चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्वं द्रव्यं भवति । पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनयः । यथेदं ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भंगत्रयं व्याख्यातं तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥ १०१ ॥

उत्थानिका—आगे यह बताते हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका द्रव्यके साथ परस्पर आधार आधेय भाव है इसलिये अन्वयरूप द्रव्यार्थिक नयसे वे द्रव्य ही हैं—

गाथार्थ—(उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (पज्जएसु) पर्यायोंमें (विज्जंते) रहते हैं। (पज्जाया) पर्यायें (णियदं हि) निश्चयसे ही (दव्वं) द्रव्यमें (संति) रहती हैं। (तम्हा) इस कारण से (सव्वं) वे सब पर्यायें (दव्वं) द्रव्य (हवदि) हैं।

टीकार्थ—(वृत्तिकार सम्यग्दर्शन पर्यायका दृष्टांत देखकर बताते हैं कि) विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप आत्मतत्वका निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे उत्पाद, उसी ही समयमें स्वसंवेदन ज्ञानसे विलक्षण अज्ञान पर्यायरूपसे व्यय तथा इन दोनोंका आधारभूत आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य ऐसे ये तीनों ही भेद पर्यायोंमें रहते हैं अर्थात् सम्यक्त्व-पूर्वक निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान पर्यायसे उत्पाद है तथा स्वसंवेदन-रहित अज्ञान पर्यायरूपसे व्यय तथा इन दोनोंका आधाररूप आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य अपनी अपनी पर्यायोंमें रहते हैं। और ये ऊपर कहे हुए लक्षण सहित जो ज्ञान, अज्ञान और इन दोनोंका आधाररूप आत्म-द्रव्यपना ऐसी ये पर्यायें निश्चय करके अपने २ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि के भेदसे भेदरूप हैं तथापि आत्माके प्रदेशोंमें होनेसे अभेदरूप हैं इसलिये जब निश्चयसे ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य आधार आधेय भावसे द्रव्यमें रहते हैं तब यह स्वसंवेदन ज्ञान आदि पर्यायरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों अन्वय द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य हैं। पूर्वकथित उत्पाद आदि तीनोंका तैसे ही स्वसंवेदन ज्ञान आदि तीनो पर्यायोंका अनुगत आकारसे व अन्वय रूपसे जो आधार हो सो अन्वय द्रव्य कहलाता है। अन्वय द्रव्य जिसका विषय हो उसको अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे यहां ज्ञान अज्ञान पर्यायोंमें तीन भेद कहे गए तैसे ही सर्व द्रव्यकी पर्यायोंमें यथासंभव जान लेना चाहिये यह अभिप्राय है॥ १०१ ॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते। यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम्॥ १०२॥

अब उत्पादादिकों के समय-भेदको निराकृत करके, (उनके) द्रव्यपनेको (एक ही द्रव्य हैं) प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[द्रव्यं] द्रव्य [एकस्मिन् च एव समये] एक ही समयमें [संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थोंके साथ [खलु] वास्तवमें [समवेतं] एकमेक है, [तस्मात्] इसलिये [तत् त्रितयं] यह त्रितय [खलु] वास्तवमें [द्रव्यं] द्रव्य है।

टीकाः—(प्रथम शंका उपस्थित की जाती है:—) यहां, (विश्वमें) वस्तुका जो जन्मक्षण है वह जन्मसे ही व्याप्त होनेसे स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, (वह पृथक् ही होता है), जो स्थितिक्षण है वह दोनोंके अन्तरालमें (उत्पादक्षण और नाशक्षणके बीच) दृढतया

रहता है, इसलिये (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है, वह, वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाशको प्राप्त होती है इसलिये,—जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है,-इस प्रकार तर्क-पूर्वक विचार करने पर उत्पादादिका क्षणभेद हृदयभूमिमें अवतरित होता है (अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका समय भिन्न-भिन्न होता है, एक नहीं होता,-इसप्रकारकी बात हृदयमें जमती है।)

(यहां उपरोक्त शंकाका समाधान किया जाता है:—) इस प्रकार उत्पादादिका क्षणभेद हृदयभूमिमें तभी उतर सकता है जब कि यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा तो माना नहीं गया है, (क्योंकि यह स्वीकार और सिद्ध किया गया है कि) पर्यायोंके उत्पाद आदि हैं, (तब फिर) वहां क्षणभेद कहां से हो सकता है? यह समझाते हैं:—

जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवरसे आरोपित किये जानेवाले संस्कारकी उपस्थितिमें जो वर्धमान (घड़ा) का जन्मक्षण होता है वही मृत्तिकापिण्डका नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) में रहने वाले मृत्तिकात्वका स्थितिक्षण होता है, इसी प्रकार अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) साधनोंसे आरोपित किये जानेवाले संस्कारोंकी उपस्थितिमें, जो उत्तरपर्यायका जन्मक्षण होता है वही पूर्व-पर्यायका नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) में रहनेवाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है।

और जैसे रामपात्रमें, मृत्तिकापिण्डमें और मृत्तिकात्वमें प्रत्येक में (क्रमशः) वर्तते हुये भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिकामें सम्पूर्णतया (सभी एकत्रित) एक समयमें ही देखे जाते हैं, इसीप्रकार उत्तर-पर्यायमें, और पूर्वपर्यायमें, और द्रव्यत्वमें प्रत्येकमें (क्रमशः) प्रवर्तमान होनेपर भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्यमें सम्पूर्णतया (तीनों एकत्रित) एकसमयमें ही देखे जाते हैं।

और जैसे रामपात्र, मृतिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार उत्तर-पर्याय, पूर्व-पर्याय और द्रव्यत्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥ १०२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथोत्पादादीनां पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेदं समर्थयति समयभेदं च निराकरोति,—

(समवेदं खलु दव्वं) समवेतमेकीभूतमभिन्नं भवति खलु स्फुटं । किं । आत्मद्रव्यं । कैः सह (संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चलनिर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पादः तथैव रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसंज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह । तर्हि किं बौद्धमतवद्भिन्नभिन्नसमये त्रयं भविष्यति । नैवं । (एकम्मि चेव समये) अंगुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्संसारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव । (तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं) यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भंगत्रयेण परिणमति तस्मात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुटं द्रव्यं भवति । यथेदं चारित्राचारित्रपर्यायद्वये भंगत्रयमभेदेन दर्शितं तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थः ॥ १०२ ॥

एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपलक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यका अन्य प्रकारसे द्रव्यके साथ अभेद दिखाते हैं और उत्पाद व्यय ध्रौव्यका समयभेद नहीं है, ऐसा बताते हैं व जो समयभेद माने उसे निराकरण करते हैं या खण्डन करते हैं—

गाथार्थ—(दव्वं) द्रव्य (खलु) निश्चयसे (एकम्मि चेव समये) एक ही समयमें परिणमन करनेवाले (संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) उत्पाद स्थिति व नाशके भावोंसे (समवेदं) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्वं) द्रव्य (खु) प्रगट रूपसे (तत्तिदयं) उन तीन रूप है ।

टीकार्थ—आत्मा नामा द्रव्य जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार-रहित अपने आत्माके अनुभवमय लक्षणवाले वीतराग चारित्रकी अवस्थासे उत्पन्न होता है अर्थात् जब सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी आत्मामें वीतराग चारित्रकी पर्यायका उत्पाद होता है तब ही रागादिरूप पर्यायका जो परद्रव्योंके साथ एकता करके परिणमन कर रहा था, नाश होता है और उसी वक्त इन दोनों उत्पाद और व्ययके आधाररूप आत्म द्रव्यकी अवस्थारूप पर्यायसे ध्रौव्यपना है । इस तरह वह आत्मद्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी पर्यायोंसे एक रूप है या अभिन्न है । यही बात निश्चयसे है । ये तीनों पर्यायें बौद्धमतकी तरह भिन्न २ समयमें नहीं होती हैं किन्तु एक ही समयमें होती हैं । जैसे जब अंगुलीको टेढा किया जावे तब एक ही समयमें टेढ़ेपनेकी उत्पत्ति और सीधेपनका नाश तथा अंगुलीपनेका ध्रौव्य है । इसी तरह जब कोई संसारी जीव मरण करके ऋजुगतिसे एक ही समयमें जाता है तब जो समय मरणका है वही समय ऋजुगति प्राप्तिका है तथा वह जीव अपने जीवपनेसे विद्यमान है ही । तैसे ही जब क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है तब ही अज्ञानपर्यायका नाश होता है तथा वीतरागी आत्माकी स्थिति है ही । इसी तरह जब अयोगी केवलीके अन्त समयमें मोक्ष होती है तब

जिस समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है तब ही चौदहवें गुणस्थानकी पर्यायका नाश है तथा दोनों ही अवस्थाओंमें आत्मा ध्रुवरूप है ही। इस तरह एक ही समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध होते हैं। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है, इसलिये द्रव्य प्रगट रूपसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसे यहां आत्मामें चारित्रपर्यायकी उत्पत्ति और अचारित्रपर्यायका नाश समझाते हुए तीनों ही भंग अभेदपने दिखाए गए हैं, ऐसे ही सर्व द्रव्योंकी पर्यायोंमें भी जानना चाहिये। ऐसा अर्थ है ॥ १०२ ॥

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्यका लक्षण है। इस व्याख्यानकी मुख्यताके तीन गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥१०३॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥१०३॥

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते। तथा सर्वेऽपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च। समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते। यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते। एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥१०३॥

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको अनेक (एकसे अधिक) द्रव्योंसे होनेवाली पर्याय द्वारा विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[द्रव्यस्य] द्रव्यकी [अन्यः पर्यायः] अन्य द्रव्य पर्याय [प्रादुर्भवति]

उत्पन्न होती है [च] और [अन्यः पर्यायः] कोई अन्य द्रव्य पर्याय [व्येति] नष्ट होती है, [तदपि] फिर भी [द्रव्यं] द्रव्य [प्रणष्टं न एव] न तो नष्ट होता है, [उत्पन्नं न] न उत्पन्न होता है। (वह तो द्रव्यपने से ध्रुव रहता है।)

टीकाः—यहां विश्वमें) वास्तवमें जैसे एक त्रि-अणुककी समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी चतुरणुक (समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे तीन या चार पुद्गल (परमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं) इसी प्रकार सबही समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती हैं, किन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं) ।

और, जैसे एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे जीव पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं, इसी प्रकार सब ही असमानजातीय द्रव्य-पर्यायें विनष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमान-जातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इस प्रकार स्वतः (द्रव्यत्वेन) ध्रुव और द्रव्य-पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य उत्पाद् व्यय-ध्रौव्य हैं ॥ १०३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति,—

(पादुब्भवदि य) प्रादुर्भवति च जायते (अण्णो) अन्यः कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः । स कः । (पज्जाओ) परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः (पज्जओ वयदि अण्णो) पर्यायो व्येति विनश्यति । कथंभूतः । अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः । कस्य संबन्धी पर्यायः । (दव्वस्स) परमात्मद्रव्यस्य (तंपि दव्वं) तदपि परमात्मद्रव्यं (णेव य णट्ठं ण उप्पण्णं) शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्टं न चोत्पन्नम् ।

अथवा संसारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्यं निश्चयेन न चोत्पन्नं न च विनष्टं, पुद्गलद्रव्यं वा द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेपि निश्चयेन न चोत्पन्नं न च विनष्टमिति । ततः स्थितं येतः कारणादुत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणां विनाशोत्पादेपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, ततः कारणाद्द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षणं भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ १०३॥

उत्थानिका—आगे इस बातको दिखलाते हैं कि द्रव्यमें पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है—

गाथार्थ—(दव्वस्स) द्रव्यकी (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पर्याय (पादुब्भवदि) प्रगट होती है (य) और (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पूर्व पर्याय (वयदि) नष्ट होती है (तंपि) तौभी (दव्वं) द्रव्य (णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है।

टीकार्थ—शुद्ध आत्मा द्रव्यके जब कोई अपूर्व और अनन्त ज्ञान सुख आदि गुणोंकी स्थान तथा अविनाशी परमात्म-स्वरूपकी प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य-पर्याय अथवा मोक्ष-अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष-पर्यायसे भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्यायकी उपादान कारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है। तथापि वह परमात्मा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है।

अथवा संसारी जीवकी अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव-द्रव्य-पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदिरूप पर्याय नष्ट होती है। तथा वह जीव द्रव्य निश्चयसे न उपजा है, न विनष्ट है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यपर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणुका स्कंध, चार अणुका स्कंध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव-द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्यायको नाश करके ही पैदा होती है। तो भी पुद्गल द्रव्य निश्चयसे न उपजता है न नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेके कारण द्रव्यकी पर्यायोंका नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्यका नाश नहीं होता है। इस हेतुसे द्रव्य-पर्यायें भी द्रव्य लक्षण होती हैं, ऐसा अभिप्राय है ॥१०३॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१०४॥

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम्।
तस्माद् गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति ॥१०४॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात्। एक द्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत्। यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थाव-

स्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तु-पर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति १०४।

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक पर्यायके द्वारा विचार करते हैं:—

अन्वयार्थः—[सदविशिष्टं] सत् से अभिन्न [द्रव्यं स्वयं] द्रव्य स्वयं ही [गुणतः च गुणान्तरं] गुणसे गुणान्तररूप (एक गुणपर्याय से अन्यगुण पर्याय रूप) [परिणमते] परिणमता है, (द्रव्यकी सत्ता गुण पर्यायोंकी सत्ताके साथ अविशिष्ट अभिन्न-एक ही रहती है) [तस्मात् पुनः] और इस कारणसे [गुणपर्यायाः] गुणपर्यायें [द्रव्यम् एव] द्रव्य ही हैं [इति भणिताः] ऐसा कहा गया है ।

टीका—जो एक द्रव्यकी पर्यायें हैं वह वास्तवमें गुण-पर्यायें हैं, क्योंकि गुणपर्यायोंके एक द्रव्यत्व है । उनका द्रव्यत्व आम्रफलकी भांति है । जैसे आम्रफल स्वयं ही हरितभावसे पीतभावरूप परिणत होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव और पीतभावके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव करता है, इसलिये हरितभाव और पीतभावके साथ अभिन्न सत्तावाला होनेसे एक ही वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं, इसी प्रकार द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणमें से उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणरूप परिणत होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित उन गुणोंके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणोंके साथ अभिन्न सत्तावाला होनेसे एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं है (अन्य द्रव्य नहीं है)।

और, जैसे पीतभावसे उत्पन्न होता है, हरितभावसे नष्ट होता है, और आम्रफलरूपसे स्थिर रहता है, इसलिये आम्रफल एक वस्तुकी पर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, उसी प्रकार उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणसे उत्पन्न, पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणसे नष्ट और द्रव्यत्व गुणसे स्थिर होनेसे द्रव्य एक द्रव्यपर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है ।। १०४।।

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका—

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याविगुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति,—

(परिणमदि सयं दव्वं) परिणमति स्वयं स्वयमेवोपादानकारणभूतं जीवद्रव्यं कर्तृ । कं परिणमति ।

(गुणदो य गुणंतरं) निरुपरागस्वसंवेदनगुणात्केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञानगुणान्तरं। कथंभूतं सत्परिणमति। (सदविसिट्ठं) स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्नं। (तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवेत्ति) तस्मात्कारणान्न केवलं पूर्वसूत्रोदिताः द्रव्यपर्याया: द्रव्यं भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेपि द्रव्यमेव भवन्ति। अथवा संसारिजीवद्रव्यं मतिस्मृत्यादिविभावगुणं त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तरं परिणमति, पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुणं त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तरं परिणमति हरितगुणं त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमाम्रफलमिवेति भावार्थः ॥ १०४ ॥

एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपको गुण पर्यायकी मुख्यतासे बताते हैं।

गाथार्थ—(सदविसिट्ठं) अपनी सत्तासे अभिन्न (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) एक गुणसे (गुणंतरं) अन्य गुणरूप (सयं) स्वयं आप ही (परिणमदि) परिणमन कर जाता है। (तम्हा) इस कारणसे (य पुण) ही तब (गुणपज्जाया) गुणोंकी पर्यायें (दव्वमेवेत्ति) द्रव्य ही हैं ऐसी (भणिया) कही जाती हैं।

टीकार्थ—एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूपसे अभिन्न रहकर अपने ही उपादान कारणसे आप ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था उसको छोड़कर सर्व प्रकार से निर्मल केवलज्ञान गुणकी अवस्थाको परिणमन कर जाता है इस कारणसे जो गुणकी पर्यायें होती हैं वे भी द्रव्य ही हैं, पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण केवल द्रव्य-पर्यायें ही द्रव्य नहीं हैं अथवा संसारी-जीव-द्रव्य मति स्मृति आदि विभाव ज्ञान गुणकी अवस्थाको छोडकर श्रुतज्ञानादि विभाव ज्ञान गुणरूप अवस्थाको परिणमन कर जाता है ऐसा होकर भी जीव द्रव्य ही है। अथवा पुद्गल द्रव्य अपने पहलेके सफेद वर्ण आदि गुण पर्यायको छोड़कर लाल आदि गुण पर्यायमें परिणमन करता है ऐसा होकर भी पुद्गल द्रव्य ही है। अथवा आमका फल अपने हरे गुणको छोड़कर वर्णगुणकी पीत पर्यायमें परिणमन कर जाता है तो भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुणकी पर्यायें भी द्रव्य ही हैं ॥ १०४ ॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्यकी पर्यायें तथा गुणोंकी पर्यायें नयकी अपेक्षासे द्रव्यका लक्षण है। ऐसे कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १०५ ॥

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१०५॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम्।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥१०५॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात् ॥१०५॥

अब, सत्ता और द्रव्यके अभिन्नपने में (प्रदेशभेद न होने में) युक्ति उपस्थित करते हैं:

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [द्रव्यं] द्रव्य [सत् न भवति] (स्वरूपसे ही) सत् न हो तो-(१) [ध्रुवं असत् भवति] निश्चित असत् होगा, [तत् कथं द्रव्यं] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) [पुनः वाः] अथवा (यदि असत् न हो) तो (२) [अन्यत् भवति] वह सत्तासे अन्य [पृथक्] होगा ? (सो भी कैसे हो सकता है ?) [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यं स्वयं] द्रव्य स्वयं ही [सत्ता] सत्ता रूप है।

टीकाः—यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होंगी कि वह (१) असत् होगा, अथवा (२) सत्तासे पृथक् होगा। उनमेंसे यदि असत् होगा तो, ध्रौव्यके असंभव होनेसे स्वयंको स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जायगा, और (२) यदि सत्तासे पृथक् होगा तो सत्ताके विना भी अपनी सत्ता रखता हुआ, इतने (द्रव्यकी सत्ता रखने) मात्र प्रयोजन वाली सत्ताका लोप कर देगा।

†—सत्ताका कार्य इतना ही है कि वह द्रव्यको विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्तासे भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ताका प्रयोजन ही नहीं रहता, अर्थात् सत्ताके अभावका प्रसंग आजायगा।

स्वरूपसे ही सत् होता हुआ (१) ध्रौव्यके सद्भावके कारण स्वयंको स्थिर रखता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है), और (२) सत्तासे पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयंको स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजनवाली सत्ताको उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) रूपसे स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि भाव और भाववान् (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है (प्रदेश भेद न होते हुये संज्ञा-संख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है॥ १०५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्ति दर्शयति,—

(ण हवदि जदि सद्दव्वं) परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति। किं कर्तृ । परमात्मद्रव्यं तदा (असद्धुवं होदि) असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितं। अविद्यमानं सत् (तं कहं दव्वं) तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति ? किन्तु नैव। स च प्रत्यक्षविरोधः। कस्मात्। स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात्। अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते—यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीय-स्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति। अथवा स्वकीयस्व-रूपास्तित्वात्संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति तदा संमतमेव। अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति, । परिहारमाह—सिद्धपर्यायोपादा-नकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति वृक्षाभावे फलमिव। अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—(हवदि पुणो अण्णं वा) तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किन्तु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चा-त्सत्तासमवायात्सद्भवति। आचार्याः परिहारमाहुः—सत्तासमवायात्पूर्वं द्रव्यं सदसद्वा ? यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्तासमवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृ समवायं करोतु न च तथा। (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्य-स्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति। यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वेषां चेतनाचेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ १०५ ॥

उत्थानिका—आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्वन्धमें फिर भी अन्य प्रकारसे युक्ति दिखलाते हैं—

गाथार्थ—(जदि) यदि (सद्दव्वं) सत्तारूप द्रव्य (ण हवदि) नहीं होवे तो (तं दव्वं असद्धुवं कधं हवदि) वह द्रव्य निश्चयसे असत्तारूप होता हुआ किस तरह हो सकता है (वा पुणो

अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्तासे भिन्न हो जावे, क्योंकि ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं (तम्हा दव्वं सयं सत्ता इसलिये द्रव्यं स्वयं सत्ता-स्वरूप है।

टीकार्थ—(यहां वृत्तिकार परमात्म-द्रव्यपर घटाकर कहते हैं।) यदि वह परमात्म द्रव्य परम-चैतन्य प्रकाशमई स्वरूपसे व अपने स्वरूप सत्ताके अस्तित्व गुणसे सत् रूप न होवे तब वह निश्चयसे नहीं होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य होसके ? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे। यह बात प्रत्यक्षसे विरोध रूप है, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानसे अनुभवमें आता है। यदि कोई विना विचारे ऐसा माने कि सत्तासे द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षासे, यदि द्रव्य सत्ता गुणके अभावमें भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या २ दोष आवेंगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणोंके साथ अवश्य रहनेवाले अपने स्वरूपकी सत्तासे जुदा ही द्रव्य ठहर सकता है, ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूपका अस्तित्त्व नहीं है तब अपने स्वरूपकी सत्ताके विना द्रव्य नहीं रह सकता अर्थात् द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा। अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने २ स्वरूपके अस्तित्वसे सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है, तब तो हमको भी सम्मत है क्योंकि द्रव्यका ऐसा ही स्वरूप है,

इस अवसर पर बौद्धमतके अनुसार कहनेवाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्यायकी सत्तारूपसे द्रव्य उपचारमात्र है, मुख्यतासे नहीं है। इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि यदि सिद्ध पर्यायका उपादान कारणरूप परमात्मा द्रव्यका अभाव होगा तो सिद्ध पर्यायकी सत्ता ही नहीं संभव है। जैसे वृक्षके विना फलका होना सम्भव नहीं है।

इसी प्रस्तावमें नैयायिक मतके अनुसार कहनेवाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य है किंतु वह सत्तासे भिन्न रहता है, पीछे सत्ताके समवाय (संबंन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस पर प्रति-शंका करते हैं कि सत्ताके समवाय के पूर्व द्रव्य सत् है या असत् है ? यदि सत् है तो सत्ताका समवाय वृथा है क्योंकि द्रव्य पहलेसे ही अपने अस्तित्वमें है। यदि सत्ताके समवायसे पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्पकी तरह अविद्यमान उस द्रव्यके साथ किस तरह सत्ताका समवाय होगा ? यदि कहो कि सत्ता का समवाय हो जावेगा तब फिर आकाश पुष्पके साथ भी सत्ताका समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा है नहीं है। इसलिए अभेद नयसे शुद्ध-स्वरूपकी सत्तारूप ही परमात्म द्रव्यके साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ता का अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्योंका अपनी २ सत्तासे अभेद व्याख्यान करना चाहिये। ऐसे ही अचेतन द्रव्योंका अपनी सत्तासे अभेद है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०५ ॥

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधुत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य ।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः । एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात् । अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव । तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रिय-विषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः । तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनो निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः । अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम् । यत्त न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात् । अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

अब, पृथक्त्वका और अन्यत्वका लक्षण स्पष्ट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[प्रविभक्तदेशत्वं] विभक्तप्रदेशत्व (भिन्न भिन्न प्रदेशपना) [पृथक्त्वं] पृथक्त्व है, [इति हि] ऐसा निश्चित [वीरस्य शासनं] वीरका उपदेश है । [अतद्भावः] अतद्भाव (उसरूप न होना) [अन्यत्व है । (क्योंकि) [न तत् भवत्] जो उसरूप न हो

वह [कथं एकम्] एक कैसे हो सकता है ! (कथंचित् संज्ञा-संख्या-लक्षण आदिकी अपेक्षा सत्ता द्रव्यरूप नहीं है और द्रव्य सत्तारूप नहीं है, इसलिये वे एक नहीं हैं। अर्थात् दोनोंमें तद्भाव नहीं है, अतद्भाव है।)

टीका:—विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्वका लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्यमें संभव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमें विभक्तप्रदेशत्वका अभाव होता है,—शुक्लत्व और वस्त्रकी भांति। वह इस प्रकार है कि जैसे-जो ही शुक्लत्वके गुणके प्रदेश हैं वे ही वस्त्रके -गुणीके (प्रदेश) हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है, इसी प्रकार जो ही सत्ताके-गुणके (प्रदेश) हैं वे ही द्रव्यके-गुणीके हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

ऐसा होनेपर भी उनमें (सत्ता और द्रव्यमें) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्वके लक्षणका सद्भाव है। अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है। वह (अतद्भाव) तो सत्ता और द्रव्य के है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है,—शुक्लत्व और वस्त्रकी भांति। वह इसप्रकार है कि:—जैसे जो निश्चयसे एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आनेवाला और अन्य सब इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होनेवाला वस्त्र नहीं है और जो समस्त इन्द्रिय—समूहको गोचर होने वाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आने वाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण नहीं है। इसलिये उनके सद्भावका अभाव है इसी प्रकार, किसीके (द्रव्यके) आश्रय रहने वाली, निर्गुण (जिनके आश्रय अन्य गुण नहीं) एक गुणकी बनी हुई, विशेषणरूप, विधायक और वृत्तिस्वरूप (अस्तित्व रूप) जो सत्ता है वह किसीके आश्रयके बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्य, विधीयमान (अस्तित्व वाला) स्वरूप द्रव्य नहीं है, तथा जो किसीके आश्रयके बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसीके आश्रित रहनेवाली, निर्गुण, एक गुणसे निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नहीं है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है। इस कारणसे ही, सत्ता और द्रव्यके कथंचित् अनर्थान्तरत्व (अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है, तथापि उनके सर्वथा एकत्व होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि तद्भाव एकत्वका लक्षण है। जो उसरूप ज्ञात नहीं होता, वह (सर्वथा) एक कैसे हो सकता है ? (नहीं हो सकता)। परन्तु वह गुण और गुणीरूपसे अनेक ही है, यह अर्थ है ॥ १०६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यत्वलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति,—

(पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं) पृथक्त्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भवति। किंविशिष्टं ? प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वं। किंवत्। दण्डदण्डिवत्। इत्थम्भूतं पृथक्त्वं शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते, कस्माद्धेतोर्भिन्नप्रदेशाभावात्। कयोरिव ? शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव (इदि सासणं हि वीरस्स) इति शासनमुपदेश आज्ञेति। कस्य। वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य (अण्णत्तं) तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वं भिन्नत्वं भवति। कथम्भूतं। (अतब्भावो) अतद्भावरूपं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम्। यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा संज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु को दोष इति चेत्। नैवम्। (ण तब्भवं होदि) तन्मुक्तात्मद्रव्यं शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति (कहमेक्कं) तन्मयत्वं हि किलैकत्वलक्षणं संज्ञादिरूपेण तन्मयं त्वभावमेकत्वं किन्तु नानात्वमेव। यथेदं मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण नानात्वं कथितं तथैव सर्वद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १०६ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो (पुधतमिदि) वह पृथक्त्व है ऐसी (वीरस्स हि सासणं) श्री महावीर भगवानकी आज्ञा है। (अतब्भावो) स्वरूपकी एकता का न होना (अण्णत्तम्) अन्यत्व है। (तब्भवं ण (ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं हैं (कधमेगं भवदि) तब किस तरह दोनों एक हो सकते हैं।

टीकार्थ—जहां प्रदेशोंकी अपेक्षा एक दूसरेमें अत्यन्त जुदायगी हो अर्थात् प्रदेश भिन्न भिन्न हों जैसे दण्ड और दण्डीमें भिन्नता है। इसको पृथक्त्वनामका भेद कहते हैं। इस तरहका पृथक्त्व या जुदापना शुद्ध आत्मद्रव्यका शुद्ध सत्ता गुणके साथ नहीं सिद्ध होता है क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न २ नहीं हैं। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वे ही सत्ताके प्रदेश हैं। जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुणका स्वरूप भेद है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है ऐसे गुणी और गुणके भिन्न २ नहीं होते। ऐसे श्रीवीर नामके अंतिम तीर्थंकर परम देवकी आज्ञा है। जहां संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिसे परस्पर स्वरूपकी एकता नहीं है वहां अन्यत्व नामका भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुणमें है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूपसे भी अभेद हो, ऐसा मानने से क्या दोष होगा ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुणके साथ प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदिके द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मई नहीं है। तन्मय होना ही निश्चयसे एकताका लक्षण है किंतु संज्ञादि रूपसे एकताका अभाव है। सत्ता

और द्रव्यमें नानापना है। जैसे यहां मुक्तात्मा द्रव्यमें प्रदेशोंके अभेद होने पर भी संज्ञादि रूपसे नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्योंका अपने अपने स्वरूप, सत्ता गुणके साथ नानापना जानना चाहिये ऐसा अर्थ है ॥ १०६॥

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः ॥१०७॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तीर्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तीर्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥१०७॥

अब, अतद्भावको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[सत्द्रव्यं] 'सतद्रव्य' [सत् च गुणः] 'सत्गुण' [च] और [सत् च एव पर्यायः] 'सत् पर्याय' [इति] इस प्रकार [विस्तारः] (सत्तागुणका) विस्तार है। (उनमें परस्पर) [यः खलु] जो वास्तवमें [तस्य अभावः] उसका (उसरूप होनेका) अभाव है (अर्थात् सत्का सर्वथा द्रव्यरूप, अन्य गुणरूप या पर्यायरूप होनेका अभाव और

इसी प्रकार द्रव्यका अन्य गुणका या पर्याय का सर्वथा सत् होनेका अभाव है) [सः] वह [तद्भावः] उसका अभाव [अतद्भावः] अतद्भाव है।

टीकाः—जैसे एक मोतियोंकी माला हारके रूपमें सूत्र (धागा) के रूपमें और मोतीके रूपमें ऐसे तीन प्रकारसे विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक द्रव्य—द्रव्यके रूपमें, गुणके रूपमें और पर्यायके रूपमें-ऐसे तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियोंकी मालाका शुक्लत्व गुण शुक्ल हार, शुक्ल धागा, और शुक्ल मोती,-यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है, उसीप्रकार एक द्रव्यका सत्तागुण-सत् द्रव्य, सत्गुण, और सत्पर्याय,-यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियोंकी मालामें जो शुक्लत्वगुण है वह हार नहीं है, धागा नहीं है या मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है,—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' (अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है) वह 'तद्—अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्वका कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्यमें जो सत्तागुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है, या पर्याय नहीं है, और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्तागुण नहीं है,—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' (अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है) वह 'तद्—अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव'है जो कि अन्यत्वका कारण है १०७

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथातद्भावं विशेषेण विस्तार्य कथयति,—

(सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो) सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः।

तथाहि—यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैस्त्रिभिः प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदं। तद्भावस्येति कोर्थः। हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाभिन्नत्वमिति तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति, सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय इति भण्यते। यश्च परमात्मपदार्थः केवलज्ञानादिगुणः सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभिः शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्।

तद्भावस्येति कोऽर्थः । परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणां शुद्धसत्तागुणेन संज्ञादिभेदेपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि (जो खलु तस्स अभावो) यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुटं संज्ञादिभेदविवक्षायाममावः (सो तदभावो) स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः किं भण्यते ? ("अतब्भावो") तदभावस्तन्मयत्वं । किन्त्वातद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः इत्यर्थः ।

तद्यथा—यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफलं वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्भावो भण्यते । स च तद्भावः पुनरपि किं भण्यते । अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति । तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्धपर्यायैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः संस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते ? अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः । यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासम्भवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः ॥ १०७ ॥

उत्थानिका—आगे अन्यत्वका विशेष विस्तारके साथ कथन करते हैं—

गाथार्थ—(सद्दव्वं) सत्तारूप द्रव्य है। (सच्च गुणो) और सत्तारूप गुण है, (सच्चेव पज्जओत्ति) तथा सत्तारूप पर्याय है, ऐसा (वित्थारो) सत्ताका विस्तार है। (खलु) निश्चय करके (तस्स अभावो) जो उस सत्ताका परस्पर अभाव है (सो तदभावो) वह उसका अभावरूप (अतब्भावो) अन्यत्व है।

टीकार्थ—जैसे मोतीके हारमें सत्ता गुणकी जगहपर जो उसमें सफेदीका गुण है सो प्रदेशोंकी अपेक्षा एक रूप है तो भी उसको भेद करके इस तरह कहते हैं कि यह सफेद हार है, यह सफेद सूत है, यह सफेद मोती है तथा जो हार सूत या मोती है इन तीनोंके साथ प्रदेशोंका भेद न होते हुए सफेद गुण कहा जाता है यह एकता या तन्मयपनाका लक्षण है। तत्-अभावका क्या अर्थ है ? हार सूत तथा मोती का शुक्ल गुणके साथ तन्मयपना या प्रदेशोंका अभिपन्नपना यह अर्थ है। तैसे मुक्त-आत्मा नामके पदार्थमें जो कोई शुद्ध सत्ता गुण है वह प्रदेशोंके अभेद होते हुए इस तरह कहा जाता है—सत्ता लक्षण परमात्मा पदार्थ, सत्ता लक्षण केवलज्ञानादि गुण, सत्तालक्षण सिद्ध पर्याय। जो कोई परमात्म पदार्थ व केवलज्ञानादि गुण व पर्याय है इन तीनोंके साथ शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है, यह तद्भाव या एकताका लक्षण है।

तद्भावका क्या प्रयोजन है ? परमात्मा पदार्थ, केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व पर्याय इन तीनोंका शुद्ध सत्ता नामा गुणके साथ संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद होते हुए भी और प्रदेशोंकी अपेक्षा तन्मयपना होते हुए भी, निश्चय करके जो इस तद्भाव या एकताका संज्ञा संख्या आदिकी अपेक्षासे

परस्पर अभाव है उसको तद्भाव या उस एकताका अभाव या अतद्भाव या अन्यत्व कहते हैं। इस अन्यत्वका संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा जो स्वरूप है उसको दृष्टांत देकर बताते हैं।

जैसे मोतीके हारमें जो कोई शुक्ल गुण है उसका वाचक जो शुक्ल नामका दो अक्षरका शब्द है उस शब्दसे हार, या सूत्र या मोती कोई वाच्य नहीं है अर्थात् शुक्ल शब्दसे हार, सूत्र या मोतीका ज्ञान नहीं होता है केवल सफेद गुणका ज्ञान होता है इसी तरह हार, सूत या मोती शब्दोंसे शुक्ल नहीं कहा जाता है। इस तरह हार, सूत तथा मोतीके साथ शुक्ल गुणका प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद या एकत्व होनेपर भी जो संज्ञा आदिका भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेका अभावरूप अतद्भाव है या अन्यत्व है अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिका भेद है। तैसे मुक्त जीवमें जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहने वाले सत्ता शब्दसे मुक्त जीव नहीं कहा जाता, न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते, न सिद्ध पर्याय कही जाती हैं। और न मुक्त जीव केवलज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्यायसे शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुणका मुक्त जीवादिके साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो संज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्वमें कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेके लक्षणसे रहित अतद्भाव या अन्यत्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि-कृत भेद है, ऐसा अर्थ है। जैसे यहां शुद्धात्मामें शुद्ध सत्ता गुणके साथ अभेद स्थापित किया गया, तैसे ही यथा-संभव सर्व द्रव्योंमें जानना चाहिये, यह अभिप्राय है—अर्थात् आत्माका और सत्ताका प्रदेशकी अपेक्षा अभेद है, मात्र संज्ञादि स्वरूपकी अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्योंमें समझना ॥ १०७ ॥

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥१०८॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुण-रूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो, गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्व-

मुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात् । तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि दव्यस्यानेकत्वं स्यात् । यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः, सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥१०८॥

अब, सर्वथा अभाव अतद्भावका लक्षण है, इसका निषेध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अर्थात्] स्वरूपापेक्षासे [यत् द्रव्यं] जो द्रव्य है [तत् न गुणः] वह गुण नहीं है, [यः अपि गुणः] और जो गुण है [सः न तत्त्वं] वह द्रव्य नहीं है । [एषः हि अतद्भावः] यह ही वास्तवमें अतद्भाव है, [न एव अभावः] (सर्वथा) अभावरूप ही (अतद्भाव) नहीं है, [इति निर्दिष्टः] इस प्रकारसे (जिनेन्द्र देव द्वारा) निर्देश किया गया है ।

टीका:—एक द्रव्यमें जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है,—इस प्रकार जो द्रव्यका गुणरूपसे अथवा गुणका द्रव्यरूपसे न होना है, वह अतद्भाव है । इतनेसे ही अन्यत्व व्यवहार (अन्यत्वरूप व्यवहार) सिद्ध होता है । (परन्तु) द्रव्यका अभाव गुण है, गुणका अभाव द्रव्य है,—ऐसे लक्षणवाला अभाव अतद्भाव नहीं है । यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्यको अनेकत्व (अनेक द्रव्यपना) आजायगा, (२) उभयशून्यता (दोनोंका अभाव (हो जायगा,) अथवा (३) अपोहरूपता (एक दूसरेका अभाव-मात्र होना) आ जायगी । इसी को समझाते हैं:—

(१) जैसे अचेतनद्रव्यका अभाव चेतन द्रव्य है (और) अचेतनद्रव्यका अभाव चेतन द्रव्य है,—इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव गुण, (और) गुणका अभाव द्रव्य है,—इस प्रकार एक द्रव्यके भी अनेकत्व आजायगा । (अर्थात् द्रव्यके एक होनेपर भी, द्रव्य स्वयं एक पृथक द्रव्य होजायगा और उसके गुणोंमें से प्रत्येक गुण पृथक पृथक द्रव्य बन जायेंगे, इस प्रकार एक द्रव्यके अनेक द्रव्य बन जायेंगे) ।

(२) जैसे सुवर्णका अभाव होने पर सुवर्णत्वका अभाव होजाता है, और सुवर्णत्वका अभाव होनेपर सुवर्णका अभाव होजाता है,—इस प्रकार उभयशून्यत्व होजाता है, उसीप्रकार द्रव्यका अभाव होनेपर गुणका अभाव और गुणका अभाव होनेपर द्रव्यका अभाव होजायगा, इस प्रकार उभयशून्यता होजायगी। (अर्थात् द्रव्य तथा गुण दोनोंके अभावका प्रसंग आजायगा)।

(३) जैसे पटाभावमात्र ही घट है, घटाभावमात्र ही पट है, (अर्थात वस्त्रके केवल अभाव जितना ही घट है, और घटका केवल अभाव जितना ही वस्त्र है)—इसप्रकार दोनोंके अपोहरूपता है, उसही प्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण और गुणाभावमात्र ही द्रव्य होगा, इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुणमें भी) अपोहरूपता आजायगी, (अर्थात् केवल नकाररूपता का प्रसंग आजायगा।

इसलिये द्रव्य और गुणका एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहनेवालेको यथोक्त ही अतद्भाव मानना चाहिये ॥ १०८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ गुणगुणिनोः प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव संज्ञादिभेदरूपमतद्भावं दृढयति,—

(जं दव्वं तण्ण गुणो) यद्द्रव्यं स न गुणः यन्मुक्तजीवद्रव्यं स शुद्धः सन् गुणो न भवति। मुक्तजीवद्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थः। (जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो) योऽपि गुणः स न तत्त्वं द्रव्यमर्थतः परमार्थतः, यः शुद्धसत्तागुणः स मुक्तात्मद्रव्यं न भवति शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवतीत्यर्थः। (एसो हि अतब्भावो) एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भावः। उक्तलक्षण इति कोऽर्थः। गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावः (णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो) नैवाभाव इति निर्दिष्टः। नैव अभाव इति कोऽर्थः ? यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशैरपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्नं भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्यः पुद्गलद्रव्यं भिन्नं सद्द्रव्यान्तरं भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्यं सत्तागुणाद्भिन्नं सत्पृथग्द्रव्यान्तरं प्राप्नोति। एवं किं सिद्धं। सत्तागुणरूपं पृथग्द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं च पृथगिति द्रव्यद्वयं जातं, न च तथा। द्वितीयं च दूषणं प्राप्नोति—यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्यभावः, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभावः इत्युभयशून्यत्वं प्राप्नोति। यथेदं मुक्तजीवद्रव्ये संज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १०८ ॥

एवं द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा पृथक्त्वलक्षणातद्भावविधानान्यत्वलक्षणयोः कथनेन द्वितीया संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया तस्यैव दृढीकरणार्थं च चतुर्थी द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पंचमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—और भी गुण और गुणीमें प्रदेश भेद नहीं है परन्तु संज्ञादि कृत भेद है इस तरह अन्यत्वको दृढ़ करते हैं—

गाथार्थ—(जं दव्वं) जो द्रव्य है (तण्ण गुणो) वह गुण नहीं है (जो विगुणो) जो निश्चयसे गुण है (सो अत्थादो ण तच्चं) वह स्वरूपके भेदसे द्रव्य नहीं है (एसो हि अतब्भावो) ऐसा ही स्वरूप भेदरूप अन्यत्व है (णेव अभावोत्ति) निश्चयसे सर्वथा अभाव नहीं है ऐसा (णिद्दिट्ठो) सर्वज्ञद्वारा कहा गया है।

टीकार्थ—जो द्रव्य है सो स्वरूपसे गुण नहीं है। जो मुक्त जीव द्रव्य है वह शुद्ध सत्तागुण नहीं है उस मुक्त जीव द्रव्य शब्दसे शुद्ध सत्ता गुण वाच्य नहीं होता है अर्थात् नहीं कहा जाता है। जो गुण है वह वास्तव में द्रव्य नहीं होता।

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थसे मुक्तात्म-द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्य नहीं कहा जाता। यही अतद्भावका लक्षण है। इस तरह गुण और गुणीमें स्वरूपकी अपेक्षा या संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है तौभी प्रदेशोंका भेद नहीं है। इससे सर्वथा एकका दूसरेमें अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। यदि गुणीमें गुणका सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या २ दोष होंगे उनको समझाते हैं। जैसे सत्ता नामके वाचक शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्य वाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ताके प्रदेशोंसे भी सत्तागुणके मुक्तात्म-द्रव्य भिन्न होजावे तब जैसे जीवके प्रदेशोंसे पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुणके प्रदेशोंसे सत्तागुणसे मुक्त जीव द्रव्य भिन्न होता हुआ जुदा ही दूसरा द्रव्य प्राप्त होजावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप जुदा द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य जुदा इस तरह दो द्रव्य हो जावेंगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुणके प्रदेशोंसे सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा तैसे ही सुवर्ण द्रव्यके प्रदेशोंसे सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप होजायगा तैसे सत्तागुणके प्रदेशोंसे मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्यके प्रदेशोंसे सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जायगा, इस तरह दोनोंका शून्यपना प्राप्त हो जायगा। इस तरह गुणी और गुणका सर्वथा भेद माननेसे दोष आजावेंगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्यमें सत्ता गुणके साथ संज्ञा आदिके भेदसे अन्यपना है किन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया है तैसे ही सर्व द्रव्यों में यथासंभव जान लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥ १०८॥

इस तरह द्रव्यके अस्तित्वको कथन करते हुए प्रथम गाथा, पृथकत्व लक्षण और अतद्भाव-रूप अन्यत्व लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिसे भेदरूप अतद्भावको कहते हुए तीसरी, उसीको दृढ करनेके लिये चौथी। इस तरह द्रव्य और गुणमें अभेद है इस विषयमें युक्ति द्वारा कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंसे पांचवां स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥१०९॥

यः खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्टः।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥१०९॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः। य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते। यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः। स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्ध्यति ॥१०९॥

अब, सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणित्व सिद्ध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः खलु] जो वास्तवमें [द्रव्यस्वभावः परिणामः] द्रव्यका स्वभावभूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है [सः] वह [सद्विशिष्टः गुणः] 'सत्'से अविशिष्ट (सत्तासे अभिन्न) गुण है। [स्वभावे अवस्थितं] 'स्वभावमें अवस्थित (होनेसे) [द्रव्यं] द्रव्य [सत्] सत् है'—[इति अयं जिनोपदेशः] ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है।

टीकाः—द्रव्य, स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेसे, सत् है,-ऐसा पहले (९९ वीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया है, और (वहां) स्वभाव तो द्रव्यका परिणाम कहा गया है। यहां यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो ही द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वह ही 'सत्' से अविशिष्ट (अस्तित्वसे अभिन्न,) गुण है।

जो द्रव्यके स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथनके द्वारा 'सत्' शब्दसे कहा जाता है, उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्वसे अनन्य) गुणभूत ही द्रव्य स्वभावभूत परिणाम

है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत, वर्तमान कालको) स्पर्शित करती है, (और) प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमन करनेके कारण द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है। और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम) अस्तित्वभूत द्रव्यकी वृत्ति स्वरूप होनेसे, 'सत्' से अविशिष्ट, द्रव्यविधायक (द्रव्यका रचयिता) गुण ही है। इस प्रकार सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणी है ॥ १०६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ सत्ता गुणो भवति द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति,—

(जो खलु दव्वसहाओ परिणामो) यः खलु स्फुटं द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः पंचेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूपः स्वस्थभावस्तस्योत्पादः, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्ययः, तदुभयाधारभूतं जीवत्वं ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणामः (सो गुणो) स गुणो भवति स परिणामः। कथम्भूतः सन्गुणो भवति। (सदविसिट्ठो) सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रयं तिष्ठत्यस्तित्वं चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीतिचेत्। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात्। एवं सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थः। इति गुणव्याख्यानं गतम्। (सदवट्ठिदं सहावे दव्वत्ति) सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति द्रव्यं परमात्मद्रव्यं। किं कर्तृ। सदिति। केन। अभेदनयेन। कथम्भूतं। सत् अवस्थितं। क्व। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे (जिणोवदेसोयं) अयं जिनोपदेश इति "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेवेदं व्याख्यानं, गुणकथनं पुनरधिकमिति तात्पर्यम्। यथेदं जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ १०६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।

गाथार्थ—(खलु) निश्चयसे (जो दव्वसहावो परिणामो) जो द्रव्यका स्वभावमई उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम है (सो सदविसिट्ठो गुणो) सो सत्तासे अभिन्न गुण है। (सहावे अवट्ठियं दव्वत्ति सत्) जो अस्तित्त्व स्वभावमें तिष्ठता है, वह द्रव्य है (जिणोवदेसोयं) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है।

टीकार्थ—जब आत्मामें पंचेंद्रियके विषयोंके अनुभवरूप मनके व्यापारसे पैदा होनेवाले सब मनोरथ रूप विकल्पजालोंका अभाव हो जाता है, तब चिदानंद मात्रकी अनुभूति रूप जो आत्मामें ठहरा हुआ भाव है उसका उत्पाद होता है, और पूर्वमें कहे हुए विकल्पजालका नाश सो व्यय है, तथा इस उत्पाद और व्यय दोनोंका आधार रूप जीवपना ध्रौव्य है। इस तरह त्रयलक्षणवाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप जीव द्रव्यका जो कोई स्वभावभूत परिणाम है वही सत्तासे अभिन्न गुण है। जीवमें उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्गुण है जैसा कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्यका गुण है। इस तरह सत्ता गुणका व्याख्यान किया गया। परमात्मा द्रव्य अभेद

नयसे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमें तिष्ठा हुआ सत् है, ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है। "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो' इत्यादि निन्यानवे गाथामें जो कहा था वही यहां कहा गया है। मात्र गुणका कथन किया गया है, यह तात्पर्य है। जैसा जीव द्रव्यमें गुण और गुणीका व्याख्यान किया है गया वैसा सर्व द्रव्यमें जानना चाहिये ॥ १०६ ॥

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुणभावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥११०॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥११०॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्। यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा। अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते। न वर्तत एव। तर्हि द्रव्यं सत्ताऽस्तु, स्वयमेव ॥११०॥

अब, गुणीके अनेकत्वका (प्रदेश भेद सहित भिन्न भिन्न पदार्थ होनेका) खण्डन करते हैं:—

अन्वयार्थ—[इह] इस विश्वमें [द्रव्यं विना] द्रव्यके बिना (द्रव्य से प्रदेश भेद सहित पृथक) [गुण इति] गुण ऐसी [वा] अथवा [पर्याय ऐसी [कश्चित्] कोई पदार्थ [नास्ति] नहीं है [पुनः] और [द्रव्यत्वं] अस्तित्व [भावः] स्वभावभूत गुण है, [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यं] द्रव्य [स्वयं] आपही [सत्ता] अस्तित्व रूप सत्ता है।

टीकाः—वास्तवमें द्रव्यसे पृथग्भूत (प्रदेश भेद रूप) ऐसा गुण या ऐसी पर्याय कोई भी नहीं है, जैसे-सुवर्णसे पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नहीं होता। अब, उस द्रव्यके स्वरूप की वृत्तिभूत जो, अस्तित्व नामसे कहा जानेवाला, द्रव्यत्व है वह वास्तव में उसका 'भाव' नामसे कहा जानेवाला गुण ही होता हुवा क्या उस द्रव्यसे पृथकरूपसे रहता है ? (नहीं ही रहता)। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो ॥ ११० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ गुणपर्यायाभ्यां द्रव्यस्याभेदं दर्शयति,—

(णत्थि) नास्ति न विद्यते । स कः । (गुणोत्ति य कोई) गुण इति कश्चित् । न केवलं गुणः (पज्जाओत्तीह वा) पर्यायो वेतीह । कथं । (विणा) विना । किं विना । (दव्वं) द्रव्यमिदानीं द्रव्यं कथ्यते (दव्वत्तं पुण भावो) द्रव्यत्वमस्तित्वं । तत्पुनः किं भण्यते । भावः । कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसद्भावः (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्यं भवतीति । तद्यथा—मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्यायः केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्यं विना नास्ति न विद्यते । कस्मात्प्रदेशाभेदादिति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्धसत्तारूपं मुक्तात्मद्रव्यं भवति । तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थः । यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्यां सहाभेदव्याख्यानं कृतं तथा यथासम्भवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥ ११० ॥

एवं गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्यां सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे गुण और पर्यायोंसे द्रव्यका अभेद दिखलाते हैं—

गाथार्थ—(इह) इस जगतमें (दव्वं विणा) द्रव्यके विना कोई (गुणोत्ति व पज्जाओत्ति णत्थि) न कोई गुण होता है न कोई पर्याय होती है (पुण दव्वत्तं भावो) तथा द्रव्यपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे परिणमनपना द्रव्यका स्वभाव है (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है ।

टीकार्थ—मुक्तात्मा द्रव्यमें केवलज्ञानादि रूप गुणोंके समूह तथा परमपदकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय ये दोनों ही परमात्मा द्रव्यके विना नहीं पाए जाते क्योंकि गुण और पर्यायोंका द्रव्यके प्रदेशोंसे भेद नहीं है किन्तु एकत्व है तथा मुक्तात्मा द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई शुद्ध सत्तास्वरूप है । इसलिये अभेदनयसे सत्ता ही द्रव्य है या द्रव्य ही सत्ता है । जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें गुणपर्यायोंके साथ अभेद व्याख्यान किया तैसे यथासम्भव सर्व द्रव्योंमें जान लेना चाहिये ॥ ११० ॥

इस तरह गुण और गुणीका व्याख्यान करते हुए प्रथम गाथा तथा द्रव्यका अपने गुण व पर्यायोंसे भेद नहीं है ऐसा कहते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतंत्र दो गाथाओंसे छठा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।

सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १११ ॥

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥१११॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव । तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत् । तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव । तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरगंदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् । द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः । तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमांगदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥१११॥

अब, द्रव्यके सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होनेमें अविरोध सिद्ध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[एवं विधं द्रव्यं] ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य [स्वभावे] स्वभावमें [द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी अपेक्षासे [सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं] सद्भावसंबद्ध और असद्भावसम्बद्ध उत्पादको [सदा लभते] सदा प्राप्त करता है ।

टीकाः—इस प्रकार यह यथोचित (पूर्वकथित) सर्वप्रकारसे निर्दोष लक्षणवाला अनादिनिधन द्रव्य सत्स्वभावमें उत्पादको प्राप्त होता है । द्रव्यका यह उत्पाद द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सद्भावसंबद्ध ही है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा असद्भावसंबद्ध ही है । इसे स्पष्ट समझाते हैं:—

जब द्रव्य ही कहा जाता है, पर्यायें नहीं, तब उत्पत्ति-विनाशसे रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्यको उत्पन्न करनेवाली अन्वयशक्तियोंके (गुणोंके) द्वारा, उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंकी उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यके सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है, सुवर्णकी भांति । जैसेः—जब सुवर्ण ही कहा जाता है, बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंके द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले सुवर्णके सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है । (जो द्रव्य पूर्व पर्याय में था, वह ही अगली पर्यायको प्राप्त हुवा है, इस अपेक्षासे सत्का उत्पाद है) ।

और जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्ति-विनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोंके द्वारा, उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यके असद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है, सुवर्णकी ही भांति । यथा—जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती हैं, सुवर्ण नहीं, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकनेवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोंके द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकनेवाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त सुवर्णके असद्भावयुक्त ही उत्पाद है । (जिस पर्याययुक्त अब नहीं है, इस अपेक्षा से असत् का उत्पाद है ।)

अब, पर्यायोंकी अभिधेयता (अपेक्षा) के समय भी, असत्-उत्पादमें पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे वे व्यतिरेक व्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय शक्तित्वको प्राप्त होती हुई, पर्यायोंको, द्रव्य करती हैं (पर्यायोंकी विवक्षाके समय भी व्यतिरेकव्यक्तिता अन्वय-शक्तिरूप बनती हुई पर्यायोंको, द्रव्यरूप करती हैं), जैसे बाजूबंध आदि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तित्वको प्राप्त करती हुई, बाजूबन्ध इत्यादि पर्यायोंको, सुवर्ण करती हैं। द्रव्यकी अभिधेयताके समय भी, सत् उत्पादक अन्वयशक्तियां, क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई, द्रव्यको पर्यायरूप करती हैं, जैसे सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियां क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकत्वको प्राप्त होती हुई, सुवर्णको बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती हैं।

अतः द्रव्यार्थिक कथनसे सत्-उत्पाद है,-यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है ॥१११॥
(नोटः—इनको स्वयं ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं।)

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति,—

(एवंविहसब्भावे) एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्येवंविधपूर्वोक्तसद्भावे, अथवा (एवंविहं सहावे) इति पाठान्तरम्। तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावे स्थितं। किं। (दव्वं) द्रव्यं कर्तृ। किं करोति। (सदा लहदि) सदा सर्वकालं लभते। किं कर्मतापन्नं। (पादुब्भावं) प्रादुर्भावमुत्पादं। कथम्भूतं। (सदसब्भावणिबद्धं) सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च। काभ्यां कृत्वा। (दव्वत्थपज्जयत्थेहिं) द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति। तथाहि—यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्णं तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्? द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाविनष्टत्वात्। यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कङ्कणपर्यायः सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति। तदा पुनरसदुत्पादः कस्मादिति चेत्? पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्। तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादिकेवलीपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति। तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते। पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां सम्बन्धी निरुपमरागपरमात्मपर्यायः स एव न भवति। तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति। यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भवं ज्ञातव्यमिति ॥१११॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सत् उत्पाद और पर्यायार्थिक नयसे असत् उत्पाद दिखलाते हैं—

गाथार्थ—(एवं विहं) इस तरहके (सहावे) स्वभाव रखते हुए (दव्वं) द्रव्य (दव्वत्थ पज्जयत्थेहिं) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (सदसब्भावणिबद्धं) सद्भावरूप और असद्भाव रूप (पाडुब्भावं) उत्पादको (सदा लहदी) सदा ही प्राप्त होता रहता है।

टीकार्थः—जैसे सुवर्ण द्रव्यमें जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे विचार किया जाता है, उस समय ही कटक रूप पर्यायमें जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कंकण पर्यायमें है-दूसरा नहीं है। इस अवसरपर सद्भाव उत्पाद ही है क्योंकि द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे नष्ट नहीं हुआ किन्तु बराबर बना रहा; और जब पर्याय मात्रकी अपेक्षासे विचार किया जाता है तब सुवर्णकी जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमानकी कंकण रूप पर्याय भिन्न ही है। इस अवसर पर असत् उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट होगई और नई पर्याय पैदा हुई। तैसे ही यदि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्थामें जो जो गृहका व्यापार करता था वही पीछे जिन-दीक्षा लेकर निश्चय रत्नत्रय मई परमात्माके ध्यानसे अनन्त सुखामृतमें तृप्त रामचंद्र आदि केवली पुरुष हुआ अन्य कोई नहीं-यह सत् उत्पाद है। क्योंकि पुरुषकी अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ। और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग-अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचंद्र, पांडव आदि केवली पुरुषोंकी जो वीतराग परमात्म-पर्याय है सो अन्य है, वही नहीं है-यह असत् उत्पाद है। क्योंकि पूर्व पर्यायसे यह अन्य पर्याय है। जैसे यहां जीव द्रव्यमें सत् उत्पाद और असत् उत्पादका व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्योंमें यथासंभव जान लेना चाहिये ॥ १११ ॥

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥११२॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति ॥११२॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः, तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात्

द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः । तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति । स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति । यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥११२॥

अब (सर्व पर्यायोंमें द्रव्य अनन्य है अर्थात् द्रव्य वह ही रहता है; इसलिये उसके सत् उत्पाद है,-इसप्रकार) सत्-उत्पादको अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं :—

अन्वयार्थ—[जीवः] जीव [भवन्] परिणमित होता हुआ [नरः] मनुष्य, [अमरः] देव [वा] अथवा [परः] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [भविष्यति] होगा, [पुनः] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्वं प्रजहाति] द्रव्यत्वको छोड़ देता है ? [न जहत्] नहीं छोड़ता हुआ वह [अन्यः कथं भवति] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नहीं, वहका वही है) ।

टीकाः—प्रथम तो द्रव्य, द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी न छोड़ता हुआ, सत् ही है । द्रव्यके जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद होता है, उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिका अच्युतपना होनेसे, द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पादमें भी अन्वयशक्ति अपतित-अविनष्ट-निश्चल होनेसे द्रव्य वह ही है, अन्य नहीं ।) इसलिये अनन्यत्वके द्वारा द्रव्यके सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्यका द्रव्यापेक्षासे, अनन्यत्व होनेसे, उसके सत्-उत्पाद है,—ऐसा अनन्यत्वके द्वारा सिद्ध होता है ।)

जैसेः—द्रव्यका विचित्र पर्यायोंमें व्यापार होनेके कारणसे, जीव, द्रव्य होता हुआ, नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वमेंसे किसी एक पर्यायरूप अवश्य ही (परिणत) होगा । (परन्तु) वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ देता है ? नहीं छोड़ता यदि नहीं छोड़ता है तो वह अन्य कैसे हो सकता है, कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीन प्रकारकी सत्ता, त्रैकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव) वह ही न हो ? (अर्थात् तीनों कालमें विद्यमान वह जीव अन्य नहीं, वह ही है ।) ॥११२॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका–

अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पादं द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति,—

(जीवो) जीवः कर्ता (भवं) भवन् परिणमन् सन् (भविस्सदि) भविष्यति तावत् । किं किं भविष्यति । निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्यां शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य (णरोऽमरो वा परो) नरो देवो परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति (भवीय पुणो) एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भवीय भूत्वापि । अथवा द्वितीयव्याख्यानं । भवन् वर्तमानकालापेक्षया भविष्यति भाविकालापेक्षया भूत्वा भूतकालापेक्षया चेति कालत्रये चैवं भूत्वापि (किं दव्वत्तं पजहदि) किं द्रव्यत्वं परित्यजति (ण जहदि) द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्वं न त्यजति द्रव्यादभिन्नो न भवति । (अण्णो कहं हवदि) अन्यो भिन्नः कथं भवति ? किन्तु द्रव्यान्वयशक्ति-रूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थः ॥११२॥

उत्थानिका—आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं–

गाथार्थ—(जीवो) यह आत्मा (भवं) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपनेको छोड़ बैठेगा ? (ण जहं अण्णो कहं होदि) नहीं छोड़ता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपनेसे अन्य नहीं होगा ।

टीकार्थ—यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोगसे विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोगसे परिणमन करके मनुष्य, देव, पशु या नारकी अथवा निर्विकार शुद्धोपयोगमें परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा । इस प्रकार होकरके भी अथवा वर्तमान कालमें होता हुआ भाविकालमें होगा व भूतकालमें हुआ था इस तरह तीनों कालोंमें पर्यायोंको बदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपनेको छोड़ देता है ? द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यपनेको कभी नहीं छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न २ पर्यायोंमें दूसरा कैसे हो सकता है ? अर्थात् दूसरा नहीं होता किंतु द्रव्यको अन्वयरूप शक्तिसे सद्भाव उत्पादरूप वही अपने द्रव्यसे अभिन्न है यह भावार्थ है ॥ ११२ ॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥११३॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा ।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते ॥ ११३ ॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव । यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव । ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः । तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात् । एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात् । येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥ ११३ ॥

अब, असत्-उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थ:—[मनुजः] मनुष्य [देवः न भवति] देव नहीं है, [वा] अथवा [देवः] देव [मानुषः वा सिद्धः वा] मनुष्य या सिद्ध नहीं है, [एवं अभवन्] इस प्रकार (मनुष्य, देवादिक या देव, मनुष्यादिक) न होता हुआ [अनन्यभावं कथं लभते] अनन्यभावको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

टीका:—पर्यायें, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिके कालमें ही सत् (विद्यमान) होनेसे, उससे अन्य कालोंमें असत् (अविद्यमान) ही हैं। पर्यायोंका द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिके साथ गुंथा हुआ (एकरूपतासे युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकालमें उत्पाद होता है, उसमें, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्त्व होनेसे, पर्यायें अन्य हैं। इसलिये पर्यायोंकी अन्यताके द्वारा, पर्यायोंके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे पर्यायोंसे अपृथक्भूत द्रव्यका असत्-उत्पाद निश्चित होता है।

जैसे:—मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, और देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है, ऐसा न होता हुआ अनन्य (वहका वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य ही न हो और जिससे जिसके मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा जीव द्रव्य भी,-जिसकी कंकणादिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्णकी भांति-पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? (अर्थात् अन्य ही होगा) ॥ ११३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ द्रव्यस्यासदुत्पादं पूर्वपर्यायावन्यत्वेन निश्चिनोति,—

(मणुवो ण हवदि देवो) आकुलत्वोत्पादकमनुजः देवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षणं परमात्मद्रव्यं यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समानं तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्माद्देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। (देवो वा माणुसो व सिद्धो वा) देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति। कस्मात्। पर्यायाणां परस्परं भिन्नकालत्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। (एवं अहोज्जमाणो) एवमभवन्सन् (अणण्णभावं कहं लहदि) अनन्यभावमेकत्वं कथं लभते ? न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पादः पूर्वपर्यायाद्भिन्नो भवतीति ॥११३॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यके असत् उत्पादको पूर्व पर्यायसे भिन्न निश्चय करते हैं—

गाथार्थ—(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (मानुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एवं अहोज्जं माणो) ऐसा नहीं होने पर भी (अणण्णभावं कधं लहदि) एकपनेको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

टीकार्थ—आकुलता-जनक देव मनुष्यादि पर्यायोंसे विलक्षण तथा निराकुल-स्वरूप अपने स्वभाव में परिणमन रूप लक्षणको धरनेवाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चयसे मनुष्यपर्यायमें तथा देवपर्यायमें समान है तथापि मनुष्य देव नहीं होता है क्योंकि देव पर्यायके कालमें मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति नहीं है मनुष्य पर्यायके कालमें देव पर्यायकी तथा निज-आत्म-उपलब्धिरूप सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि पर्यायोंका परस्पर भिन्न २ काल है। जैसे सुवर्ण द्रव्यमें कुण्डल कंकण आदि पर्यायोंका भिन्न २ काल है। इस तरह एक पर्यायरूप द्रव्य दूसरे-रूप न होता हुआ एकपनेको कैसे प्राप्त होसकता है ? किसी भी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि असद्भाव उत्पाद या सत् रूप उत्पाद पूर्व २ पर्यायसे भिन्न होता है ॥ ११३ ॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥११४॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥११४॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वंजीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति, द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥११४॥

अब, एक ही द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व होनेमें जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं) :—

अन्वयार्थः—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक नयसे [तत् सर्वं] वह सब [द्रव्यं] द्रव्य है, [पुनः च] और फिर [पर्यायर्थिकेन] पर्यायार्थिक नयसे (वह सब) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, क्योंकि [तत्काले तन्मयत्वात्] उस समय (द्रव्य, पर्यायोंसे) तन्मय होनेके कारण से [अनन्यत्] (द्रव्य, पर्यायोंसे) अनन्य है।

टीकाः—वास्तवमें सभी वस्तुके सामान्यविशेषात्मकपना होनेसे, वस्तुके स्वरूपको देखने वालोंके क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेषको जाननेवाली दो आंखें हैं–(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।

इनमेंसे पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व-पर्यायस्वरूप विशेषोंमें रहनेवाले एक जीवसामान्यको देखनेवाले जीवोंके वह सब 'जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। जब, द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है, उस समय जीवद्रव्यमें रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखने वाले जीवों के (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्यका उन-उन विशेषोंके समय में उन-उन विशेषोंसे तन्मयपने से अनन्यपना है, कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्निकी भांति। (जैसे घास, लकड़ी इत्यादिकी अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होनेसे घास लकड़ी इत्यादिसे अनन्य है, उसी प्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उनसे अनन्य है, पृथक् नहीं है।) जब, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दोनों आंखोंको एक ही कालमें खोलकर, उसके और इसके (अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुके) द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायोंमें रहने वाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्यमें रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्याय स्वरूप विशेष एक कालमें ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।

वहां एक आंखसे देखना एक देश अवलोकन है और दोनों आंखोंसे देखना सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिये सर्वावलोकनमें द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व विरोधको प्राप्त नहीं होते ॥ ११४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्वं च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्त-सद्भावनिबद्धासद्भावमुत्पादद्वयं प्रकारान्तरेण समर्थयति,—

(हवदि) भवति। किं कर्तृ। (सव्वं दव्वं) सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यं। किंविशिष्टं भवति। (अणण्णं) अनन्यमभिन्नमेकं तन्मयमिति। केन सह। तेन नारकतिर्यग्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्य-नन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च। केन कृत्वा। (दव्वट्ठियेण) शुद्धान्वयद्रव्यार्थिकनयेन। कस्मात्। कुण्डलादि-

पर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् (तं पज्जयट्ठियेण पुणो) तद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयेन पुनः अन्यद्भिन्नमनेकं पर्यायैः सह पृथग्भवति । कस्मादिति चेत् । (तक्काले तम्मयत्तादो) तृणाग्निकाष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायैः सह तत्काले तन्मयत्वादिति । एतावता किमुक्तं भवति । द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसन्तानरूपेण सर्वं-पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति । यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि ;पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति । यदा च परस्परसापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्वं च युगपत्प्रतिभातीति । यथेदं जीवद्रव्ये व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भवं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥११४॥

एवं सदुत्पादकथनेन प्रथमा सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया तथैवासदुत्पादविशेषविवरणरूपेण तृतीया द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अनन्यत्व नामका एकत्व है तथा अन्यत्व नामका अनेकत्व है ऐसा नयोंकी अपेक्षा दिखलाते हैं । अथवा पूर्वमें कहे गए सद्भाव-उत्पाद और असद्भाव-उत्पादको एक साथ अन्य प्रकारसे दिखाते हैं—

गाथार्थ—(दव्वट्ठिएण) द्रव्यार्थिक नयसे (तं सव्वं) वह सब (दव्वं) द्रव्य (अणण्णं) अन्य नहीं है-वही है (पुणो) परंतु (पज्जयट्ठिएण) पर्यायार्थिक नयसे (अण्णं य) अन्य भी (हवदि) है क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) उस कालमें द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय हो रहा है ।

टीकार्थ—शुद्ध अन्वय रूप द्रव्यार्थिक नयसे यदि विचार किया जाय तो विवक्षित अविवक्षित सर्व ही जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायोंके साथ तथा केवलज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय शक्ति रूप सिद्ध पर्यायके साथ अन्य अन्य नहीं है किन्तु तन्मय है-एक है । जैसे कुण्डल कंकण आदि पर्यायोंमें सुवर्णका भेद नहीं है । वही सुवर्ण है । परन्तु यदि पर्यायकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो अपनी अनेक पर्यायोंके साथ वह द्रव्य भिन्न भिन्न ही है, क्योंकि जैसे अग्नि तृणकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि, पत्रकी अग्नि रूप से भिन्न भिन्न है, अपनी पर्यायोंके साथ उस समय तन्मय है । इससे यह बात कही गई कि जब द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुकी परीक्षा की जाती है तब पर्यायोंमें सन्तान रूपसे सब पर्यायोंका समूह द्रव्य ही प्रगट होता है । परन्तु जब पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है तब पर्याय रूपसे वही द्रव्य भिन्न भिन्न झलकता है । और जब परस्पर अपेक्षासे दोनों नयोंके द्वारा एक ही काल विचार किया जाता है तब वह द्रव्य एक ही साथ एक रूप और अनेक रूप मालूम होता है । जैसे यहां जीव द्रव्यके सम्बन्धमें व्याख्यान किया गया है तैसे सब द्रव्योंके यथासंभव जान लेना चाहिये, यह अर्थ है ॥ ११४ ॥

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभंगीमवतारयति—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥११५॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥११५॥

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभंगिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥११५॥

अब, समस्त विरोधोंको दूर करनेवाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[द्रव्यं] द्रव्य [केनचित् पर्यायेण तु] किसी पर्यायसे तो [अस्ति इति च] 'अस्ति' [नास्ति इति च] (किसी पर्यायसे) 'नास्ति' [पुनः] और [अवक्तव्यम् इति भवति] (किसी पर्यायसे) 'अवक्तव्य' है, [तदुभयं] (और किसी पर्यायसे) अस्ति नास्ति (दोनों रूप) [वा] अथवा [अन्यत आदिष्टम्] (किसी पर्यायसे) अन्य (तीन भंगरूप) कहा गया है ।

टीकाः—द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षासे 'स्यात् अस्ति ही' (२) पररूपकी अपेक्षासे 'स्यात् नास्ति ही,' (३) स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् अवक्तव्य ही' (एक ही साथ द्रव्य स्वरूप-पररूपसे नहीं कहा जा सकता, अतः अवक्तव्य है) (४) स्वरूप-पररूपके क्रम की अपेक्षासे 'स्यात् अस्ति-नास्ति ही,' (५) स्वरूपकी और स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य ही' (६) पररूपकी और स्वरूपपररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ही' और (७) स्वरूपकी, पररूपकी तथा स्वरूप-पररूपकी युगपद् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ही' है ।

(१) जो स्वरूपसे 'सत्' है, (२) जो पररूपसे 'असत्' है, (३) जिसका स्वरूप और पररूपसे युगपत् कथन अशक्य है, (४) जो स्वरूपसे और पररूपसे क्रमशः 'सत् और असत है, (५) जो स्वरूपसे और स्वरूप-पररूपसे युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूपसे, और स्वरूपपररूपसे युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूपसे-पर-रूप और स्वरूपपररूपसे युगपत 'सत् असत् और अवक्तव्य' है,-ऐसे अनन्त धर्मोंवाले कथनीय द्रव्यके एक एक धर्मका आश्रय लेकर विवक्षित रूप विधि-निषेधके द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित स्यात्कार रूपी अमोघ मंत्र पदके द्वारा 'एव' कार (एकान्त) रहनेवाले समस्त विरोध-विषके मोहको दूर करती है ॥ ११५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिकां नयसप्तभङ्गीं विस्तारयति,—

(अत्थित्ति य) स्यादस्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः कथंचित्कोऽर्थः । विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन । तच्चतुष्टयं,शुद्धजीवविषये कथ्यते । शुद्धगुणपर्यायाधारभूतं शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यं भण्यते, लोकाकाशप्रमिताः शुद्धासंख्येय-प्रदेशाः क्षेत्रं भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते, शुद्धचैतन्यं भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्या-दिचतुष्टयेन इति प्रथमभङ्गः १ । (णत्थित्ति य) स्यान्नास्त्येव स्यादिति कोऽर्थः कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्या-दिचतुष्टयेन (हवदि) भवति २ । कथम्भूतं । (अवत्तव्वमिति) स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादिति कोऽर्थः ? कथंचिद्वि-वक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यम्, स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । ("पुणो") पुनः इत्थंभूतं । किं भवति । (दव्वं) परमात्मद्रव्यं कर्तृ । पुनरपि कथम्भूतं भवति । (तदुभयं) स्यादस्तिनास्त्येव । स्यादिति कोऽर्थः ? कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४ । कथम्भूतं सदित्थमित्थं भवति । (आदिट्ठं) आदिष्टं विवक्षितं सत् । केन कृत्वा । (पज्जायेण दु) पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु । कथम्भूतेन । (केणवि) केनापि विवक्षितेन नैगमादिनय-रूपेण (अण्णं वा) अन्यद्वा संयोगभङ्गत्रयरूपेण । तत्कथ्यते—स्यादस्त्येवावक्तव्यं स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपर-द्रव्यादिचतुष्टयेन च ५ । स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६ । स्यादस्तिना-स्त्येवावक्तव्यं क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७ । पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि-प्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभङ्गीज्ञापनार्थमिति भावार्थः । यथेदं सप्तभङ्गीव्याख्यानं शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासम्भवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ॥ ११५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

एवं नयसप्तभङ्गी व्याख्यानगाथयाष्टमस्थलं गतम् ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति, स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थलं तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता । तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरं द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वयं, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा, पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यता । तदनन्तरं सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणां द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयं । तदनन्तरं द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोः सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टयं, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैः सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपणं समाप्तम् ।

अतः परं तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्र क्रमेण पञ्चस्थानानि भवन्ति । प्रथमस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण सांख्यैकान्तनिराकरणं, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलं भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थं "कम्मं णामसमक्खं" इत्यादिपाठक्रमेण गाथा चतुष्टयं, ततः परं रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्म्मकारणत्वाद्भावकर्म्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन "आदा कम्ममलिमसो" इत्यादिसूत्रद्वयं, तदनन्तरं कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण "परिणमदि चेदणाए" इत्यादिसूत्रद्वयं तदनन्तरं शुद्धात्मभेदभावनाफलं कथयन् सन् "कत्ताकरणं" इत्याद्येकसूत्रेणोपसंहरति । एवं भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका ।

उत्थानिका—आगे सब खोटी नयोंके एकान्त रूप विवादको मेटनेवाली सप्तभंगी नयका विस्तार करते हैं—

गाथार्थ—(दव्वं) द्रव्य (केणवि पज्जाएण) किसी एक पर्यायसे (दु) तो (अत्थित्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्यायसे (णत्थित्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्यायसे (अवत्तव्वमिदि (अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है । (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्यायसे अस्ति नास्ति दोनों रूप ही है (वा अण्णं) अथवा किसी अपेक्षासे अन्य तीन रूप अस्ति एवं अवक्तव्य, नास्ति एवं अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एवं अवक्तव्य रूप (आदिट्ठम्) कहा गया है ।

टीकार्थ—यहां स्याद्वादका कथन है, स्यात्का अर्थ कथंचित् है, अर्थात् किसी एक अपेक्षासे, वादका अर्थ—कथन करना है । वृत्तिकार यहां शुद्ध जीवके सम्बन्धमें स्याद्वादका या सप्तभंगका प्रयोग करके बताते हैं । शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावके चतुष्टयकी अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप ही

है अर्थात् जीवमें अस्तिपना है। शुद्ध गुण तथा पर्यायोंका आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश हैं सो स्वक्षेत्र कहा जाता है। वर्तमान शुद्ध पर्यायमें परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है। इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीवमें अस्तित्व स्वभाव है। यह स्यात् अस्ति एव प्रथम भंग है तथा पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर—काल व परभाव रूप परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अर्थात् शुद्ध जीवमें अपने सिवाय सब द्रव्योंके द्रव्यादि चतुष्टयका अभाव है। यह स्यात् नास्ति एव दूसरा भंग है। एक समयमें ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षासे अस्तिरूप ही है व किसी अपेक्षासे नास्ति रूप ही है तथापि वचनोंसे एक समयमें कहा नहीं जा सकता इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा स्यात् अवक्तव्य एव भंग है। वह परमात्म द्रव्य स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप है, पर-द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप है, ऐसे क्रमसे कहते हुए अस्तिनास्ति स्वरूप ही है यह चौथा स्यात् अस्तिनास्ति एव भंग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूप नय विभागसे जैसे ये चार भंग हुए तैसे तीन भंग और हैं जिनको संयोगी कहते हैं। स्व द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति ही है परन्तु एक समयमें स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है यह पांचवां भंग है। पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है परन्तु एक समयमें स्व-पर-द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिनास्ति होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् नास्ति एवं अवक्तव्य है यह छठा भंग है। क्रमसे कहते हुए स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है तथापि एक समयमें अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं कहा जा सकता इससे स्यात् अस्तिनास्ति एव अवक्तव्य रूप है, यह सातवां भंग है। पहले पंचास्तिकाय ग्रंथमें स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्यसे प्रमाण सप्तभंगीका व्याख्यान किया गया, यहां स्यात् अस्ति एवके द्वारा जो एवका ग्रहण किया गया है वह नय-सप्तभंगीके बतानेके लिये किया गया है। जैसे यहां शुद्ध आत्म द्रव्यमें सप्त-भंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथासंभव सब पदार्थोंमें जान लेना चाहिये ॥ ११५ ॥

इस तरह सप्तभंगीके व्याख्यानकी गाथाके द्वारा आठवां स्थल पूर्ण हुआ।

इस तरह जैसा पहले कह चुके हैं पहले एक नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्यायको कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमयको दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्यके सत्ता आदि तीन लक्षण होते हैं इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतंत्र गाथा चारसे पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ताको कहते हुए पहली, महासत्ताको कहते दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह चार गाथाओंसे सत्ताका लक्षण मुख्यतासे कहा गया। फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणका कहते हुए गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्यायको कहते हुए व गुण पर्यायको कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्यके अस्तित्वको स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नामके लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण

प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भावको कहते हुए तीसरी, उसको ही दृढ करनेके लिये चौथी, इस तरह गाथा चारसे सत्ता और द्रव्यमें अभेद है, इसको युक्तिपूर्वक कहा गया। इसके पीछे सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुए पहली, गुण पर्यायोंका द्रव्यके साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वतंत्र गाथाएं दो हैं। फिर द्रव्यके सत् उत्पाद, असत् उत्पादका सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथाएं चार हैं। फिर सप्तभंगीको कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदायसे चौवीस गाथाओंके द्वारा आठ स्थलोंसे सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमें सामान्य द्रव्यका वर्णन पूर्ण हुआ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्यके निर्णयके मध्यमें सामान्य भेदकी भावनाकी मुख्यता करके ग्यारह गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। इसमें क्रमसे पांच स्थान हैं। पहले वार्तिकके व्याख्यानके अभिप्रायसे सांख्यके एकांतका खंडन है। अथवा शुद्ध निश्चयनयसे फल कर्मरूप है, शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है ऐसी गाथा एक है। फिर इसी अधिकार सूत्रके वर्णनके लिये "कम्मं णाम समक्खं" इत्यादि पाठ-क्रमसे चार गाथाएं हैं। इसके आगे रागादि परिणाम ही द्रव्य कर्मोंके कारण हैं इसलिये भाव कर्म कहे जाते हैं। इस तरह परिणामकी मुख्यतासे "आदा कम्म मलिमसो" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर कर्मफल चेतना, कर्म चेतना, ज्ञान चेतना इस तरह तीन प्रकार चेतनाको कहते हुए "परिणमदि चेदणाए" इत्यादि तीन सूत्र हैं। फिर शुद्धात्माकी भेद भावनाका फल कहते हुए "कत्ताकरणं" इत्यादि एक सूत्रमें उपसंहार है या संकोच है—इस तरह भेद भावनाके अधिकारमें पांच स्थलसे समुदाय पातनिका है।

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥११६॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निष्फलः परमः ॥११६॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति। ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः। क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरद-

शाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका। सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्वयणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाणवन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्वयणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥११६॥

अब, जिसका निर्धार करना है, इसलिये जिसे उदाहरण रूप बनाया गया है ऐसे जीवकी मनुष्यादि पर्यायें क्रियाकी फल हैं इसलिये उनका अन्यत्व (एक पर्यायका दूसरी पर्यायसे भिन्नपना) प्रकाशित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[एषः इति कश्चित् नास्ति] यह पर्याय टंकोत्कीर्ण अविनाशी है, (नर नारकादि पर्यायों में) ऐसी कोई पर्याय नहीं है (अर्थात् नर-नारकादि पर्यायों में टंकोत्कीर्ण अविनाशी रहनेवाली कोई पर्याय नहीं है) [स्वभाव-निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न] (संसारी जीवके) रागादि अशुद्ध विभावरूप स्वभाव से उत्पन्न होनेवाली क्रिया न हो, ऐसा भी नहीं है (अर्थात् संसारी जीवके रागादि विभावरूप स्वभावसे उत्पन्न होने वाली राग-द्वेषमय क्रिया अवश्य होती ही है) [यदि] यदि [परमः धर्मः निष्फलः] (वीतराग भावरूप) उत्कृष्ट धर्म (नर-नारकादि उत्पन्न करने रूप) फल से रहित है (वीतराग रूप धर्म नर नारक आदि पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकता है) तो भी [क्रिया हि अफला नास्ति] (रागादि परिणति रूप) क्रिया अवश्य ही (नर-नारकादि पर्याय उत्पन्न करने रूप) फल से रहित नहीं है (अर्थात् रागादिरूप क्रिया अवश्य ही नर-नारक आदि पर्याय उत्पन्न करती है)।

टीकाः—यहाँ (इस विश्वमें), अनादिकर्मपुद्गलकी उपाधिके सन्निधि प्रत्यय (निमित्त कारण) से होनेवाला प्रतिक्षण विपरिणमन जिसके होता रहता है, ऐसे संसारी जीवकी क्रिया वास्तवमें स्वभाव-निष्पन्न ही है, इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यह ही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है, क्यों कि वे पर्यायें, पूर्व-पूर्व पर्यायोंके नाशमें प्रवर्तमान क्रियाकी फलरूप होनेसे, उत्तर-उत्तर (अगली-अगली) पर्यायोंके द्वारा नष्ट होती हैं। मोहके साथ मिलन (मिश्रितता) का नाश न हुआ होनेसे, क्रियाका फल तो मानना चाहिये। क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट (विशेषित) चैतन्य परिणाम स्वरूप है। जैसे-दूसरे अणुके साथ युक्त

अणुकी परिणति द्विअणुक कार्यकी निष्पादक है, उसी प्रकार मोहके साथ मिलित आत्माकी परिणति मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक होनेसे, वह (क्रिया) फलवाली ही है। जैसे दूसरे अणुके साथका संबंध जिसका नष्ट होगया है ऐसे अणुकी परिणति द्वि-अणुक कार्यकी निष्पादक नहीं है, उसीप्रकार मोहके साथ मिलनका नाश होनेपर द्रव्यकी परमस्वभावभूत होनेसे 'परमधर्म' नामसे कही जाने वाली वही क्रिया, मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक न होनेसे, अफल ही है।

नोटः—इस गाथामें नर-नारक आदि पर्यायोंकी उत्पत्ति को ही फल माना गया है। चूंकि संसारी जीवके रागादिक भाव विना प्रयत्न के स्वतः उत्पन्न होते रहते हैं, अतः रागादिक भावको यहां स्वभाव कहा है ॥ ११६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

तद्यथा—अथ नरकादिपर्यायाः कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावनां कथयति,—

(एसोत्ति णत्थि कोई) टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्संसारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैक एकरूप एव नित्यः कोऽपि नास्ति। तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका संसारक्रिया सापि न भविष्यति ? (ण णत्थि किरिया) न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिस्संसारः कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव। सा च कथम्भूता। (सभावणिव्वत्ता) शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि किं निष्फला भविष्यति। (किरिया हि णत्थि अफला) क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्यं प्रति निष्फला तथापि नानादुःखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादिपर्यायनिष्पत्तिरेवास्याः फलं। कथं ज्ञायत इति चेत् ? ("धम्मो जदि णिप्फलो परमो) धर्मो यदि निष्फलः परमः नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूपः आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्मः, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकारणभूतं ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं नोत्पादयति, ततः कारणान्निष्फलः। ततो ज्ञायते नरनारकादिसंसारकार्यं मिथ्यात्वरागादिक्रियायाः फलमिति। अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यानं क्रियते—यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन न परिणमत्ययं जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति * यदुक्तं सांख्येन तन्निराकृतं। कथमिति चेत् ? अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवानां नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति। एवं प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता ॥११६॥

* ख पुस्तके "परिणमति रागादिभावेन जीवः सांख्येन यदुक्तं" इति वर्तते।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि नारक आदि पर्याय कर्मके अधीन हैं इससे नाशवंत हैं। इस कारण शुद्ध निश्चयसे ये नारकादि पर्यायें जीवका स्वरूप नहीं हैं, ऐसी भेद भावनाको कहते हैं:-

गाथार्थ—(एसोत्ति णत्थि कोई) कोई भी मनुष्यादि पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो (ण सहावणिव्वत्ता किरिया णत्थि) और रागादि विभाव स्वभावसे होनेवाली क्रिया न होती हों ऐसा भी नहीं है अर्थात् रागादि रूप क्रिया भी अवश्य है। (किरिया हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चयसे विना फलके नहीं होती है अर्थात् मनुष्यादि पर्यायरूप फलको देती है (जदि परमो धम्मो णिप्फलो) किन्तु उत्कृष्ट वीतराग धर्म मनुष्यादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित है।

टीकार्थ—जैसे टंकोत्कीर्ण (टांकीसे उकेरेके समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस संसारमें मनुष्य आदि पर्यायोंमेंसे कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो तब क्या मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली संसारकी क्रिया भी नहीं है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया न होती हों, ऐसा नहीं है। ये मनुष्यादि चारों गतियां क्योंकि कर्म (कार्य) हैं इसलिये इनको उत्पन्न करनेवाली रागादि क्रिया अवश्य है। यह क्रिया शुद्धात्माके स्वभावसे विपरीत होनेसे नर नारकादि विभाव पर्यायके स्वभावसे उत्पन्न हुई है। तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी ? मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमई मोक्षके कार्यको पैदा करनेके लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकारके दुःखोंको देनेवाली स्व-कार्य-भूत मनुष्यादि पर्यायको पैदा करनेके कारण फल सहित है, निष्फल नहीं है—इस रागादि क्रियाका फल मनुष्यादि पर्यायको उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि वीतराग परमात्माकी प्राप्तिमें परिणमन करनेवाली क्रिया, जिसको आगमकी भाषामें परम यथाख्यात चारित्र रूप परमधर्म कहते हैं, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटता रूप कार्य-समयसारको उत्पन्न करनेके कारण फल सहित है तथापि नर नारक आदि पर्यायोंके कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मबंधको नहीं पैदा करती है इसलिये निष्फल है। इससे यह ज्ञात होता है कि नर नारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रियाके फल हैं।

अथवा इस सूत्रका दूसरा व्याख्यान किया जाता है-जैसे शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव रागादि विभाव भावोंसे नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नयसे भी नहीं परिणमन करता है ऐसा जो सांख्यमत कहता है उसका निषेध इस गाथामें है, क्योंकि अशुद्धनयसे जो जीव मिथ्यात्व व रागादि विभावोंमें परिणमन करते हैं उन्हींको नर नारक आदि पर्यायोंकी प्राप्ति है, ऐसा देखा जाता है।

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥११७॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत् । तथाहि—यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ॥११७॥

अब, जीवके, मनुष्यादि पर्यायोंका क्रियाका फलपना होना व्यक्त करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अथ] अब, [नामसमाख्यं कर्म] 'नाम' संज्ञावाला कर्म [स्वभावेन] अपने स्वभावसे [आत्मनः स्वभावं अभिभूय] जीवके स्वभावका पराभव करके, [नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं) मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देव (इन पर्यायों) को [करोति] करता है ।

टीकाः—क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे कर्म है, (अर्थात् आत्मा क्रियाको प्राप्त करता है इसलिये वास्तवमें क्रिया ही आत्माका कर्म है ।) उसके निमित्तसे परिणमन (द्रव्यकर्मरूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है । उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें, मूलकारणभूत जीवकी क्रियासे प्रवर्तमान होनेसे, क्रियाफल ही हैं, क्योंकि-क्रियाके अभावमें पुद्गलोंके कर्मत्वका अभाव होनेसे, उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायोंका अभाव होता है ।

वहाँ, वे मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य कैसे हैं ? (सो कहते हैं) क्योंकि वे (पर्यायें) कर्मस्वभावके द्वारा, जीवके स्वभावका पराभव करके, की जाती हैं, दीपककी भांति । यथा ज्योति (लौ) के स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावका पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसी प्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं ॥ ११७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ मनुष्यादिपर्यायाः कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति,—

(कम्मं) कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षणं कर्म कर्तृ । किं विशिष्टं । (णामसमक्खं) निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो विपरीतं नामेति सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं, नामकर्मेत्यर्थः । (सहावं) शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं (अह) अथ (अप्पणो सहावेण) आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन (अभिभूय) तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावं । पश्चात्किं करोति । (णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि) नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति । अयमत्रार्थः—यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥ ११७ ॥

उत्थानिका—आगे इसी सूत्रका विशेष कहते हुए बताते हैं कि ये मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा पैदा होती हैं—

गाथार्थ—(अध) तथा (णामसमक्खं कम्मं) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभाव से (अप्पणो सभावं) आत्माके स्वभावको (अभिभूय) ढककर (णरं तिरयं णेरइयं वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है ।

टीकार्थः—कर्मोंसे रहित परमात्मासे विलक्षण ऐसा कम जिसकी भले प्रकार नाम संज्ञा की गई है, अर्थात् नाम कर्म जो नामरहित, गोत्र-रहित परमात्मासे विपरीत है, अपने ही सहभावी ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभावको आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यंच या देवरूप कर देता है ।

यहां यह अर्थ है—जैसे अग्नि कर्त्ता होकर तेलके स्वभावको तिरस्कार करके बत्तीके आधारसे उस तेलको दीपककी शिखारूपमें परिणमन कर देती है तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेलके स्थानमें शुद्ध आत्माके स्वभावको तिरस्कार करके बत्तीके समान शरीरके आधारसे उसे दीपककी शिखाके समान नर, नारकादि पर्यायोंके रूपसे परिणमन कर देती है । इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें निश्चयसे कर्म-जनित हैं ॥ ११७ ॥

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥११८॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः ।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि ॥११८॥

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीवः स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥११८॥

अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका पराभव किस कारण से होता है ?:—

अन्वयार्थः—[नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव [खलु] वास्तवमें [नामकर्म-निर्वृत्ताः] नामकर्मसे निष्पन्न हैं। [हि] वास्तवमें [ते] वे जीव [स्वकर्माणि] अपने अपने उपार्जित कर्मरूप [परिणममानाः] परिणत होते हुए [न लब्धस्वभावाः] (चिदानन्द) स्वभावको प्राप्त नहीं होते।

टीकाः—प्रथम तो यह मनुष्यादि पर्यायें नामकर्मसे निष्पन्न हैं, किन्तु इतनेसे भी वहां (उन पर्यायोंमें) जीवके स्वभावका पराभव नहीं है, जैसे-सुवर्णमें जड़े हुये माणिकवाले कंकणोंमें माणिकके स्वभावका पराभव नहीं होता। जो वहां (उन पर्यायोंमें) जीव स्वभावको प्राप्त नहीं करता (अनुभव नहीं करता), सो स्वकर्मरूप परिणमित होनेसे है, पानीके पूर (बाढ़) की भांति। जैसे-पानीका पूर प्रदेशसे और स्वादसे निम्ब-चन्दनादि वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षोंकी लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ (अपने) द्रवत्व (तरलता, बहना) और स्वादुत्वरूप (स्वादिष्टपना) स्वभावको प्राप्त नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेशसे और भावसे स्वकर्मरूप परिणमित होनेसे (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग-विशुद्धिमत्वरूप स्वभावको प्राप्त नहीं करता ॥ ११८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथं जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने ? प्रत्युत्तरं ददाति,—

(णरणारयतिरियसुरा जीवा) नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवाः सन्ति तावत् (खलु) स्फुटं । कथम्भूताः । (णामकम्मणिव्वत्ता) नरनारकादिस्वकीयस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ताः (ण हि ते लद्धसहावा) किन्तु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङ्कणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभावः । कथम्भूताः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति । (परिणममाणा सकम्माणि) स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदुःखरूपेण परिणममाना इति ।' अयमत्रार्थः—यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलस्वभावं न लभते, तथायं जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणतः सन्परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत इति ॥ ११८ ॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि नरनारकादि पर्यायोंमें किस तरह जीवके स्वभावका तिरस्कार हुआ है । क्या जीवका अभाव होगया है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

टीकार्थ—(णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायमें तिष्ठनेवाले (जीवा) जीव (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नाम कर्म द्वारा उन गतियोंमें रचे (जीवा) जीवकी (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायें (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नाम कर्म द्वारा रची हैं । इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने २ कर्मोंके उदयमें परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभावको निश्चयसे नहीं प्राप्त होते हैं ।

टीकार्थः—जीव नर, नारक, तिर्यंच, देव इन चार प्रगट गतिरूप होता है, क्योंकि ये गतियां अपने अपने नर नारकादि नाम कर्मके द्वारा रची गई हैं । वे अपने २ उदय-प्राप्त कर्मोंके अनुसार सुख तथा दुःखको भोगते हुए अपने चिदानंदमई एक शुद्ध आत्म-स्वभावको नहीं पाते हैं । जैसे माणिक-जड़ित सुवर्ण-कंकण में माणिककी मुख्यता नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायोंमें जीव-स्वभावका तिरस्कार है । इससे जीवका अभाव नहीं हो जाता है ।

इसका यह भाव है जैसे जलका प्रवाह वृक्षोंके सीचनेमें परिणमन करता हुआ चंदन व नीम आदि वनके वृक्षोंमें जाकर उन रूप मीठा, कडुवा, सुगन्धित, दुर्गंधित होता हुआ अपने-जलके कोमल, शीतल, निर्मल स्वभावको नहीं रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षोंके स्थानमें कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन करता हुआ परमानन्दरूप एक लक्षणमय सुखामृतका स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणोंको नहीं प्राप्त करता है ॥ ११८ ॥

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलयत्ति ते णाणा ॥११९॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित्।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥११९॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च। अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणभंगोत्पादः। न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम्। यदा खलु भंगोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः। तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे संभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥११९॥

अब, जीवके, द्रव्यरूपसे अवस्थितता (ध्रौव्य वह का वह ही) होने पर भी पर्यायोंसे अनवस्थितता (अध्रौव्यपना, भिन्न-भिन्नपना, नानापना) प्रकाशते हैं :—

अन्वयार्थः—[क्षण-भङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोकमें [कश्चित्] कोई (भी जीव) [न एव जायते] (द्रव्यपनेसे) न उत्पन्न ही होता है, और

[न नश्यति] न नष्ट होता है, (क्योंकि) [हि] निश्चयसे [यः भवः सः विलयः] जो (जीव) उत्पाद रूप है वही विनाशरूप हैं, (किन्तु) [संभवविलयौ इति तौ नाना] उत्पाद तथा विनाश, ऐसी वे दोनों (पर्याय) नाना (भिन्न-भिन्न, भेद रूप) हैं।

टीकाः—प्रथम तो यहां न कोई (जीव) जन्म लेता है और न मरता है, (अर्थात् इस लोकमें कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है), (ऐसा होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक, प्रतिक्षण परिणामी होनेसे, क्षण-क्षणमें होने वाले विनाश और उत्पाद से भी सहित हैं।

यह विरोधको (भी) प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उद्भव और विलयका एकत्व और अनेकत्व है। जब उद्भव और विलयका एकत्व है तब पूर्वपक्ष है, और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है। (अर्थात्-जब उत्पाद और विनाशके एकत्वकी अपेक्षा ली जाय तब यह पक्ष फलित होता है कि-'न तो जीव उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, और जब उत्पाद तथा विनाशके अनेकत्वकी अपेक्षा ली जाय तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पादका पक्ष फलित होता है।) वह इस प्रकार है:—

जैसे:—'जो घड़ा है वही कूंडा है' ऐसा कहे जानेपर, घड़े और कूंडेके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे, उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहे जानेपर, उत्पाद और विनाशके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंका आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्यायके उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा माननेसे (इस अपेक्षासे) उन दोनोंका आधारभूत ध्रौव्यवाला जीवद्रव्य प्रगट होता ही है (लक्ष्य में आता है)। इसलिये सर्वदा द्रव्यपनेसे जीव टंकोत्कीर्ण रहता है।

और फिर, जैसे—'अन्य घड़ा है और अन्य कूंडा है' ऐसा कहे जानेपर, उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टीका अन्यत्व (भिन्न-भिन्नपना) असंभव होनेके कारण घड़ेका और कूंडेका (दोनोंका भिन्न भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है, उसही प्रकार 'अन्य उत्पाद है और अन्य

व्यय है' ऐसा कहा जानेपर, उन दोनोंके आधारभूत ध्रौव्यका अन्यत्र असंभव होनेसे, उत्पाद और व्ययका स्वरूप प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्यायके उत्पन्न होनेपर और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होनेपर 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षासे), उत्पाद और व्ययवाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्ष्यमें आती है)। इसलिये जीव प्रतिक्षण पर्यायोंसे अनवस्थित (भेद रूप) है ॥ ११९ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्वं दर्शयति,—

(जायदि णेव ण णस्सदि) जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन । क्व । (खणभंगसमुब्भवे जणे कोई) क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि । क्षणं क्षणं प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र सम्भवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्गसमुद्भवे विनश्वरे पर्यायार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतुं वदति (जो हि भवो सो विलओ) पर्यायार्थिकनयेन यो हि भवस्स एव विलयो यतः कारणात् । तथाहि—मुक्तात्मनां य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूतं यत्परमात्मद्रव्यं तदेव मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधारभूतसंसारिजीवद्रव्यवद्वा । क्षणभंगसमुद्भवे हेतुः कथ्यते । (संभवविलओत्ति ते णाणा) सम्भवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यतः कारणात्ततः पर्यायार्थिकनयेन भंगोत्पादौ । तथाहि—य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति । ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ॥ ११९ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि द्रव्यकी अपेक्षा जीव नित्य है तथापि पर्यायकी अपेक्षा विनाशीक या अनित्य है—

गाथार्थ—(खणभंगसमुब्भवे जणे) पर्यायर्थिक नयसे क्षण-क्षणमें नाश व उत्पन्न होता है ऐसे लोक में (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) द्रव्यार्थिक नयसे कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है। कारण (जो हि भवो सो विलओ) जो निश्चयसे उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है। (ते संभव विलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश भिन्न २ हैं।

टीकार्थ—क्षण क्षणमें जहां पर्यायार्थिक नयसे अवस्थाका नाश व उत्पाद होता है ऐसे इस लोकमें कोई भी जीव द्रव्यार्थिक नयसे न नया पैदा होता है, न पुराना नाश होता है। इसका कारण यह है कि पर्यायकी अपेक्षा जो निश्चयसे उपजे है वही नाश होय है। जैसे मुक्त आत्माओंका जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवल ज्ञानादिरूप मोक्षकी अवस्थासे उत्पन्न होना है सो ही निश्चय रत्नत्रयमई निश्चय मोक्ष

मार्गकी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होना है। वे मोक्ष पर्याय और मोक्ष मार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूपसे परस्पर भिन्न २ हैं तथापि इन पर्यायोंका आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है अन्य नहीं है। अथवा जैसे मिट्टीके पिंडके नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी वही है। अथवा मनुष्य पर्यायको नष्ट होकर देव पर्यायको पाते हुए इन दोनोंका आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है। पर्यायार्थिक नयसे विचार करें तो वे उत्पाद और व्यय परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे पहली कही हुई बातमें जो कोई मोक्ष-अवस्थाका उत्पाद है तथा मोक्षमार्गकी पर्यायका नाश है ये दोनों ही एक नहीं हैं किन्तु भिन्न २ हैं। यद्यपि इन दोनोंका आधाररूप परमात्म-द्रव्य भिन्न नहीं है अर्थात् वही एक है-इससे यह जाता है कि द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यमें नित्यपना होते हुए भी पर्यायकी अपेक्षा नाश है ॥ ११९ ॥

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥१२०॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ॥१२०॥

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति। यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः। तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात्। अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ॥१२०॥

अब, जीवकी अनवस्थितताका हेतु प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[तस्मात् तु] इसलिये [संसारे] संसारमें [स्वभावसमवस्थितः इति] स्वभावसे अवस्थित ऐसी [कश्चित् नास्ति] कोई (वस्तु) नहीं है, (अर्थात् संसारमें किसी भी वस्तुका स्वभाव केवल एकरूप रहना नहीं है), [पुनः] और (जो) [संसरतो द्रव्यस्य] (चारों गतियोंमें) भ्रमण करनेवाले (जीव) द्रव्यकी [क्रिया] (अन्य अन्य अवस्था रूप) परिणति है, (वही) [संसारः] संसार है।

टीका:—क्योंकि वास्तवमें जीव द्रव्यत्वसे अवस्थित होनेपर भी पर्यायोंसे अनवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि संसारमें कोई भी (वस्तु) स्वभावसे अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसीका स्वभाव केवल अविचल-एकरूप रहना नहीं है) और यहां (इस संसारमें) जो अनवस्थितता है उसमें संसार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसारके) मनुष्यादि-पर्यात्मक-पना है, कारण कि वह ससार रूपसे ही वैसा (अनवस्थित) है। (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है।) अब, परिणमन करते हुये द्रव्यका जो पूर्व दशाका परित्याग तथा उत्तर दशाका ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वह ही संसारका स्वरूप है ॥ १२० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ विनश्वरत्वे कारणमुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणां कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्वं सूचितं तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानीं तस्योपसंहारमाह—

(तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति) तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति। यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वव्याख्यानं कृतं तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षणपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्यः कोऽपि नास्ति। क्व। (संसारे) निस्संसारशुद्धात्मनो विपरीते संसारे। संसारस्वरूपं कथयति—(संसारो पुण किरिया) संसारः पुनः क्रिया निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशा मनुष्यादिविभाव-पर्यायपरिणतिरूपा क्रिया संसारस्वरूपं। सा च कस्य भवति। (संसरमाणस्स जीवस्स) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य संसरतः परिभ्रमतः संसारिजीवस्येति। ततः स्थितं मनुष्यादिपर्यायात्मकः संसार एव विनश्वरत्वे कारणमिति ॥ १२० ॥

एवं शुद्धात्मनो भिन्नानां कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे इस विनाश स्वरूप जगतके लिये कारण क्या है उसको संक्षेपमें कहते हैं अथवा पहले स्थलमें अधिकार सूत्रसे जो यह सूचित किया था कि मनुष्यादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे हुई हैं इससे विनाशीक हैं इसी ही बातको तीन गाथाओंसे विशेष करके व्याख्यान किया गया अब उसको संकोचते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—(तम्हा दु) इसी कारणसे (संसारे) इस संसारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे स्थिर नहीं है। (पुण) तथा (संसरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (संसारो) संसार है।

टीकार्थः—जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्काररूप परिणत शुद्धात्म स्वभाव स्थिर है, वैसा कोई भी जीव पदार्थ इस संसार-रहित शुद्धात्मासे विपरीत संसारमें अवस्थित नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण संसारमें भ्रमण करते हुए इस संसारी जीव की जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमें परिणमन रूप क्रिया है सो ही संसारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगतके नाशमें कारण है ॥ १२० ॥

इस तरह शुद्धात्मासे भिन्न कर्मोंसे उत्पन्न मनुष्यादि पर्याय नाशवंत हैं इस कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥१२१॥

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसंयुक्तम्।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः ॥१२१॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः। अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात्। एवं सतीतरेतराश्रयदोषः न हि। अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥ १२१ ॥

अब, परिणमनस्वरूप संसारमें किस कारणसे पुद्गलका संबंध होता है—कि जिससे उसके (संसारके) मनुष्यादि पर्यायात्मकपना होता है ?-इसका यहां समाधान करते हैं:—

अन्वयार्थः—[कर्ममलीमसः आत्मा] कर्मसे मलिन आत्मा [कर्मसंयुक्तं परिणामं] कर्मसंयुक्त परिणामको (द्रव्यकर्मके संयोगसे होनेवाले अशुद्ध परिणामको) [लभते] प्राप्त करता है, [ततः] उससे [कर्म श्लिष्यति] कर्म चिपक जाता है (द्रव्य कर्मका बंध होता है), [तस्मात् तु] इसलिये [परिणामः कर्म] परिणाम कर्म है।

टीकाः—'संसार' नामक जो यह आत्माका तथाविध (उस प्रकारका) परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकनेका (बन्ध का) हेतु है। अब, उस प्रकारके परिणामका हेतु कौन है ? (इसके उत्तरमें कहते हैं कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी * संयुक्ततासे ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है।

(शंकाः—) ऐसा होनेसे इतरेतराश्रयदोष× आयगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्मके साथ संबद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म+ है उसका वहां हेतुरूपसे ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्माका तथाविध परिणाम होनेसे, वह उपचारसे द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणामका कर्त्ता भी उपचारसे है॥ १२१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ संसारस्य कारणं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारणं मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति,—

(आदा) निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात् (कम्ममलि-

---

*—द्रव्यकर्मके संयोगसे ही अशुद्ध परिणाम होते हैं, द्रव्यकर्मके बिना वे कभी नहीं होते। इसलिये द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणामका कारण है। ×—एक असिद्ध बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरी असिद्ध बातका आश्रय लिया जाय, और फिर उस दूसरी बातको सिद्ध करनेके लिये पहलीका आश्रय लिया जाय,—सो इस तर्क-दोषको इतरेतराश्रयदोष कहा जाता है।

द्रव्यकर्मका कारण अशुद्ध परिणाम कहा है, फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारणके संबंधमें पूछे जानेपर, उसका कारण पुनः द्रव्यकर्म कहा है, इसलिये शंकाकारको शंका होती है कि इस बातमें इतरेतराश्रय दोष आता है। +—नवीन द्रव्यकर्मका कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है, और उस अशुद्ध आत्म-परिणामका कारण वहका वही (नवीन) द्रव्यकर्म नहीं किन्तु पहलेका (पुराना) द्रव्यकर्म है, इसलिये इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

मसो) कर्ममलीमसो भवति । तथा भवन्सन् किं करोति । (परिणामं लहदि) परिणामं लभते । कथम्भूतं । (कम्मसंजुत्तं) कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसंयुक्तं मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामं (तत्तो सिलिसदि कम्मं) ततः परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति । किं । कर्म । यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिःपरिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति (तम्हा कम्मं तु परिणामो) तस्मात् कर्म तु परिणामः । यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीयः सरागपरिणाम एव कर्मकारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते । ततः स्थितं रागादिपरिणामः कर्मबन्धकारणमिति ॥१२१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संसारका कारण ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म है और इस द्रव्य कर्म के बंधका कारण मिथ्यादर्शन व राग आदि रूप परिणाम है--

गाथार्थः—(आदा कम्ममलिमसो) आत्मा द्रव्य कर्मोंसे अनादि कालसे मैला है इसलिये (कम्मसंजुत्तं परिणामं) मिथ्यात्व आदि भाव-कर्म रूप परिणामको (लहदि) प्राप्त होता है । (तत्तो) उस मिथ्यात्व आदि परिणामसे (कम्मं सिलिसदि) पुद्गल कर्म जीवके साथ बंध जाता है (तम्हा) इसलिये (परिणामो) मिथ्यात्व व रागादि रूप परिणाम (कम्मं तु) ही भाव कर्म है अर्थात् द्रव्य कर्मके बन्धका कारण है ।

टीकार्थ—निश्चय नयसे यह दोष-रहित परमात्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला होनेपर भी व्यवहार नयसे अनादि कर्म बन्धके कारण कर्मोंसे मैला होरहा है । इसलिये कर्म रहित परमात्मासे विरुद्ध कर्म-सहित मिथ्यात्व व रागादि परिणामको प्राप्त होता है-इस परिणामसे द्रव्य कर्मोंको बांधता है । और जब निर्मल भेद-विज्ञानकी ज्योतिरूप परिणाममे परिणमता है तब कर्मोंसे छूट जाता है, क्योंकि रागद्वेष आदि परिणामसे कर्म बंधता है । इसलिये राग आदि विकल्परूप जो भाव कर्म या सराग परिणाम है सो ही द्रव्य कर्मोंका कारण होनेसे उपचारसे कर्म कहलाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बंधका कारण है ॥ १२१ ॥

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥१२२॥

परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥ १२२ ॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत्। पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥ १२२॥

अब, परमार्थसे आत्माके द्रव्यकर्मका अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं (निश्चयसे आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है-ऐसा प्रगट करते हैं):-

अन्वयार्थः—[परिणामः] परिणाम [स्वयम्] स्वयं [आत्मा] आत्मा है, [सा पुनः] और वह [जीवमयी क्रिया इति भवति] जीवमय क्रिया है, [क्रिया] क्रियाको [कर्म इति मता] कर्म माना गया है, [तस्मात्] इसलिये आत्मा [कर्मणः कर्ता तु न] द्रव्य कर्मका कर्त्ता तो नहीं है।

टीकाः—प्रथम तो आत्माका परिणाम वास्तवमें स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामीके परिणाम के स्वरूपका कर्त्तापना होनेसे, अनन्यपना है। जो उस (आत्मा) का तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणामलक्षण वाली क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है जो (जीवमयी) क्रिया है, वह, आत्माके द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होनेसे, कर्म है। इसलिये परमार्थसे आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है, किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नहीं।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि '(जीव भावकर्मका ही कर्त्ता है तब फिर) द्रव्यकर्म का कर्त्ता कौन है ?' (इसका उत्तर इस प्रकार है:—) प्रथम तो पुद्गलका परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी के, परिणामके स्वरूपका कर्त्तापना होनेसे अनन्यपना है। जो उस (पुद्गल) का तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है, यह स्वीकार किया गया है। जो (पुद्गलमयी) क्रिया है, वह पुद्गलके द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होनेसे, कर्म है। इसलिये परमार्थसे पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्त्ता है, किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नहीं।

इससे (यह समझना चाहिये कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता ॥ १२२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता, न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति। अथवा द्वितीयपातनिका—शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि सांख्येन यदुक्तं तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्ध्यर्थं कथंचित्परिणामित्वं व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वयं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति,—

(परिणामो सयमादा) परिणामः स्वयमात्मा आत्मपरिणामस्तावदात्मैव। कस्मात्परिणामपरिणामिनोस्तन्मयत्वात् (सा पुण किरियत्ति होदि) सा पुनः क्रियेति भवति स च परिणामः क्रिया परिणतिरिति भवति। कथम्भूता। (जीवमया) जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी (किरिया कम्मत्ति मदा) जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधीनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता संमता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूपं जीवादभिन्नं भावकर्मसंज्ञं निश्चयकर्म तदेव ग्राह्यं। तस्यैव कर्ता जीवः (तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता) तस्माद्द्रव्यकर्मणो न कर्तेति। अत्रैतदायाति—यद्यपि कथंचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्वं जातं तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता पुद्गलकर्मणां व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्षं साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता जीवपरिणामानां व्यवहारेणेति ॥१२२॥

एवं रागादिपरिणामाः कर्मबन्धकारणं तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निश्चयसे यह आत्मा अपने ही परिणामका कर्त्ता है, द्रव्य कर्मों का कर्त्ता नहीं है। अथवा दूसरी उत्थानिका यह है कि शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली

शुद्धनयसे जैसे यह जीव अकर्ता है वैसे ही अशुद्ध निश्चय नयसे भी सांख्य मतके कहे अनुसार जीव अकर्ता है। इस बातके निषेधके लिये तथा आत्माके बन्ध व मोक्ष सिद्ध करनेके लिये किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं। इसतरह दो उत्थानिका मनमें रखकर आगेका सूत्र आचार्य कहते हैं

गाथार्थ—(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वयं आत्मा है (पुण सा किरियत्ति होइ) तथा वही परिणाम क्रिया है। (जीवमयी) क्योंकि, वह क्रिया जीवके द्वारा की गई है इसलिये जीवमयी है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसीको जीवका कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है।

टीकार्थ—आत्माका जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योंकि परिणाम और परिणामी तन्मय होते हैं। इस परिणामको ही क्रिया कहते हैं क्योंकि यह परिणाम जीवसे उत्पन्न हुआ है। जो क्रिया जीवने स्वाधीनतासे शुद्ध या अशुद्ध उपादान कारण रूपसे प्राप्त की है वह क्रिया जीवका कर्म है यह सम्मत है। यहां कर्म शब्दसे जीवसे अभिन्न चैतन्य कर्मको लेना चाहिये। इसीको भाव कर्म या निश्चय कर्म भी कहते हैं। इस कारण यह आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है। यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीवके कर्तापना है तथापि निश्चयसे यह जीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, व्यवहार मात्रसे ही पुद्गल कर्मोंका कर्त्ता है। इनमेंसे भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूपसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमन करता है तब मोक्षको साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूपसे परिणमता है तब बन्धको साधता है। इसी तरह पुद्गल भी जीवके समान निश्चयसे अपने परिणामोंका ही कर्ता है। व्यवहारसे जीवके परिणामोंका कर्त्ता है, ऐसा जानना ॥ १२२ ॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंधके कारण हैं उन्हींका कर्त्ता जीव है, इस कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥ १२३ ॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ १२३ ॥

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं तया खल्वा-

त्मा परिणमति । यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम् । चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा । तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ॥ १२३ ॥

अब, यह कहते हैं कि वह कौनसा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होता है ? :—

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [चेतनया] चेतनारूपसे [परिणमति] परिणमित होता है। [पुनः] और [चेतना [त्रिधा अभिमता] तीन प्रकारसे मानी गई है, [पुनः] और [सा] वह [ज्ञाने] ज्ञानसंबंधी, [कर्मणि] कर्मसंबंधी [वा] अथवा [कर्मणः फले] कर्मफल संबंधी [भणिता] कही गई है।

टीकाः—क्योंकि चैतन्य आत्माका स्वधर्मव्यापकत्व * है, इसलिये चेतना ही आत्माका स्वरूप है, उसरूप (चेतनारूप) वास्तवमें आत्मा परिणमित होती है। आत्माका जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतना का उल्लंघन नहीं करता, (अर्थात् आत्माका कोई भी परिणाम चेतनाको किंचित्मात्र भी नहीं छोड़ता—बिना चेतनाके बिलकुल नहीं होता)-यह तात्पर्य है। और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूपसे तीन प्रकारकी है। उसमें ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्म परिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है ॥१२३॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति तं परिणामं कथयति,—

(परिणमदि चेदणाए आदा) परिणमति चेतनया करणभूतया । स कः । आत्मा । यः कोऽप्यात्मनः शुद्धाशुद्धपरिणामः स सर्वोऽपि चेतनां न त्यजति इत्यभिप्रायः । (पुण चेदणा तिधाभिमदा सा) सा चेतना पुनस्त्रिधाभिमता । कुत्र कुत्र । (णाणे) ज्ञानविषये (कम्मे) कर्मविषये (फलम्मि वा) फले वा । कस्य फले । (कम्मणो) कर्मणः (भणिदा) भणिता कथितेति । ज्ञानपरिणतिः ज्ञानचेतना अग्रे वक्ष्यमाणा, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतनेति भावार्थः ॥१२३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परिणामसे आत्मा परिणमन करता है वह परिणाम क्या है—

गाथार्थ—(आदा) आत्मा (चेदणाए) चेतनाके स्वभाव रूपसे (परिणमदि) परिणमन

*—स्वधर्मव्यापकत्व–निजधर्मोंमें व्यापकपना ।

करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञानके सम्बन्धमें (कम्मे) कर्म या कार्यके सम्बन्धमें (वा कम्मणो फलम्मि तथा कर्मोंके फलमें (भणिदा) कही गई है।

टीकार्थ—हरएक आत्मा चेतनापनेसे परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्माका शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतनाको नहीं छोड़ता है। वह चेतना जब ज्ञानको विषय करती है अर्थात् ज्ञानकी परिणतिमें वर्तन करती है तब उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्मके करनेमें उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मोंके फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकारकी होती है ॥ १२३ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविदं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥ १२४ ॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम्।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥ १२४ ॥

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम्। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मा प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः तद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात्। तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्। तत्र द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम्। एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः ॥ १२४ ॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप वर्णन करते हैं :—

अन्वयार्थः—[अर्थविकल्पः] अर्थ विकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थोंका भिन्नता पूर्वक युगपत् अवभासन) [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवेन] जीवके द्वारा [यत् समारब्धं] जो किया

जा रहा हो वह [कर्म] कर्म है, [तत् अनेकविधं] वह कर्म अनेक प्रकारका है, [सौख्यं वा दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [फलं इति भणितम्] कर्मफल कहा गया है।

टीकाः—प्रथम तो, अर्थविकल्प ज्ञान है। वहां, अर्थ क्या है? स्व-परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ (समस्त पदार्थ) है। उसके आकारोंका अवभासन (प्रकाशित होना) विकल्प है। और दर्पणके निजविस्तारकी भांति (अर्थात् जैसे दर्पणके निज विस्तारमें स्व और पर आकार एकही साथ प्रकाशित होते हैं; उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थ-विकल्प ज्ञान है।

जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है। क्रिया करती हुई आत्मा वास्तवमें प्रति क्षण उन उन भावरूप होती है। जो वह भाव है वही, आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे, कर्म है। वह (कर्म) एक प्रकारका होनेपर भी द्रव्यकर्मरूप उपाधिकी निकटताके सद्भाव और असद्भावके कारण अनेक प्रकारका है।

अब कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख कर्मफल है। वहां, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण प्रकृति (स्वभाव) भूत-सुख है, और द्रव्यकर्मरूप उपाधिकी निकटताके सद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति-(विकार) भूत-दुःख है, क्योंकि वहां सुखके लक्षणका अभाव है।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफलके स्वरूप निश्चित हुये॥ १२४॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधां चेतनां विशेषेण विचारयति,—

(णाणं अट्ठवियप्पं) ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति। अथवा पाठान्तरं (णाणं अट्ठवियप्पो) ज्ञानमर्थविकल्पः तथाह्यर्थः परमात्मादिपदार्थः अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति, रागाद्यास्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्पः विकल्पलक्षणमुच्यते। स एव ज्ञानं ज्ञानचेतनेति। (कम्मं जीवेण जं समारद्धं) कर्म जीवेन यत्समारब्धं बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारब्धं तत्कर्म भण्यते। सैव कर्मचेतनेति (तमणेगविहं भणियं) तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितमिदानीं फलचेतना कथ्यते—(फलंति सोक्खं च दुःखं वा) फलमिति सुखं च दुःखं वा विषयानुरागरूपं यदशुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं, यच्च धर्मानुरागरूपं शुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलं चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभो-

गानुभवरूपं, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दुःखमेव । यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूपं कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादकं परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति । एवं ज्ञानकर्म कर्मफलचेतनास्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥ १२४ ॥

उत्थानिका—आगे तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाके स्वरूपका विशेष विचार करते हैं—

गाथार्थः—(णाणं अट्ठवियप्पं) ज्ञान मति आदिके भेदसे आठ प्रकारका है । अथवा (अट्ठवियप्पो) पदार्थोंके जानने में समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञानचेतना है । (जीवेणं जं समारद्धं कम्मं) जीवके द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेकविधं भणिदं) वह अनेक प्रकारका कहा गया है-इस कर्मकी चेतना सो कर्मचेतना है (वा सोक्खं व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःखरूप फलमें चेतना सो कर्मफल-चेतना है ।

टीकार्थ—ज्ञानको अर्थका विकल्प कहते हैं—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकारको झलकाने वाले दर्पणके समान स्वपर पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है । वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादिरूप मैं परमात्मा पदार्थ हूँ तथा रागादि आस्रवको आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं । इसी अर्थ-विकल्पको ज्ञान चेतना कहते हैं । इस जीवने अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन कायके व्यापार रूपसे जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं । यही कर्म-चेतना है । सो कर्मचेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगके भेदसे तीन प्रकारकी कही गई है । सुख तथा दुःख को कर्मका फल कहते हैं उसको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है । विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलताको पैदा करनेवाला नारक आदिका दुःख है । धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल चक्रवर्ती आदिके पंचेंद्रियोंके भोगोंका भोगना है । यद्यपि इसको अशुद्ध निश्चय नयसे सुख कहते हैं तथापि यह आकुलताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे शुद्ध निश्चय नयसे दुःख ही है । और जो रागादि रहित शुद्धोपयोगमें परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलताको पैदा करनेवाला परमानंदमई एक रूप सुखामृतका स्वाद है । इस तरह ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनाका स्वरूप जानना चाहिये ॥ १२४ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी ।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ १२५ ॥

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी ।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा ज्ञातव्यः ॥१२५॥

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात् । परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः । ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव । एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥१२५॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलको आत्मारूपसे निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[आत्मा परिणामात्मा] आत्मा परिणाम स्वभाव वाली है, [परिणामः] परिणाम [ज्ञानकर्मफलभावी] ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं, कर्म, फलं च] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [आत्मा ज्ञातव्यः] आत्म-स्वरूप समझने चाहिये ।

टीकाः—प्रथम तो आत्मा वास्तवमें परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है, ऐसा (१२२ वीं गाथामें भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देवने) स्वयं कहा है । परिणाम तो चेतनास्वरूप होनेसे ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होनेके स्वभाववाला है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है । इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है ।

इसी प्रकार वास्तवमें शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें, परद्रव्यके सम्पर्क (संबंध) का असंभव होनेसे और पर्यायोंका द्रव्यके भीतर प्रलीन (लोप) हो जानेसे, आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है ॥ १२५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति,—

(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा भवति । कथम्भूतः । परिणामात्मा परिणामस्वभावः । कस्मादिति चेत् ? "परिणामो सयमादा" इति पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात् । परिणामः कथ्यते (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणामो भवति । किंविशिष्टः । ज्ञानकर्मफलभावी ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवितुं शील इत्यर्थः (तम्हा) तस्मादेव तस्मात्कारणात् (णाणं) पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना (कम्मं) तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना (फलं च) पूर्वोक्तलक्षण-

फलचेतना च (आदा मुणेदव्वो) इयं चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातंव्य इति । एतावता किमुक्तं भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा । किं करोति । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्षं साधयति, शुभाशुभाभ्यां पुनर्बन्धमपि ॥ १२५ ॥

एवं त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह आत्मा ही अभेद नयसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप होजाता है ।

गाथार्थ—(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम-स्वभावी है । (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफल रूप होजाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्मं च फलं) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म-फल रूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये ।

टीकार्थ—आत्मा परिणमनस्वभाव है, यह बात पहले ही "परिणामो सयमादा" इस गाथामें कही जाचुकी है । उसी परिणमन स्वभावमें यह शक्ति है कि आत्माका भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्म चेतनारूप व कर्मफलचेतनारूप हो जावे । इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतनारूप अभेद नयसे आत्माको ही जानना चाहिये । इस कथनसे यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतनाके परिणामोंसे परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध परिणामसे मोक्षका साधन करता है । तथा शुभ और अशुभ परिणामोंसे बंधको साधता है ॥ १२५ ॥

इस तरह तीन प्रकार चेतनाके कथनकी मुख्यतासे चौथा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ १२६ ॥

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः । तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारो-

पितविकारोऽहमासं संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणामनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि । एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते । ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥१२६॥

अब, इस प्रकार ज्ञेयत्वको प्राप्त आत्माके, शुद्धताके निश्चयसे, ज्ञानतत्वकी सिद्धि होने पर, शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये (अर्थात् आत्माकी शुद्धताके निर्णयकी प्रशंसा करते हुये) द्रव्यसामान्यके वर्णनका उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थः—[कर्त्ता करणं कर्म कर्मफलं च आत्मा] 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा है' [इति निश्चितः] ऐसा निश्चय करता हुआ [श्रमणः] मुनि [यदि] यदि [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] परिणमति नहीं हो तो वह [शुद्धं आत्मानं] शुद्ध आत्माको [लभते] प्राप्त करता है

टीकाः—जो पुरुष इस प्रकार 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा ही है' यह निश्चय करके वास्तवमें परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, जिसका परद्रव्यके साथ संपर्क रुक गया है, और जिसकी पर्यायें द्रव्यके भीतर प्रलीन हो गई हैं ऐसा वही पुरुष शुद्धात्माको प्राप्त करता है, अन्य कोई नहीं ।

इसीको स्पष्टतया समझाते हैं:—"जब अनादिसिद्ध पौद्‌गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिकी निकटतासे उत्पन्न हुये उपराग (उपाधिके अनुरूप विकारी भाव) के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत) थी, ऐसा मैं-जपाकुसुमकी निकटतासे उत्पन्न हुये उपराग (लालिमा) से जिसकी स्वपरिणति रंजित (रंगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणिकी भांति-परके द्वारा आरोपित विकार-वाला होनेसे संसारी (अज्ञानी) था, तब भी (अज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी (संबंधी) नहीं था। तब भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त (विकृत) चैतन्यरूप स्वभावसे स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था), मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभावके द्वारा साधकतम (उत्कृष्टसाधन) था, मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्य रूप परिणमित होनेके स्वभावके कारण, आत्मासे प्राप्य था, और मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्य परिणामरूप स्वभावसे निष्पन्न तथा सुखसे विपरीत लक्षणवाला 'दुःख' नामक कर्मफल रूप था।

अब, जपाकुसुमकी निकटताके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो ऐसी स्फटिकमणिकी भांति- अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधिकी निकटता के नाशसे जिसकी सुविशुद्ध साहजिक (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है तथा जिसका परके द्वारा आरोपित विकार रुक गया है, ऐसा मैं एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ, अब भी (मुमुक्षु दशामें-ज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी नहीं है। अब भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य रूप स्वभावसे स्वतन्त्र हूं, (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूं), मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्धचैतन्यरूप स्वभाव से साधकतम हूँ, मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य परिणमित होने के स्वभावके कारण आत्मासे प्राप्य हूं, और मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य परिणामरूप स्वभावसे निष्पन्न तथा अनाकुलता लक्षणवाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ।

इस प्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार भानेवाले तथा

परमाणुकी भांति एकत्वकी भावनाके उन्मुख पुरुषके परद्रव्यरूप परिणति-किंचित् भी नहीं होती। परमाणुकी भांति एकत्वको भानेवाला पुरुष परके साथ संबद्ध नहीं होता। इसलिये परद्रव्यके साथ असंबद्धताके कारण वह सुविशुद्ध होता है। कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूपसे (अभेद दृष्टिसे) भाता हुआ, वह पुरुष पर्यायोंसे संकीर्ण (खंडित) नहीं होता इसलिये-पर्यायोंके द्वारा संकीर्ण न होनेसे वह सुविशुद्ध होता है ॥ १२६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनायाः शुद्धात्मप्राप्तिरूपं फलं दर्शयति,—

(कत्ता) स्वतन्त्रः स्वाधीनः कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि । स कः । (अप्पत्ति) आत्मेति । आत्मेति कोऽर्थः । अहमिति । कथम्भूतः । एकः । कस्याः साधकः । निर्मलात्मानुभूतेः । किंविशिष्टः । निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणतः सन् (करणं) अतिशयेन साधकं साधकतमं करणमुपकरणं करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि । कस्याः साधकं । सहजशुद्धपरमात्मानुभूतेः । केन कृत्वा । रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानपरिणतिबलेन (कम्मं) शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि । फलं च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः साध्यं निष्पाद्यं निजशुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फलं चास्मि (णिच्छिदो) एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमतिः सन् (समणो) सुखदुःखजीवितमरणशत्रुमित्रादिसमताभावनापरिणतः श्रमणः परममुनिः (परिणमदि णेव अण्णं जदि) परिणमति नैवान्यं रागादिपरिणामं यदिचेत् ? (अप्पाणं लहदि सुद्धम्) तदात्मानं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेन शुद्धं शुद्धबुद्धैकस्वभावं लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवतां श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवानाम् ॥ १२६ ॥

उत्थानिका—आगे सामान्य ज्ञेय अधिकारकी समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञानकी भावनाका फल शुद्धात्माकी प्राप्ति है, ऐसा दिखलाते हैं:—

गाथार्थः—(कत्ता, करणं, कम्मफलं च अप्पत्ति) कर्त्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है, ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करनेवाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्णं) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्धं अप्पाणं लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूपको पाता है।

टीकार्थ—मैं एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूतिका अपने विकाररहित परम-चैतन्यके परिणामसे परिणमन करता हुआ साधन करनेवाला हूं इससे मैं ही कर्ता हूं। तथा मैं ही रागादि विकल्पोंसे रहित अपनी स्वसंवेदन ज्ञानकी परिणतिके बलसे सहज शुद्ध परमात्माकी अनुभूतिका साधकतम हूँ, अर्थात् अवश्य साधनेवाला हूँ इसलिये मैं ही करण स्वरूप हूँ इसलिये मैं ही शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माके स्वरूपसे प्राप्ति योग्य हूँ इसलिये मैं ही कर्म हूँ। तथा मैं ही शुद्ध

ज्ञान-दर्शन-स्वभावरूप परमात्मासे साधने योग्य अपने ही शुद्धात्माकी रुचि, व उसीका ज्ञान व उसीमें निश्चल अनुभूतिरूप अभेद रत्नत्रयमई परम समाधिसे पैदा होनेवाले सुखामृतरसके आस्वादमें परिणमन रूप हूँ इससे मैं ही फलरूप हूँ। इस तरह निश्चयनयसे बुद्धि को रखनेवाला परम मुनि जो सुखदुःख, जन्ममरण, शत्रु मित्र आदिमें समताकी भावनासे परिणमन कर रहा है यदि अपनेसे अन्य रागादि परिणामोंमें नहीं परिणमन करता है तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप आत्मा को प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवका है ॥ १२६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थलं गतम् । इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपंचकेन भेदभावना गता । इत्युक्तप्रकारेण "तम्हा तस्स णमाइं" इत्यादि पंचत्रिंशत्सूत्रैः सामान्यज्ञेयाधिकार व्याख्यानं समाप्तम् ।

इत ऊर्ध्वमेकोनविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यानं करोति । तत्राष्टस्थलानि भवन्ति । तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनिःक्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति । "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थलं, तदनन्तरं ज्ञानादिविशेषगुणानां स्वरूपकथनेन "लिंगेहिं जेहिं" इत्यादिगाथाद्वयेन प्रथमस्थलम् । अथानन्तरं स्वकीयस्वकीयगुणोपलक्षितद्रव्याणां निर्णयार्थं "वण्णरस" इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम् । अथ पंचास्तिकायकथनमुख्यत्वेन "जीवा पोग्गलकाया" इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम् । अतः परं द्रव्याणां लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षणं तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति, "लोयालोएसु" इत्यादिसूत्रद्वयेन पंचमस्थलम् । तदनन्तरं कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूपः पर्यायकालः कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति "समओ दु अप्पदेसो" इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम् । अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तदनन्तरं तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति, "आयासमणुणिविट्ठं" इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम् । तदनन्तरं कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका ।

इस तरह एक सूत्रसे पांचवा स्थल पूर्ण हुआ इस तरह सामान्य ज्ञेयके अधिकारके मध्यमें पांच स्थलोंसे भेद भावना कही गई । ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइं" इत्यादि पैंतीस सूत्रोंके द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकारका व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

आगे उन्नीस गाथाओंसे जीव अजीव द्रव्यादिका विवरण करते हुए विशेष ज्ञेयका व्याख्यान करते हैं । इसमें आठ स्थान हैं । इन आठमें से पहले स्थलमें प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्वको कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपनेको कहते हुए दूसरी, सक्रिय और निःक्रियपनेका व्याख्यान करते हुए तीसरी इस तरह "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादि तीन गाथाओंसे पहला स्थल है । इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणोंका स्वरूप कहते हुए "लिंगेहिं जेहिं" इत्यादि दो गाथाओंसे दूसरा स्थल है । आगे अपने २ गुणोंसे द्रव्य पहचाने जाते हैं इसके निर्णयके लिये "वण्णरसं" इत्यादि तीन गाथाओंसे तीसरा स्थल है

आगे पंचास्तिकायके कथनकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गल काया" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथा स्थल है। इसके पीछे द्रव्योंका आधार लोकाकाश है ऐसा कहते हुए पहली, जैसा आकाश द्रव्यका प्रदेश लक्षण है वैसा ही शेष द्रव्योंका है ऐसा कहते हुए दूसरी, इस तरह "लोयालोएसु" इत्यादि दो सूत्रोंसे पांचवां स्थल है। इसके पीछे काल द्रव्यको अप्रदेशी स्थापित करते हुए पहली, समयरूप पर्याय काल है कालाणुरूप द्रव्यकाय है ऐसा कहते हुए दूसरी, इसतरह 'समओ दु अप्पदेसो" इत्यादि दो गाथाओंसे छठा स्थल है! आगे प्रदेशका लक्षण कहते हुए पहली, फिर तिर्यक् प्रचयको कहते हुए दूसरी इस तरह "आयासमणुणिविट्ठ" इत्यादि दो सूत्रोंसे सातवां स्थल है। फिर कालाणुको द्रव्यकाल स्थापित करते हुए "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादि तीन गाथाओंसे आठवां स्थल है इस तरह विशेष ज्ञेयके अधिकारमें समुदाय पातनिका है

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥१२७॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥१२७॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

अब, द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन करते हैं, अर्थात् द्रव्यविशेषोंको द्रव्यके भेदोंको बतलाते हैं) उसमें (प्रथम) द्रव्यके जीवाजीवत्वरूप विशेषका निश्चय करते हैं, (अर्थात् द्रव्यके जीव और अजीव दो भेद बतलाते हैं):—

अन्वयार्थ—[द्रव्यं] द्रव्य [जीवः अजीवः] जीव और अजीव (ऐसे दो भेद रूप) है। [पुनः] और (उसमें) [चेतनोपयोगमयः] चेतन तथा उपयोगमयी [जीवः] जीव है [च और [पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः] पुद्गल आदिक अचेतन द्रव्य [अजीवः भवति] अजीव हैं।

टीका—यहां (इस विश्वमें) वास्तव में, एकत्वके कारणभूत द्रव्यत्वसामान्यको छोडे विना ही, उसमें (द्रव्य में) रहने वाले विशेषलक्षणोंके सद्भावके कारण एक दूसरेसे पृथक पनेसे, द्रव्य जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप विशेषताको प्राप्त होता है, उसमें, जीवका आत्म-द्रव्य एक ही भेद है, और अजीवके पुद्गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य,यह पांच भेद हैं। जीवका विशेषलक्षण चेतनोपयोगमयत्व (चेतनामयता और उपयोगमयता) है, और अजीवका अचेतनत्व है। उनमें (से) स्वधर्मोंमें व्यापकपना होनेसे स्वरूपपनेसे प्रकाशित होनेवाली, अविनाशिनी, भगवती, (स्व) संवेदनरूप चेतनाके द्वारा तथा चेतनापरिणामलक्षण, द्रव्यपरिणतिरूप उपयोगके द्वारा, जिसमें निष्पन्नत्व अवतरित प्रतिभासित होता है (अर्थात् जो चेतना तथा उपयोग से रचा हुवा-बना हुवा है), वह जीव है। और जिसमें, उपयोगके साथ रहनेवाली, यथोक्त (ऊपर कहे अनुसार) लक्षणवाली चेतनाका अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है ॥ १२७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

तद्यथा—अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति,—

(दव्वं जीवमजीवं) द्रव्यं जीवाजीवलक्षणं भवति (जीवो पुण चेदणो) जीवः पुनश्चेतनः स्वतःसिद्धया बहिरङ्गकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति। पुनरपि किंविशिष्टः। (उवओगमओ) उपयोगमयः अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थम्भूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमयः (पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं) पुद्गलद्रव्यप्रमुखमचेतनं भवत्य-जीवद्रव्यं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसंज्ञं द्रव्यपंचकं पूर्वोक्तलक्षणचेतनया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतनं भवती-त्यर्थः ॥ १२७ ॥

उत्थानिका—आगे जीव अजीवका लक्षण कहते हैं-

गाथार्थः—(दव्वं) द्रव्य (जीवमजीवं) जीव और अजीव हैं (पुण) और (जीवो) जीव द्रव्य (चेदना उपयोगमओ) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान है (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्‌गल द्रव्य आदि (अचेदणं) चेतना रहित (अजीवं) अजीव हैं।

टीकार्थः—द्रव्यके दो भेद हैं-जीव और अजीव, इनमेंसे जीव द्रव्य स्वयं सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग व बाहरमें प्रकाशमान नित्य रूप निश्चयसे परम शुद्ध चेतनासे तथा व्यवहारमें अशुद्ध चेतनासे युक्त होने के कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनयसे अखंड व एक रूप प्रकाशमान व सर्व तरहसे शुद्ध केवलज्ञान तथा केवल दर्शन लक्षणधारी पदार्थोंके जानने देखनेके व्यापार गुणवाले शुद्धोपयोगसे तथा व्यवहारनयसे मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोगसे जो वर्तन करता है इससे उपयोगमई है। तथा पुद्‌गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य पूर्वमें कही हुइ चेतना तथा उपयोग के अभाव से अजीव हैं, अचेतन हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १२७ ॥

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

पुद्‌गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः ।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु ॥१२८॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्‌गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गति-स्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः । यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्‌गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्तावत्केवल-माकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥ १२८ ॥

अब (द्रव्यके) लोकालोकत्वरूपभेदका निश्चय करते हैं :—

अन्वयार्थः—[आकाशे] आकाशमें [यः] जो भाग [पुद्‌गलजीवनिबद्धः] पुद्‌गल

और जीवसे संयुक्त है, तथा [धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः वर्तते] धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, और कालसे समृद्ध है, [सः] वह [सर्वकाले तु] सर्वकालमें [लोकः] लोक है। (शेष केवल आकाश अलोक है।)

टीका:—वास्तवमें द्रव्यके (आकाशके), अपने अपने लक्षणके सद्भाव के कारण से, लोक और अलोकपने भेदरूप विशेषता है। लोकका स्वलक्षण षड्द्रव्य-समवायात्मकत्व (छह द्रव्योंकी समुदायत्वरूपता) है, और अलोकका केवल आकाशात्मकत्व (मात्र आकाशस्वरूपत्व) है। वहां, सर्वद्रव्योंमें व्याप्त होने वाले परम महान आकाशमें, जहां जितनेमें, गति स्थिति धर्मवाले जीव तथा पुद्गल गति, स्थितिको प्राप्त होते हैं तथा उनकी (जीव-पुद्गल की) गति, स्थितिमें निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म (द्रव्य) व्याप्त होकर रहते हैं और सर्व द्रव्योंकी वर्तनामें निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश, शेष समस्त द्रव्य उनका समुदाय जिसका स्व-रूपतासे स्वलक्षण है, वह लोक है। जहां जितने आकाशमें जीव तथा पुद्गलकी गति-स्थिति नहीं होती, धर्म तथा अधर्म नहीं रहते, और काल नहीं पाया जाता, उतना, केवल आकाश जिसका स्व-रूपतासे स्वलक्षण है, वह अलोक है ॥ १२८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका-

अथ लोकालोकरूपेणाकाशपदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति,—

(पोग्गलजीवणिबद्धो) अणुस्कन्धभेदभिन्नाः पुद्गलास्तावत्तथैवामूर्तातीन्द्रियज्ञानमयत्वनिर्विकारपरमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्यम्भूतजीवपुद्गलैर्निबद्धः संबद्धो भृतः पुद्गलजीवनिबद्धः (धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो) धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्चं धर्माधर्मास्तिकायकालास्तैराढ्यो भृतो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः (जो) यः एतेषां पंचानामित्थम्भूतसमुदायो राशिः समूहः (वट्टदि) वर्तते। कस्मिन्। (आगासे) अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे (सो लोगो) स पूर्वोक्तपंचानां समुदायस्तदाधारभूतं लोकाकाशं चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति। क्व (सव्वकाले दु) सर्वकाले तु तद्बहिर्भूतमनन्तानन्ताकाशमलोक इत्यभिप्रायः ॥ १२८ ॥

उत्थानिका—आगे लोक और अलोकके भेदसे आकाश पदार्थके दो भेद बताते हैं:—

गाथार्थ:—(जो) जितना क्षेत्र (आयासे) इस आकाशमें (पुग्गलजीवणिबद्धो) पुद्गल और

जीवोंसे भरा हुआ तथा (धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और कालसे भरा हुआ (वट्टदि) वर्तन करता है (सो दु) वही क्षेत्र (सव्वकाले) सदा ही (लोगो) लोक है।

टीकार्थः—पुद्गलके दो भेद हैं-अणु और स्कंध तथा जीव अमूर्तिक अतीन्द्रिय ज्ञानमई और निर्विकार परमानन्द रूप एक सुखमई आदि लक्षणोंके धारी हैं इनसे जितना आकाश भरा हुआ है व जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य भी व्यापक हैं, इस तरह जो पांचों द्रव्योंके समूहको रखता हुआ वर्तता है वह इस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें रहनेवाला लोकाकाश है। वास्तवमें आकाश सहित जो इन पांच द्रव्योंका आधार है वह छः द्रव्यका समूहरूप लोक सदा ही है उसके बाहर अनन्तानन्त खाली जो आकाश है वह अलोकाकाश है, ऐसा अभिप्राय है ॥ १२८ ॥

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य।
परिणामाज्जायन्ते संघाताद्वा भेदात् ॥१२९॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः। तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः। तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥१२९॥

अब, क्रिया-रूप और 'भाव' रूप जो द्रव्यके भाव हैं उनकी अपेक्षासे द्रव्यका भेद निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल-जीवमयी लोकके (अर्थात् जीव पुद्गलके) [परिणामात्] परिणमनसे, तथा [संघातात् वा भेदात्] संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [उत्पादस्थितिभंगाः] उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय [जायन्ते] होते हैं। (सामर्थ्यसे अर्थात् परिशेष न्यायसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष चार द्रव्योंके केवल परिणमनसे उत्पाद आदि होते हैं)

टीकाः—कोई द्रव्य 'भाव' वाले तथा 'क्रियावाले' होनेसे, और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होनेसे, इस अपेक्षासे द्रव्योंके भेद होते हैं। उनमें पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा, तथा (२) संघात और भेदके द्वारा वे (जीव पुद्गल) उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं, क्योंकि वे परिणामके द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं, और नष्ट होते हैं,-ऐसा निश्चय है।

उसमें, 'भाव' परिणाममात्र लक्षणवाला है, (और) 'क्रिया' परिस्पंद (कम्पन) लक्षणवाली है। इनमें, समस्त द्रव्य भाववाले तो हैं ही, क्योंकि परिणाम स्वभाववाले होनेसे परिणामके द्वारा अन्वय (सह भावित्व ध्रुवता) और व्यतिरेकों (क्रम-भावित्व पर्यायों) को प्राप्त होते हुये वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्गल तो (भाववाले होनेके अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द–स्वभाववाले होने से परिस्पंदके द्वारा पृथक् पृथक् पुद्गल एकत्रित होजानेसे, और एकत्रित-मिले हुये पुद्गल पुनः पृथक् होजानेसे वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी (भाववाले होनेके अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होनेसे परिस्पंदके द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप भिन्न पुद्गलों के साथ एकत्रित होनेसे और कर्म-नोकर्मरूप एकत्रित हुये पुद्गलोंसे बादमें पृथक् होनेसे, वे जीव उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं, और नष्ट होते हैं ॥१२९॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ द्रव्याणां सक्रियनिःक्रियत्वेन भेदं दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थव्यञ्जनपर्यायौ द्वौ, शेषद्रव्याणां तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति,—

(जायदि) जायते । के कर्तारः । (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पादस्थितिभङ्गाः । कस्य संबन्धिनः । (लोगस्स) लोकस्य । किं विशिष्टस्य । (पोग्गलजीवप्पगस्स) । पुद्गलजीवात्मकस्य पुद्गलजीवावित्युपलक्षणं षड्द्रव्यात्मकस्य । कस्मात्सकाशात् जायन्ते ? (परिणामात्) एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात् (संघादादो व भेदादो) केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते (जीवपुद्गलानामुत्पादादयः संघाताद्वा भेदाद्वा व्यञ्जनपर्यायादित्यर्थः । तथाहि—धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च । कथमिति चेत् ? प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते । यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदवियोगं त्यागं कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह संघातं मेलापकं करोति तदा विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तरसंक्रमणात्सक्रियत्वं भण्यते पुद्गलानां तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्सक्रियत्वेन स्कन्धान्तरसंयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति । मुक्तजीवानां तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसंज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिकशरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसाररूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पादः स भेदादेव भवति न संघातात् । कस्मादितिचेत् ? शरीरान्तरेण सह संबन्धाभावादिति भावार्थः ॥ १२९ ॥

एवं जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनिःक्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे द्रव्योंमें सक्रिय और निःक्रिय भेदको दिखलाते हैं यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गलमें अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय दोनों होती हैं जबकि शेष द्रव्योंमें मुख्यतासे अर्थपर्याय होती है, इसको सिद्ध करते हैं—

गाथार्थ—(लोगस्स) इस छह द्रव्यमई लोकके (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पादव्यय ध्रौव्यरूपी अर्थ-पर्याय होते हैं तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमई लोकके अर्थात् पुद्गल और जीवोंके (परिणाम) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (संघादादो) संघातसे (व) या (भेदादो) भेदसे (जायंते) होते हैं।

टीकार्थः—यह लोक छह द्रव्यमई है। इन सब द्रव्योंमें सत्पना होनेसे समय समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते हैं इनको अर्थ-पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलोंमें केवल अर्थ-पर्याय ही नहीं होती किन्तु संघात या भेदसे व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालकी मुख्यतासे एक समयवर्ती अर्थ-पर्यायें ही होती हैं तथा जीव और पुद्गलोंके अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय दोनों होती हैं। किस तरह होती हैं, सो कहते हैं, जो समय समय परिणमन रूप अवस्था है उसको अर्थ-पर्याय कहते हैं। जब यह जीव इस शरीरको त्यागकर भवान्तर शरीरके साथ मिलाप करता है तब विभाव व्यंजन पर्याय होती है। इसी ही कारणसे कि यह जीव एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाता है इसको क्रियावान कहते हैं। तैसे ही पुद्गलोंकी भी व्यंजन-पर्याय होती हैं। जब कोई विशेष स्कंधसे छूटकर एक पुद्गल अपने क्रियावानपनेसे दूसरे स्कंधमें मिल जाता है तब विभाव व्यंजन पर्याय होती है। मुक्त जीवोंके स्वभाव व्यंजन पर्याय किस तरह होती है सो कहते हैं। निश्चय रत्नत्रयमई परम कारण-समयसाररूप निश्चय

मोक्षमार्गके बलसे अयोगी गुणस्थानके अंत समयमें नख केशोंको छोड़कर परमौदारिक शरीरका विलय होता है इस तरहका नाश होते हुए केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयकी व्यक्तिरूप परम कार्य-समयसार रूप सिद्ध अवस्थाका स्वभाव-व्यंजन-पर्यायरूप उत्पाद होता है, यह भेदसे ही होता है संघातसे नहीं होता है क्योंकि मुक्तात्माके अन्य शरीरके सम्बन्धका अभाव है ॥ १२९ ॥

इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय निष्क्रियपनाको क्रमसे कहते हुए प्रथम स्थलमें तीन गाथाएं समाप्त हुईं।

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥१३०॥

लिंगैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः ॥१३०॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥१३०॥

अब यह बतलाते हैं कि—गुण-विशेष (गुणोंके भेद) से द्रव्य-विशेष (द्रव्यका भेद) होता है:—

अन्वयार्थः—[यैः लिंगैः] जिन लिंगोंसे [द्रव्यं] द्रव्य [जीवः अजीवः च] जीव और अजीवके रूपमें [विज्ञातं भवति] ज्ञात होता है, [ते] वे [अतद्भावविशिष्टाः] अतद्भावसे विशिष्ट (मूर्त गुणका अमूर्तमें अतद्भाव तथा अमूर्तका मूर्तमें अतद्भाव, अथवा

अतद्भावके द्वारा द्रव्यसे भिन्न) [मूर्तामूर्ताः] मूर्त-अमूर्त [गुणाः] गुण [ज्ञेयाः] जानने चाहिये।

टीकाः—द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान होनेसे जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (चिन्हित) होता है–पहचाना जाता है, ऐसे लिंग गुण हैं। वे (गुण), 'जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं हैं और जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' इस अपेक्षासे द्रव्यसे अतद्भावके द्वारा विशिष्ट (भिन्न) रहते हुये, लिंगीके रूपमें प्रसिद्धि (परिचय) के समय द्रव्यके लिंगत्वको प्राप्त होते हैं। अब, वे द्रव्यके-'यह जीव है, यह अजीव है'-ऐसे भेद उत्पन्न करते हैं, क्योंकि स्वयं भी, तद्भाव (जीवत्व-अजीवत्व भाव) के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) होनेसे विशेष (भेद) को प्राप्त हैं। क्योंकि जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टत्व होनेसे उनके विशेष (भेद) हैं। इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्योंका मूर्तत्व अमूर्तत्वरूप तद्भावके द्वारा विशिष्टत्व होनेसे, उनके इस प्रकारके भेद निश्चित करने चाहिये कि 'यह मूर्त गुण हैं और यह अमूर्तगुण हैं' ॥ १३० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति,—

(लिंगेहिं जेहिं) लिङ्गैर्यैः सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिङ्गैश्चिन्हैर्विशेषगुणैर्यैः करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन (हवदि विण्णादं) विशेषेण ज्ञातं भवति। किं कर्मतापन्नं। (दव्वं) द्रव्यं। कथम्भूतं। (जीवमजीवं च) जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च (ते मुत्तामुत्तागुणा णेया) ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतनलिङ्गानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्याः। ते च कथम्भूताः। (अतब्भावविसिट्ठा) अतद्भावविशिष्टाः। तद्यथा—शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषां शुद्धजीवप्रदेशैः सह यदेकत्वमभिन्नत्वं तन्मयत्वं स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणानां तैः प्रदेशैः सह यदा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीयव्याख्यानेन पुनः स्वकीयद्रव्येण सह तद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्याद्विशिष्टा भिन्ना इत्यभिप्रायः ॥ १३० ॥

एवं गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्यः।

उत्थानिका—आगे ज्ञानादि विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंके भेदोंको बताते हैं:—

गाथार्थः—(जेहिं लिंगेहिं) जिन चेतन अचेतन लक्षणोंसे (जीवमजीवं दव्वं) जीव और अजीव द्रव्य (विण्णादं हवदि) जाने जाते हैं (ते) वे लक्षण या चिन्ह (तब्भावविसिट्ठा) यद्यपि वे लक्षण या

चिन्ह संज्ञा आदि की अपेक्षा अतद्भाव विशिष्ट (भिन्न) हैं तथापि प्रदेश अभिन्न होनेसे उनके साथ तन्मयताको रखनेवाले हैं (मुत्तामुत्ता गुणा) वे चेतन और अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुणवाले हैं (णेया) ऐसा जानना चाहिये।

टीकार्थः—स्वाभाविक शुद्ध परम चैतन्यके विलासरूप विशेष गुणोंसे द्रव्य जीव तथा अचेतन या जड़रूप विशेष गुणोंसे अजीव द्रव्य पहचाने जाते हैं। ये चेतन तथा अचेतन गुण अपने २ द्रव्यसे तन्मय हैं। जैसे शुद्ध जीव द्रव्यमें जो केवल ज्ञान आदि गुण हैं उनकी शुद्ध जीवके प्रदेशोंके साथ जो एकता, अभिन्नता तथा तन्मयता है उसको तद्भाव कहते हैं। इस तरह शुद्ध जीव द्रव्य अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा अपने शुद्ध गुणोंसे तन्मय है परन्तु जब गुणोंका और उन प्रदेशोंका जहां वे गुण पाए जाते हैं संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद किया जाता है तब गुण और द्रव्यमें अतद्भावपना या भेदपना भी सिद्ध होता है। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा अभेदरूप व किसी अपेक्षा भेदरूप हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि जिस द्रव्यके जो विशेष गुण हैं वे अपने द्रव्यसे तद्भावरूप या तन्मय हैं परन्तु अन्य द्रव्योंसे वे अतद्भावरूप या भिन्न हैं। ये चेतन अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुणवाले हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १३० ॥

इस तरह गुणोंके भेदसे द्रव्यका भेद जानना चाहिये।

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधाः।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः ॥१३१॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम्। अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम्। ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात्। अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ॥१३१॥

अब मूर्त और अमूर्त गुणके लक्षण तथा संबंध (अर्थात् उनका किन द्रव्योंके साथ संबंध है, यह) कहते हैं :—

अन्वयार्थः—[मूर्ताः] मूर्त गुण [इन्द्रियग्राह्याः] इन्द्रिय-ग्राह्य हैं [पुद्गलद्रव्यात्मकाः]

पुद्गल द्रव्यमयी हैं तथा [अनेक-विधाः] अनेक प्रकार के हैं, [अमूर्तानां द्रव्याणां] अमूर्त द्रव्योंके [गुणाः] गुण [अमूर्ताः ज्ञातव्याः] अमूर्त जानना चाहिये।

टीकाः—मूर्त गुणोंका लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है, और अमूर्त गुणोंका उससे विपरीत है, (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियोंसे ज्ञात नहीं होते।) और मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यके हैं, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है, और अमूर्तगुण शेष द्रव्योंके हैं, क्योंकि पुद्गलके अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्त हैं ॥ १३१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणं सम्बन्धं च निरूपयति,—

(मुत्ता इंदियगेज्झा) मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ताः पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रियविषयत्वलक्षणमुक्तं। इदानीं मूर्तगुणाः कस्य सम्बन्धिनो भवन्तीति सम्बन्धं कथयति (पोग्गलदव्वप्पगा अणेयविहा) मूर्तगुणाः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति पुद्गलद्रव्यसम्बन्धिनो भवन्तीत्यर्थः। अमूर्तगुणानां संबन्धं प्रतिपादयति (दव्वाणममुत्ताणं) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणां संबन्धिनो भवन्ति। ते के गुणाः। (अमुत्ता) अमूर्ताः गुणाः केवलज्ञानादय इत्यर्थः। इति मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसम्बन्धौ ज्ञातव्यौ ॥ १३१ ॥

एवं ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे मूर्तिक और अमूर्तिक गुणोंका लक्षण और सम्बन्ध कहते हैं:—

गाथार्थः—(इंदियगेज्झा) जो इन्द्रियके ग्रहण करने योग्य हैं (मुत्ता) वे मूर्तिक हैं वे (अणेगविधा) अनेक प्रकारके हैं तथा (पोग्गल-दव्वप्पगा) पुद्गल-द्रव्यमयी हैं। (अमुत्ताणं दव्वाणं) अमूर्तिक द्रव्योंके (गुणा) गुण (अमुत्ता) अमूर्तिक (मुणेदव्वा) जानने योग्य हैं।

टीकार्थः—जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे मूर्तिक गुण हैं और जो अमूर्तिक गुण हैं वे इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण किये जाते हैं। इस तरह मूर्तिक गुणोंका लक्षण इन्द्रियोंका विषयपना है जब कि अमूर्तिक गुणोंका लक्षण इन्द्रियोंका विषयपना नहीं है। मूर्तिक गुण अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी होते हैं तथा अमूर्तिक गुण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्म-द्रव्यको आदि लेकर अमूर्तिक द्रव्योंके होते हैं। वे अमूर्तिक गुण केवलज्ञान आदि होते हैं। इस तरह मूर्त और अमूर्त गुणोंके लक्षण और सम्बन्ध जानने योग्य हैं ॥ १३१ ॥

इस तरह ज्ञान आदि विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंमें भेद होता है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात् ।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः ॥ १३२ ॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः, आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते । ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति । शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् । गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः । पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति । पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम् । ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम् । यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम् । न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम् । अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च । न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामप्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात् । न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय । ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥१३२

अब मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुण कहते हैं—

अन्वयार्थः—[सूक्ष्मात् पृथिवीपर्यन्तस्य पुद्गलस्य] सूक्ष्म (परमाणु) से लेकर समस्त पुद्गलके [वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण, रस, गंध और स्पर्श (गुण) [विद्यन्ते] होते हैं; [चित्रः शब्दः] जो विविध प्रकारका शब्द है [सः] वह [पुद्गलः] पुद्गल है। (अर्थात् पुद्गलकी पर्याय है)।

टीकाः—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं क्योंकि वे इन्द्रियोंके विषय हैं। वे इन्द्रिय-ग्राह्यताकी व्यक्ति और शक्तिके वशसे भले ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हों तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणुसे लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तकके समस्त पुद्गलके अविशेषतया (क्योंकि कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जिसमें ये न पाये जायें अतः साधारण रूपसे या समस्त रूपसे) विशेषगुणोंके रूपमें होते हैं (क्योंकि ये अन्य द्रव्योंमें नहीं हो सकते, अतः विशेष या असाधारण गुण हैं।) और वे, मूर्त होनेके कारणसे ही (पुद्गलके अतिरिक्त) शेष द्रव्योंमें न होनेसे, पुद्गलको बतलाते हैं (उसका ज्ञान कराते हैं)।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होनेसे गुण होगा, क्योंकि विचित्रताके द्वारा विश्वरूपत्वको (अनेकानेक प्रकारत्व को) प्राप्त उसके (शब्दके) अनेक द्रव्यात्मक पुद्गल-पर्यायता स्वीकार की गई है (अर्थात् शब्द पुद्गलस्कंध की पर्याय है।)

यदि शब्दको (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है, उसका समाधान :—

प्रथम तो, शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है, क्योंकि गुण-गुणीमें अभिन्न-प्रदेशत्व होनेसे तथा वे (गुण-गुणी) (एक वेदनसे वेद्य-एक ही ज्ञानसे ज्ञात होने योग्य) होनेसे, अमूर्त द्रव्यके भी श्रवणेन्द्रियकी विषयभूतता आजायगी।

(दूसरे, शब्दमें) पर्यायके लक्षणसे गुणका लक्षण उत्थापित (खण्डित) होनेसे, शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है। पर्यायका लक्षण कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है, और गुण का लक्षण नित्यत्व है, इसलिये (शब्दको) अनित्यत्वसे नित्यत्वके उत्थापित होनेसे (अर्थात् शब्द कभी कभी ही होता है, अतः नित्य नहीं है, इसलिये) शब्द गुण नहीं है। जो वहाँ नित्यत्व है, वह उसको (शब्दको) उत्पन्न करनेवाले पुद्गलोंका और उनके स्पर्शादिक गुणोंका ही है, शब्द पर्यायका नहीं,-इसप्रकार अतिदृढ़ता-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

और, "यदि शब्द पुद्‌गलकी पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंधकी भांति स्पर्शनादिक इंद्रियोंका भी विषय होना चाहिये, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कंधरूप पुद्‌गलपर्याय सर्व इन्द्रियोंसे ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूपपुद्‌गल पर्याय भी सभी इन्द्रियोंसे ज्ञात होनी चाहिये" (ऐसा तर्क किया जाय तो) ऐसा भी नहीं है, क्योंकि जल (पुद्‌गलकी पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है, अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रियका विषय नहीं है, और वायु घ्राण, रसना, तथा चक्षुइन्द्रियका विषय नहीं है (इसलिये नाक तथा जीभसे अग्राह्य है), और वायु गंध, रस तथा वर्ण रहित है (इसलिये नाक, जीभ तथा आंखोंसे अग्राह्य है), क्योंकि सभी पुद्‌गल स्पर्शादि चतुष्कयुक्त (स्पर्श-रस-गंध-वर्ण युक्त) स्वीकार-किये गये हैं। क्योंकि जिनके स्पर्शादिचतुष्क व्यक्त हैं ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणिको, (२) अरणिको, और (३) जौको जो पुद्‌गल उत्पन्न करते हैं उन्हींके द्वारा (१) जिसकी गंध अव्यक्त है ऐसे पानीकी, (२) जिसकी गंध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्निकी, और (३) जिसके गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त हैं ऐसी उदरवायुकी उत्पत्ति होती देखी जाती है।

और कहीं (किसी पर्यायमें) किसी गुणकी कादाचित्क परिणामकी विचित्रताके कारण होने वाली व्यक्तता या अव्यक्तता नित्य द्रव्यस्वभावका प्रतिघात नहीं करती। (अर्थात् अनित्यपरिणामके कारण होनेवाली गुणकी प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभावके साथ कहीं विरोधको प्राप्त नहीं होती।) इसलिये शब्द पुद्गलकी पर्याय ही है ॥ १३२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति,—

(वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स) वर्णरसस्पर्शगन्धा विद्यन्ते। कस्य। पुद्गलस्य। कथम्भूताः। (सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य)।

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू। छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं" ॥

इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादेः पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च।

तथाहि—यथानन्तज्ञानादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासम्भवं सर्वजीवेषु साधारणं तथा वर्णादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासम्भवं सर्वपुद्गलेषु साधारणम्। यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयं मुक्तजीवेऽतीन्द्रियविषयज्ञानमनु-

मानगम्यमागमगम्यं च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्यं च। यथा वानन्तचतुष्टयस्य संसारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति। (सद्दो सो पोग्गलो) यस्तु शब्दः स पौद्गलः यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो न च गुणः। कस्मात्। गुणस्याविनश्वरत्वात् अयं च विनश्वरो। नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्याकाशगुणोऽयं शब्दः। परिहारमाह—आकाशगुणत्वे सत्यमूर्त्तो भवति। अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्वं। शेषेन्द्रियविषयः कस्मान्न भवतीति चेत्—अन्येन्द्रियविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव रसादिविषयवत्। पुनरपि कथंभूतः। (चित्तो) चित्रः भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण च नानाप्रकारः। तच्च "सद्दो खंधप्पभवो" इत्यादि गाथायां पंचास्तिकाये व्याख्यातं तिष्ठत्यत्रालं प्रसंगेन ॥ १३२ ॥

उत्थानिका—आगे मूर्तिक पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते हैं—

गाथार्थ—(सुहुमादो पुढवी परियंतस्स) सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी पर्यंत (पुग्गलस्स) पुद्गल द्रव्यके (वण्णरसगंधफासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, (विज्जंते) विद्यमान होते हैं। (य) और (सद्दो) शब्द है (सो पोग्गलो चित्तो) वह नाना प्रकार का है और पौद्गलिक है।

टीकार्थः—पुद्गल, द्रव्यके विशेष गुण, स्पर्श रस गंध वर्ण हैं। वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणुसे लेकर स्थूल पृथ्वी स्कंध रूप तक हैं।

जैसे इस गाथामें कहा है—

जिनेन्द्र देवने पुद्गलको छह प्रकार कहा है, पृथ्वी,जल, छाया- चार इन्द्रियोंके विषय, कार्मण वर्गणा और परमाणु।

जैसे सर्व जीवोंमें अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय—विशेष लक्षण यथासंभव साधारण हैं तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलोंमें साधारण हैं। और जैसे अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय मुक्त जीवमें प्रगट हैं सो अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगम प्रमाणसे मान्य हैं तैसे ही शुद्ध परमाणुमें वर्णादि-चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगमसे मान्य है। जैसे यही अनंतचतुष्टय संसारी जीवमें रागद्वेषादि चिकनईके कारण कर्मबंध होनेके वशसे अशुद्धता रखते हैं तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे दो अणु तीन अणु आदिकी बंध अवस्थामें वर्णादि-चतुष्टय भी अशुद्धताको रखते हैं। जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे इन अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयकी शुद्धता होजाती है तैसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुणके न होनेपर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणुकी अवस्थामें शुद्धता रहती है। और जैसे नरनारक आदि जीवकी विभाव पर्याय हैं तैसे यह शब्द भी पुद्गलकी विभाव पर्याय है, गुण नहीं है क्योंकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है। यहां नैयायिक मतके अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाशका गुण है, इसका

खंडन कहते हैं कि यदि शब्द आकाशका गुण हो तो शब्द अमूर्तिक हो जावे । जो अमूर्त्त वस्तु है वह कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण नहीं होसकती और यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि शब्द कर्ण इंद्रियका विषय है । वह बाकी इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं होता है ? ऐसी शंकाका समाधान यह है कि अन्य इन्द्रियका विषय अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जासकता, ऐसा वस्तुका स्वभाव है । जैसे रसादि विषय रसना इन्द्रिय आदिके हैं । वह शब्द भाषारूप, प्रायोगिक और वैश्रसिकरूप अनेक प्रकारका है जैसा कि पंचास्तिकायकी "सद्दो खंधप्पभवो" इस गाथामें समझाया है यहां इतना ही कहना बस है ॥ १३२ ॥

भावार्थ—श्री पंचास्तिकाय में भी कहा है—

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥ ७६ ॥

शब्द स्कंधोंके द्वारा पैदा होता है, स्कंध परमाणुओंके मेलसे बनते हैं और उन स्कंधोंके परस्पर संघट्ट होनेपर शब्द पैदा होता है । भाषावर्गणा के योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्दके अभ्यंतर कारण हैं लोकमें हर जगह, हर समय मौजूद हैं । जब तालु, ओठ आदिका व्यापार होता है या घंटेकी चोट होती है या मेघादिका मिलान होता है तब भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल शब्द रूपमें परिणमन कर जाते हैं । निश्चयसे भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दोंके उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १३२ ॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥ जुगलं ।

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् ।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥१३३॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः ।
ज्ञेयाः संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥१३४॥ युगलम् ।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपु-

द्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य । एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम् । तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसम्पादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति । तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति । तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासम्भवदधर्ममधिगमयति । तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसभवत्कालमधिगमयति । तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति । एवं गुणविशेषाद् द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥ १३३ । १३४ ।

अब, शेष अमूर्त द्रव्योंके गुण कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[आकाशस्यावगाहः] आकाशका अवगाह, [धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं] धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व [तु पुनः] और [धर्मेतरद्रव्यस्य गुणः] अधर्म द्रव्यका गुण [स्थानकारणता] स्थानकारणता है । [कालस्य] कालका गुण [वर्तना स्यात्] वर्तना है, [आत्मनः गुणः] आत्मा का गुण [उपयोगः इति भणितः] उपयोग कहा है । [मूर्तिप्रहीणानां गुणाः हि] इस प्रकार अमूर्त द्रव्योंके गुण [संक्षेपात्] संक्षेपसे [ज्ञेयाः] जानने चाहिये ।

टीकाः—युगपत् सर्वद्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेष गुण है । एक ही साथ गतिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलोंके गमनका हेतुत्व धर्मका विशेष गुण है एक ही साथ स्थितिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलोंके स्थिर होनेका हेतुत्व अधर्मका विशेषगुण है ।(कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंकी प्रति-पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व (समय समयकी परिणतिका निमित्तत्व) कालका विशेष गुण है । चैतन्यपरिणाम जीवका विशेष-गुण है । इसप्रकार अमूर्त द्रव्योंके विशेष गुणोंका संक्षिप्त ज्ञान होनेपर अमूत द्रव्योंको जानने

के लिंग (चिन्ह, लक्षण, साधन) प्राप्त होते हैं, अर्थात् उन उन विशेष गुणोंके द्वारा उन उन अमूर्त द्रव्योंका अस्तित्व ज्ञात होता है-सिद्ध होता है। (इसीको स्पष्टता-पूर्वक समझाते हैं-

वहां एक ही कालमें समस्त द्रव्योंको साधारण अवगाहका संपादन (अवगाह हेतुत्व रूप लिंग) आकाशको ज्ञात कराता है, क्योंकि शेष द्रव्योंके सर्वगत-पना न होनेसे उनके वह (अवगाह-संपादन) संभव नहीं है।

इसी प्रकार एक ही कालमें गति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोक तक गमनका हेतुत्व धर्मको ज्ञात कराता है, क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके वह संभव नहीं है, जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भागमात्र है, इसलिये उसके संभव नहीं है, लोक अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे अधर्मके वह संभव नहीं है।

(काल और पुद्गल एक-प्रदेशी हैं, इसलिये वे लोक तक गमनमें निमित्त नहीं हो सकते, जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यकालमें लोकके असंख्यातवें भागमें ही रहता है, इसलिये वह भी लोक तक गमनमें निमित्त नहीं हो सकता, यदि आकाश गतिमें निमित्त हो तो जीव और पुद्गलोंकी गति अलोकमें भी होने लगे, जिससे लोकालोककी मर्यादा ही न रहेगी, इसलिये गति-हेतुत्व आकाशका भी गुण नहीं है, अधर्म द्रव्य तो गतिसे विरुद्ध-स्थिति कार्यमें निमित्तभूत है, इसलिये वह भी गतिमें निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्मनामक द्रव्यका अस्तित्व बतलाता है)

इसी प्रकार एकही कालमें स्थिति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोक तक स्थितिका हेतुत्व अधर्मको ज्ञात कराता है, क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिये उनके वह संभव नहीं है, जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है, लोक और अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे धर्मके वह संभव नहीं है।

इसी प्रकार (कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंके, प्रत्येक पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व कालको ज्ञात कराता है, क्योंकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति (समय समय परिणमन) कारणान्तरसे साध्य होनेसे (अर्थात् उनके समयसे विशिष्टपरिणति अन्य कारणसे होती है, इसलिये) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति-हेतुत्व) संभवित नहीं है।

इसी प्रकार चैतन्य परिणाम जीवको ज्ञात कराता है, क्योंकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्योंके वह संभव नहीं है। इसप्रकार गुण-विशेषसे द्रव्यविशेष जानना चाहिये ॥ १३३-१३४॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथाकाशाद्यमूर्त्तद्रव्याणां विशेषगुणान्प्रतिपादयति,—

आकाशस्यावगाहहेतुत्वं, धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं, धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुनः स्थानकारणता गुणो भवतीति प्रथम-गाथा गता। कालस्य वर्तना स्याद्गुणः ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणितः। एवं संक्षेपादमूर्त्तद्रव्याणां गुणा ज्ञेया इति।

तथाहि—सर्वद्रव्याणां साधारणमवगाहहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सदाकाशं निश्चिनोति। गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सद्धर्म्मद्रव्यं निश्चिनोति। तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं स्थितिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवदधर्म्मद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वद्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्कालद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारणं सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसम्भवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभावं-परमात्मद्रव्यं निश्चिनोति। अयमत्रार्थः यद्यपि पंचद्रव्याणि जीवस्योपकारं कुर्वन्ति, तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वा। यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति ॥ १३३-१३४ ॥

एवं कस्य द्रव्यस्य के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

उत्थानिका—आगे आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्योंके गुणोंको बताते हैं:—

गाथार्थ—(आगासस्सवगाहो) आकाश द्रव्यका विशेष गुण सर्व द्रव्योंको जगह देना ऐसा अवगाह-हेतुत्व गुण है, (धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं) धर्म द्रव्यका विशेषगुण जीव पुद्गलोंके गमनमें कारण ऐसा गमनहेतुत्त्व है, (पुणो धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाणकारणदा) तथा अधर्म द्रव्यका विशेष गुण जीव पुद्गलोंको स्थितिका कारण स्थानकारणता है, (कालस्स वट्टणा से) काल द्रव्यका विशेष गुण सभी द्रव्योंमें समय २ परिणमनकी प्रवृत्तिका कारण वर्तना है और (अप्पणो गुणोवओगोत्ति भणिदो) आत्माका विशेष गुण उपयोग है, ऐसा कहा गया है। (हि) निश्चयसे (मुत्तिप्पहीणाणं गुणा) मूर्ति रहित द्रव्योंके विशेष गुण इसे तरह (संखेवादो णेया) संक्षेपसे जानने योग्य हैं।

टीकार्थ—सर्व द्रव्योंको साधारणरूपसे अवगाह देनेका कारणपना आकाशका ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह गुण असंभव है इसलिये इस विशेष गुणसे आकाशका निश्चय होता है। एक समयमें गमन करते हुए सर्व जीव तथा पुद्गलोंको साधारण गमनमें हेतुपना धर्म द्रव्यका ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह असंभव है। इसी गुणसे धर्म द्रव्यका निश्चय होता है। इसी तरह एक समय में स्थिति करते हुए जीव पुद्गलोंको साधारण स्थितिमें कारणपना अधर्म द्रव्यका ही विशेष गुण है क्योंकि

अन्य द्रव्योंमें यह असम्भव है। इसी गुणसे अधर्म द्रव्यका निश्चय होता है। एक समयमें सर्वः द्रव्योंकी पर्यायोंके परिणमनमें हेतुपना काल द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह असम्भव है। इसी गुणसे काल द्रव्यका निश्चय होता है। सर्व जीवोंमें साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीव द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य पांच अचेतन द्रव्योंमें यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुणसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म-द्रव्यका निश्चय होता है। यहां पर यह प्रयोजन है कि यद्यपि पांच द्रव्य जीवका उपकार करते हैं तो भी इनको दुःखका कारण जान करके जो अक्षय और अनन्त सुख आदिका कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन-स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसीको ही मनसे ध्याना चाहिये वचनसे उसका ही वर्णन करना चाहिये तथा शरीरसे उसहीका साधक जो अनुष्ठान या क्रिया कर्म है, उसको करना चाहिये ॥ १३३-१३४ ॥

इस तरह किस द्रव्यके क्या विशेष गुण होते हैं ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥१३५॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्।
स्वप्रदेशैरसंख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥१३५॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात्। अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात्। अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम्। कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति। ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥१३४॥

अब, द्रव्योंका प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं :—

अन्वयार्थः—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय (पुद्गल-स्कंध), [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म [पुनः च] और [आकाशं] आकाश [स्वप्रदेशैः] स्वप्रदेशोंकी अपेक्षा से [असंख्याताः] असंख्यात अर्थात् अनेक (एक से अधिक प्रदेशवाले) हैं, [इति] इस प्रकार [कालस्य] कालके [प्रदेशाः] अनेक प्रदेश [न सन्ति] नहीं हैं।

टीकाः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य अनेक प्रदेशवाले होनेसे प्रदेशवान् हैं। कालाणु प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होनेसे, अप्रदेशी है।

(उपरोक्त बातको स्पष्ट करते हैं:-) संकोच-विस्तारके होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशोंको नहीं छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान है। पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होनेसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाली पर्यायोंकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेशवाला होनेसे, प्रदेशवान है। सकल लोक-व्यापी असंख्य प्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे धर्म प्रदेशवान है। सकललोक-व्यापी असंख्यप्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे अधर्म द्रव्य प्रदेशवान है। सर्व-व्यापी अनन्तप्रदेशोंके विस्तार रूप होनेसे आकाश प्रदेशवान है। कालाणु तो, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होनेसे और पर्यायतः परस्पर संपर्क न होनेसे, अप्रदेशी है।

इसलिये कालद्रव्य अप्रदेशी है। और शेष द्रव्य प्रदेशवान हैं॥ १३५ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ कालद्रव्यं विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्वं व्याख्याति,—

(जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आयासं) जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्। (सपदेसेहिं असंखा।) एते पंचास्तिकायाः किंविशिष्टाः। स्वप्रदेशैरसंख्येयाः। अत्रासंख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्वं ग्राह्यम्। तच्च यथासम्भवं योजनीयम्। तस्य तावत्संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशानां हानिवृद्ध्योरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्। धर्म्माधर्म्मयोः पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्। स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलानां तु संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वम्। किन्तु पुद्गलव्याख्यानेन प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात्पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति। परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्वं शक्तिरूपेणोपचारेण बहुप्रदेशत्वं च। आकाशस्यानन्ता इति। (णत्थि पदेसत्ति कालस्स) न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य। कस्माद्द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्वात् परस्परसम्बन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति॥ १३५ ॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्यको छोड़कर जीव आदि पांच द्रव्योंके अस्तिकायपना है ऐसा व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—(जीवा पोग्गलकाया) अनन्तानंत जीव और अनंतानन्त पुद्गल (धम्माऽधम्मा) एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य (पुणो य आयासं) और एक आकाशद्रव्य (देसेहिं असंखादा) अपने प्रदेशों की गणनाकी अपेक्षा संख्या-रहित हैं, (कालस्स णत्थि पदेसत्ति) काल द्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं हैं। यहां पर 'असंख्यात प्रदेश' शब्दसे 'बहु-.देशी' ग्रहण करना चाहिये। वह यहां यथासंभव घटित कर लेना चाहिये।

टीकार्थ—हर एक जीव संसारकी अवस्थामें व्यवहार नयसे अपने प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेके कारणसे दीपकके प्रकाशकी तरह अपने प्रदेशोंकी संख्यामें कमती व बढ़ती न होता हुआ शरीरके प्रमाण आकार रहता है तोभी निश्चयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशवाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित हैं उनके प्रदेश लोकाकाशके बराबर असंख्यात हैं। स्कंध अवस्थामें परिणमन किये हुए पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं, किन्तु पुद्गलके व्याख्यानमें प्रदेश शब्दसे परमाणु ग्रहण करने योग्य हैं, क्षेत्रके प्रदेश नहीं क्योंकि पुद्गलोंका स्थान अनन्त प्रदेशवाला क्षेत्र नहीं है। (सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाशमें हैं। उनके स्कंध अनेक जातिके बनते हैं-संख्यात परमाणुओंके, असंख्यात परमाणुओंके तथा अनंत परमाणुओंके स्कंध बनते हैं वे सूक्ष्म परिणमनवाले भी होते हैं इससे लोकाकाश में सब रह सकते हैं।) एक पुद्गलके अविभागी परमाणुमें प्रगटरूपसे एक प्रदेशपना है, मात्र शक्तिरूप से उपचारसे बहुप्रदेशीपना है (क्योंकि वे परस्पर मिल सकते हैं)। आकाशद्रव्यके अनंत प्रदेश हैं। कालद्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं है। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओंमें परमाणुओंकी तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कंधकी अवस्थामें बदलनेकी शक्ति नहीं है ॥ १३५ ॥

अथ तमेवार्थं दृढयति,—

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ १३५-१ ॥
एतानि पंचद्रव्याणि उज्झितकालंतु अस्तिकाया इति।
भण्यंते कायाः पुनः बहुप्रदेशानां प्रचयत्वं ॥ १३५-१ ॥

(एदाणि पंचदव्वाणि) एतानि पूर्वंसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव (उज्झिय कालं तु) कालद्रव्यं विहाय (अत्थिकायत्ति भण्णंते) अस्तिकायाः पंचास्तिकाया इति भण्यन्ते (काया पुण) कायाः कायशब्देन पुनः। किं भण्यते। (बहुप्पदेसाण पचयत्तं) बहुप्रदेशानां सम्बन्धि प्रचयत्वं समूह इति। अत्र पंचास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पंचपरमेष्ठिपर्यायावस्था तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था तत्रापि सिद्धावस्था। वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः ॥ १३५ ॥

एवं पंचास्तिकायसंक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे ऊपरके ही भावको दृढ़ करते है—

गाथार्थ—(एदाणि दव्वाणि) इन छः द्रव्योंमें से (उज्झिय कालं तु) काल द्रव्यको छोड़कर (पंच अत्थिकायत्ति) शेष पांच द्रव्य पांच अस्तिकाय हैं ऐसा (भण्णंते) कहा है (पुण) तथा (बहुप्पदेसाण पचयत्तं काया) बहुत प्रदेशोंके समूहको काय कहते हैं।

टीकार्थ—इन पांच अस्तिकायोंके मध्यमें एक जीव अस्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। उनमें भी अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठीकी अवस्था, इनमेंसे भी अरहंत और सिद्ध अवस्था फिर इनमेंसे भी मात्र सिद्ध-अवस्था ग्रहण करनी योग्य है। वास्तवमें तो या निश्चयनयसे तो रागद्वेपादि सर्व विकल्पजालोंके त्यागके समयमें सिद्ध जीवके समान अपना ही शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है, यह भाव है ॥ १३५-१ ॥

इस प्रकार पांच अस्तिकायकी संक्षेपमें सूचना करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति-

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ १३६ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥ १३६ ॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात्। धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात्। कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्। जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य। किन्तु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥१३६॥

अब, यह बतलाते हैं कि ये प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहां रहते हैं:—

अन्वयार्थः—[नभः] आकाश [लोकालोकयोः] लोकालोकमें है, [लोकः] लोक

[धर्माधर्माभ्याम् आततः] धर्म और अधर्मसे व्याप्त है, [शेषौ प्रतीत्य] शेष दो द्रव्योंकी (जीव-पुद्गलकी) प्रतीतिसे [कालः] काल (लोकमें तिष्ठ रहा है, [पुनः] और [शेषौ] वे शेष दो द्रव्य [जीवाः पुद्गलाः] जीव और पुद्गल (लोक में) हैं।

टीकाः—प्रथम तो, आकाश लोक तथा अलोकमें है, क्योंकि वह छह द्रव्योंके समवाय और असमवायमें विना विभागके रहता है। धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोकमें हैं, क्योंकि उनके निमित्तसे जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलोंकी गति या स्थिति लोकसे बाहर नहीं होती, और न लोकके एक-देशमें होती है, (अर्थात् लोकमें सर्वत्र होतो है)। काल भी लोकमें है, क्योंकि जीव और पुद्गलोंके परिणामोंके द्वारा (कालकी) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं, और वह काल लोकके एक प्रदेशमें है; क्योंकि वह अप्रदेशी है। जीव और पुद्गल तो युक्तिसे ही लोकमें हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्योंका समवायस्वरूप है।

किन्तु, प्रदेशोंका संकोच विस्तार होना जीवका धर्म होनेके कारण, और बंधके हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गलका धर्म होने के कारण जीव और पुद्गलका समस्त लोकमें या उसके एकप्रदेशमें रहनेका (कोई) नियम नहीं है। काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्यकी अपेक्षासे लोकके एकदेशमें रहते हैं, और अनेक द्रव्योंकी अपेक्षासे अंजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबियाके न्यायानुसार समस्त लोकमें ही हैं॥ १३६ ॥

श्री-जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ द्रव्याणां लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति,—

(लोगालोगेसु णभो) लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्णभ आकाशं तिष्ठति (धम्माधम्मेहि आददो लोगो) धर्माधर्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भृतो लोकः। किं कृत्वा। (सेसे पडुच्च) शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य। अयमत्रार्थः—जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्योः कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके। (कालो) कालोऽपि शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्य लोके। कस्मादिति चेत् ? जीवपुद्गलाभ्यां नवजीर्णपरिणत्या व्यज्यमानसमयघटिकादिपर्यायत्वात्। शेषशब्देन किं भण्यते। (जीवा पुण पुग्गला सेसा) जीवाः पुद्गलाश्च पुनः शेषा भण्यन्त इति। अयमत्र भावः—यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यन्ते। तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति। अत्र यद्यप्यनन्तजीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुण-

पुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासंख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानं न विरुध्यते ॥ १३६ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्योंका स्थान लोकाकाशमें है, ऐसा बताते हैं—

गाथार्थ—(णभो) आकाश द्रव्य (लोगालोगेसु) लोक और अलोकरूप है (सेसे पडुच्च) शेष जीव पुद्गलको आश्रय करके (लोगो धम्माधम्मेहि आददो) लोक धर्म और अधर्म द्रव्यसे व्याप्त है तथा (कालो) काल है। (पुण सेसा जीवा पुग्गला) और वे दो शेष द्रव्य जीव और पुद्गल हैं।

टीकार्थ,—लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंका आधार एक आकाश द्रव्य है। इनमेंसे जीव पुद्गलोंकी अपेक्षासे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय हैं जिनसे यह लोकाकाश व्याप्त है। अर्थात् इस लोकाकाशमें जीव और पुद्गल भरे हैं उनहीकी गति और स्थितिको कारण रूप ये धर्म अधर्म भी लोकमें हैं। काल भी इन जीव पुद्गलोंकी अपेक्षा करके लोकमें है क्योंकि जीव पुद्गलकी नई पुराणी अवस्थाके होनेसे काल द्रव्यकी समय घड़ी आदि पर्याय प्रगट होती हैं। तथा जीव और पुद्गल तो इस लोकमें हैं ही। यहां यह भाव है कि जैसे सिद्ध भगवान यद्यपि लोकाकाश प्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंमें हैं जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणोंके आधारभूत हैं तथा अपने स्वभावमें ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे मोक्षशिला पर ठहरते हैं, ऐसा आचार्य कहते हैं, तैसे सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चयसे अपने स्वरूपमें ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे लोकाकाशमें ठहरते हैं। यहां यद्यपि अनन्त जीव द्रव्योंसे अनन्त गुणे पुद्गल हैं तथापि एक दीपके प्रकाशमें जैसे बहुतसे दीपकोंके प्रकाश समा जाते हैं तैसे विशेष अवगाहनाकी शक्तिके योगसे असंख्यात प्रदेशी लोकमें ही सर्व द्रव्योंका स्थान विरोधरूप नहीं है ॥ १३६ ॥

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥१३७॥

यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥१३७॥

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्म-

कजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम् । यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव । अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव । पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति । ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥

अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशत्त्व किस प्रकारसे संभव है :—

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [ते नभः-प्रदेशाः] वे आकाशके प्रदेश हैं [तथा] उसी प्रकार [शेषाणां] शेष द्रव्योंके (भी) [प्रदेशाः भवन्ति] प्रदेश हैं । (अर्थात् जैसे-आकाशके प्रदेश परमाणुरूपी गजसे नापे जाते हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्योंके प्रदेश भी परमाणुरूपी गजसे नापे जाते हैं । [परमाणुः] परमाणु [अप्रदेशः] अप्रदेशी है, [तेन] उसके द्वारा प्रदेशोद्भवः भणितः] प्रदेशों का होना कहा है ।

टीकाः—(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४० वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाशके प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व (अर्थात् एक परमाणुसे व्याप्त होना) है। यहां (इस सूत्र या गाथामें) 'जिस प्रकार आकाशके प्रदेश हैं उसी प्रकार शेष द्रव्योंके प्रदेश हैं' इस प्रकार प्रदेशके लक्षणकी एक-प्रकारता कही जाती है । इसलिये, एकाणुव्याप्य (जो एक परमाणुसे व्याप्य हो ऐसे) अंशके द्वारा गिने जाने पर जैसे आकाशके अनन्त अंश होनेसे आकाश अनन्त प्रदेशी है, उसीप्रकार एकाणुव्याप्य अंशके द्वारा गिने जानेपर धर्म, अधर्म, और एक जीवके असंख्यात अंश होनेसे वे-प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी हैं । जैसे (संकोच-विस्तार-रहित होनेकी अपेक्षा) अवस्थित प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं, उसी प्रकार संकोच विस्तारके कारण (संकोच-विस्तार होनेकी अपेक्षा) अनवस्थित प्रमाणवाले जीवके-सूखे गीले चमड़ेकी भांति-निज अंशोंका अल्पबहुत्व नहीं होता (संख्यामें प्रदेशोंकी हानि-वृद्धि नहीं होती) इसलिये असंख्यातप्रदेशित्व ही है ।

(यहां यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीवका संकोच-विस्तार कैसे संभव है ? उसका समाधान किया जाता है :—)

अमूर्तके संकोच-विस्तारकी सिद्धि तो अपने अनुभवसे ही साध्य है, क्योंकि (सबको स्वानुभवसे स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीरमें तथा बालक और कुमारके शरीरमें व्याप्त होता है। (जीवके जो प्रदेश मोटे शरीरमें फैले हुये थे, वह ही शरीरके पतले हो जाने पर सिकुड़ गये। तथा बालक के शरीरमें जो जीवके प्रदेश सिकुड़े हुये थे, वह ही कुमार अवस्थाके शरीर में फैल जाते हैं। इस प्रकारसे जीवके प्रदेशोंका संकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है।

पुद्गल तो द्रव्यकी अपेक्षासे एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकारसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशआदि (द्वयणुकआदि स्कंधोंके हेतुभूत तथाविध (उस प्रकारके) स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप परिणमित होनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उस पुद्गलके प्रदेशोंका (बहु प्रदेशत्वका उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्वकी भी संभावना होनेसे पुद्गल द्विप्रदेशत्वसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याययुक्त है १३७

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशलक्षणमुक्तं शेषद्रव्यप्रदेशानां तदेवेति सूचयतिः—

(जह ते णहप्पदेसा) यथा ते प्रसिद्धाः परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशाः (तहप्पदेसा हवंति सेसाणं) तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केषां। शुद्धबुद्धैकस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतिशेषद्रव्याणाम्। (अपदेसो परमाणू) अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणुः (तेण पदेसुब्भवो भणिदो) तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्ति र्भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव।१३७।

एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—जैसे एक परमाणुसे व्याप्त क्षेत्रको आकाशका प्रदेश कहते हैं वैसे ही अन्य द्रव्योंके प्रदेश भी होते हैं, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—(जध) जैसे (ते णभप्पदेसा) वह परमाणुसे व्याप्त क्षेत्र आकाशद्रव्यका प्रदेश होता है (तधप्पदेसा सेसाणं हवंति) तैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्योंके प्रदेश होते हैं। (परमाणू अपदेसो) एक अविभागी पुद्गल परमाणु अप्रदेशी है (तेण) उस परमाणुसे (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेशकी प्रगटता होती है।

टीकार्थ—एक परमाणु जितने आकाश क्षेत्रको रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं उस परमाणुके दो आदि प्रदेश नहीं हैं। इस प्रदेशकी मापसे आकाश द्रव्यकी तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यको आदि लेकर शेष द्रव्योंके भी प्रदेश होते हैं। इनका विस्तारसे कथन आगे करेंगे ॥ १३७ ॥

इस तरह पांचवें स्थलमें स्वतंत्र दो गाथाएं गईं।

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ १३८ ॥

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ १३८ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुष प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः ॥ १३८ ॥

अब, यह नियम बतलाते हैं कि 'कालाणुके अप्रदेशत्व ही है' :—

अन्वयार्थः—[समयः तु] काल तो [अप्रदेशः] अप्रदेशी (एक प्रदेशी) है, [प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं] आकाश द्रव्यके प्रदेश को [व्यतिपततः] मंदगतिसे उल्लंघन कर रहा हो तब [सः वर्तते] वह (काल) वर्तता है, अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

टीकाः—काल, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होनेसे, अप्रदेशी ही है। उसके (कालके), पुद्गलकी भांति, पर्यायतः भी अनेकप्रदेशित्व नहीं है, क्योंकि उसके परस्पर अन्तरके विना प्रस्ताररूप (फैले हुये) विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्यत्व होने पर भी, परस्पर संपर्क न होनेसे एक एक आकाशप्रदेशको व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्यकी वृत्ति तभी होती है (अर्थात्

कालाणुकी परिणति तभी निमित्तभूत होती है) जब प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाशप्रदेशको मन्दगतिसे उल्लंघन करता हो ।

भावार्थः—लोकाकाशके असंख्यातप्रदेश हैं। एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु रहा हुआ है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुणके अभावके कारण रत्नोंकी राशिकी भांति पृथक् पृथक् ही रहते हैं, पुद्गल परमाणुओंकी भांति परस्पर मिलते नहीं हैं।

जब पुद्गल परमाणु आकाशके एक प्रदेशको मन्दगतिसे उल्लंघन करता है (अर्थात एक प्रदेशसे दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर मन्दगतिसे जाता है) तब उस (उल्लंघित किये जानेवाले) प्रदेशमें रहने वाला कालाणु उसमें निमित्तभूत रूपसे रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल परमाणुके एक प्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारीरूपसे रहता है, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्यायतः भी अनेक प्रदेशी नहीं है ॥ १३८॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्वं व्यवस्थापयति,—

(समओ) समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः (दु) पुनः। स च कथंभूतः। (अप्पदेसो) अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। स च किं करोति। (सो वट्टदि) स पूर्वोक्तकालाणुः परमाणोर्गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते। कस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणुः ? (पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य। किं कुर्वतः ? (वदिवददो) व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः। कं प्रति। (पदेसं) कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम्। कस्य सम्बन्धिनं ? (आगासदव्वस्स) आकाशद्रव्यस्येति। तथाहि—कालाणुरप्रदेशो भवति। कस्मात् ? द्रव्येणैकप्रदेशत्वात्। अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलानां परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि। अयमत्रार्थः—यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेशगमनपर्यंतं सहकारित्वं करोति नचाधिकं तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति ॥१३८॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्यके दो तीन आदि प्रदेश नहीं हैं, मात्र एक प्रदेश है इसीसे वह अप्रदेशी है, ऐसी व्यवस्था करते हैं—

गाथार्थ—(समओ दु अप्पदेसो) काल द्रव्य निश्चयसे अप्रदेशी है (सो) वह काल द्रव्य (पदेशमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेश मात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणुके (आगासदव्वस्स पदेसम्) आकाश द्रव्यके प्रदेशको (वदिवददो) उल्लंघन करनेसे (वट्टदि) वर्तन करता है।

टीकार्थः—समय नामा पर्यायका उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणुको समय कहते हैं। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित मात्र एक प्रदेशवाला है इससे उसको अप्रदेशी कहते हैं। वह कालाणु पुद्गल द्रव्यकी परमाणुकी गतिकी परिणति रूप सहकारी कारणसे वर्तन करता है। हर एक कालाणुसे हर एक लोकाकाशका प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मंदगतिसे ऐसे पास वाले प्रदेशपर जाता है तब इसकी गतिके सहायसे काल द्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्यायको उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे पुद्गलके परमाणुओंका परस्पर बन्ध होजाता है इस तरहका बंध कालाणुओं का कभी नहीं हो सक्ता इसलिये कालाणुको अप्रदेशी कहते हैं। यहां यह भाव है कि पुद्गल परमाणुका एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं है, इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेशरूप ही है ॥ १३८ ॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसो ॥१३९॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्समः समयस्ततः परः पूर्वः।
योऽर्थः स कालः समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥१३९॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः। अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति १३९

अब काल पदार्थके द्रव्य पर्यायको बतलाते हैं :—

अन्वयार्थः—[तं देशं व्यतिपततः] परमाणु एक आकाशप्रदेशको (मन्दगतिसे) (जब) उल्लंघन करता है तब [तत्समः] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [समयः] 'समय' (पर्याय) है, [ततः पूर्वः परः] उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) [यः अर्थः] जो पदार्थ है [सः कालः] वह कालद्रव्य है, [समयः उत्पन्नध्वंसी] समय उत्पन्नध्वंसी है, समय पर्याय तो उत्पन्न होती है और नाश होती है ।)

टीकाः—किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेशको जब परमाणु मन्दगतिसे उल्लंघन करता है, तब उस प्रदेशमात्र अतिक्रमण (उल्लंघन) के परिमाण (काल) के बराबर जो कालपदार्थकी सूक्ष्मवृत्ति (परिणति) रूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है । और ऐसी उस पर्यायसे पूर्वकी तथा बादकी वृत्ति रूपसे वर्तित होनेसे जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है । इस प्रकार द्रव्यसमय (काल-द्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है । यह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाशके प्रदेशका निरंशत्व न बने ।

एक समयमें परमाणुके लोकके अन्त तक जाने पर भी, समयके अंश नहीं होते; क्योंकि (परमाणुके) विशिष्ट (विशेष प्रकारके) अवगाह परिणाम विशिष्ट गतिपरिणाम होता है । इसे समझाते हैं:-जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणामके कारण एक परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओंका स्कंध बनता है तथापि वह स्कंध परमाणुके अनन्त अंशोंको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है, उसी प्रकार जैसे एक कालाणुसे व्याप्त एक आकाशप्रदेश के अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्टगतिपरिणामके कारण लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणुके द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशोंको सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है ।

भावार्थः—यहां प्रश्न होता है कि "जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गतिके द्वारा एक 'समय' में लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाशप्रदेशों

में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है। इसलिये असंख्य कालाणुओंको स्पर्श करनेसे 'समय' के असंख्य अंश होने चाहिये" ? इसका समाधान यह है :—

जैसे अनन्त परमाणुओंका कोई स्कंध आकाशके एक प्रदेशमें समाकर परिमाणमें एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओंके विशेष प्रकारके अवगाहपरिणामके कारण ही है, (परमाणुओंमें ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकारकी अवगाहपरिणामकी शक्ति है' जिसके कारण ऐसा होता है,) इससे कहीं परमाणुके अनन्त अंश नहीं होते, इसी प्रकार कोई परमाणु एक समयमें असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुच जाता है, सो वह परमाणुके विशेष प्रकारके गतिपरिणामके कारण ही है, (परमाणुमें ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकारके गतिपरिणामकी शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है,) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नहीं होते ॥ १३६ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च प्रतिपादयति,—

(वदिवददो) तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः। कं कर्मतापन्नम् ? (तं देसं) तं पूर्वगाथोदितं कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् (तस्सम) तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः सदृशस्तत्समः (समओ) कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूतः समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यानं गतम्। (तदो परो पुव्वो) तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च (जो अत्थो) यः पूर्वपर्यायेष्वन्वयरूपेण दत्तपदार्थो द्रव्यं (सो कालो) स कालः कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम्। (समओ उप्पण्णपद्धंसी) स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसन्तानापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्तमानसमयं प्रत्युत्पन्नप्रध्वंसी। यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकालः स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति। एवं कालस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च ज्ञातव्यम् ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे हुए काल पदार्थके पर्याय स्वरूपको और द्रव्य स्वरूपको बताते हैं:—

गाथार्थ:—(तं देसं) उस कालाणुसे व्याप्त आकाशके प्रदेशपर (वदिवददो) मंद गतिसे जाने वाले पुद्गल परमाणुको (तस्सम समओ) जो कुछ काल लगता है उसीके समान समय पर्याय है। (तदो परो पुव्वो जो अत्थो) इस समय पर्यायके आगे और पहले जो पदार्थ है (सो कालो) वह काल द्रव्य है। (समओ उप्पण्णा पद्धंसी) समय पर्याय उत्पन्न होकर नाश होने वाला है।

टीकार्थ:—जब तक एक पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे एक कालाणुव्याप्त आकाशके प्रदेशसे दूसरे कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशपर आता है तबतक उसमें जो काल लगता है उसीके समान कालाणु

द्रव्यकी सूक्ष्म समय नामकी पर्याय होती है- यही व्यवहारकाल है। कालद्रव्यकी पर्यायका यह स्वरूप कहा गया। इस समय पर्यायके उत्पन्न होनेके पहले जो अपनी पूर्व पूर्व समय पर्यायोंमें अन्वय रूपसे बराबर चला आरहा है व आगामी कालमें होनेवाली समय पर्यायोंमें अन्वय रूपसे बराबर चला जायगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है। यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकालकी और उत्तरकालकी समयोंकी संतानकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात तथा अनन्त समय रूप है तथापि वर्तमानकालका समय उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है, किन्तु जो पूर्वमें कहा हुआ द्रव्यकाल है वह तीनों कालोंमें स्थायी होनेसे नित्य है इस तरह कालद्रव्य को पर्यायस्वरूप और द्रव्यस्वरूप जानना योग्य है।

अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यानं क्रियते निश्चयकालव्याख्यानं तु 'उप्पादो पद्धंसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति।

तद्यथा (समओ) परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमयः। (अवप्पदेसो) अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो निरंश इत्यर्थः। कथं निरंश इति चेत् ? (पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स) प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणुः (वदिवादादो वट्टदि) व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्गमनरूपेण वर्तते। कं प्रति ? (पदेसमागासदवियस्स) विवक्षितैकाकाशप्रदेशं प्रति। इति प्रथमगाथाव्याख्यानम्। (वदिवददो तं देसं) स परमाणुस्तमाकाशप्रदेशं यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति (तस्सम समओ) तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः समयो भवतीति निरंशत्वमिति वर्त्तमानसमयो व्याख्यातः। इदानीं पूर्वपरसमयौ कथयति—(तदो परो पुव्वो) तस्मात्पूर्वोक्तवर्त्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गतः (अत्थो जो) एवं यः समयत्रयरूपोऽर्थः (सो कालो) सोऽतीतानागतवर्त्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते। (समओ उप्पण्णपद्धंसी) तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्त्तमानः स उत्पन्नप्रध्वंसी अतीतानागतौ तु संख्येयासंख्येयानन्तसमयाविल्यर्थः। एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं, स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम् ॥ १३९ ॥

एवं कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अथवा इन दो गाथाओंसे समयरूप व्यवहार कालका व्याख्यान किया जाता है। निश्चय कालका व्याख्यान तो "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादि तीन गाथाओंसे आगे करेंगे।

सो इस तरह पर है कि द्वितीयादि प्रदेश रहित निरंश प्रदेशमात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणुकी मंदगतिसे किसी विवक्षित एक आकाशके प्रदेश पर जाते हुए जो वर्तन करती है वह निश्चय कालकी समय पर्याय अंश रहित है। यह पहली गाथाका व्याख्यान है। वह परमाणु उस आकाशके प्रदेशपर जब पतन करता है तब उस पुद्गल परमाणुके मन्दगतिसे गमनमें जो काल लगा है उसीके समान समय है इसलिये एक समय अंश रहित है। अर्थात् समय सबसे छोटा काल है। इस तरह वर्तमान समय कहा गया। अब आगे पीछेके समयोंको कहते हैं कि इस पूर्वमें कहे हुए वर्तमान समयसे आगे कोई समय होयगा

तथा पूर्वमें कोई समय हो चुका है इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमानरूपसे तीन प्रकार व्यवहारकाल कहा जाता है। इन तीन प्रकार समयोंमें जो कोई वर्तमानका समय है वह उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है अतीत और अनागत संख्यात, असंख्यात और अनंत समय हैं। इस तरह स्वरूपके धारी कालके होते हुए भी यह जीव अपने परमात्म-तत्वको नहीं प्राप्त करता हुआ भूतकी अपेक्षा अनन्तकालसे इस संसार समुद्रम भ्रमता चला आया है इसलिये ही अब इसके लिये अपना ही परमात्म तत्व सर्व तरहसे ग्रहण करने योग्य मानकर श्रद्धान करने योग्य है, व स्वसंवेदन ज्ञानसे जानने योग्य है तथा आहार, भय, मैथुन परिग्रह संज्ञाको आदि लेकर सर्व रागादि भावोंको त्यागकर ध्यान करने योग्य है, ऐसा तात्पर्य है ॥१३६॥

इस तरह कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे छठे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम्।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तदातुमवकाशम् ॥१४०॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योंऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपंचद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः। अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः। यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम्? एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन? अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या? इत्यन्यतरांशाभावः। एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम्। भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्। अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन? सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥१४०॥

अब, आकाशके प्रदेशका लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं :—

अन्वयार्थः—[अणुनिविष्टं आकाशं] एक परमाणु जितने आकाशमें रहता है उतने आकाशको [आकाशप्रदेशसंज्ञया] 'आकाशप्रदेश' के नामसे [भणितम्] कहा गया है। [च] और [तत्] वह [सर्वेषां अणूनां] समस्त परमाणुओंको [अवकाशं दातुं शक्नोति] अवकाश देनेको समर्थ है ।

टीकाः—आकाशका एक परमाणुसे व्याप्य अंश आकाशप्रदेश है । वह एक (आकाश-प्रदेश) भी शेष पांच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा सूक्ष्मतारूपसे परिणमित अनन्त परमाणुओंको और स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है । आकाश अविभाग (अखंड) एक द्रव्य होने पर भी, उसके (प्रदेशरूप) अंशकल्पना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओंको अवकाश देना नहीं बन सकता ।

यदि 'आकाशके अंश नहीं होते' (अर्थात् अंशकल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो तो आकाशमें दो उंगलियां फैलाकर बताइये कि 'दो उंगलियोंका एक क्षेत्र है या अनेक ?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि:-), (१) आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये ? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो, जो अंश एक अंगुलीका क्षेत्र है वही अंश दूसरी अंगुलीका भी है, इसलिये दोनोंमें से एक अंशका अभाव होगया इस प्रकार दो इत्यादि (एकसे अधिक) अंशोंका अभाव होनेसे आकाश परमाणुकी भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ । (इसलिये यह तो घटित नहीं होता), (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है' (इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एक द्रव्यमें अंश-कल्पना फलित हुई ।

यदि यह कहा जाय कि (दो अंगुलियोंके) 'अनेक क्षेत्र हैं' (अर्थात् एकसे अधिकक्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि–), आकाश सविभाग (खंडरूप) अनेक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियोंके अनेक क्षेत्र हैं या (२) आकाशके अविभाग एकद्रव्य होने पर भी दो अंगुलियोंके अनेक क्षेत्र हैं ? (१) यदि सविभाग अनेक द्रव्य होनेसे माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्त–द्रव्यत्व आजायगा, (इसलिये यह तो घटित नहीं होता), (२) यदि अविभाग एक द्रव्य होनेसे माना जाय तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एक द्रव्यमें अंशकल्पना फलित हुई ॥ १४० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वं यत्सूचितं प्रदेशस्वरूपं तदिदानीं विवृणोति,—

(आयासमणुणिविट्ठं) आकाशं अणुनिविष्टं पुद्गलपरमाणुव्याप्तम् । (आयासपदेससण्णया भणिदं) आकाशप्रदेशसंज्ञया भणितं कथितम् । (सव्वेसिं च अणूणं) सर्वेषामणूनां चकारात्सूक्ष्मस्कन्धानां च (सक्कदि तं देदुमवगासं) शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम् । तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थंभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभते । तच्च विस्तरेण पूर्वं भणितमेव ।

अथ मतं—अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागः कथं घटते ? परिहारमाह—चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसास्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्रं किमेकमनेकं वा ? यद्येकं तर्हि द्वयोरप्येकत्वं प्राप्नोति न च तथा । भिन्नं चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यप्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ १४० ॥

उत्थानिका—आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेशका स्वरूप कहते हैं:-

गाथार्थः—(अणुणिविट्ठं आगासम्) अविभागी पुद्गलके परमाणु द्वारा व्याप्त जो आकाश है उसको (आगासपदेससण्णया) आकाशके प्रदेशकी संज्ञासे (भणिदं) कहा गया है । तथा (तं) वह प्रदेश (सव्वेसिं च अणूणं) सर्व परमाणु तथा सूक्ष्म स्कंधोंको (अवकासं देदुं सक्कदि) जगह देने को समर्थ है ।

टीकार्थः—एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाशके प्रदेशमें यदि इतनी जगह देनेकी शक्ति नहीं होती कि वह अन्य परमाणुओंको व सूक्ष्म पदार्थोंको जगह दे सकता है, तो यह अनन्तानन्त जीवराशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गल राशि किस तरह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें जगह पाती, इसको विस्तारसे पहले कह चुके हैं ।

शंकाः—अखंड आकाशद्रव्यके भीतर प्रदेशोंका विभाग कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधानः-चिदानन्दमई एक स्वभावरूप निज आत्मतत्त्वमें परम एकाग्रता लक्षण समाधिसे उत्पन्न विकार-रहित आल्हादमई एक रूप, सुख अमृत रसके स्वादमें तृप्त दो मुनियोंके जोड़ेका ठहरनेका क्षेत्र एक है वा अनेक है ? यदि एक ही स्थान है तब दो मुनियोंका एकत्व हो जायगा, सो ऐसा नहीं है । और यदि उनका क्षेत्र भिन्न भिन्न है तब अखंड आकाशके भी प्रदेशोंका विभाग करनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।१४०।

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ १४१ ॥

एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ॥ १४१ ॥

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः, समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः। तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात् पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्। ऊर्ध्वप्रचयस्तु, त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव। अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥ १४१ ॥

अब, (प्रदेश अपेक्षा) तिर्यक् प्रचय तथा (काल प्रवाह अपेक्षा) ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं:

अन्वयार्थः—[द्रव्याणां च] द्रव्योंके [हि] निश्चय से [एकः] एक, [द्वौ] दो, [बहवः] बहुत (संख्यात)[वा] अथवा [संख्यातीताः] असंख्यात [ततः च] और फिर [अनन्ताः] अनन्त [प्रदेशाः] प्रदेश [सन्ति] हैं। [कालस्य] कालके [समयाः इति] 'समय' हैं।

टीकाः—प्रदेशोंका समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियोंका (पर्यायोंका) समूह ऊर्ध्वप्रचय है।

वहाँ आकाश अवस्थित (स्थिर) अनन्त प्रदेश वाला है, धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशवाले हैं, जीव अनवस्थित असंख्यप्रदेशी है, और पुद्गल द्रव्यतः अनेक-प्रदेशित्वकी शक्तिसे युक्त एकप्रदेशवाला है तथा पर्यायकी अपेक्षा दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात, अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिये उनके (आकाशादिक के) तिर्यक्प्रचय है। परन्तु कालके तिर्यक्प्रचय नहीं है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्योंके अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति (परिणति) तीन कोटियोंको (भूत, वर्तमान और भविष्यत्-ऐसे तीनों कालोंको) स्पर्श करती है, इसलिये अंशोंसे युक्त है (एक समयकी पर्याय त्रैकालिक परिणतिका एक अंश है)। परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियोंका प्रचय (कालको छोड़कर) शेष द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचय है, और समयोंका प्रचय कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय है, क्योंकि शेष द्रव्योंकी वृत्ति समयसे अर्थान्तर भूत (अन्य) है, इसलिये वह (वृत्ति) समयसे विशिष्ट (विशेषित) है, और कालद्रव्यकी वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये वह समयविशिष्ट नहीं है ॥ १४१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति,—

(एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य) एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । (दव्वाणं च पदेसा संति हि) कालद्रव्यं विहाय पञ्चद्रव्याणां सम्बन्धिन एते प्रदेशा यथासम्भवं सन्ति हि स्फुटम् । (समयत्ति कालस्स) कालस्य पुनः पूर्वोक्तसंख्योपेताः समयाः सन्तीति । तद्यथा—एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थानां केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशानां मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचयः समूहः समुदायो राशिः स । किं किं भण्यते । तिर्यक्प्रचयः तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं विहाय स्वकीयस्वकीयप्रदेशसंख्यानुसारेण शेषद्रव्याणां स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यातः । प्रतिसमयवर्तिनां पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सन्तान ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च सर्वद्रव्याणां भवति । किन्तु पंचद्रव्याणां सम्बन्धी पूर्वापरपर्यायसन्तानरूपो योऽसावूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमयं सहकारिकारणं भवति । यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारणं सहकारिकारणं च । कस्मात् ? कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४१ ॥

एवं सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचयका निरूपण करते हैं:—

गाथार्थः—(दव्वाणं पदेसा) काल द्रव्यके विना पांच द्रव्योंके प्रदेश (एक्को व दुगे च बहुगा संखातीदा तदो अणंता य संति) एक या दो या बहुत, या असंख्यात तथा अनन्त यथायोग्य होते हैं (कालस्स हि समयत्ति) परन्तु निश्चयसे एक प्रदेशी काल द्रव्यके समय पूर्वोक्त संख्यावाले होते हैं ।

टीकार्थः—मुक्तात्मा पदार्थमें एकाकार व परम समता रसके भावमें परिणमनरूप परमानन्दमई एक लक्षण सुखामृतसे भरे हुए और केवलज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणोंके आधारभूत, लोकाकाश प्रमाण

शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंका जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते हैं। यह प्रदेशोंका समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें कहा गया है तैसे कालको छोड़कर अन्य द्रव्योंमें अपने अपने प्रदेशोंकी संख्याके अनुसार तिर्यक्-प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय समय वर्तनेवाली पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी सन्तानको ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते हैं, जैसे मोतीकी मालामें मोतियोंको क्रम से गिना जाता है इसी तरह द्रव्यकी समय समय में होनेवाली पर्यायोंको क्रमसे गिना जाता है। इन पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व सामान्य कहते हैं। यह सब द्रव्योंमें होता है। किन्तु कालके सिवाय पांच द्रव्योंकी पूर्व उत्तर पर्यायोंका सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना अपना द्रव्य है परंतु कालद्रव्य उनके लिये प्रति समयमें सहकारी कारण है। परंतु जो कालद्रव्यका समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योंकि कालसे भिन्न कोई और समय नहीं है। कालकी जो पर्यायें हैं वे ही समय हैं ऐसा अभिप्राय है॥ १४१॥

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि॥ १४२॥

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति॥ १४२॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात्। तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्। क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव। तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः। यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः। स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः। यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदु-

पात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत् । एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥ १४२ ॥

अब, कालपदार्थका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इसका खंडन करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यदि यस्य समयस्य] यदि कालका [एक समये] एक समयमें [उत्पादः प्रध्वंसः] उत्पाद और विनाश [विद्यते] पाया जाता है, [सः अपि समयः] तो वह काल भी [स्वभावसमवस्थितः] स्वभावमें अवस्थित (अविनाशी स्वभावमें स्थिर अर्थात् ध्रुव) [भवति] होता है।

टीका:—समय काल पदार्थका वृत्त्यंश (पर्याय) है, उस वृत्त्यंशमें किसीके भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित हैं, क्योंकि परमाणुके अतिक्रमणके द्वारा (समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारणपूर्वक है। (परमाणुके द्वारा एक आकाशप्रदेशका मंद-गतिसे उल्लंघन करना कारण है, और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारणका कार्य है, इसलिये उसमें किसी पदार्थका उत्पाद तथा विनाश होना चाहिये।)

('किसी पदार्थके उत्पाद-विनाश होनेकी क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर वृत्त्यंशको ही उत्पाद-विनाश होते हुये मानलें तो क्या हानि है ? इस तर्कका समाधान करते हैं—)

यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंशके ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि:—) (१) वे युगपत् हैं या (२) क्रमशः ? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एकके दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्त्यंशके, प्रकाश और अंधकारकी भांति, उत्पाद और विनाश-दो विरुद्ध धर्म नहीं होते।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, क्योंकि वृत्त्यंशके सूक्ष्म होनेसे उसमें विभागका अभाव है। इसलिये (समयरूपी वृत्त्यंशके उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होनेसे) कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूंढ़ना चाहिये। वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है। उसके वास्तवमें एक वृत्त्यंशमें भी उत्पाद और विनाश संभव है, क्योंकि जिस वृत्तिमान्के जिस वृत्त्यंशमें उस वृत्त्यंशकी अपेक्षासे जो उत्पाद है, वही, उसी वृत्तिमानके उसी वृत्त्यंशमें पूर्व-

वृत्त्यंशकी अपेक्षासे विनाश है। (अर्थात्—कालपदार्थके जिस वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद है, वही पूर्व पर्यायकी अपेक्षासे विनाश है।)

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंशमें संभवित हैं तो काल पदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है, कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंशकी अपेक्षासे युगपत् विनाश और उत्पादको प्राप्त होता हुआ भी स्वभावसे अविनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे वह (काल पदार्थ) अवस्थित न हो? (अर्थात् अवश्य अवस्थित होगा)। (काल पदार्थके एक वृत्त्यंशमें भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, इसलिये वह निरन्वय अर्थात् खंडित नहीं है, इसलिये स्वभावतः अवश्य ध्रुव है।)

इस प्रकार एक वृत्त्यंशमें कालपदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यवाला है, यह सिद्ध हुआ १४२

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—

अथ समयसन्तानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूतं कालद्रव्यं व्यवस्थापयति,—

(उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि) उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि चेत्। कस्य। (जस्स) यस्य कालाणोः। क्व ? (एकसमयम्हि) एकसमये वर्तमानसमये (समयस्स) समयोत्पादकत्वात्समयः कालाणुस्तस्य (सोवि समओ) सोऽपि कालाणुः (सहावसमवट्ठिदो होदि) स्वभावसमवस्थितो भवति। पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वंसद्वयं तदाधारभूतं कालाणुद्रव्यरूपं ध्रौव्यमिति त्रयात्मकस्वभावसत्तास्तित्वमिति यावत्। तत्र सम्यगवस्थितः स्वभावः समवस्थितो भवति। तथाहि—यथांगुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपरिणामस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवांगुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूतांगुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदुःखरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूतांगुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः ॥१४२॥

उत्थानिका—आगे समय-संतानरूप ऊर्ध्व-प्रचयका अन्वयी रूपसे आधारभूत काल द्रव्यको स्थापन करते हैं—

गाथार्थ—(जस्स समयस्स) समयरूप पर्यायको उत्पन्न करनेवाले जिस कालाणु द्रव्यका (एक समयम्मि) एक वर्तमान समयमें (जदि) जो (उप्पादो) उत्पाद तथा (पद्धंसो) नाश (विज्जदि) होता है (सो वि समओ) सो ही काल पदार्थ (सभावसमवट्ठिदो हवदि) अपने स्वभावमें भले प्रकार स्थिर रहता है।

टीकार्थ—कालाणु द्रव्यमें पहली समय रूप पर्यायका नाश नई समयरूप पर्यायका उत्पाद जिस वर्तमान समयमें होता है, उसी समय इन दोनों उत्पाद और नाशका आधाररूप कालाणुरूप द्रव्य ध्रौव्य रहता है। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रयात्मक स्वभावमई सत्तारूप अस्तित्व इस काल द्रव्यका भलेप्रकार सिद्ध है। भले प्रकार अवस्थित स्वभाव वाला समवस्थित है। जैसे एक हाथकी अंगुलीको टेढा करते हुए जिस वर्तमान क्षणमें ही वक्र अवस्थाका उत्पाद हुआ है उसी ही क्षणमें उसी ही अंगुली द्रव्य की पहली सीधीपनेकी पर्यायका नाश हुआ है परंतु इन दोनोंकी आधारभूत अंगुली द्रव्य ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यकी सिद्धि होती है। अथवा जिस किसी आत्मद्रव्यमें अपने स्वभावमई सुखका जिस क्षणमें उत्पाद है उसी ही क्षणमें उसके पूर्व अनुभव होनेवाले आकुलता रूप दुःख पर्यायका नाश है परंतु इन दोनोंके आधारभूत परमात्म-द्रव्यका ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यकी सिद्धि है। अथवा एक आत्मद्रव्यमें जिस समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है उस ही समय रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग रूप पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधारभूत परमात्मद्रव्यका ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यकी सिद्धि है। तैसे ही जिसकाल द्रव्यकी जिस क्षणमें वर्तमान समयरूप पर्यायका उत्पाद है उसी काल द्रव्यकी पूर्व समयकी पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधाररूप अंगुली द्रव्यके स्थानमें कालाणु द्रव्य का ध्रौव्य है, इस तरह काल द्रव्यकी सिद्धि है ॥ १४२ ॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ १४३ ॥

एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः ॥ १४३ ॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धयतस्तदा ते अस्तित्वमन्तरेण न सिद्धयतः कथंचिदपि ॥ १४३ ॥

अथ, (जैसे एक वृत्त्यंशमें काल पदार्थ उत्पाद व्यय सिद्ध किया है, उसी प्रकार) सर्व वृत्त्यंशोंमें काल पदार्थके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व है, यह सिद्ध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[एकस्मिन् समये] एक एक समयमें [संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः अर्थाः]

उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ [समयस्य] कालके [सर्वकालं] सदा [संति] होते हैं। [एषः हि] यही [कालाणुसद्भावः] कालाणुका सद्भाव है, (यही कालाणुके अस्तित्वकी सिद्धि है।)

टीकाः—काल पदार्थके सभी वृत्त्यंशोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि (१४२ वीं गाथामें जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंशमें वे (उत्पादव्ययध्रौव्य) देखे जाते हैं। और यह योग्य ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्वकी सामान्य अस्तित्वके बिना, उत्पत्ति नहीं हो सकती। यही कालपदार्थके सद्भावकी सिद्धि है। (क्योंकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्वके बिना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं होते ॥ १४३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितम् तथा सर्वसमयेष्वस्तीति निश्चिनोति,—

(एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते । के । सम्भवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः धर्माः स्वभावा इति यावत् । कस्य सम्बन्धिनः ? (समयस्स) समयरूपपर्यायस्योत्पादकत्वात् समयः कालाणुस्तस्य (सव्वकालं) यद्येकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव (एस हि कालाणुसब्भावो) एष प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुटमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति । तद्यथा—यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वंसाधारेणांगुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति । अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभायाः सर्वप्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणरूपा तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोत्पादनकारणं न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थः ॥१४३॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते हैं कि जैसे पूर्वमें कहे प्रमाण एक वतमान समयमें काल द्रव्यका उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध किया गया तैसे ही सर्व समयोंमें होता है—

गाथार्थ—(एकम्मि समये) एक समयमें (समयस्स) कालद्रव्यका (संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव (संति) हैं (एस हि) निश्चय करके ऐसा ही (कालाणुसब्भावो) कालाणु द्रव्यका स्वभाव (सव्वकालं) सदाकाल रहता है।

टीकार्थः—जैसे पहले अंगुली द्रव्य आदिके दृष्टांतसे एक समयमें ही उत्पाद और व्ययका आधार भूत होनेसे एक विवक्षित वर्तमान समयमें ही काल द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना स्थापित किया गया तैसा ही सर्व समयोंमें जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकालके अनन्त समयोंमें दुर्लभ और सब तरहसे ग्रहण करने योग्य सिद्धगतिका काललब्धिरूपसे बाहरी सहकारी कारण

काल है तथापि निश्चय नयसे अपने ही शुद्ध आत्माके तत्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तथा सर्व परद्रव्यकी इच्छाका निरोधमई लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना है यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नहीं है, इससे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है ॥ १४३ ॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ १४४ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ १४४ ॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः । न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः । स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात् । न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम् । अनाद्यनन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत् । नैवम् । यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम् । तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वा संभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम् । एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः । ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः । स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः । एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत । पर्यायसमयाप्रसिद्धेः । प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्धयति । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं । एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य

यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य । तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्यतरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥ १४४ ॥

अब, काल पदार्थका अस्तित्व अन्यथा (अन्यप्रकारसे) नहीं बन सकता, इसलिये उसका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते हैं :—

अन्वयार्थः—[यस्य] जिस पदार्थके [प्रदेशाः] बहुत प्रदेश [प्रदेशमात्रं वा] अथवा एक प्रदेश भी [तत्त्वतः] परमार्थतः [ज्ञातुम् न संति] ज्ञात नहीं होते, [तं अर्थं] उस पदार्थको [शून्यं जानीहि] शून्य जानो- [अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्] क्योंकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

टीकाः—प्रथम तो, अस्तित्व उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यकी ऐक्यरूप वृत्ति है। सूत्रमें कही हुई वह (वृत्ति) प्रदेशके विना ही कालके होनी संभव नहीं है, क्योंकि प्रदेशके अभावमें वृत्तिमान्का अभाव होता है। (और) वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्तिसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

और (यदि यहां यह तर्क किया जाय 'मात्र समय पर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिये, वृत्तिमान् कालाणु पदार्थकी क्या आवश्यकता है ? तो उसका समाधान इस प्रकार है :—) मात्र वृत्ति ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तिमान्के विना वृत्ति नहीं हो सकती। यदि (यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के विना भी) वृत्ति हो सकती है तो, (प्रश्न होता है कि वृत्ति तो उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकतास्वरूप होनी चाहिये,) अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि-अनन्त, अनन्तर (परस्पर अन्तर हुये विना एकके बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशोंके कारण एकात्मकता (एक स्वरूपता) होती है इसलिये, पूर्व पूर्व अंशोंका उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है,—इस प्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी एकतास्वरूप होसकती है' ऐसा नहीं है। (क्योंकि उस अकेली वृत्तिमें तो) जिस अंशमें नाश है और जिस अंशमें

उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये (उत्पाद और व्ययका) ऐक्य कहांसे होसकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) । तथा नष्ट अंशके सर्वथा अस्त होनेसे और उत्पन्न होनेवाला अंश अपने स्वरूप को प्राप्त होनेसे (अर्थात् उत्पन्न हुआ है, इसलिये दोनों भिन्न भिन्न हुये, फिर) नाश और उत्पादकी एकतामें प्रवर्तमान ध्रौव्य कहांसे हो सकता है (अर्थात् नहीं हो सकता) । ऐसा होनेपर त्रिलक्षणता (उत्पादव्ययध्रौव्यता) नष्ट होजाती है, क्षणभंगुरता (बौद्धसम्मत क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है, और क्षणविध्वंसी भाव उत्पन्न होते हैं । इसलिये तत्वविप्लवके (वस्तु-स्वरूपकी व्यवस्था बिगड़ जानेके) भयसे अवश्य ही वृत्तिका आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् ढूंढ़ना स्वीकार करना योग्य है । वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है), क्योंकि अप्रदेशके अन्वय तथा व्यतिरेकका अनुविधायित्व असिद्ध है । (जो अप्रदेश होता है । वह अन्वय तथा व्यतिरेकोंका अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते ।)

(प्रश्नः) जब कि इस प्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एक द्रव्यके कारणभूत लोका-काशके तुल्य (बराबर) असंख्यातप्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?

(उत्तरः) ऐसा हो तो पर्यायसमय सिद्ध नहीं होता, इसलिये असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है । परमाणुके द्वारा प्रदेशमात्र कालद्रव्य का उल्लंघन करने पर (अर्थात्-परमाणुके द्वारा एक प्रदेशमात्र कालाणुसे निकटके दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मंदगतिसे गमन करने पर) समय रूप पर्यायकी सिद्धि होती है । यदि द्रव्यसमय आकाशतुल्य असंख्य-प्रदेशी हो तो समयरूप पर्यायकी सिद्धि कहांसे होगी ? (नहीं होगी ।)

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणुके द्वारा उसका एकप्रदेश उल्लंघित होनेपर पर्यायसमयकी सिद्धि होजायगी; ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि (उसमें दोष आते हैं):—

(१) एक प्रदेशकी वृत्तिको सम्पूर्ण द्रव्यकी वृत्ति माननेमें विरोध है । (उपरोक्त

मान्यता से) सम्पूर्ण काल पदार्थका जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है यह 'समय' होगा परन्तु उसके एक देशका वृत्त्यंश 'समय' नहीं होगा। (अथवा)

(२) तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्वका प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है कि:—प्रथम, कालद्रव्य एकप्रदेशसे वर्ते, फिर दूसरे प्रदेशसे वर्ते और फिर अन्यप्रदेशसे वर्ते (ऐसा प्रसंग आता है) इस प्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्यको प्रदेशमात्र स्थापित करता है। (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा माननेका प्रसंग आता है, इसलिये द्रव्य प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिये तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्व न मानने (चाहने) वालेको प्रथम ही कालद्रव्यको प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिये ॥ १४४ ॥

(इस प्रकार ज्ञेयतत्वप्रज्ञापनमें द्रव्यविशेषप्रज्ञापन समाप्त हुआ।)

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्वं साधयति,—

(जस्स ण संति) यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते। के ? (पएसा) प्रदेशाः (पएसमेत्तं तु) प्रदेशमात्रमेकप्रदेशप्रमाणं पुनस्तद्वस्तु (तच्चदो णादुं) तत्त्वतः पदार्थतो ज्ञातुं शक्यते। (सुण्णं जाण तमत्थं) यस्यैकोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थं पदार्थं शून्यं जानीहि हे शिष्य ! कस्माच्छून्यमिति चेत् ? (अत्थंतरभूदं) एकप्रदेशाभावे सत्यर्थान्तरभूतं भिन्नं भवति यतः कारणात्। कस्याः सकाशाद्भिन्नम् ? (अत्थीदो) उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि—कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमस्तित्वं विद्यते तच्चास्तित्वं प्रदेशं विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मतं कालद्रव्याभावेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्वं घटते। नैवं। अंगुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जुपर्यायस्य विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमानसमयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि। एवं सत्येतदायाति—अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्वं वस्तुस्वरूपं विप्लवते। तस्माद्वस्तुविप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणां कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यः। स चैकप्रदेशरूपः कालाणुपदार्थ एवेति। अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाता, भाविकाले चात्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवदित्यादिविशेषेण विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव, तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यत्वं. न च कालस्य, तेन स हेय इति। तथा चोक्तम्—

"किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले, सिज्झिहहिं जेवि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं" ॥१४४॥

एवं निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण "दव्वं जीवमजीवं" इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभिः स्थलाष्टकेन (विशेषज्ञेयाधिकारः) समाप्तः।

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई अस्तित्त्वमें ठहरे हुए कालद्रव्यके एक प्रदेशपना स्थापित करते हैं—

गाथार्थः—(जस्स पदेसा ण संति) जिस किसी पदार्थके बहुप्रदेश नहीं हैं (व पदेसमेत्तं तच्चदो णादु) अथवा जो वस्तु अपने स्वरूपसे एक प्रदेश मात्र भी नहीं जानी जाती है (तमत्थं सुण्णं जाण) उस पदार्थ को शून्य जानो क्योंकि (अत्थीदो अत्थंतरभूदम्) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्त्वसे अर्थान्तरभूत अर्थात् भिन्न होजायगा क्योंकि उसमें एक प्रदेश भी नहीं है जिससे उसकी सत्ताका बोध हो

टीकार्थः—जैसा पूर्व सूत्रोंमें कहा है उस प्रकार काल पदार्थमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेशके विना नहीं घट सकता है। जो प्रदेशवान् है वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्यके अभावमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य घट जायगा ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है। जैसे अंगुली द्रव्यके न होते हुए वर्तमान वक्र पर्यायका जन्म और भूतकालकी सीधी पर्यायका विनाश तथा दोनोंके आधारभूत-ध्रौव्य किसका होगा ? अर्थात् किसीका भी न होगा। तैसे ही कालद्रव्य के अभावमें वर्तमान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनोंका आधार रूप ध्रौव्य किसका होगा ? किसीका नहीं होसकेगा। यदि सत्तारूप पदार्थको न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरे का, उत्पाद किसी अन्यका व ध्रौव्य किसी और का होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तुका स्वरूप विगड़ जायगा। इसलिये वस्तुके नाशके भयसे यह मानना पड़ेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरणमें एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहां यह तात्पर्य समझना कि अनन्त भूत कालमें जितने कोई सिद्ध सुखके पात्र हो चुके हैं व भविष्यकालमें अपने ही उपादानसे सिद्ध व स्वयं अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतींद्रिय सिद्ध सुखके पात्र होवेंगे वे सब ही काल लब्धिके वशसे ही हुए हैं व होंगे, तो भी अपना परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप तथा वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यग्दर्शनकी ही मुख्यता है, न कि कालकी। इसलिये काल हेय है। जैसा कहा है-

बहुत क्या कहें जितने उत्तम पुरुष भूतकालमें सिद्ध हुए हैं व जो भव्य जीव भविष्य में सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शनकी महिमा जानो ॥ १४४ ॥

इस तरह निश्चयकालके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण " दव्वं जीवमजीवं " इत्यादि उन्नीस गाथाओंसे आठवें स्थलसे विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे शुद्ध जीवका अपने द्रव्य और भाव प्राणोंके साथ भेदके निमित्त " सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि यथाक्रमसे आठ गाथाओं तक सामान्य भेद भावनाका व्याख्यान करते हैं।

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः ।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥१४५॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः। एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः। अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥१४५॥

अब, इस प्रकार ज्ञेयत्वको कहकर, ज्ञान और ज्ञेयके विभाग द्वारा आत्माको निश्चित करते हुये, आत्माको अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुका विचार करते हैं:—

अन्वयार्थः—[सप्रदेशैः अर्थैः] सप्रदेश पदार्थोंके द्वारा [निष्ठितः] समाप्तिको प्राप्त [समग्रः लोकः] सम्पूर्ण लोक [नित्यः] नित्य है, [तं] उसे [यः जानाति] जो जानता है [जीवः] वह जीव है, [प्राणचतुष्काभिसंबद्धः] जो कि (संसार दशामें) चार प्राणोंसे संयुक्त है।

टीकाः—इस प्रकार जिन्हें प्रदेशका सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाशपदार्थसे लेकर काल पदार्थ तकके सभी पदार्थोंसे समाप्तिको प्राप्त जो समस्त लोक है, उसको वास्तवमें, उसमें अन्तर्भूत होनेपर भी, स्वपरको जाननेकी अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है,-इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयका विभाग है।

१ छह द्रव्योंसे ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोकमें दूसरा कुछ नहीं है।

अब, सहजरूपसे (स्वभावसे ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों कालमें अवस्थायित्व जिसका लक्षण है ऐसे वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होनेपर भी, संसारावस्थामें अनादिप्रवाहरूपसे प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेषके द्वारा स्वयं दूषित होनेसे इस जीवके चार प्राणोंसे संयुक्तता है, जो कि व्यवहारजीवत्वका हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ॥ १४५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका—

अतःपरं शुद्धजीवस्य द्रव्यभावप्राणैः सह भेदनिमित्तं "सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावनाव्याख्यानं करोति ।

अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मनः प्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

(लोगो) लोको भवति । कथंभूतः । (णिट्ठिदो) निष्ठितः समाप्तिं नीतो भृतो वा । कैः कर्तृभूतैः । (अट्ठेहिं) सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः । पुनरपि किंविशिष्टः । (सपदेसेहिं समग्गो) स्वकीयप्रदेशैः समग्रः परिपूर्णः । अथवा पदार्थैः कथंभूतैः । सप्रदेशैः प्रदेशसहितैः । पुनरपि किंविशिष्टो लोकः । (णिच्चो) द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः लोकाकाशापेक्षया वा । अथवा नित्यो न केनापि पुरुषविशेषेण कृतः (जो तं जाणदि) यः कर्ता तं ज्ञेयभूतलोकं जानाति (जीवो) स जीवपदार्थो भवति । एतावता किमुक्तं भवति योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीवः स ज्ञानं ज्ञेयश्च भण्यते । शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभागः । पुनरपि किंविशिष्टो जीवः । (पाणचउक्केण संबद्धो) यद्यपि निश्चयेन स्वतः-सिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीव इति तथा व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि सम्बद्धः सन् जीवति । तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्रायः ॥१४५॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान और ज्ञेयको बतानेके लिये तथा आत्माका चार प्राणोंके साथ भेद है इस भावनाके लिये यह सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—(णिच्चो) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य अथवा किसी पुरुषविशेषसे नहीं किया हुआ सदासे चला आया हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहिं समग्गो) अपने ही असंख्यात प्रदेशोंसे पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थको आदि लेकर अन्य पदार्थोंसे भरा हुआ है अथवा अपने अपने प्रदेशोंको रखनेवाले पदार्थोंसे भरा हुआ है (जो तं जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोकको जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा वह (पाणचतुक्काभिसंबद्धो) संसार अवस्थामें व्यवहारसे चार प्राणोंका सम्बन्ध रखता है ।

टीकार्थ—निश्चयसे यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है । शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही हैं इस तरह ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग है । तथा यद्यपि निश्चयसे

यह स्वयंसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि व्यवहारसे अनादिसे कर्मबन्धके वशसे आयु आदि अशुद्ध चार प्राणोंसे भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है। यह चार प्राणोंका सम्बन्ध शुद्ध निश्चयसे जीवका स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद भावना समझनी चाहिये यह अभिप्राय है ॥ १४५ ॥

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तथा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते ॥ १४६ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भवधारणनिमित्तमायुःप्राणः। उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः ॥ १४६ ॥

अब, प्राण कौनसे हैं, सो बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[इन्द्रिय प्राणः च] इन्द्रिय प्राण [तथा बलप्राणः] बलप्राण, [तथा च आयुप्राण [च] और [आनपानप्राणः] श्वासोच्छ्वास प्राण, [ते] यह (चार) [जीवानां] जीवोंके [प्राणाः] प्राण [भवन्ति] हैं।

टीकाः—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र,—यह पांच इन्द्रियप्राण हैं, काय, वचन, और मन,—यह तीन बलप्राण हैं, मनुष्यादि भव धारणका निमित्त आयुप्राण है, नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु (श्वास) स्वासोच्छ्वास प्राण है ॥ १४६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूपं प्रतिपादयति,—

अतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावादात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणः मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राणः, अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीतः साद्यन्त आयुःप्राणः, उच्छ्वासनिःश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राणः। एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवानां सम्बन्धिनश्चत्वारः प्राणा भवन्ति। ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति ॥१४६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि चार प्राणोंका स्वरूप कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थः—(इन्दिय पाणो) इन्द्रिय प्राण [य तथा] तथा (बलपाणो) बल प्राण (तह य) तैसे ही (आउपाणो) आयुप्राण (य) और (आणप्पाणप्पाणो) श्वासोश्वास प्राण (ते पाणा) ये प्राण (जीवाणं) जीवोंके (होंति) होते हैं।

विशेषार्थ—अतींद्रिय और अनन्त सुखके कारण न होनेसे इन्द्रिय प्राण आत्माके स्वभावसे विलक्षण हैं। मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित परमात्मा द्रव्यसे भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमई परमात्मा पदार्थसे विपरीत आदि और अंतसहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वासके पैदा होनेके खेदसे रहित शुद्धात्मतत्वसे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। इस तरह आयु, इन्द्रिय, बल, श्वोसोच्छ्वासके रूपसे व्यवहारनयसे जीवोंके चार प्राण होते हैं। ये प्राण शुद्ध निश्चयनयसे जीवसे भिन्न हैं, ऐसी भावना करनी योग्य है ॥ १४६ ॥

अथ त एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति,—

पंचवि इन्दियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥१४६॥
पंचापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचःकाया च त्रयो बलप्राणाः।
आनपानप्राणा आयुःप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥१४६-१॥

इन्द्रियप्राणः पञ्चविधः, त्रिधा बलप्राणः, पुनश्चैक आनपानप्राणः, आयुःप्राणः। इति भेदेन दश प्राणास्तेऽपि चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्रायः ॥१४६-१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद नयसे ये प्राण दस तरहके होते हैं:—

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इंद्रिय प्राण हैं। मन, वचन, काय ये तीन बल प्राण हैं। श्वासोश्वास तथा आयु प्राणको लेकर दश प्राण होते हैं। ये दसों प्राण चिदानन्दमई एक रूप परमात्मासे निश्चयसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ १४६ । १ ॥

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्।
स जीवः प्राणाः पुनः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः ॥१४७॥

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः। एवमनादिसं-

तानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न-जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यानिर्वृत्तत्वात् ॥१४७॥

अब, व्युत्पत्ति द्वारा प्राणोंको जीवत्वका हेतु और पौद्गलिकत्व सूत्र द्वारा कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः हि] जो [चतुर्भिः प्राणैः] चार प्राणोंसे [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जीवेगा, [जीवितः पूर्वं] और पहले जीता था, [सः जीवः] वह जीव है। [पुनः] और [प्राणाः] प्राण [पुद्गलद्रव्यैः निर्वृत्ताः] पुद्गल द्रव्योंसे निष्पन्न (रचित) हैं।

टीकाः—(व्युत्पत्ति के अनुसार) जो प्राणसामान्यसे जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है। इस प्रकार अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) प्रवृत्तिके कारण (संसार दशामें) त्रिकाल-स्थायी होन से प्राणसामान्य जीवके जीवत्वका हेतु है ही, तथापि वह उसका स्वभाव नहा है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यसे रचित है ॥ १४७ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ प्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्वं प्राणानां पुद्गलस्वरूपत्वं च निरूपयति,—

(पाणेहिं चदुहिं जीवदि) यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति (जीवस्सदि) जीविष्यति भाविकाले (जो हि जीविदो) यो हि स्फुटं जीवितः (पुव्व) पूर्वकाले (सो जीवो) स जीवो भवति (ते पाणा) ते पूर्वोक्ताः प्राणाः (पुग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता) उदयागतपुद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति। तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शन-सुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्त्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भावः ॥ १४७ ॥

उत्थानिका—आगे प्राण शब्दकी व्युत्पत्ति करके जीवका जीवपना और प्राणोंका पुद्गलस्वरूप-पना कहते हैं—

गाथार्थः—(जो हि) जो कोई वास्तवमें (चदुहिं पाणेहिं) चार प्राणोंसे (जीवदि) जीता है, (जीवस्सदि) जीवेगा व (पुव्व जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (पुण) तथा (पाणा) ये प्राण (पोग्गलदव्वेहि) पुद्गल द्रव्योंसे (णिव्वत्ता) रचे हुए हैं।

टीकार्थः—यद्यपि यह जीव निश्चय नयसे सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राणोंसे जीता है, जीता था तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनयसे यह संसारी जीव इस अनादि संसारमें जैसे वर्तमानमें द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणोंसे जीता है, ऐसे ही पहले जीता था व जबतक संसारमें है जीता रहेगा, क्योंकि ये अशुद्ध प्राण उदयप्राप्त पुद्गल कर्मोंसे रचे गए हैं इसलिये ये प्राण पुद्गल द्रव्यसे विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुण स्वभावधारी परमात्म-तत्त्व से भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है, यह भाव है ॥ १४७ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥

जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः ।
उपभुंजानः कर्मफलं बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥१४८॥

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥१४८

अब, प्राणोंकी पौद्गलिकता सिद्ध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[मोहादिकैः कर्मभिः] मोहादिक कर्मोंसे [बद्धः] बंधा हुआ होनेसे [जीवः] जीव [प्राणनिबद्धः] प्राणोंसे संयुक्त होता हुआ [कर्मफलं उपभुंजानः] कर्मफलको भोगता हुआ [अन्यैः कर्मभिः] अन्य (नवीन) कर्मोंसे [बध्यते] बन्धता है ।

टीका:—(१) क्योंकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बंधा हुआ होनेसे जीव प्राणोंसे संयुक्त होता है, और (क्योंकि) (२) प्राणोंसे संयुक्त होनेके कारण पौद्गलिक कर्मफलको भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बंधता है, इसलिये (१) पौद्गलिक कर्मके कार्य होनेसे, और (२) पौद्गलिक कर्मके कारण होनेसे प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ॥ १४८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ प्राणानां यत्पूर्वसूत्रोदितं पौद्गलिकत्वं तदेव दर्शयति,

(जीवो पाणणिबद्धो) जीवः कर्ता चतुर्भिःप्राणैर्निबद्धःसम्बद्धो भवति । कथंभूतः सन् । (बद्धो) शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षाद्विलक्षणैर्बंद्धः । कैर्बद्धः । (मोहादिएहिं कम्मेहिं) मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्धः सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति । तत एव ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मोदयजनिता इति । तथाविधः सन् किंकरोति । (उवभुंजदि कम्मफलं) परमसमाधिसमुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । (बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं) तत्कर्मफलमुपभुञ्जानः सन्नयं जीवः कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्मभिर्बध्यते । यतः कारणात्कर्मफलं भुञ्जानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गलकर्मणां कारणभूता इति ॥ १४८ ॥

उत्थानिका—आगे प्राण पौद्गलिक हैं, जैसा पहले कहा है उसी को दिखाते हैं—

गाथार्थ—(मोहादिएहिं कम्मेहिं) मोहनीय आदि कर्मोंसे (बद्धो) बंधा हुआ (जीवो) जीव (पाणणिबद्धो) चार प्राणोंसे सम्बन्ध करता है (कम्मफलं उवभुंजं) व कर्मोंके फलको भोगता हुआ (अण्णेहिं कम्मेहिं बज्झदि) अन्य नवीन कर्मोंसे बंध जाता है।

टीकार्थ—शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष आदि शुद्ध भावोंसे विलक्षण मोहनीय आदि आठ कर्मोंसे बंधा हुआ यह जीव इन्द्रिय आदि प्राणोंको पाता है। जिसके कर्मबन्ध नहीं होते उसके यह चार प्राण भी नहीं होते हैं, इसीसे यह जाना जाता है कि ये प्राण पुद्गल कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं तथा जो इन बाह्य प्राणोंको रखता है वही परम समाधिसे उत्पन्न जो नित्यानन्दमई एक सुखामृतका भोजन उसको न भोगता हुआ इन इंद्रियादि प्राणोंसे कड़वे विषके समान ही कर्मोंके फलरूप सुख दुःखको भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म-रहित आत्मासे विपरीत अन्य नवीन कर्मोंसे बंध जाता है, इसीसे जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्मके कारण भी हैं॥ १४८॥

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं॥१४९॥

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः॥१४९॥

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति। तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति। एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति॥१४९॥

अब, प्राणोंके पौद्गलिक कर्मका कारणत्व प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [सः जीवः] वह (प्राण-संयुक्त) जीव [मोहप्रद्वेषाभ्यां] मोह और द्वेषके द्वारा [जीवयोः] (स्व तथा पर) जीवोंके [प्राणाबाधं करोति] प्राणोंको बाधा पहुँचाते हैं, [हि] तो निश्चयसे [ज्ञानावरणादिकर्मभिः बंधः] ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बंध [भवति] होता है।

टीकाः—पहले तो प्राणोंसे जीव कर्मफलको भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेषको प्राप्त होता है, और उनसे स्वजीव तथा परजीवके प्राणोंको बाधा पहुँचाता है। वहां

कदाचित् दूसरेके द्रव्य प्राणोंको बाधा पहुचाकर और कदाचित् बाधा न पहुँचाकर, उपरक्तता (रागादिकरूप विकारिता) से (अवश्य ही) अपने भाव प्राणोंको बाधा पहुँचाता हुआ, जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंको बांधता है। इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारणत्वको प्राप्त होते हैं ॥ १४६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारणं भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति,—

(पाणाबाधं) आयुरादिप्राणानां बाधां पीडां (कुणदि) करोति । स कः । (जीवो) जीवः । काभ्यां कृत्वा । (मोहपदेसेहिं) सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्यां । मोहप्रद्वेषाभ्यां । केषां प्राणबाधां करोति ? (जीवाणं) एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । (जदि) यदि चेत् (सो हवदि बंधो) तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो (हि) स्फुटं बन्धो भवति । कैः कृत्वा । (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । ततो ज्ञायते प्राणा पुद्गलकर्मबन्धकारणं भवन्तीति ।

अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ॥ १४६ ॥

उत्थानिका—आगे प्राण नवीन कर्म पुद्गलके बन्धके कारण होते हैं, इसी ही पूर्वोक्त कथनको विशेषतासे कहते हैं:—

गाथार्थः—(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेषके कारण (जीवाणं पाणाबाधं) अपने और पर-जीवोंके प्राणोंको बाधा (कुणदि) पहुचाता है तब (हि) निश्चयसे इसके (सो बंधो) वह बन्ध (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे (हवदि) होता है।

टीकार्थ—जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपकसे मोहके अंधकारको विनाश करनेवाले परमात्मासे विपरीत मोहभाव और द्वेषभावसे परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणोंको घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवोंके भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणोंको पीड़ा पहुचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षसे विपरीत है तथा मूल और उत्तरप्रकृतियोंके भेदसे अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंधके कारण होते हैं।

यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरेको मारनेकी इच्छासे गर्म लोहेके पिंडको उठाता हुआ पहले अपनेको ही कष्ट दे लेता है फिर अन्यका घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है, तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहेके स्थानमें मोहादि परिणामोंसे परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राणको घातता है उसके पीछे दूसरेके प्राणोंका घात हो या न हो ऐसा कोई नियम नहीं है ॥ १४६ ॥

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥१५०॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेसु विषयेषु ॥१५०॥

येयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं, शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥१५०॥

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संतति (प्रवाह-परम्परा) की प्रवृत्तिका अन्तरंगहेतु सूत्र द्वारा कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[यावत्] जब तक [देहप्रधानेषु विषयेषु] देहप्रधान (देहादिक) विषयोंमें [ममत्वं] ममत्वको [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [कर्ममलीमसः आत्मा] तब तक कर्मसे मलीन आत्मा [पुनः पुनः] पुनः पुनः [अन्यान् प्राणान्] अन्य-अन्य प्राणोंको [धारयति] धारण करता है ॥१५०॥

टीकाः—जो यह आत्माकी पौद्गलिक प्राणोंकी संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंगहेतु शरीरादिका ममत्वरूप उपरक्तत्व है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्गलिक कर्म है ॥ १५० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरङ्गहेतुमुपदिशति,—

(आदाकम्ममलिमसो) अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति । तथाभूतः सन् किं करोति । (धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे) धारयति प्राणान् पुनःपुनः अन्यान्नवतरान् । यावत्किम ? (ण चयदि जाव ममत्तिं निस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां ममतां यावत्कालं न त्यजति । केषु विषयेषु ? (देहपधाणेसु विसयेसु) देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणतेः प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति । ततः स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरङ्गकारणमिति ॥ १५० ॥

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण उपदेश करते हैं—

गाथार्थ—(कम्ममलिमसो) कर्मोंसे मैला (आदा) आत्मा (पुणो पुणो) बार बार (अण्णे

पाणे) अन्य २ नवीन प्राणोंको (धारदि) धारण करता रहता है। (जाव) जब तक (देहपधाणेसु विसएसु) शरीर आदि विषयोंमें (ममत्तं ण जहदि) ममताको नहीं छोड़ता है।

टीकार्थ—जो आत्मा स्वभावसे भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्मरूपी मैलसे रहित होनेके कारण अत्यन्त निमल है तौ भी व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे मैला होरहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक वार वार इन आयु आदि प्राणोंको प्रत्येक शरीरमें नवीन नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इंद्रिय विषयोंसे रहित परम चैतन्यमई प्रकाशकी परिणतिसे विपरीत देह आदि पचेंद्रियोंके विपयोंमें स्नेह रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे विपरीत ममताको नहीं त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण देह आदिमें ममत्व करना ही है ॥ १५० ॥

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति ॥१५१॥

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयी भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः १५१

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अन्तरंग हेतु समझाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [इन्द्रियादिविजयीभूत्वा] इन्द्रियादिका विजयी होकर [उपयोगं आत्मकं] उपयोगमयी आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [सः] वह [कर्मभिः] कर्मोंके द्वारा [न रज्यते] रंजित नहीं होता, [तं] उसे [प्राणाः] प्राण [कथं] कैसे [अनुचरंति] अनुसरण कर सकते हैं ? (अर्थात् उससे प्राणोका संबंध नहीं होता।)

टीकाः—वास्तवमें पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अंतरङ्ग हेतु पौद्गलिक कर्म है मूल जिसका, ऐसी उपरक्तताका अभाव है। समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्योंके अनुसार परिणतिका विजयी होकर, (अनेक वर्णोंवाले) आश्रयानुसार होनेवाली सारी परिणतिसे

व्यावृत्त (पृथक्) हुये स्फटिक मणिकी भांति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मामें सुनिश्चलतया वसनेवाले (जीव) के वह (अभाव) होता है।

यहां यह तात्पर्य है कि—आत्माकी अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करनेके लिये व्यवहार जीवत्वके हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करने योग्य हैं॥ १५१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरविनाशकारणमावेदयति,—

(जो इन्दियादिविजई भवीय) यः कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसन्तोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन निःकषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन पञ्चेन्द्रियादिविजयीभूत्वा (उवओगमप्पगं झादि) केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति (कम्मेहिं सो ण रंजदि) कर्मभिश्चिच्चमत्कारादात्मनः प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभिः स न रज्यते न बध्यते। (किह तं पाणा अणुचरंति) कर्मबन्धाभावे सति तं पुरुषं प्राणाः कर्तारः कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति ? न कथमपीति। ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पञ्चेन्द्रियादिप्राणानां विनाशकारणमिति ॥१५१॥

"एवं सपदेसेहिं सम्मग्गो" इत्यादि गाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकारः समाप्तः।

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणोंके अन्तरंग नाशके कारणको प्रगट करते हैं—

गाथार्थः—(जो) जो कोइ (इंदियादि विजयी) इंद्रिय आदिका जीतनेवाला (भवीय) होकर (उवओगं) उपयोगमई (अप्पगं) आत्माको (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहिं) कर्मोंसे (ण रंजदि) लिप्त नहीं होता है अर्थात् नहीं बंधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीवको (अणुचरंति) आश्रय करेंगे ?।

टीकार्थः—जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतमें संतोषके बलसे जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभवके बलसे कषायको जीतने से पंचेन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमइ अपनी ही आत्माको ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमइ आत्माके गुणोंके विघ्न करनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे नहीं बंधता है। कर्मबंधके न होनेपर ये इन्द्रियादि द्रव्य-प्राण किसतरह उस जीवका आश्रय कर सकते हैं ? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसीसे जाना जाता है कि कषाय और इंद्रियके विषयोंका जीतना ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणोंके विनाशका कारण है १५१

इस तरह "एवं सपदेसेहिं सम्मग्गो" इत्यादि आठ गाथाओंसे सामान्य भेद भावनाका अधिकार समाप्त हुआ।

अथानंतर इक्यावन गाथा तक विशेष भेदकी भावनाका अधिकार कहा जाता है, यहां विशेष अन्तर अधिकार चार हैं। उन चारोंके बीचमें शुद्ध आदि तीन उपयोगकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओं तक पहला विशेष अन्तर अधिकार प्रारम्भ किया जाता है, उसमें चार स्थल हैं। पहले स्थलमें मनुष्यादि पर्यायोंके साथ शुद्धात्म स्वरूपका भिन्नपना बताने के लिये "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि यथाक्रमसे तीन

गाथाएं हैं। उसके पीछे उनके संयोगका कारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि दो गाथाएं हैं। फिर शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग तीनको सूचनाकी मुख्यता से "जो जाणादि जिणिंदे" इत्यादि गाथा तीन हैं। फिर मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है, ऐसा कहते हुए "णाहं देहो" इत्यादि तीन गाथाएं हैं। इस तरह ११ गाथाओंसे पहले विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ १५२॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादिप्रभेदैः ॥१५२॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥१५२॥

अब फिर भी, आत्माकी अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करनेके लिये, व्यवहार जीवत्वकी हेतुभूत गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायोंका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि] (अपने सहज स्वभावरूप) अस्तित्वसे निश्चित अर्थ (द्रव्य) का [अर्थान्तरे संभूतः] अन्य अर्थमें उत्पत्तिरूप [अर्थः] अर्थ (भाव) [पर्यायः] पर्याय है, [सः] वह (पर्याय) [संस्थानादिप्रभेदैः] संस्थानादि भेदों सहित है।

टीकाः—स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्वसे निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का, स्वलक्षणभूत स्वरूपअस्तित्वसे ही निश्चित, अन्य अर्थमें विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह वास्तवमें, जैसे पुद्गलकी अन्य पुद्गलात्मक पर्याय उत्पन्न होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार जीवकी, पुद्गलमें संस्थानादिसे विशिष्टतया (संस्थान इत्यादिके भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभवमें अवश्य आती है। और ऐसी पर्याय योग्य घटित है, क्योंकि केवल जीवकी व्यतिरेकमात्र अस्खलित एक द्रव्य पर्यायका अनेक द्रव्योंके संयोगात्मक भीतर अवभास (ज्ञान) होता है।

भावार्थः—यद्यपि प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है तथापि, जैसे पुद्‌गलकी अन्य पुद्‌गलके संबंधसे स्कन्धरूप पर्याय होती है उसी प्रकार जीवकी पुद्‌गलोंके संबंधसे देवादिक पर्याय होती है। जीवकी ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादिपर्याय अयुक्त नहीं है; क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्योंका संयोग होने पर भी, जीव कहीं पुद्‌गलोंके साथ एकरूप पर्याय नहीं करता, परन्तु वहां भी मात्र जीवकी (पुद्‌गलपर्यायसे भिन्न) अस्खलित (अपनेसे च्युत न होनेवाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ॥ १५२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथानन्तरमेकपञ्चाशद्‌गाथापर्यंन्तं विशेषभेदभावनाधिकारः कथ्यते। तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टयं भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं प्रथमविशेषान्तराधिकारः प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायैः सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। तदनन्तरं तेषां संयोगकारणं "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन "जो जाणादि जिणिंदे" इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं कायवाग्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण "णाहं देहो" इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभिः प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

तद्यथा—अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थं नरनारकादिपर्यायरूपं व्यवहारजीवत्वहेतुं दर्शयति,—

(अत्थित्तणिच्छिदस्स हि) चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञातस्य हि स्फुटं। कस्य ? (अत्थस्स) परमात्मपदार्थस्य (अत्थंतरम्मि) शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे (संभूदो) संजात उत्पन्नः (अत्थो) यो नरनारकादिरूपोऽर्थः। (पज्जाओ सो) निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृशः सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। स इत्थंभूतपर्यायो जीवस्य। कैः कृत्वा जातः। (संठाणादिप्पभेदेहिं) संस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणैः संस्थानसंहननशरीरादिप्रभेदैरिति ॥१५२॥

उत्थानिका—आगे फिर भी शुद्धात्माकी विशेष भेद भावनाके लिये नर नारक आदि पर्यायका स्वरूप जो व्यवहार जीवपनेका हेतु है दिखाते हैं:—

गाथार्थः—(अत्थित्तणिच्छिदस्स) अपने अस्तित्व कर निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थके (हि) निश्चयसे (अत्थंतरम्मि संभूदो) पुद्‌गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर नारक आदि विभाव पदार्थ है (सो वही (संठाणादिप्पभेदे हि) संस्थान आदिके भेदोंसे (पज्जायो) पर्याय है।

टीकार्थः चिदानन्दमई एक लक्षणरूप स्वरूप अस्तित्वसे निश्चित ज्ञानमई परमात्मा पदार्थरूप शुद्धात्मासे अन्य ज्ञानावरणादि कर्मोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ जो नर नारक आदिका स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदिसे रहित परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण संस्थान व संहनन आदिके द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभव लक्षणरूप स्वभाव व्यंजनपर्यायसे भिन्न विभाव व्यंजनपर्याय है ॥१५२॥

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मणः ॥१५३॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम्। ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥१५३॥

अब पर्यायके भेद बतलाते हैं:–

अन्वयार्थः–[नामकर्मणः उदयादिभिः] नामकर्मके उदयादिक के कारण (होनेवाली) [जीवानाम्] जीवोंकी [नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य-नारक-तिर्यंच-देवरूप [पर्यायाः] पर्यायें [संस्थानादिभिः] संस्थानादि के द्वारा [अन्यथा जाताः] अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।

टीकाः–नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव,–जीवोंकी पर्यायें हैं। नामकर्मरूप पुद्गलके विपाक के कारण अनेक द्रव्योंके संयोगात्मकपनेसे जैसे तुषकी अग्नि और अंगार इत्यादि अग्निकी पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारोंसे अन्य-अन्य प्रकारकी होती हैं, उसी प्रकार वे (जीवकी नारकादि पर्यायें) वास्तवमें संस्थानादिके द्वारा अन्यान्य प्रकारकी होती हैं ॥ १५३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति,—

(णरणारयतिरियसुरा) नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषाः। (संठाणादीहिं अण्णहा जादा) संस्थानादिभिरन्यथा जाताः, मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसंस्थानमौदारिकशरीरादिकं च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृशं संस्थानादिकं भवति। तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते। न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन। कस्मात् ? तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव स्वरूपं तदेव। (पज्जाया जीवाणं) ते च नरनारकादयो जीवानां विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते। कैः कृत्वा। (उदयादिहिं णामकम्मस्स) उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्यादृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति। यत एव ते कर्मोदयजनितास्ततो ज्ञायन्ते शुद्धात्मस्वरूपं न सम्भवन्तीति ॥१५३॥

उत्थानिका—आगे उन्हीं पर्यायके भेदोंको प्रगट करते बताते हैं—

गाथार्थ—(णामकम्मस्स उदयादु) नाम कर्मके उदयसे (हि) निश्चयसे (जीवाणं) संसारी

जीवोंकी (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तिर्यंच और देव (पज्जाया) पर्यायें (संठाणादीहिं) संस्थान आदिके द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्यायसे भिन्न अन्य २ रूप (जादा) उत्पन्न होती हैं।

टीकार्थ—निर्दोष परमात्मा शब्दसे कहने योग्य, नाम गोत्रादिसे रहित शुद्ध आत्मा द्रव्यसे भिन्न नाम कर्मके बन्ध, उदय, उदीरणा आदिके वशसे जीवोंका नर, नारक, तिर्यंच तथा देव रूप अवस्थाएं अर्थात् विभाव व्यञ्जन पर्यायें अपने भिन्न २ आकारोंसे भिन्न २ उपजती हैं। मनुष्य भवमें जो समचतुरस्रसंस्थान व औदारिकादि शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भवमें उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हर एक नए नए भवमें कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे अग्नि तृण, काष्ठ, पत्र आदिके आकारसे भिन्न २ आकारवाली हो जाती है तौ भी अग्निपनेके स्वभावको अग्नि नहीं छोड़ देती है। क्योंकि ये नरनारकादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे होती हैं, इससे ये शुद्धात्माका स्वभाव नहीं हैं ॥ १५३ ॥

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥१५४॥

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥१५४॥

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पादव्ययत्वेन च त्रितयी विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम्। तथाहि—यच्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः। यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः। नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः ॥१५४॥

अब, आत्माकी अन्य द्रव्यके साथ संयुक्तता होने पर भी, अर्थ-निश्चायक (स्वरूप) अस्तित्वको स्व-पर विभागके हेतु रूपसे समझाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [तं] उस (पूर्वोक्त) [सद्भावनिबद्धं] अस्तित्व निष्पन्न, [त्रिधा समाख्यातं] तीन प्रकारसे कथित, [सविकल्पं] भेदोंवाले [द्रव्यस्वभावं] द्रव्य स्वभावको [जानाति] जानता है, [सः] वह [अन्य द्रव्ये] अन्य द्रव्यमें [न मुह्यति] मोह को प्राप्त नहीं होता ॥१५४॥

टीकाः—जो, द्रव्यको निश्चित करनेवाला, स्वलक्षणभूत स्वरूपअस्तित्व कहा गया है। वह वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव ही है, क्योंकि द्रव्यका स्वभाव अस्तित्वसे निष्पन्न (अस्तित्वका बना हुआ) है। द्रव्यगुण-पर्याय रूपसे तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूपसे त्रयात्मक भेद-भूमिकामें आरूढ द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ, परद्रव्यमें मोहको दूर करके स्व-परके विभाग का हेतु होता है, इसलिये स्वरूपअस्तित्व ही स्व-परके विभागकी सिद्धिके लिये पद पद पर अवधारित करना (लक्ष्यमें लेना) चाहिये। वह इस प्रकार हैः—

(१) चेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य (२) चेतनाविशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और (चेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व), तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करनेवाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) चेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय, यह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तवमें यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गलसे ये भिन्न रहा।) और (१) अचेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य, (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और (३) अचेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय,—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करनेवाले अचेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और (२-३) अचेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय,-यह त्रयात्मकस्वरूप अस्तित्व जिस पुद्गलका स्वभाव है वह वास्तवमें (मुझसे) अन्य है। (इसलिये) मुझे मोह नहीं है, स्वपरका विभाग है ॥ १५४ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ स्वरूपास्तित्वलक्षणं परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोतीति प्रकाशयति,—

(जाणदि) जानाति (जो) यः कर्ता। कं। (तं) पूर्वोक्तं (दव्वसहावं) परमात्मद्रव्यस्वभावं। किं विशिष्टं (सब्भावणिबद्धं) स्वभावः स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीनं तन्मयं सद्भावनिबद्धम्। पुनरपि किं विशिष्टं। (तिहा समक्खादं) त्रिधा समाख्यातं कथितं। केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धत्वादिविशुद्धपर्यायास्तदुभयाधारभूतं परमात्मद्रव्यं

द्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मकं तथैव शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम् । पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावं । (सवियप्पं) सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदं । इत्थंभूतमात्मस्वभावं जानाति, (ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि) न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्वं देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः ॥१५४॥

एवं नरनारकादिपर्यायैः सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे यह प्रकाश करते हैं कि जो कोई अपने स्वरूपमें अस्तित्वको रखनेवाले परमात्मद्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोहको नहीं करता है—

गाथार्थ—(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभावमें तन्मय (तिहा समक्खादं) व तीन प्रकार कहे हुए (दव्वसहावं) द्रव्यके स्वभावको (सवियप्पं भेद सहित (जाणदि) जानता है (सो) वह (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्यमें (ण मुहदि) मोहित नहीं होता है ।

टीकार्थ—जो कोई परमात्म-द्रव्यके स्वभावको ऐसा जानता है कि यह अपने स्वरूप सत्तामें तन्मय रहता है तथा इसका स्वभाव तीन प्रकार कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान आदि गुण हैं, सिद्धत्व आदि विशुद्ध पर्यायें हैं तथा इन दोनोंका आधाररूप परमात्म द्रव्य है तैसे ही आत्मा शुद्ध उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप पूर्वोक्त स्वरूप अस्तित्वके साथ तीन रूप कहा गया है । तथा सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प पूर्वोक्त दर्शन गुण पर्याय द्रव्यसे भेद-सहित है । इनमें साकार ज्ञान व निराकार दर्शन है । वह भेदज्ञानी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मतत्वको जानता हुआ देह व रागादि परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है ॥ १५४ ॥

इस तरह नर नारक आदि पर्यायोंके साथ परमात्माका विशेष भेद कथन करते हुए पहले स्थल में तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ।

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥१५५॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥१५५॥

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात् । स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥१५५॥

अब आत्माको अत्यन्त विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके संयोगके कारणका स्वरूप कहते हैं

अन्वयार्थः—[आत्मा उपयोगात्मा] आत्मा उपयोगमयी है, [उपयोगः] उपयोग

[ज्ञानदर्शनं भणितः] ज्ञान-दर्शनरूप कहा गया है, [अपि] और [आत्मनः] आत्माका [सः उपयोगः] वह उपयोग [शुभः अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभः [भवति] होता है।

टीका—वास्तवमें आत्माका परद्रव्यके संयोगका कारण उपयोगविशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तवमें आत्माका स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी, (उपयोग चैतन्यका अनुसरण करके होने वाला) परिणाम है। और वह ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्यके साकार (विशेष) और (निराकार सामान्य) उभयरूपपना है। अब, यह उपयोग शुद्ध अशुद्ध पने से दो प्रकार विशेप है। उसमेंसे शुद्ध निरुपराग (निर्विकार) हैं, और अशुद्ध सोपराग (सविकार) है। वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ—दो प्रकारका है, क्योंकि उपराग विशुद्धि और संक्लेशरूपसे दो प्रकारका है। (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकारका है ॥ १५५ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथात्मनः पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते,—

(अप्पा) आत्मा भवति। कथंभूतः। (उवओगप्पा) चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा। (उवओगो णाणदंसणं भणिदो) स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनमिति भणितः। (सोवि सुहो) सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूपः शुभः (असुहो) विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः। वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः। (उवओगो अप्पणो हवदि) इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः सम्बन्धी भवतीत्यर्थः ॥१५५॥

उत्थानिका—पूर्वमें कहे प्रमाण आत्माका नर, नारक आदि पर्यायोंके साथ भिन्नताका ज्ञान तो हुआ, अब उनके संयोगका कारण कहते हैं—

गाथार्थः—(अप्पा) आत्मा (उवओगप्पा) उपयोग स्वरूप है, (उपयोगो) उपयोग (णाण-दंसणं) ज्ञानदर्शन (भणिदं) कहा गया है। (सो हि अप्पणो उवओगो) वही आत्माका उपयोग (सुहो वा असुहो) शुभ या अशुभ (हवदि) होता है।

टीकार्थः—चैतन्यके अनुसरण करनेवाला जो कोई परिणाम उसको उपयोग कहते हैं उस उपयोगमई यह आत्मा है। वह उपयोग विकल्प-सहित ज्ञान व विकल्प-रहित दर्शन होता है, ऐसा कहा गया है। वही ज्ञानदर्शनोपयोग जब धर्मानुरागरूप होता है तब शुभ है और जब विषयानुरागरूप होता है व द्वेष मोहरूप होता है तब अशुभ है। गाथामें वा शब्दसे शुभ अशुभ अनुरागसे रहित शुद्ध उपयोग भी होता है ऐसा तीन प्रकार आत्माका उपयोग होता है ॥ १५५ ॥

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥१५६॥

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति ।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥१५६॥

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः । पुण्यपापत्वेनापात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति । यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते । स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ॥१५६॥

अब यह बतलाते हैं कि इसमें कौनसा उपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है:—

अन्वयार्थः—[उपयोगः] उपयोग [यदि हि] यदि [शुभः] शुभ हो तो [जीवस्य] जीवके [पुण्यं] पुण्य [संचयं याति] संचयको प्राप्त होता है, [तथा वा अशुभः] और यदि अशुभ हो तो [पापं] पाप संचय होता है। [तयोः अभावे] उन (शुभाशुभ) दोनोंके अभावमें [चयः नास्ति] संचय नहीं होता ।

टीकाः—जीवका परद्रव्यके संयोगका कारण अशुद्ध उपयोग है । वह, विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपरागके कारण शुभ और अशुभरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता हुआ, पुण्य और पापरूपसे द्विविधताको प्राप्त जो परद्रव्य उसके संयोग बन्धके कारणरूप काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूपसे दो प्रकारका है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभ, अशुभके भेदसे दो प्रकारका है । उसमेंसे शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्यके संयोगका (बंधका) कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्यके संयोगका कारण होता है ।) किन्तु जब दोनों प्रकारके अशुद्धोपयोगका अभाव किया जाता है, तब वास्तवमें उपयोग शुद्ध ही रहता है, और वह परद्रव्यके संयोगका अकारण ही है । (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण नहीं है ।) ॥ १५६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथोपयोगस्तावन्नरकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणं भवति । तावदिदानीं कस्य कर्मणः क उपयोगः कारणं भवतीति विचारयति,—

(उवओगो जदि हि सुहो) उपयोगो यदि चेत् हि स्फुटं शुभो भवति । (पुण्णं जीवस्स संचयं जादि) तदा काले द्रव्यपुण्यं कर्तृ जीवस्य संचयमुपचयं वृद्धिं याति बध्यत इत्यर्थः । (असुहो वा तह पावं) अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद्द्रव्यपापं संचयं याति (तेसिमभावे ण चयमत्थि) तयोरभावे न चयोऽस्ति । निर्दोषि-निजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयोः शुभाशुभोपयोगयोरभावः क्रियते तदोभयः संचयः कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः ॥१५६॥

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर कहते हैं कि जब यह अशुद्ध उपयोग ही नरनारकादि पर्यायोंके कारण रूप परद्रव्यमई पुद्गलकर्मके बंधका कारण होता है तब किस कर्मका कौन उपयोग कारण है—

गाथार्थ—(हि) निश्चयसे (जदि) यदि (उवओगो) उपयोग (सुहो) शुभ हो तो (जीवस्स) इस जीवके (पुण्णं) पुण्य कर्म का (संचयं जादि) संचय होता है (वा) अथवा (असुहो) अशुभ हो (तव (पावं) पापका संचय होता है । (तेसिमभावे) इन शुभ अशुभ उपयोगोंके न होने पर (चयं) संचय (ण अत्थि) नहीं होता है ।

टीकार्थ—जब शुभ उपयोग होता है तब इस जीवके द्रव्य पुण्यकर्मका संचय, उपचय व वृद्धि व बन्ध होता है और जब अशुभोपयोग होता है तो द्रव्य पापका संचय होता है, इन दोनोंके अभाव में पुण्य पापका बंध नहीं होता है अर्थात् जब दोष-रहित निज परमात्माकी भावनारूपसे शुद्धोपयोगके बलके द्वारा दोनों ही शुभ अशुभ उपयोगोंका अभाव किया जाता है तब दोनों ही प्रकारके कर्मबंध नहीं होते हैं ॥ १५६ ॥

भावार्थ—स्वामी अमितिगति बड़े सामायिकपाठ में कहते हैं—

पूर्वं कर्म्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितं । विज्ञायेत्यशुभं निहंतु-मनसो ये पोपयंते तपः ॥
जायंते समसंयमैकनिधयस्ते दुर्ल्लभा योगिनो । ये तत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥ ९० ॥

अर्थ—पूर्वमें बांधा हुआ अशुभकर्म दुःख पैदा करता है जब कि शुभ कर्म सुख पैदा करता है, ऐसा जानकर जो इस अशुभको नाश करनेके भावसे तप करते हैं और समता तथा संयमरूप होजाते हैं ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं । परंतु जो पुण्य पाप दोनों ही प्रकारके कर्मोंके नाशमें लवलीन हैं उन योगियों की तो बात ही क्या कहनी ॥ १५६ ॥

इस तरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगका सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं समाप्त हुईं ।

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारान् ।
जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥१५७॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ॥१५७॥

अब शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [जिनेन्द्रान, सिद्धान् तथैव अनागारान्] अर्हन्तों, सिद्धों तथा अनगारों (आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओं) को [जानाति, पश्यति] जानता है और श्रद्धा करता है, [जीवेषु सानुकम्पः] और जीवोंके प्रति अनुकम्पायुक्त है, [तस्य] उसका [सः उपयोगः] वह उपयोग [शुभः] शुभ है ।

टीकाः—विशिष्ट क्षयोपशमदशामें रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलोंके अनुसार परिणतिमें लगा होनेसे शुभ उपराग का ग्रहण करनेसे, जो (उपयोग) परमभट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत, सिद्ध और साधुकी श्रद्धा करनेमें तथा समस्त जीवसमूहकी अनुकम्पाका आचरण करनेमें प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है ॥ १५७ ॥

श्री जयसेनाचाय कृत-टीका

अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूपं व्याख्याति,—

(जो जाणादि जिणिंदे) यः कर्त्ता जानाति । कान् ? अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितांश्च जिनेन्द्रान् (पेच्छदि सिद्धे) पश्यति । कान् ? ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितांश्च सिद्धान् (तहेव अणगारे) तथैवानागारान् । अनागारशब्दवाच्यान्निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणानाचार्योपाध्यायसाधून् । (जीवेसु साणुकंपो) त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्पः सदयः (उवओगो सो सुहो) स इत्थंभूत उपयोगः शुभो भण्यते । स च कस्य भवति । (तस्स) तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्रायः ॥१५७॥

उत्थानिका—आगे विशेष करके शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—(जो) जो जीव (जिणिंदे) जिनेन्द्रोंको (जाणादि) जानता है (सिद्धे) सिद्धोंको (पेच्छदि) देखता है । (तहेव) तैसे ही (अणगारे) साधुओंका दर्शन करता है (य) और (जीवे साणुकंपा) जीवोंपर दया भाव रखता है (तस्स) उस जीवका (सो उवओगो) वह उपयोग (सुहो) शुभ है ।

टीकार्थ—जो भव्यजीव अरहंतोंको ऐसा जानता है कि वे अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयके धारी हैं तथा

क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं तथा सिद्धोंको ऐसा देखता है कि वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित हैं तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंमें अंतर्भूत अनन्त गुण सहित हैं तैसे ही अनगार शब्दसे कहने योग्य निश्चय व्यवहार पंच आचार आदि शास्त्रोक्त लक्षणके धारी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंकी भक्ति करता है और त्रस स्थावर जीवोंकी दया पालता है उस जीवके ऐसा व इसी जातिका उपयोग शुभ कहा जाता है ॥ १५७ ॥

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥

विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ॥१५८॥

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ॥१५८॥

अब अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[यस्य उपयोगः] जिसका उपयोग [विषयकषायावगाढः] विषय कषायमें अवगाढ (मग्न) है, [दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः] कुश्रुति, कुविचार और कुसंगतिमें लगा हुआ है, [उग्रः] (कषायों की तीव्रतामें अथवा पापोंमें उद्यत) है तथा [उन्मार्गपरः] उन्मार्ग में लगा हुआ है, [सः अशुभः] उसका वह उपयोग अशुभ है ।

टीकाः—विशिष्ट उदयदशा में रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलोंके अनुसार परिणतिमें लगा होनेसे अशुभोपरागके ग्रहण करनेसे, जो (उपयोग) परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत सिद्ध और साधुको छोड़कर अन्य-उन्मार्गकी श्रद्धा करनमें तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंगति और उग्रताका आचरण करनेमें प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है ॥ १५८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथाशुभोपयोगस्वरूपं निरूपयति,—

(विसयकसाओगाढो) विषयकषायावगाढः (दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो) दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः

(उग्गो) उग्रः (उम्मग्गपरो) उन्मार्गपरः (उवओगो) एवं विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोगः परिणामः (जस्स) यस्य जीवस्य भवति (सो असुहो) स उपयोगस्त्वशुभोपयोगो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा ।

तथाहि—विषयकषायरहितशुद्धचैतन्यपरिणतेः प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणतः। शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः सुश्रुतिस्तद्विलक्षणा दुःश्रुतिः मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा । निश्चिन्तात्मध्यानपरिणतं सुचित्तं तद्विनाशकं दुश्चित्तम्, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणतं रागाद्यपध्यानं वा । परमचैतन्यपरिणतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी तत्प्रतिपक्षभूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा । इत्थंभूतं दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठि-युक्तः परमोपशमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूलः उग्रः वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाद्विलक्षण उन्मार्गपरः । इत्थंभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोगः परिणामः । तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थः ॥१५८

उत्थानिका—आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—(जस्स) जिस जीवका (उवओगो) उपयोग (विसयकसाओगाढो) विषयोंकी और कषायोंकी तीव्रतासे भरा हुआ है (दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो) खोटे शास्त्र पढ़ने सुनने, खोटा विचार करने व खोटी संगतिमई वार्तालापमें लगा हुआ है, (उग्गो) हिंसादिमें उद्यमी दुष्ट रूप है, (उम्मग्गपरो) तथा मिथ्यामार्ग में तत्पर है, ऐसे चार विशेषण सहित है (सो असुहो) सो अशुभ है ।

टीकार्थः—जो विषय कषाय-रहित शुद्ध चैतन्यकी परिणतिसे विरुद्ध विषय कषायोंमें परिणमन करनेवाला है उसे विषय कषायावगाढ़ कहते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वको उपदेश करनेवाले शास्त्रको सुश्रुति कहते हैं उससे विलक्षण मिथ्या शास्त्रको दुःश्रुति कहते हैं। निश्चिन्त होकर आत्मध्यानमें परिणमन करने वाले मनको सुचित्त कहते हैं। व्यर्थ वा अपने और दूसरेके लिये इष्ट कामभोगोंकी चिंतामें लगे हुए रागादि अपध्यानको दुश्चित्त कहते हैं, परम चैतन्य परिणतिको उत्पन्न करनेवाली शुभ गोष्ठी है या संगति है उससे उल्टी कुशील या खोटे पुरुषोंके साथ गोष्ठी करना दुष्ट गोष्ठी है । इस तरह तीन रूप जो वर्तन करता है उसे दुःश्रुति, दुश्चित्त, दुष्टगोष्ठीसे युक्त कहते हैं। परम उपशम भावमें परिणमन करनेवाले परम चैतन्य स्वभावसे उल्टे भावको जो हिंसादिमें लीन है उग्र कहते हैं, वीतराग सर्वज्ञ कथित निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गसे विलक्षण भावको उन्मार्गमें लीन कहते हैं, इस तरह चार विशेषण सहित परिणामको व ऐसे परिणामोंमें परिणत होनेवाले जीवको अशुभोपयोग कहते हैं ॥ १५८ ॥

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥१५९॥

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥१५९॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रो-

दयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेष सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि । एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा शुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ।

अब, परद्रव्यके संयोगके कारण (अशुद्धोपयोग) के विनाशका अभ्यास बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[अन्यद्रव्ये] अन्य द्रव्यमें [मध्यस्थः] मध्यस्थ [भवन्] होता हुआ [अहम्] मैं [अशुभोपयोगरहितः] अशुभोपयोग रहित होता हुआ, (तथा) [शुभोपयुक्तः न] शुभोपयुक्त न होता हुआ [ज्ञानात्मकम्] ज्ञान [आत्मकं] आत्माको [ध्यायामि] ध्याता हूँ ।

टीकाः— जो यह (१५६ वीं गाथामें) परद्रव्यके संयोगके कारणरूपसे कहा गया अशुद्धोपयोग है वह वास्तवमें मन्द-तीव्र उदयदशामें रहनेवाले परद्रव्यानुसार (द्रव्यकर्म अनुसार) परिणतिके अधीन होनेसे ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारणसे नहीं । इसलिये यह मैं समस्त परद्रव्य (सुख-दुःख अथवा रागद्वेष आदि औदयिक भाव) मे मध्यस्थ होता हूँ । इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ, परद्रव्यानुसार परिणतिके अधीन न होनेसे शुभ अथवा अशुभरूप अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणतिको ग्रहण करनेसे जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसा मैं उपयोगरूप-निजस्वरूपके द्वारा आत्मामें ही सदा निश्चलतया उपयुक्त रहता हूँ । यह मेरा परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास है १५९.

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगं प्ररूपयति,—

(असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोगरहितो भवामि । स कः (अहं) कर्ता । पुनरपि कथंभूतः । (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोगयुक्तः परिणतो न भवामि । क विषयेऽसौ शुभोपयोगः (अण्णदवियम्हि) निजपरमात्मद्रव्यादन्यद्रव्ये । तर्हि कथंभूतो भवामि । (होज्जं मज्झत्थो) जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविषये मध्यस्थो भवामि । इत्थंभूतः सन् किं करोमि । (णाणप्पगमप्पगं झाए) ज्ञानात्मकमात्मानं ध्यायामि । ज्ञानेन निर्वृत्तज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूतसमस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोगलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे शुभ अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगको वर्णन करते हैं —

गाथार्थः—(अहं) मैं (असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोगसे रहित होता हूं। (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोगमें भी परिणमन नहीं करता हूं तथा (अण्णदवियम्मि) निज परमात्मा सिवाय अन्य द्रव्यमें तथा जीवन मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें (मज्झत्थो होज्जं) मध्यस्थ होता हुआ (णाणप्पगं) ज्ञानस्वरूप (अप्पणं) आत्माको (झाए) ध्याता हूं।

टीकार्थः—अशुभोपयोग तथा शुभोपयोगमें परिणमन न करके वीतरागी होकर ज्ञानसे निर्मित ज्ञानस्वरूप तथा उस केवलज्ञानमें अंतर्भूत अनंतगुणमई अपनी आत्माको शुद्ध ध्यानके विरोधी सर्व मनो रथरूप चिंताजालको त्यागकर ध्याता हूँ। यह शुद्धोपयोगका लक्षण जानना चाहिये॥ १५९ ॥

इस प्रकार शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग का वर्णन करनेवाली तीसरे स्थलमें तीन गाथा हुई।

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थ्यं प्रकटयति—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम्।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥१६०॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथाहि—न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवंति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥१६०॥

अब, शरीरादि परद्रव्यके प्रति भी मध्यस्थता प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अहं न देहः] मैं न देह हूं, [न मनः] न मन हूं, [च] और [न वाणी एव] न वाणी ही हूं, [तेषां कारणं न] उनका (उपादान) कारण नहीं हूं [कर्ता न] कर्ता नहीं हूं, [कारयिता न] कराने वाला नहीं हूँ, [कर्तृणां अनुमन्ता न एव] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूं।

टीकाः—मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यरूपसे समझता हूं, इसलिये उनमें मेरा कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूं। यथाः—

वास्तवमें मैं शरीर-वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूं, मेरे स्वरूपाधार (हुवे) विना भी, वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

मैं शरीर-वाणी तथा मनका (उपादान) कारण अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मेरे कारण (हुवे) विना भी, वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका (उपादान) कर्ता अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मेरे कर्ता (हुये) विना भी, वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका (उपादान) कारक (कर्ता) जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूं। मेरे कारक प्रयोजक (हुये) विना भी (अर्थात् मेरे उनके कर्ताका प्रयोजक, उनके कराने वाला हुये विना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्ताके प्रयोजकत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका (उपादान) कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूं। मेरे कारक- अनुमोदक (हुवे) विना भी (उनके कर्ताका अनुमोदक हुये विना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं॥ १६०॥

श्री जयसेनाचार्य कृत—टीका

अथ देहमनोवचनविषयेऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्योतयति;—

(णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी) नाहं देहो न मनो न चैव वाणी। मनोवचनकायव्यापाररहितात्पर-

मात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। (ण कारणं तेसिं) न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाल्हादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गलपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। (कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं) कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥१६०॥

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन और मनके सम्बन्धमें मध्यस्थभावको झलकाते हैं—

गाथार्थः—(अहं देहो ण) मैं शरीर नहीं हूं (ण मणो) न मन हूँ (ण चेव वाणी) और न वचन ही हूँ (ण तेसिं कारणं) न इन मन वचन कायका उपादान कारण हूं (ण कत्ता) न मैं इनका करनेवाला हूँ (ण कारयिदा) न करानेवाला हूँ (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करनेवालोंकी अनुमोदना करता हूं।

टीकार्थ—मन, वचन. कायके व्यापारसे रहित, परमात्म द्रव्यसे भिन्न जो मन, वचन, काय तीन हैं, मैं निश्चयसे इन रूप नहीं हूँ इसलिये इनका पक्ष छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ। विकार-रहित परम आनन्दमई एक लक्षणरूप सुखामृतमें परिणति होना उसका जो उपादान कारण आत्मद्रव्य उसरूप मैं हूँ। आत्म-द्रव्य से विलक्षण मन वचन कायोंका उपादान कारण पुद्गल पिंड है, मैं नहीं हूँ। इस कारणसे उनके कारणका भी पक्ष छोड़कर मध्यस्थ होता हूँ। मैं अपने ही शुद्धात्माकी भावनाके सम्बन्धमें कर्ता, करानेवाला तथा अनुमोदना करनेवाला हूँ परंतु उससे विलक्षण मन वचन कायके सबंधमें कर्ता, करानेवाला, तथा अनुमोदना करनेवाला नहीं हूं। इसलिये इसका पक्ष भी छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ होता हूं ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥१६१॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात्। पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः। अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥१६१॥

अब शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यत्व निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गल द्रव्यात्मकाः] पुद्गल द्रव्यरूप हैं, [इति निर्दिष्टाः] ऐसा (वीतरागदेवने) कहा है [अपि पुनः] और [पुद्गल द्रव्यं] वह पुद्गल द्रव्य [परमाणुद्रव्याणां पिण्डः] परमाणुद्रव्योंका पिण्ड है।

टीकाः—शरीर वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यात्मक हैं। उनके पुद्गलद्रव्यत्व है, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वमें निश्चित हैं। उस प्रकारका पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुओंका एक पिण्ड पर्यायरूपसे परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्योंके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व रूक्षत्वकृत बंध परिणामकी अपेक्षासे एकत्वरूप अवभासित होते हैं। १६१॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ कायवाङ्मनसां शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति,—

(देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा) देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः। कस्मात्। व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेऽपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात्। पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते। (पुग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं) पुद्गलद्रव्यं हि स्फुटं पुनः पिण्डः समूहो भवति। केषां। परमाणुद्रव्याणामित्यर्थः ॥१६१॥

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन तथा मनको शुद्धात्माके स्वरूपसे भिन्न परद्रव्यरूप स्थापित करते हैं—

गाथार्थः—(देहो य मणो वाणी) शरीर, मन और वचन (पोग्गलदव्वप्पगत्ति) ये तीनों ही पुद्गल द्रव्यमई (णिद्दिट्ठा) कहे गए हैं। (पुणो) तथा (पोग्गलदव्वं पि) पुद्गल द्रव्य भी (परमाणुदव्वाणं पिण्डो) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्योंका समूहरूप स्कंध है।

टीकार्थ—जीवके साथ इन मन वचन कायकी एकता व्यवहार नयसे माने जानेपर भी निश्चयनयसे ये तीनों ही परम चैतन्यरूप प्रकाशको परिणतिसे भिन्न हैं। वास्तवमें ये परमाणुरूप पुद्गलोंके बने हुए स्कन्धरूप वर्गणाओंसे बनकर पुद्गलद्रव्यमई ही हैं॥ १६१ ॥

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ १६२ ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम्।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ १६२ ॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न

तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात् । न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोगकद्वारेण कर्तानुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥ १६२ ॥

अब आत्माके परद्रव्यत्वका अभाव और परद्रव्यके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं:–

अन्वयार्थः—[अहं पुद्गलमयः न] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ, और [ते पुद्गलाः] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्डं न कृताः] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [तस्मात् हि] इसलिये [अहं न देहः] मैं देह नहीं हूं, [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देहका कर्ता नहीं हूँ ।

टीकाः—प्रथम तो जो यह प्रकरणसे निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है,–जिसके भीतर वाणी और मनका समावेश होजाता है, वह मैं नहीं हूं. क्योंकि मुझ अपुद्गलात्मकका पुद्गलात्मक शरीररूप होनेमें विरोध है । उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता भी मैं नहीं हूं, क्योंकि मैं अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामका अकर्ता हूं, (इसलिये) मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीरके कर्तापनेका सर्वथा विरोध है

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति;—

(णाहं पुग्गलमइओ) नाहं पुद्गलमयः (ण ते मया पुग्गला कया पिंडा) न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः (तम्हा हि ण देहोऽहं) तस्माद्देहो न भवाम्यहं हि स्फुटं (कत्ता वा तस्स देहस्स) कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति । अयमत्रार्थः–देहोऽहं न भवामि । कस्मात् ? अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्त्ता वा न भवामि तस्य देहस्य । तदपि कस्मात् ? निःक्रियपरमचिज्ज्योतिः–परिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति ॥ १६२ ॥

एवं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेणच तुर्यस्थले गाथात्रयं गतम् ।

इति पूर्वोक्तप्रकारेण "अत्थित्तणिस्सदस्स हि" इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो 'विशेषान्तराधिकारः' समाप्तः ।

उत्थानिका—आगे फिर दिखाते हैं कि इस आत्माके जैसे शरीररूप पर द्रव्यका अभाव है वैसे उसके कर्तापनेका भी अभाव है ।

गाथार्थः—(णाहं पोग्गलमइयो) मैं पुद्गल–मई नहीं हूँ (ते पोग्गला पिंडं मया ण कया) तथा वे पुद्गलके पिंड जिनसे मन वचन काय बनत हैं, मेरेसे बनाए हुए नहीं हैं (तम्हा) इसलिये (हि)

निश्चयसे (अहं देहो ण) मैं शरीररूप नहीं हूँ (वा तस्स देसस्स कत्ता) और न उस देहका बनाने वाला हूं।

टीकार्थः—मैं शरीर नहीं हूं क्योंकि मैं असलमें शरीर रहित सहज ही शुद्ध चैतन्यकी परिणति को रखने वाला हूँ इससे मेरा और शरीरका विरोध है। और न मैं इस शरीरका कर्ता हूँ क्योंकि मैं क्रिया-रहित परम चैतन्य ज्योतिरूप परिणतिका ही कर्ता हूँ, मेरा कर्तापना देहके कर्तापनसे विरोधरूप है ॥ १६२॥

इस तरह मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है, ऐसा कथन करते हुए चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "अस्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे चौथे स्थलमें प्रथम विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ १६३ ॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ १६३ ॥

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्। तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः। अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥ १६३ ॥

अब इस संदेहको दूर करते हैं कि "परमाणुद्रव्योंकी पिण्ड पर्यायरूप परिणति कैसे होती है? :—

अन्वयार्थः—[परमाणुः] परमाणु [यः अप्रदेशः] जो कि अप्रदेशी (बहु प्रदेशी नहीं) है, [प्रदेशमात्रः] प्रदेशमात्र है, [च] और [स्वयं अशब्दः] स्वयं अशब्द है, [स्निग्धः वा रूक्षः वा] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति] द्विप्रदेशादित्वका अनुभव करता है (अर्थात् द्व्यणुक आदि स्कंधोंरूप परिणत होता है)।

टीकाः—वास्तवमें परमाणु द्विआदि (दो-तीन आदि) प्रदेशोंके अभावके कारण अप्रदेशी है, एक प्रदेशके सद्भावके कारण प्रदेशमात्र है, और स्वयं, अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्यायरूप प्रगट होनेको संभव न होनेसे, अशब्द है। क्योंकि (वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श, पांच रस, दो गंध और पांच वर्णोंके सद्भावके कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिये ही उसके पिण्ड पर्याय-परिणतिरूप द्विप्रदेशादित्वकी अनुभूति होती है। इस प्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डत्वका कारण है ॥ १६३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ केवलपुद्गलमुख्यत्वेन नवगाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र स्थलद्वयं भवति । परमाणूनां परस्परबन्ध-कथनार्थं "अपदेसो परमाणू" इत्यादि प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन "दुपदेसादी खंधा" इत्यादिद्वितीयस्थले गाथापञ्चकम् । एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;—

(अपदेसो) अप्रदेशः । स कः । (परमाणू) पुद्गलपरमाणुः । पुनरपि कथंभूतः । (पदेसमेत्तो य) द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च । पुनश्च किं रूपः । (सयमसद्दो य) स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः । एवं विशेषणत्रयविशिष्टः । सन् (णिद्धो वा लुक्खो वा) स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात् । (दुपदेसादित्तमणुभवदि) द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति । तथा—यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति । तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः ॥१६३॥

अब केवल पुद्गलकी मुख्यतासे नव (९) गाथा तक व्याख्यान करते हैं। इसमें दो स्थल हैं। परमाणुओंमें परस्पर बंध होता है इस बातके कहने के लिये "अपदेसो परमाणू" इत्यादि पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं। फिर स्कंधोंके बंधकी मुख्यतासे "दुपदेसादी खंधा" इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथा पांच हैं। इस तरह दूसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—यदि आत्मा पुद्गलोंको पिंडरूप नहीं करता है तो किस तरह पिंडकी पर्याय होती है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

गाथार्थः—(परमाणू) पुद्गलका अविभागी अखंड परमाणु (जो अपदेसो) जो बहुत प्रदेशों से रहित है (पदेसमत्तो य) एक प्रदेशमात्र है और सयमसद्दो) स्वयं व्यक्तरूपसे शब्द पर्यायसे रहित है (णिद्धो वा लुक्खो वा) स्निग्ध होता है या रूक्ष होता है, इस कारणसे (दुपदेसादित्तं) दो प्रदेशों के व अनेक प्रदेशोंके मिलनेसे बंध अवस्थाको (अणुहवदि) अनुभव करता है।

टीकार्थः जैसे यह आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूपसे बंधरहित है ता भी अनादिकालसे अशुद्ध निश्चयनयसे स्निग्धके स्थानमें रागभावसे और रूक्षके स्थानमें द्वेषभावसे जब जब परिणमन करता है तब तब परमागममें कहे प्रमाण बन्धको प्राप्त करता है, तैसे ही परमाणु भी स्वभावसे बंध रहित होने पर भी जब जब बन्धके कारणभूत स्निग्ध रूक्ष गुणसे परिणत होता है तब तब दूसरे पुद्गल परमाणुसे विभाव पर्यायरूप बन्धको प्राप्त होजाता है ॥ १६३ ॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ १६४ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम्।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ १६४ ॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात्। ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं, चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापिस्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥ १६४ ॥

अब यह बतलाते हैं कि परमाणुके वह स्निग्ध रूक्षत्व किस प्रकारका होता है:—

अन्वयार्थ:—[अणोः] परमाणुके [परिणामात्] परिणमनके कारण [एकादि] एक (अविभागी प्रतिच्छेद) से लेकर [एकोत्तरं] एक-एक बढ़ते हुये [यावत्] जब तक [अनन्तत्वम् अनुभवति] अनन्तत्वको (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदत्वको) प्राप्त हो, तब तक [स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं] स्निग्धत्व अथवा रुक्षत्व होता है, ऐसा [भणितम्] (जिनेन्द्रदेवने कहा हैं।

टीका:—प्रथम तो परमाणुके परिणमन होता है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव होनेसे, उसका (परिणमन का) उल्लंघन नहीं किया जासकता। उस परिणमनके कारण जो क्षणिक विविधता धारण करता है ऐसा, एकसे लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभागीप्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणुके होता है, क्योंकि परमाणु अनेक प्रकारके गुणोंवाला है ॥ १६४ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति;—

(एगुत्तरमेगादी) एकोत्तरमेकादि। किं। (णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं) स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नं (भणिदं) भणितं कथितम। किं पर्यन्तम्? (जाव अणंतत्तमणुभवदि) अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति। कस्मात्सकाशात् (परिणामादो) परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थः। कस्य सम्बन्धि? (अणुस्स) अणोः पुद्गलपरमाणोः। तथाहि–यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीयं रागित्वं रूक्षस्थानीयं द्वेषत्वं बन्धकारणभूतं जघन्यविशुद्धसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धसंक्लेशपर्यन्तं वर्द्धते। तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्व च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसंज्ञाजघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभागपरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्द्धते। किं पर्यन्तं। यावदनन्तसंख्यानम्। कस्मात्? पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात् परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥१६४॥

उत्थानिका—आगे वे स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरह हैं ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं:—

गाथार्थ:—(अणुस्स) परमाणु का (णिद्धत्तणं वा लुक्खत्तं) चिकनापना या रूखापना (एगादी) एक अंशको आदि लेकर (एगुत्तरम्) एक एक बढ़ता हुआ (परिणामादो) परिणमन शक्तिके विशेषसे

(जाव अणंतत्तं) अनंतपने तक (अणुहवदि) अनुभव करता है। ऐसा (भणिदं) कहा गया है।

टीकार्थः—जैसे जल, बकरीका दूध, गायका दूध, भैंसका दूध एक दूसरेसे अधिक २ चिकनाई को रखता है, इसी तरह यह संसारी जीव चिक्नाईके स्थानमें रागपनेको, रूखेपनेके स्थानमें द्वेषपनेको बन्धके कारणभूत जघन्य विशुद्ध या संक्लेश भावको आदि लेकर परमागममें कहे प्रमाण उत्कृष्ट विशुद्ध या संक्लेश भाव पर्यंत क्रमसे बढना हुआ रखता है। इसी तरह पुद्गल परमाणु द्रव्य भी पूर्वमें कहे हुए जल दूध आदिकी बढती हुई शक्तिके दृष्टान्तसे एक गुण नामकी जघन्य शक्तिको आदि लेकर क्रमसे गुण नामसे प्रसिद्ध अविभाग परिच्छेदोंकी शक्तिसे बढता हुआ अनन्तगुणतक चला जाता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है परिणामोंका होना वस्तुका स्वभाव है सो कोई मेटनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव परिणमनशील है तथापि उस परिणमन में कालद्रव्य सहकारी कारण है ॥ १६४ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा वा विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥१६५॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ १६५ ॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः। एकगुणस्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ॥ १६५ ॥

अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्वसे पिण्डता होती है:—

अन्वयार्थः—[अणु परिणामाः] परमाणु-परिणाम [स्निग्धाः वा रूक्षाः वा] स्निग्ध हों या रूक्ष हों [समाः वा विषमाः वा] सम (अंशवाले, २, ४, ६ आदि) हों, या विषम (अंशवाले, ३-५-७ आदि) हों [आदि-परिहीनाः] जघन्य अर्थात् एक अंश वालेको छोड़कर, [यदि समतः द्व्यधिकाः] यदि समानसे दो अधिक अंशवाले हों तो [बध्यन्ते हि] बंधते हैं।

टीकाः—समानसे दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्वकी द्विगुणाधिकताके, निश्चयसे परिणामकपना होनेसे (परिणमन करानेवाला होने से), बंधका कारणपना है

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता, यह अपवाद है, क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्वके परिणम्य-परिणामकताका (परिणम्य-जो परिणमित होता है, परिणामक-जो परिणमन कराता है, दोनोंका) अभाव होनेसे, बंधके कारणत्वका अभाव है १६५

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति;—

(बज्झंति हि) बध्यन्ते हि स्फुटं। के। कर्मतापन्नाः (अणुपरिणामा) अणुपरिणामाः अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। कथंभूताः। (णिद्धा वा लुक्खा वा) स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा। पुनरपि किं विशिष्टाः (समा व विसमा वा) द्विशक्तिचतुःशक्तिषट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा। त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा। पुनश्च किं रूपाः। (समदो दुराधिगा जदि) समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका यदि चेत्। कथं द्विगुणाधिकत्वमितिचेत्? एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत् एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति सः चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति। तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन सह बन्धो भवतीति। तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तौ तिष्ठतस्तावत्, तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणोः शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पञ्चगुणत्वं भवति। तेन पञ्चगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति। एवं द्वयोर्द्वयोः स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा समयो विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थः, किन्तु विशेषोऽस्ति। (आदिपरिहीणा) आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते ताभ्यां विहीना, आदि परिहीना बध्यन्ते।

किञ्च-परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे, बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः ॥१६५॥

उत्थानिका—अब यहां प्रश्न करते हैं कि किस प्रकारके चिकने रूखे गुणसे पुद्गलका पिंड बनता है ? इसीका समाधान करते हैं-

गाथार्थः—(अणुपरिणामा) परमाणुके पर्याय भेद (णिद्धा वा लुक्खा वा) स्निग्ध हों या रूक्ष हों (समा वा) दो, चार, छः आदिकी गणनासे समान हों (विसमा वा) वा तीन, पांच, सात नव आदिकी गणनासे विषम हों (जदि) जो (हि) निश्चयसे (आदिपरिहीणा) जघन्य अंशसे रहित हों (समदो) तथा गिनतीकी समानतासे (दुराधिका) दो अधिक अंशमें हों तो (वज्झन्ति) परस्पर बंध जाते हैं।

टीकार्थः—पुद्गलके परमाणु रूक्ष हों या स्निग्ध गुणमें परिणत हों तथा सम हों या विषम हों, दो गुणांश अधिक होनेपर परस्पर बंध जाते हैं। दो गुण अधिकपनेका भाव यह है कि मानलो एक दो अंशवाला है इतने हीमें परिणमन करते हुए एक किसी दो अंशवाले परमाणुमें दो अंश अधिक होगए तब वह परमाणु चार अंशरूप शक्तिमे परिणमन करनेवाला होजाता है। इस चार गुणवाले परमाणुका पूर्वमें कहे हुए किसी दो अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजायगा तैसे ही दो परमाणु तीन तीन अंश शक्तिधारी हैं उनमेंसे एक तीन अंश शक्ति रखनेवाले परमाणुमें मानलो परिणमन होनेसे दो शक्तिके अंश अधिक होनेसे वह परमाणु पांच अंशवाला होगया। इस पंच अंशवालेका पहले कहे हुए किसी

तीन अंशवाले परमाणुमे वंध होजावेगा। इस तरह दो अंशधारी चिकने परमाणुका दूसरे दो अधिक अंशवाले चिकने परमाणुके साथ या दो अंशवाले रूखेका दो अधिक अंशवाले रूखेके साथ, वा दो अंशवाले चिकनेका दो अंशअधिकवाले रूखे परमाणुके साथ बंध होजावेगा। इसी तरह समका या विषमका बंध दो अंशकी अधिकता होनेपर ही होगा। जो परमाणु जघन्य चिकनाईको जैसे जलमें मान ली जावे या जघन्य रूखेपनेको जैसे बालूकणमें मान लीजावे, रखता होगा उनका बंध उस दशामें किसी भी परमाणुसे नहीं होगा।

यहां यह भाव है कि जैसे परमचैतन्यभावमें परिणतिको रखनेवाले परमात्माके स्वरूपकी भावनामई धर्मध्यान या शुक्ल ध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनाईकी शक्तिके समान सब राग क्षय हो जाता है या जघन्य रूखेपनेकी शक्तिके समान सब द्वेष क्षय होजाता है तब जैसे जलका और बालूका बंध नहीं होता वैसे जीवका कर्मोंसे बंध नहीं होता। वैसे ही जघन्य, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीसे बंध नहीं होगा, यह अभिप्राय है ॥ १६५ ॥

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ १६६ ॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्तः ॥ १६६ ॥

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः। उक्तं च 'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला। णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला' "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥" ॥ १६६ ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि परमाणुओंके पिण्डत्वमें यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है:—

अन्वयार्थः—[स्निग्धत्वेन द्विगुणः] स्निग्धरूपसे दो अंशवाला परमाणु [चतुर्गुणस्निग्धेन] चार अंश वाले स्निग्ध परमाणुके साथ [बंध अनुभवति] बंधको अनुभव करता (प्राप्त होता) है। [वा] अथवा [रूक्षेण त्रिगुणितः अणुः] रूक्षरूपसे तीन अंशवाला परमाणु [पंचगुणयुक्तः] पांच अंशवालेके साथ युक्त होता हुआ [बध्यते] बंधता है।

टीकाः—यथोक्त हेतुसे ही परमाणुओंके पिंडत्व होता है,—यह निश्चित करना चाहिये, क्योंकि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पांच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओंके अथवा दो रूक्ष परमाणुओंके अथवा दो स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओंके (-एक स्निग्ध और एक परमाणुके) बंधकी प्रसिद्धि है। कहा भी है कि:—

"णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला । णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥"
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥"

अर्थः—पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी'[1] होते हैं। उनमेंसे स्निग्ध पुद्गल स्निग्धके साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्षके साथ बंधते हैं। स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं।

जघन्यके अतिरिक्त सम अंशवाला हो, या विषम अंशवाला हो, स्निग्धका दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणुके साथ, रूक्षका दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणुके साथ, और स्निग्ध का रूक्ष परमाणुके साथ बंध होता है ॥ १६६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयतिः;—

गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुणः स्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसंज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसंज्ञेन द्विगुणाधिकत्वेन सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम्। अयं तु विशेषः—परमानन्दैकलक्षणस्वसंवेदनज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुकादृष्टान्तेन यथा जीवानां बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूनां चेति । तथा चोक्तम्—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण । णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा" ॥१६६॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा। स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया। स्निग्धरूक्षगुणाभ्यां द्व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया। तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूनां परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

उत्थानिका—आगे इसी ही पूर्व कहे हुए भावको विशेष समर्थन करते हैं—

गाथार्थः—(णिद्धत्तणेण) चिकनेपनेकी अपेक्षा (दुगुणो) दो अंशधारी परमाणु (चदुगुणणिद्धेण वा लुक्खेण) चार अंशधारी चिकने या रूखे परमाणुके साथ (बंधं अणुभवदि) बन्धको प्राप्त हो जाता है। (तिगुणिदो अणु) तीन अंशधारी चिकना या रूखा परमाणु (पंचगुणजुत्तो) पांच अंशधारी चिकने या रूखे परमाणुके साथ (बज्झदि) बंध जाता है।

---

[1]—किसी एक परमाणुकी अपेक्षासे विसदृशजातिका समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है, और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से 'अरूपी' कहलाते हैं। जैसे-पांच अंश स्निग्धतावाले परमाणुको पांच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसके लिये 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि-विसदृशजातिके समान अंशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' हैं, और सदृशजातिके अथवा विसदृश जातिके असमान अंशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।

टीकार्थः—गाथामें गुण शब्दसे शक्तिके अंशोंको अर्थात् अविभाग परिच्छेदोंको ग्रहण करना चाहिये। जैसे पहले कहे हुए जलबिंदु तथा बालूके दृष्टांतसे जिन जीवोंका रागद्वेष परमानन्दमई स्वसंवेदन ज्ञानगुणके बलसे नष्ट होगया है उनका कर्मके साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह जिन परमाणुओंमें जघन्य चिकनाई या रूखापन है, उनका भी किसीसे बंध नहीं होता। बन्ध दो अंशकी अधिकतासे दो अंश या तीन अंश आदिधारी परमाणुओंका परस्पर होगा जैसा इस गाथामें कहा है :—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥

(धवल पु० १४ पृ. ३३ गा० ३६)

भाव यह है कि-स्निग्ध पुद्गलका दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष पुद्गलका दो गुण अधिक रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है। तथा स्निग्ध पुद्गलका रूक्ष पुद्गलके साथ जघन्य गुण के अतिरिक्त विषम अथवा समगुणके रहने पर बंध होता है ॥ १६६ ॥

भावार्थः—पुद्गल परमाणुओंके बन्धके विषय में दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं। धवल परम्परा के अनुसार निम्न व्यवस्था फलित होती है—

क्रमाङ्क	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबंध
१	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२	जघन्य+अजघन्य	नहीं	नहीं
३	अजघन्य+सम-अजघन्य	नहीं	है
४	अजघन्य+एकाधिक-अजघन्य	नहीं	है
५	अजघन्य+द्वयधिक-अजघन्य	है	है
६	अजघन्य+त्र्यादिक अधिक-अजघन्य	नहीं	है

श्री सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में "णिद्धस्स णिद्धेण" उपर्युक्त षट खण्डागमकी गाथा उद्धृत की गई है किन्तु इस गाथाके उत्तरार्द्धके अर्थमें धवलाकार से मतभेद है।

श्री सर्वार्थ सिद्धिऔर तत्त्वार्थवार्तिक अनुसार निम्न व्यवस्था फलित होती है—

क्रमाङ्क	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबंध
१	जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२	अजघन्य+अजघन्य	नहीं	नहीं
३	अजघन्य+सम+अजघन्य	नहीं	नहीं
४	अजघन्य+एकाधिक-अजघन्य	नहीं	नहीं
५	अजघन्य+द्व्यधिक-अजघन्य	है	है
६	अजघन्य+आदि अधिक-अजघन्य	नहीं	नहीं

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण स्निग्ध रूक्ष अवस्थामें परिणत परमाणुका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा, स्निग्ध रूक्ष गुणका वर्णन करते हुए, दूसरी, स्निग्ध या रूक्ष गुणमें दो अंश अधिकसे बन्ध होगा ऐसा कहते हुए, तीसरी तथा उसके ही दृढ़ करनेके लिये चौथी इस तरह परमाणुओंके परस्पर बंधके व्याख्या की मुख्यतासे पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा वादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ १६७ ॥

द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ १६७ ॥

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादिचतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १६७ ॥

अब, आत्माके, पुद्गलोंके पिण्डके कर्तृत्वका अभाव निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[द्विप्रदेशादयः स्कंधाः] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्तप्रदेश

वाले) स्कंध [स्वकपरिणामैः] अपने परिणामों से [सूक्ष्माः वा बादराः] सूक्ष्म अथवा बादर, [ससंस्थानाः] संस्थानों (आकारों) सहित और [पृथिवीजलतेजोवायवः] पृथ्वी, जल तेज और वायुरूप [जायन्ते] होते हैं।

टीकाः—इस (पूर्वोक्त) प्रकारसे यह उत्पन्न होनेवाले द्विप्रदेशादिक स्कंध, विशिष्ट अवगाहनकी शक्तिके वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद वाले होते हैं, हैं, विशिष्ट आकार धारण करनेकी शक्ति के वश होकर विचित्र संस्थान वाले होते हैं और अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादिचतुष्क के आविर्भाव और तिरोभावकी स्वशक्तिके वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामोंसे ही होते हैं। इससे निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलोंका पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है ॥ १६७ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथात्मा द्वयणुकादिपुद्गलस्कन्धानां कर्त्ता न भवतीत्युपदिशति;—

(जायन्ते) उत्पद्यन्ते । के कर्त्तारः । (दुपदेसादी खंदा) द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ताः स्कन्धा जायन्ते । (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वीजलतेजोवायवः । कथंभूताः सन्तः । (सुहुमा वा बादरा) सूक्ष्मा बादराः । पुनरपि किंविशिष्टाः सन्तः । (ससंठाणा) यथासम्भवं वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ताः । कैः कृत्वा जायन्ते ? (सगपरिणामेहि) स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति ।

अथ विस्तरः—जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तः पृथिव्यप्तेजोवातकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदुःखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति । न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणतेः । कस्मादिति चेत् ? तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति । ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डानां जीवः कर्त्ता न भवतीति ॥१६७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा दो परमाणु आदि धारी परमाणुओंके स्कंधोंको आदि लेकर अनेक प्रकारके स्कंधोंका कर्ता नहीं है:—

गाथार्थः—(दुपदेसादी खंधा) दो परमाणुके स्कंधसे आदि लेकर अनन्त परमाणुके स्कंध तक तथा (सुहुमा वा बादरा) सूक्ष्म या बादर (ससंठाणा) यथासम्भव गोल, चौखुंटे आदि अपने अपने आकारको लिये हुए (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (सगपरिणामेहिं) अपने ही चिकने रूखे परिणामोंकी विचित्रतासे परस्पर मिलते हुए (जायंते) पैदा होते रहते हैं।

टीकार्थः—जीव यद्यपि निश्चयसे टांकीसे उकेरी मूर्तिके समान ज्ञायक मात्र एक स्वरूपकी अपेक्षा से शुद्ध बुद्धमई एक स्वभावके धारी हैं तथापि व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधकी उपाधिके वशसे अपने शुद्ध आत्मस्वभावको न पाते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक होकर पैदा होते हैं । यद्यपि वे इन पृथ्वी आदि कायोंमें आकर जन्मते हैं तथापि वे जीव अपनी ही भीतरी सुख दुःख आदि रूप परिणतिके ही अशुद्ध [illegible], पृथ्वी आदि कायोंमें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके नहीं । कारण यह है कि

उनका उपादान कारण पुद्‌गलके स्वयं ही हैं। इसलिये यह जाना जाता है कि पुद्‌गलके पिंडोंका कर्ता जीव नहीं है ॥ १६७ ॥

अथात्मनः पुद्‌गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ १६८ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्‌गलकायैः सर्वतो लोकः।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ १६८ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्‌गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्‌गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ॥ १६८ ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्‌गलपिण्डोंका लानेवाला नहीं है:—

अन्वयार्थः—[लोकः] यह लोक [सर्वतः] सर्वत्र [सूक्ष्मैः बादरैः] सूक्ष्म तथा बादर [च] और [अप्रायोग्यैः योग्यैः] कर्मत्वके अयोग्य तथा योग्य [पुद्‌गलकायैः] पुद्‌गल स्कंधोंके द्वारा [अवगाढगाढनिचितः] (विशिष्ट प्रकारसे) अवगाहित होकर अत्यन्त गाढ़ भरा हुआ है।

टीकाः—चूंकि, सूक्ष्मरूप परिणत तथा बादररूप परिणत-अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल न होनेसे-कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिवाले, तथा अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिसे रहित ऐसे पुद्‌गल स्कंधोंके द्वारा, अवगाहकी विशिष्टताके कारण परस्पर बाधक हुये विना स्वयमेव सर्वत्र ही लोक गाढ़ भरा हुआ है, इसलिये निश्चत होता है कि पुद्‌गलपिण्डोंका लानेवाला आत्मा नहीं है ॥ १६८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्‌गलान् बहिर्भागान्नानयतीत्यावेदयति;—

(लोगो) लोकः। कथंभूतः ? (ओगाढगाढणिचिदो) अवगाह्यावगाह्यनैरन्तर्येण निचितो भृतः। स कः। (सव्वदो) सर्वतः सर्वप्रदेशेषु कैः कर्तृभूतैः ? (पुग्गलकायेहि) पुद्‌गलकायैः। किंविशिष्टैः ? (सुहुमेहि बादरेहि य) इन्द्रियाग्रहणयोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च। पुनश्च कथंभूतैः ? (अप्पाओगेहिं) अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्म-

वर्गणायोग्यतारहितैः । पुनश्च किंविशिष्टैः । (जोग्गेहिं) अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति ।

अयमत्रार्थः—निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनता पृथिव्यादिपञ्चसूक्ष्मस्थावरत्वं प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तरं भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि । ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आयनतीति ॥१६८॥

उत्थानिका—आगे यह आत्मा बन्ध-कालमें बन्ध-योग्य पुद्गलोंको कहीं बाहर से नहीं लाता है, ऐसा प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—(लोगो) यह लोक (सव्वदो) अपने सर्व प्रदेशोंमें (सुहमेहिं) सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहणके अयोग्य (बादरेहिं) बादर अर्थात् इन्द्रियोंके ग्रहण योग्य (य) और (अप्पा उग्गेहिं) कर्म-वर्गणारूप होनेको अयोग्य (जोग्गेहि) तथा कर्मवर्गणाके योग्य (पोंग्गलकायेहिं) पुद्गल स्कंधोंसे (ओगाढगाढणिचिदो) खूब अच्छी तरह बहुत गाढ़ा भरा हुआ है।

टीकार्थः—यह लोक अपने सर्व प्रदेशोंमें पुद्गल स्कंधोंसे गाढ़ा भरा हुआ है । वे स्कंध कोई इन्द्रिय-गोचर हैं, कोई इन्द्रिय गोचर नहीं है, उनमेंसे जो अत्यन्त सूक्ष्म वा स्थूल हैं वे कर्मवर्गणारूप नहीं हैं किंतु जो अतिसूक्ष्म व स्थूल नहीं हैं वे कर्मवर्गणा के योग्य हैं । यद्यपि इन्द्रियोंसे ग्रहण न होनेके कारण ये भी सूक्ष्म हैं।

यहां यह भाव है कि जैसे यह लोक निश्चय नयसे शुद्ध-स्वरूपके धारी किन्तु व्यवहार नयसे कर्मों के अधीन होनेसे, पृथिवी-जल-अग्नि वायु-वनस्पतिके पांच भेदरूप सूक्ष्म स्थावर शरीरोंको प्राप्त जीवोंसे निरंतर सर्व जगह भरा हुआ है तैसे यह पुद्गलोंसे भी भरा है इससे जाना जाता है कि जितने शरीरको रोककर एक जीव ठहरता है उसी ही क्षेत्रमें कर्मयोग्य पुद्गल भी तिष्ठरहे हैं—जीव उनको कहीं बाहरसे नहीं लाता है ॥ १६८ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।

गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।

गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥१६९॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१६९॥

अब यह निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डोंको कर्मरूप नहीं करता:—

अन्वयार्थः—[कर्मत्वप्रायोग्याः स्कंधाः] कर्मत्वके योग्य स्कंध [जीवस्य परिणतिप्राप्य]

जीवकी परिणतिको प्राप्त करके (जीवके विभाव भावोंके निमित्त से) [कर्मभावं गच्छन्ति] कर्मभावको प्राप्त होते हैं, [न हि ते जीवेन परिणमिताः] वे जीवके द्वारा परिणमाये नहीं हैं ।

टीकाः—चूंकि तुल्य (समान) क्षेत्रावगाहवाले तथा कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गल स्कंध, बहिरंगसाधनभूत जीवके परिणाममात्रका आश्रय लेकर, जीव परिणमाने वाला नहीं होने पर भी, स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं, इसलिये निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डोंको कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है ॥ १६९ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्त्ता न भवतीति प्रज्ञापयति;—

(कम्मत्तणपाओग्गा खंधा) कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धाः कर्त्तारः (जीवस्स परिणइं पप्पा) जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणतेः प्रतिपक्षभूतां जीवसम्बन्धिनीं मिथ्यात्वरागादिपरिणतिं प्राप्य (गच्छंति कम्मभावं) गच्छन्ति परिणमन्ति । कं । कर्मभावं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायं (ण हि ते जीवेण परिणमिदा) न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिताः परिणतिं नीता इत्यर्थः । अनेन व्याख्यानेनैतदुक्तं भवति कर्मस्कन्धानां निश्चयेन जीवः कर्त्ता न भवतीति ॥१६९॥

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते हैं कि यह जीव कर्म स्कंधोंका उपादानकर्ता नहीं होता है ।

गाथार्थः—(कम्मत्तणपाओग्गा) कमरूप होनेको योग्य (खंधा) पुद्गलके स्कंध (जीवस्स परिणइं) जीवकी परिणतिको (पप्पा) पाकर (कम्मभावं) कर्मपनेको (गच्छंति) प्राप्त हो जाते हैं (दु) परंतु (जीवेण) जीवके द्वारा (ते ण परिणमिदा) वे कर्म नहीं परिणमाए गए हैं ।

टीकार्थः—निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न स्वाभाविक आनंदमई एक लक्षणस्वरूप सुखामृतकी परिणतिसे विरोधी मिथ्यादर्शन, राग द्वेष आदि भावोंकी परिणतिको जब यह जीव प्राप्त होता है तब इसके भावोंका निमित्त पाकर वे कर्मयोग्य पुद्गल स्कंध आप ही जीवके उपादान कारणके बिना ज्ञानावरणादि आठ या सात द्रव्य कर्म रूप हो जाते हैं । उन कर्म स्कंधोंको जीव अपने उपादानपनेसे नहीं परिणमाता है । इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह जीव कर्म स्कंधोंका कर्ता नहीं है ॥ १६९ ॥

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥१७०॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य ।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥१७०॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य

स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते । अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१७०॥

अब आत्माके कर्मरूप-परिणत-पुद्गलद्रव्यात्मक-शरीरके कर्तृत्वका अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् यह निश्चित करते हैं कि कर्मरूपपरिणतपुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है):—

अन्वयार्थः—[कर्मत्वगताः] कर्मरूप परिणत [ते ते] वे वे [पुद्गलकायाः] पुद्गल पिंड [देहान्तरसंक्रमं प्राप्य] देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके [पुनः अपि] पुनः पुनः [जीवस्य] जीवके [देहः] शरीर [संजायन्ते] होते हैं ।

टीकाः—जिस जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके जो जो यह पुद्गल पिण्ड स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीवके अनादिसंततिरूप प्रवर्तमान देहान्तर (भवांतर) रूप परिवर्तनका आश्रय लेकर (वे वे पुद्गलपिण्ड) स्वयमेव शरीररूप, शरीरके होनेमें निमित्तरूप) बनते हैं । इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है ।

भावार्थः—जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके जो पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं । वे पुद्गल ही अन्य भवमें शरीरके बननेमें निमित्तभूत होते हैं, और नोकर्मपुद्गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं इसलिये शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है ॥ १७० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शरीराकारपरिणतपुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीत्युपदिशति;—

(ते ते कम्मत्तगदा) ते ते पूर्वसूत्रोदिताः कर्मत्वं गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणताः (पुग्गलकाया) पुद्गलस्कन्धाः (पुणोवि जीवस्स) पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य (संजायंते देहा) संजायन्ते सम्यग्जायन्ते देहाः शरीराणीति । किं कृत्वा । (देहंतरसंकमं पप्पा) देहान्तरसंक्रमं भवान्तरं प्राप्य लब्ध्वेति । अनेन किमुक्तं भवति-औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जितान्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति तदुदयेन नोकर्मपुद्गला औदारिकादिशरीराकारेण स्वयमेव परिणमन्ति । ततः कारणादौदारिकादिकायानां जीवः कर्ता न भवतीति ॥१७०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरके आकार परिणत होनेवाले पुद्गलके पिंडोंका भी जीव उपादान कर्ता नहीं है—

गाथार्थः—(ते ते) वे वे पूर्व बांधे हुए (कम्मत्तगदा) द्रव्यकर्म पर्यायमें परिणमन किये हुए (पोग्गलकाया) पुद्गल कर्मवर्गणास्कंध (पुणो वि) फिर भी (जीवस्स) जीवके (देहंतरसंकमं) अन्य

भवको (पप्पा) प्राप्त होनेपर (देहा) शरीर (संजायंते) उत्पन्न होते हैं।

टीकार्थः—औदारिक आदि शरीर नामा नामकर्मसे रहित परमात्मस्वभावको न प्राप्त किये हुए जीवने जो औदारिक शरीर आदि नामकर्म बांधे हैं उस जीवके अन्य भवमें जानेपर वे ही कर्म उदय आते हैं। उनके उदयके निमित्तसे नोकर्म वर्गणाएं औदारिक आदि शरीरके आकार स्वयमेव परिणमन करती हैं इससे यह सिद्ध है कि औदारिक आदि शरीरोंका भी जीव कर्ता नहीं है ॥ १७० ॥

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालियो य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ॥१७१॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि। ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥१७१॥

अब आत्माके शरीरत्वका अभाव निश्चित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[औदारिकः च देहः] औदारिक शरीर, और [वैक्रियिकः देहः] वैक्रियिक शरीर [तैजसः] तैजस शरीर, [आहारकः] आहारक शरीर [च] और [कार्मणः] कार्मण शरीर–[सर्वे] सब [पुद्गलद्रव्यात्मकाः] पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

टीकाः—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण–सभी शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ॥ १७१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शरीराणि जीवस्वरूपं न भवन्तीति निश्चिनोति;—

(ओरालिओ य देहो) औदारिकश्च देहः (देहो वेउव्वियो य) देहो वैक्रियिकश्च (तेजइओ) तैजसिकः (आहारय कम्मइयो) आहारः कार्मणश्च (पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे) एते पञ्च देहाः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति। कस्मादिति चेत् ? ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति ॥१७१॥

एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम् इति।

एवं "अपदेसो परमाणू" इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यानमुख्यतया 'द्वितीयविशेषान्तराधिकारः' समाप्तः।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पांचों ही शरीर जीव स्वरूप नहीं हैं–

गाथार्थ—(ओरालिओ देहो) औदारिक शरीर (य) और (वेउव्विओ) वैक्रियिक देह (य

तेजयिओ) और तैजस शरीर (आहारय, कम्मइओ) आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये (सव्वे) सब पांचों शरीर (पोग्गलदव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्यमई हैं।

टीकार्थः—ये शरीर पुद्गल द्रव्यके बने हुए हैं इसलिये मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं, क्योंकि मैं शरीर-रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिमें परिणमन करनेवाला हूं, मेरा सदा ही अचेतन शरीरपनेसे विरोध है ॥ १७१

इस तरह पुद्गल स्कंधोंके बन्धके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुई। इस तरह "अपदेसो परमाणू" इत्यादि ६ गाथाओंसे परमाणु और स्कंध भेदको रखनेवाले पुद्गलोंके पिंड बननेके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर-अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥१७२॥

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये तथाहि—न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य। न लिङ्गादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य। न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासम्पृक्तत्वस्य न

लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य । न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य । न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य । न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य । न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य । न लिंगं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥१७२॥

अब फिर जीवका, शरीरादि सर्वपरद्रव्योंसे विभागका साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[जीवम्] जीवको [अरसम्] रसरहित, [अरूपम्] रूप रहित, [अगंधम्] गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त, [चेतनागुणम्] चेतनागुणयुक्त, [अशब्दम्] शब्दरहित [अलिंगग्रहणम्] लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य, और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है, ऐसा [जानीहि] जानो ।

टीकाः—आत्मा (१) रसगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (२) रूपगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (३) गंधगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तताके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (५) शब्दपर्यायके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस-रूप-गंध इत्यादिके अभावरूप स्वभावके कारण) लिंगके द्वारा अग्राह्य होनेसे, और (७) सर्व संस्थानोंके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, आत्माके, पुद्गलद्रव्यसे विभागके साधनभूत (१) अरसत्व, (२) अरूपत्व, (३) अगंधत्व, (४) अव्यक्तता, (५) अशब्दत्व, (६) अलिंगग्राह्यत्व, और (७) असंस्थानत्व हैं । पुद्गल तथा अपुद्गलरूप समस्त अजीव द्रव्योंसे विभागका साधन तो चेतनागुणमयत्व है । वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होनेसे स्वलक्षणत्वको धारण करता हुआ, आत्माका शेष द्रव्योंसे विभाग (भेद) सिद्ध करता है ।

जहां 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहां जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुतसे अर्थोंकी प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करनेके लिये है । वह इस प्रकार है:–(१) ग्राहक (ज्ञायक),

जिसका लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय), जिसका लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंग-ग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुयेंसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियोंसे जानने योग्य) चिह्न द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (४) दूसरोंके द्वारा—मात्र लिंगसे ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है इस प्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमानसे ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंगसे ही परका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (६) जिसका लिंगके द्वारा नहीं किन्तु स्वभावके द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंग ग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (७) जिसका लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नहीं है वह अलिंग ग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके बाह्य पदार्थोंका आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (८) जो लिंगको अर्थात् उपयोग नामक लक्षणको ग्रहण नहीं करता, अर्थात् स्वयं (कहीं बाहरसे) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा जो कहींसे नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (९) लिंगका अर्थात् उपयोगनामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् परसे हरण नहीं हो सकता, सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्माका ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१०) जिसे लिंगमें अर्थात् उपयोग नामक लक्षणमें ग्रहण अर्थात् सूर्यकी भांति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है, ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्मका ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्मसे असंयुक्त (असंबद्ध) है, ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोंका उपभोग नहीं है सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा विषयोंका उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणके द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्वको धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा

शुक्र और रजके अनुसार होनेवाला नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१४) लिंगका अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादिकी इन्द्रियका आकार) का ग्रहण जिसके नहीं हैं सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है, ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१५) लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकारके द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोकमें व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा पाखण्डियोंके प्रसिद्धसाधनरूप आकारवाला-लोक व्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगोंका, अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदोंका ग्रहण नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यसे तथा भावसे स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (१७) लिंगोंका अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके बहिरंग यतिलिंगोंका अभाव है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात गुणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा गुण-विशेषसे आलिंगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है', ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्यायरूप ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं है सो अलिंग ग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेषसे आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यसे नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है॥ १७२॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथैकोनविंशतिगाथापर्यंन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति।
तेष्वादौ "अरसमरूवं" इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानगाथैका "मुत्तो रूवादि" इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वय-
मिति प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं भावबन्धमुख्यत्वेन "उवओगमओ" इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ परस्परं द्वयोः
पुद्गलयोः बन्धो जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्धमुख्यत्वेन "पासेहि पुग्ग-
लाणं" इत्यादि सूत्रद्वयम्। ततः परं निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया
"रत्तो बंधदि" इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन "भणिदा पुढवी" इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनन्तरं जीवो
रागादिपरिणामानामेव कर्त्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन "कुव्वं सहावमादा" इत्यादि षष्ठस्थले गाथास-
प्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासम्भवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यः। एवमेकोनविंशतिगाथा-
भिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

तद्यथा—अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति ? प्रश्ने प्रत्युत्तरं
ददाति;—

(अरसमरूवमगंधं) रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणस्पर्शरूपगन्धत्वाच्च (अव्वत्तं) अव्यक्तत्वात्

(असद्दं) अशब्दत्वात् (अलिंगग्गहणं) अलिङ्गग्रहणत्वात् (अणिद्दिट्ठसंठाणं) अनिर्दिष्टसंस्थानत्वाच्च (जाण जीवं) जानीहि जीवम् । अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिङ्गग्रहणमनिर्दिष्टसंस्थानलक्षणं च हे शिष्य ! जीवं जीवद्रव्यं जानीहि । पुनरपि कथंभूतं । (चेदणागुणं) समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नः समस्तान्यद्रव्यासाधारणः स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतना गुणो यस्य तं चेतनागुणं ।

चालिङ्गग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तत्किमर्थमिति चेत् ? बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तथाहि—लिङ्गमिन्द्रियं तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिङ्गग्रहणो भवति । तदपि कस्मात्स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदनं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते । तदपि कस्मात् । निर्विकारातीन्द्रियस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्यत्वात् । लिङ्गं धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थानां ग्रहणं न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? स्वयमेवालिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्यत्वात् । अथवा लिङ्गं चिन्हं लाञ्छनं शिखाजटाधारणादि तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति, तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? स्वाभाविकाचिन्होद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात् । तेनैव चिन्होद्भवज्ञानेन परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मान्निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानगम्यत्वादिति । एवमलिंगग्रहणशब्दस्य व्याख्यानवशेन शुद्धजीवस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥१७२॥

आगे उन्नीस गाथा पर्यंत 'जीवका पुद्गलके साथ बंध है, इस मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं। इसमें छः स्थल हैं। इनमेंसे आदिके स्थलमें "अरसमरूवं" इत्यादि शुद्ध जीवके व्याख्यानकी गाथा एक है, "मुत्तो रूवादि" इत्यादि पूर्वपक्ष व उसके परिहारकी मुख्यतासे दो गाथाएं हैं, ऐसे पहले स्थलमें तीन गाथाएं हैं। फिर भाव बंधकी मुख्यतासे "उवओगमओ" इत्यादि दो गाथाएं हैं। आगे परस्पर दोनों पुद्गलोंका बन्ध होता है, जीवका रागादि परिणामके साथ बन्ध है और जीव पुद्गलोंका बन्ध है ऐसे तीन प्रकार बंधकी मुख्यतासे "पासेहिं पुग्गलाणं" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर निश्चयसे द्रव्य बन्धका कारण होनसे रागादि परिणाम ही बंध है। ऐसा कहते हुए "रत्तो बन्धदि" इत्यादि तीन गाथाएं हैं। आगे भेदभावनाकी मुख्यतासे "भणिदा पुढवी" इत्यादि दो सूत्र हैं। फिर यह जीव रागादि भावोंका ही कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है ऐसा कहते हुए "कुव्वं सहावमादा" ऐसे छठे स्थलमें गाथाएं सात हैं जहां मुख्यपना शब्द कहा है वहां यथासंभव और भी अर्थ मिलता है ऐसा भाव सर्व ठिकाने जानना योग्य है। इस तरह उन्नीस गाथाओंसे तीसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका—ऐसा प्रश्न होनेपर कि इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे भिन्न अन्य द्रव्योंसे असाधारण अपना स्वरूप क्या है ? आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थः—(जीवम्) इस जीवको (अरसं) पांच रससे रहित (अरूवम्) पांच वर्णसे रहित (अगंधं) दो गंधसे रहित तथा इन्होंके साथ आठ प्रकार स्पर्शसे रहित, (अव्वत्तं) अव्यक्त (असद्द)

शब्द रहित, (अलिंगग्गहणं किसी चिन्हसे न पकड़ने योग्य (अणिद्दिट्ठसंठाणं) नियमित आकार रहित (चेदणागुणं) सर्व पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंसे भिन्न और समस्त अन्य द्रव्योंसे विशेष तथा अपने ही अनन्त जीव जातिमें साधारण ऐसे चैतन्य गुणको रखनेवाला (जाण) जानो।

टीकार्थः अलिंग, ग्रहण जो विशेषण दिया है उसके बहुतसे अर्थ होते हैं वे यहां समझाए जाते हैं। (१) लिंग इन्द्रियोंको कहते हैं। उनके द्वारा यह आत्मा पदार्थोंको निश्चयसे नहीं जानता है क्योंकि आत्मा स्वभावसे अपने अतीन्द्रिय अखंडज्ञान सहित है इसलिये अलिंग ग्रहण है। (२) लिंग शब्दसे चक्षु आदि इन्द्रियें लेना, इन चक्षु आदिसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्ते क्योंकि यह आत्मा विकार रहित अतींद्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही अनुभवमें आता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। (३) धूम आदिको चिह्न कहते हैं जैसे धुएं के चिह्नरूप अनुमानसे अग्निका ज्ञान करते हैं ऐसे यह आत्मा जानने योग्य पर पदार्थोंका नहीं जानता क्योंकि स्वयं ही चिह्न या अनुमान रहित प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानको रखनेवाला है उसे ही जानना है, इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। (४) कोई भी अन्य पुरुष जैसे धूमके चिह्नसे अग्निका ग्रहण कर लेते हैं वैसे अनुमान रूप चिन्हसे आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्ते क्योंकि वह चिह्न-रहित स्वाभाविक अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। (५) अथवा लिंग नाम शिखा, जटा-धारण आदि भेषका है इससे भी आत्मा पदार्थोंका ग्रहण नहीं कर सक्ता क्योंकि स्वाभाविक, विना किसी चिह्नके उत्पन्न अतींद्रिय ज्ञानको यह आत्मा रखनेवाला है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। (६) अथवा किसी भी भेषके ज्ञानसे पर पुरुष भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि यह आत्मा अपने ही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जाना जाता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। इस तरह अलिंग-ग्रहण शब्दकी व्याख्यासे शुद्ध जीवका स्वरूप जानने योग्य है, यह अभिप्राय है॥ १७२॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥१७३॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥१७३॥

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव। आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते। मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥१७३॥

अब, अमूर्त आत्माके, स्निग्धरूक्षत्वका अभाव होनेसे बंध कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं:—

अन्वयार्थः—[रूपादिगुणः] रूपादिगुणयुक्त [मूर्तः] मूर्त (पुद्गल) [अन्योन्यैः स्पर्शैः] परस्पर (स्निग्ध-रूक्षरूप) स्पर्शोंसे [बध्यते] बंधता है, (परन्तु) [तद्विपरीतः आत्मा] उससे विपरीत (स्निग्ध-रूक्ष रहित, अमूर्त) आत्मा [पौद्गलिकं कर्म] पौद्गलिक कर्मको [कथं] कैसे [बध्नाति] बांध सकती है।

टीकाः—मूर्त दो पुद्गलोंका, रूपादिगुणयुक्त होनेसे यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष (बंधयोग्य स्पर्श) के कारण, पारस्परिक बंध अवश्य ही निश्चय होता है किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलका बंध कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि मूर्त कर्मपुद्गलके, रूपादिगुणयुक्त होनेसे, यथोक्त स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष संभव होने पर भी, अमूर्त आत्मा के रूपादिगुणयुक्तता नहीं होनेसे, यथोक्त स्निग्धरूक्षत्व रूप स्पर्शविशेष असंभव होनेसे, एक अंग विकल है। (अर्थात् बंधयोग्य दो अंगोंमें से एक अंग अयोग्य है,-स्पर्शगुणरहित होनेसे बंध की योग्यतावाला नहीं है।)॥ १७२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथामूर्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षं करोति;—

(मुत्तो रूवादिगुणो) मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शवान् पुद्गलद्रव्यगुणः (बज्झदि) अन्योन्यसंश्लेषेण: बध्यते बन्धमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति। कैः कृत्वा? (फासेहि अण्णमण्णेहिं) स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः। किंविशिष्टैः। अन्योन्यैः परस्परनिमित्तैः। (तं विवरीदो अप्पा बज्झदि किह पोग्गलं कम्मं) तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति। अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्तत्वाच्च पौद्गलकर्म कथं बध्नाति न कथमपीति पूर्वपक्षः ॥१७२॥

उत्थानिका—आगे जब आत्मा अमूर्तिक शुद्ध स्वरूप है तब इस अमूर्तिक जीवका मूर्तिक पुद्गल कर्मोंके साथ किस तरह बंध होसकता है ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं—

गाथार्थः—(रूवादिगुणो) स्पर्श रस गंध वर्ण गुणधारी (मुत्तो) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य (फासेहिं) स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श गुणोंके निमित्तसे (अण्णम् अण्णेहिं) एक दूसरेसे परस्पर (बज्झदि) बंध जाते हैं। (तव्विवरीदो) इससे विरुद्ध अमूर्तिक (अप्पा) आत्मा (किध) किस तरह (पोग्गलकम्मं) पुद्गलीक कर्मवर्गणाको (बंधदि) बांधता है।

टीकार्थ—निश्चयनयसे यह आत्मा परमात्मा स्वरूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारी परिणतिमें वर्तनेवाला है, बंधके कारण स्निग्ध रूक्षके स्थानापन्न रागद्वेषादि विभाव परिणामोंसे रहित है और अमूर्तिक है सो किस तरह पुद्गल मूर्तिक कर्मोंको बांध सकता है? किसी भी तरह नहीं बांध सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष शंकाकारने किया है ॥ १७२ ॥

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ १७४॥

रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ।१७४॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते । अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात् । न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम् । तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबंधो बलीवर्दसंबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति सम्बन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥१७४॥

अब यह सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्माके अमूर्त होने पर भी इस प्रकार बंध होता है:—

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [रूपादिकैः रहितः] रूपादिरहित (जीव) [रूपादीनि द्रव्याणि गुणान् च] रूपादि गुणवाले द्रव्योंको (तथा उनके) रूपादि गुणोंको [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तथा] उसी प्रकार (जीवका) [तेन] उसके साथ (मूर्तिक पुद्गल के साथ) [बंधः जानीहि] बंध जानो ।

टीका:—जिस प्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्योंको तथा उनके गुणोंको देखता है तथा जानता है, उसी प्रकार रूपादि रहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलोंके साथ बंधता है, क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहां भी (देखने–जाननेके संबंधमें भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्तको कैसे देखता-जानता है ?

ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपीका रूपीके साथ बंध होनेकी) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिये उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु आबालगोपाल सभीको प्रगट (ज्ञात) हो जाय

इसलिये दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथाः—जिस प्रकार, पृथक् रहने वाले मिट्टीके बैल को देखने-जानने वाले बालकका अथवा (सच्चे) बैलको देखने-जानने वाले गोपालका बैलके साथ संबंध नहीं है, तथापि विषयरूपसे रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञानके साथ संबंध जो कि बैलके साथके संबंधरूप व्यवहारका साधक है, अवश्य ही है। उसी प्रकार, आत्माका, अरूपित्वके कारण स्पर्शशून्य होनेसे, कर्मपुद्गलोंके साथ संबंध नहीं है, तथापि एकावगाहरूपसे रहनेवाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावोंके साथ संबंध, (जोकि) कर्मपुद्गलोंके साथके बंधरूप व्यवहार का साधक है, अवश्य ही है ॥ १७४ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथैवममूर्त्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति;—

(रूवादिएहि रहिदो) अमूर्त्त परमचिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः। तथाविधः सन् किं करोति ? (पेच्छदि जाणादि) मुक्तावस्थायां युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धेन पश्यति जानाति। कानि कर्मतापन्नानि ? (रूवमादीणि दव्वाणि) रूपरसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्त्तद्रव्याणि। न केवलं द्रव्याणि (गुणे य जधा) तद्गुणांश्च यथा। अथवा यः कश्चित्संसारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहितः सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमां दृष्ट्वा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते। यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसम्बन्धोऽस्ति। यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसम्बन्धोऽस्ति। (तह बंधो तेण जाणाहि) तथा बन्धं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि।

अयमत्रार्थः—यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्त्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्त्तः सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूतं रागादिविकल्परूपं भावबन्धोपयोगं करोति। तस्मिन्सति मूर्त्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसम्बन्धोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥१७४॥

एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। मूर्त्तिरहितजीवस्य मूर्त्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नयके द्वारा अमूर्तिक आत्मा का पुद्गलसे बंध होजाता है—

गाथार्थः—(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादिसे रहित आत्मा (रूवमादीणि दव्वाणि गुणेय) रूपादि गुणधारी द्रव्योंको और उनके गुणोंको (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तध) तैसे (तेण) उस पुद्गलके साथ (बंधो) बंध (जाणीहि) जानो।

टीकार्थः—जैसे अमूर्तिक व परम चैतन्य ज्योतिमें परिणमन रखनेके कारण यह परमात्मा वर्ण

आदिसे रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित मूर्तिक द्रव्योंको और उनके गुणोंको मुक्तावस्थामें एक समयमें वर्तनेवाले सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाले केवल दर्शन और केवलज्ञान उपयोगके द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयोंके साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तिक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता द्रष्टा उनसे भिन्न है। अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञानको न पाता हुआ काष्ठ व पाषाण आदिकी अचेतन जिन-प्रतिमाको देखकर यह मेरेद्वारा पूजने योग्य है, ऐसा मानता है। यद्यपि यहां सत्ताको देखने मात्र दर्शनके साथ उस प्रतिमाका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि दृश्य दर्शक सम्बन्ध है अथवा समवशरणमें प्रत्यक्ष जिनेश्वरको देखकर यह मानना है कि यह मेरे द्वारा आराधने योग्य हैं, यहां भी यद्यपि देखने व जाननेका जिनेश्वरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य आराधक सम्बन्ध है। तैसे ही मूर्तिक द्रव्यके साथ बंध होना समझो।

यहां यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनयसे अमूर्तिक है तथापि अनादि कर्मबन्धके वशसे व्यवहारसे मूर्तिक होता हुआ द्रव्यबंधके निमित्त कारण रागादि विकल्प भावबंधके रूप उपयोगको करता है। ऐसी अवस्था होनेपर यद्यपि मूर्तिक द्रव्यकर्मके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि पूर्वमें कहे हुए दृष्टांतसे संश्लेष सम्बन्ध है इसमें कोई दोष नहीं है॥ १७४॥

भावार्थ—श्री तत्त्वार्थसारमें अमृतचन्द्रस्वामीने इसी प्रश्नको उठाकर कि अमूर्तिका बन्ध मूर्तिकके साथ कैसे होता है? इस तरह समाधान किया है:—

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्त्तैः कर्मभिरात्मनः। अमूर्तैरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्त्तित्वसिद्धितः॥ १६॥

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः। अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते॥ १७॥

बन्धं प्रति भवत्येकमन्योन्यानुप्रवेशतः। युगपद्द्रावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः॥ १८॥

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी॥ १९॥

अमूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक कर्मोंका बंध अनेकान्तसे असिद्ध नहीं है क्योंकि किसी अपेक्षासे आत्माके मूर्तिपना सिद्ध है। इस अमूर्तिक आत्माका भी द्रव्य कर्मोंके साथ प्रवाह रूपसे अनादिकालसे धारावाही सदाका सम्बन्ध चला आरहा है, इसीसे उन मूर्तिक द्रव्यकर्मोंके साथ एकता होते हुए आत्मा मूर्तिक भी है। बंध होनेपर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरेमें प्रवेश होजानेपर परस्पर एकता होजाती है, जैसे सुवर्ण और चांदीका एक साथ गलानेसे दोनों एक रूप होजाते हैं उसी तरह जीव और कर्मोंका बंध होनेसे परस्पर एकरूप बन्ध होजाता है। तथा यह कर्मबद्ध संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदिसे इसका ज्ञान बिगड़ जाता है। यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाशमें मदिरा रहते हुए आकाशको मदवान नहीं कर सकती वैसे आत्माके कभी ज्ञानमें विकार नहीं होता। संसारी आत्मा मूर्तिक है इसीसे उसके कर्म बंध होता है जैसे आत्मा निश्चयसे अमूर्तिक है वैसे उसके निश्चयसे बंध भी नहीं है। जैसे आत्मा व्यवहारसे मूर्तिक है वैसे उसके व्यवहारसे बंध भी होता है। इस तरह अनेकांतसे समझ लेनेमें कोई प्रकारकी शंका नहीं रहती है। सर्वथा शुद्ध अमूर्तिक यदि आत्मा होता तो इसके बंध

मूर्तिकसे कभी प्रारम्भ नहीं हो सकता था। अनादि संसारमें कर्म-सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसा अनादिसे ही चला आ रहा है इससे कर्मबन्धकी व्यवस्था सिद्ध होती है ॥ १७४ ॥

इस तरह शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप जीवके कथनकी मुख्यतासे एक गाथा, फिर अमूर्तिक जीवका मूर्तिक कर्मके साथ कैसे बंध होता है इस पूर्व पक्षरूपसे दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी, इस तरह तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥१७५॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः संबन्धः ॥१७५॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ॥१७५॥

अब भावबंधका स्वरूप बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः हि पुनः] जो [उपयोगमयः जीवः] उपयोगमय जीव [विविधान् विषयान्] विविध विषयोंको [प्राप्य] प्राप्त करके [मुह्यति] मोह करता है, [रज्यति] राग करता है, [वा] अथवा [प्रद्वेष्टि] द्वेष करता है, (वह जीव) [तैः] उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेषके द्वारा) [संबंधः] बंधरूप है।

टीका:—प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप है।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है वह, काला, पीला, और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाईके द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिक मणिकी भांति, पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेषके द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाववाला होनेसे, स्वयं अकेला ही बंधरूप है, क्योंकि मोह-राग द्वेषादि भाव उसका द्वितीय है। बंध तो दोके बीच होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—एक तो आत्मा और दूसरा मोह-रागद्वेषादिभाव होनेसे, मोहरागद्वेषादिभावके द्वारा मलिनस्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भाव-बंध है ॥१७५॥

श्री जयसेनाचार्य कृत—टीका

अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावबन्धस्वरूपमाख्याति:—

(उवओगमओ जीवो) उपयोगमयो जीवः, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणतः सन् । किं करोति । (मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेषं करोति । किं कृत्वा । पूर्वं (पप्पा) प्राप्य । कान् ? (विविधे विसये ; निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान् । (जो हि पुणो) यः पुनरित्थंभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं (तेहि संबंधो) तैः सम्बद्धो भवति तैः पूर्वोक्तरागद्वेषमोहैः कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहित-जीवस्य शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति । अत्र योसौ रागद्वेषमोहपरिणामः स एव भावबन्ध इत्यर्थः ॥१७५॥

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षणके धारी भावबन्धका स्वरूप कहते हैं:—

गाथार्थ:—(उवओगमओ जीवो) उपयोगमई जीव (विविधे विसये) नानाप्रकार इन्द्रियोंके पदार्थोंको (पप्पा) पाकर (मुज्झदि) मोह कर लेता है (रज्जदि) राग कर लेता है (वा) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है । (पुणो) तथा (हि) निश्चयसे (जो) वही जीव (तेहिं संबंधो) उन भावोंसे बन्धा है, यही भावबंध है ।

टीकार्थ:—यह जीव निश्चय नयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तोभी अनादि कालसे कर्मबंधकी उपाधिके वशसे जैसे स्फटिकमणि उपाधिके निमित्तसे अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावोंसे परिणमता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित परमात्म-स्वरूपकी भावनासे विपरीत नाना प्रकार पंचेंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है । ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमई परम धर्मको न अनुभवता हुआ इन रागद्वेष मोह भावोंके निमित्तसे बद्ध होता है । यहां पर जो इस जीवके यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम हैं सो ही भावबन्ध है ॥ १७५ ॥

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवदेसो ॥१७६॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥१७६॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव । योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः । अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥१७६॥

अथ, भावबंधकी युक्ति और द्रव्यबंधका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [येन भावेन] जिस (राग, द्वेष, मोह) भावसे [विषये आगतं] विषयागत पदार्थको [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तेन एव] उसीसे [रज्यति] उपरक्त होता है, [पुनः] और (उसीसे उपरक्त भावसे) [कर्म बध्यते] कर्म बंधता है, [इति] ऐसा [उपदेशः] उपदेश है।

टीकाः—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होनेसे प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूहको जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे देखता है और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तवमें स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबंध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इसप्रकार यह द्रव्यबंधका निमित्त भावबंध है ॥ १७६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं च प्रतिपादयति:—

(भावेण जेण) भावेन परिणामेन येन (जीवो) जीवः कर्त्ता (पेच्छदि जाणदि) निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। किं कर्मतापन्नम् ? (आगदं विसये) आगतं प्राप्तं किमपीष्टानिष्टं वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये (रज्जदि तेणेव पुणो) रज्यते तेनैव पुनः आदिमध्यान्तवर्जितं रागादिदोषरहितं चिज्ज्योतिःस्वरूपं निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन्सन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेण भावयंश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते रागं करोति इति भावबन्धयुक्तिः। (बज्झदि कम्मत्ति उवएसो) तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूपं चेत्युपदेशः ॥१७६॥

एवं भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे भावबंधके कारण होनेवाला द्रव्यबन्ध और उसका स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थः—(जीवो) जीव (जेण भावेण) जिस रागद्वेष मोहभावसे (विसए आगदं) इंद्रियोंके विषयमें आए हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको (पेच्छदि) देखता है (जाणदि) जानता है (तेणेव रज्जदि) उसही भावसे रंग जाता है (पुणो) तब (कम्म) द्रव्यकर्म (बज्झदि) बन्ध जाता है (इति उवएसो) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है।

टीकार्थः—यह जीव पांचों इन्द्रियोंके जाननेमें जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते हैं उनको जिस परिणामसे निर्विकल्परूपसे देखता है व सविकल्परूपसे जानता है उसी ही दर्शनज्ञानमई उपयोगसे राग करता है क्योंकि वह आदि मध्य अन्त रहित, व रागद्वेषादि रहित चैतन्य ज्योतिस्वरूप निज आत्म–द्रव्यको न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ और समस्त रागादि विकल्पोंको छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ

वर्तन कर रहा है इससे ही रागी द्वेषी मोही होकर रागद्वेष मोह कर लेता है। यही भावबंध है। इसी भाव बंधके कारण नवीन द्रव्यकर्मोंको बांधता है, ऐसा उपदेश है ॥१७६॥

इस तरह भावबंधके कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥१७७॥

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥१७७॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ॥१७७॥

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनोंके बंधका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[स्पर्शैः] स्पर्शोंके साथ [पुद्गलानां बंधः] पुद्गलोंका बंध, [रागादिभिः जीवस्य] रागादिके साथ जीवका बंध, और [अन्योन्यम् अवगाहः] अन्योन्य अवगाह [पुद्गलजीवात्मकः भणितः] पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है।

टीकाः—प्रथम तो यहां, कर्मोंका जो स्निग्धता रूक्षतारूप स्पर्शविशेषोंके साथ एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबंध है, और जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबंध है, और जीव तथा कर्मपुद्गलके, परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे, जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है। [अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक दूसरेके परिणाममें निमित्तमात्र होवें, ऐसा जो (विशिष्टप्रकारका) उनका एकक्षेत्रावगाह संबंध है, सो वह पुद्गलजीवात्मक बंध है ॥ १७७ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोः परस्परबन्धो जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति;—

(फासेहि पुग्गलाणं बंधो) स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धः पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागादिभावनिमित्तेन स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसंयोगेन योसौ बन्धः स पुद्गलबन्धः। (जीवस्स रागमादीहिं) जीवस्य

रागादिभिर्निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभिः सह परिणमनं स जीवबन्ध इति । (अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो) अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः । निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणतजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्धरूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षणः स इत्थंभूतबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्धलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥१७७॥

उत्थानिका—आगे बंध तीन प्रकार है। एक तो पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोंका नवीन पुद्गल कर्मोंके साथ बंध होता है। दूसरा जीवका रागादि भावके साथ बंध होना है। तीसरा उसी जीवका ही नवीन द्रव्यकर्मोंसे बंध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्धके स्वरूपको कहते हैं—

गाथार्थः—(पुग्गलाणं) पुद्गलोंका (बंधो) बन्ध (फासेहिं) स्निग्ध रूक्ष स्पर्शसे, (जीवस्स) जीवका बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामोंसे तथा (पोग्गलजीवप्पगो) पुद्गल और जीवका बन्ध (अण्णोण्णं अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है।

टीकार्थः—जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंका पूर्वमें जीवके साथ बंधे हुए पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंसे साथ अपने यथायोग्य चिकने रुखे गुणरूप उपादान कारणसे जो बंध होता है उसको पुद्गल बंध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे शून्य जीवका जो रागादि भावोंमें परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होनेके कारण, स्निग्ध रूक्षकी जगह रागद्वेषमें परिणमन होते हुए जीवका बंध योग्य स्निग्ध रूक्ष परिणामोंमें परिणमन होनेवाले पुद्गलके साथ जो परस्पर अवगाहरूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है। इस तरह तीन प्रकार बंधका लक्षण जानने योग्य है ॥ १७७ ॥

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति ॥१७८॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥१७८॥

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः। अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च । अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यंतेऽपि च । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥१७८॥

अब, यह बतलाते हैं कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है:—

अन्वयार्थः—[सः आत्मा] वह आत्मा [सप्रदेशः] सप्रदेशी है, [तेषु प्रदेशेषु]

उन प्रदेशोंमें [पुद्गलाः कायाः] पुद्गलसमूह [प्रविशन्ति] प्रवेश करते हैं, [यथायोग्यं तिष्ठन्ति] यथायोग्य रहते हैं, [यान्ति] निकलते हैं [च] और [बध्यन्ते] बंधते हैं।

टीकाः—यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होनेसे सप्रदेशी है। उसके इन प्रदेशोंमें कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाका आलम्बनवाला परिस्पन्द (कम्पन) जैसा होता है वैसे परिस्पन्दवाले कर्मपुद्गलके समूह स्वयमेव प्रवेश भी करते हैं, रहते हैं, और निकलते भी हैं, यदि जीवके मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं। इसलिये निश्चित होता है कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है ॥ १७८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ बन्धो "जीवस्स रायमादीहिं" पूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेव रागत्वं द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति;—

(सपदेसो सो अप्पा) स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेशः। (तेसु पदेसेसु पुग्गला काया) तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकायाः कर्तारः (पविसंति) प्रविशन्ति। कथम्? (जहाजोग्गं) मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगानुसारेण यथायोग्यम्। न केवलं प्रविशन्ति (चिट्ठंति हि) प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्तं तिष्ठन्ति हि स्फुटम्। न केवलं तिष्ठन्ति (जंति) स्वकीयोदयकालं प्राप्य फलं दत्वा गच्छन्ति (बज्झंति) केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारणं रागादिकं लब्ध्वा पुनरपि द्रव्यबन्धरूपेण बध्यन्ते च। अत एतदायातं रागादिपरिणाम एव द्रव्यबन्धकारणमिति। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—प्रविशन्ति प्रदेशबन्धास्तिष्ठन्ति स्थितिबन्धाः फलं दत्वा गच्छन्त्यनुभागबन्धा बध्यन्ते प्रकृतिबन्धा इति ॥१७८॥

एवं त्रिविधबन्धमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें "जीवस्स रायमादीहिं" इस वचनसे जो रागपनेको भावबंध कहा था वही द्रव्यबंधका कारण है, ऐसा विशेष करके समर्थन करते हैं—

गाथार्थः—(सपदेसो) लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशी होनेसे प्रदेशवान (सो) वह (अप्पा) आत्मा है (तेसु पदेसेसु) उन प्रदेशोंमें (पोग्गला काया) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंड (जहाजोग्गं) योगोंके अनुसार (पविसंति) प्रवेश करते हैं, (तिट्ठंति) ठहरते हैं, (य जंति) तथा उदय होकर जाते हैं (बज्झंति) तथा फिर भी बंधते हैं।

टीकार्थः—मन, वचन, कायवर्गणाके आलम्बनसे और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे जो आत्माके प्रदेशोंमें सकम्पपना होता है उसको योग कहते हैं। उस योगके अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकाय आस्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदयकालको पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्षसे प्रतिकूल बन्धके कारण रागादिकोंका निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूपसे बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया कि रागादि परिणाम ही द्रव्यबंधका कारण

हैं। अथवा इस गाथासे दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि 'प्रविशन्ति' शब्दसे प्रदेशबंध, 'तिष्ठन्ति'से स्थिति बंध, 'जंति'से फल देकर जाते हुए अनुभागबंध और बद्ध्यन्तेसे प्रकृतिबन्ध ऐसे चार प्रकार बंधको समझना इस तरह तीन तरह बंधके कथनकी मुख्यतासे दो सूत्रोंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७९॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा।
एष बन्धसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥१७९॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते। ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ॥१७९॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि—राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है, द्रव्यबन्धका हेतु होनेसे वही निश्चयसे बंध है:—

अन्वयार्थः—[रक्तः] रागी आत्मा [कर्म बध्नाति] कर्म बांधता है, [रागरहितात्मा] रागरहित आत्मा [कर्मभिः मुच्यते] कर्मोंसे मुक्त होता है,—[एषः] यह [जीवानां] जीवोंके [बंधसमासः] बंधका संक्षेप (कथन) [निश्चयतः] निश्चयसे [जानीहि] जानो।

टीकाः—रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्मसे बंधता है, वैराग्यपरिणत नहीं। रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है। रागपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंधमें आने) वाले नवीन द्रव्यकर्मसे बंधता ही है, और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता। वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंधमें आने) वाले नवीन द्रव्यकर्मसे बंधता नहीं है, और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे मुक्त ही होता है। इससे निश्चित होता है कि-द्रव्यबंधका साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होनेसे रागपरिणाम ही निश्चयसे बंध है १७९

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ द्रव्यबन्धकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव बन्ध इति प्रज्ञापयति;—

(रत्तो बंधदि कम्मं) रक्तो बध्नाति कर्म। रक्त एव कर्म बध्नाति न च वैराग्यपरिणतः (मुंचदि कम्मेहिं

रागरहिदप्पा) मुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा न च बध्यते (एसो बंध-समासो) एष प्रत्यक्षीभूतो बन्धसंक्षेपः । (जीवाणं) जीवानां सम्बन्धी (जाण णिच्छयदो ; जानीहि त्वं हे शिष्य ! निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति । एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति ॥१७९॥

उत्थानिका—आगे फिर भी प्रगट करते हैं कि निश्चयसे रागादि विकल्प ही द्रव्यबंधका कारणरूप होनेसे भावबंध ही बंध है—

गाथार्थः—(रत्तो) रागी जीव ही (कम्मं बंधदि) कर्मोंको बांधता है न कि वैराग्यवान तथा (रागरहिदप्पा) रागरहित अर्थात् वैराग्य-सहित आत्मा (कम्मेहिं मुच्चदि) कर्मोंसे छूटता ही है वह रागरहित अर्थात् वैरागी शुभ अशुभ कर्मोंसे बंधता नहीं है (जीवाणं एसो बंधसमासो) यह जीव संबंधी प्रगटबंध तत्त्वका संक्षेप है (णिच्छयदो जाण) हे शिष्य ! निश्चयनयके अभिप्रायसे ऐसा जान।

टीकार्थ—इस तरह राग परिणामको ही बंधका कारण जान करके सर्व रागादि विकल्प जालों का त्याग करके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी निज आत्मतत्वमें निरन्तर भावना करनी योग्य है ॥१७६॥

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ॥१८०॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तत्र शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥१८०॥

अब परिणामका द्रव्यबंधके साधकतम रागसे विशिष्टत्व सविशेष प्रगट करते हैं अर्थात् यह भेदसहित प्रगट करते हैं कि परिणाम द्रव्यबंधके उत्कृष्ट हेतुभूत रागसे विशेषतावालाहोता है

अन्वयार्थः—[परिणामात् बंधः] परिणामसे बंध है, [परिणामः रागद्वेषमोहयुतः] वह परिणाम राग द्वेष-मोहयुक्त है। [मोहप्रद्वेषौ अशुभौ] (उनमेंसे) मोह और द्वेष अशुभ हैं, [रागः] राग [शुभः वा अशुभः] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है।

टीकाः—प्रथम तो द्रव्यबंध विशिष्ट परिणामसे होता है। परिणामकी विशिष्टता राग द्वेष-मोह-मयताके कारण है। वह शुभत्व और अशुभत्वके कारण द्वैतका अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकारका है), उसमेंसे मोह-द्वेषमयतासे अशुभत्व होता है, और रागमयतासे शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योंकि राग विशुद्धि तथा संक्लेशयुक्त होनेसे दो प्रकारका होता है।

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति;—

(परिणामादो बंधो) परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति । स च परिणामः किंविशिष्टः । (परिणामो रागदोसमोहजुदो) वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण संयुक्तः (असुहो मोहपदोसो) अशुभौ मोहप्रद्वेषौ परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम् । (सुहो व असुहो हवदि रागो) शुभोऽशुभो वा भवति रागः । पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूपः शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति । अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१८०॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यबंधका साधक जो जीवका रागादिरूप औपाधिक परिणाम है उसके भेदको दिखाते हैं:-

गाथार्थः—(परिणामादो) परिणामोंसे (बंधो)बंध होता है । (परिणामो) परिणाम (रागदोसमोहजुदो) रागद्वेष मोह युक्त होता है (मोहपदोसो) मोह और द्वेष (असुहो) अशुभ है । (रागो) राग (सुहो) शुभ (व असुहो) व अशुभ रूप (हवदि) होता है ।

टीकार्थः—वीतराग परमात्माके परिणामसे विलक्षण परिणाम रागद्वेष मोहकी उपाधिसे तीन प्रकारका होता है । इनमेंसे मोह और द्वेष दोनों तो अशुभ ही हैं । राग शुभ तथा अशुभके भेदसे दो प्रकारका होता है । पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्तिमें राग शुभ (प्रशस्त) राग कहा जाता है । जब कि विषय कषायोंमें राग अशुभ (अप्रशस्त) राग होता है । यह तीन ही प्रकारका परिणाम सर्व प्रकारसे ही उपाधि सहित है इसलिये बंधका कारण है । ऐसा जानकर प्रशस्त तथा अप्रशस्त समस्त राग द्वेषके नाश करनेके लिये सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित सहजानन्दमई एक लक्षणधारी सुखामृतस्वभावमई निज आत्मद्रव्यमें ही भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ १८० ॥

भावार्थ—पंच परमेष्ठीकी भक्ति अर्थात् पंचपरमेष्ठीके जो रत्नत्रय रूप गुण व वीतरागतामें जो रुचि प्रतीति तथा गुणानुवाद है वह संवर व निर्जराके कारण हैं तथा इससे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है । भक्ति के समय कर्मोदय से जो मंद कषाय रूप राग होता है । वह शुभ राग यद्यपि अल्प बंधका कारण है तथापि परम्परासे मोक्षका कारण है । भक्ति शुभ राग नहीं है, किन्तु मोक्ष सुखका कारण है । स्वयं श्री १०८ कुन्द-कुन्द आचार्य ने इसी प्रवचन सारमें गाथा ७९ के पश्चात् गाथा ७९ में कहा है—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स । पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥ ७९ ॥

अर्थात्—जो भगवान को प्रणाम करते हैं अथवा आराधना करते हैं वे मनुष्य अक्षय सुख (मोक्ष) को पाते हैं ।

भाव पाहुड़ में भी श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है-

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण । ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥ १५३ ॥

अर्थात्—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवरके चरण कमलनिकूं नमै हैं ते श्रेष्ठ भाव रूप शस्त्र करे जन्म (संसार) रूपी वेलि ता का मूल जो रागद्वेष मोह आदि कर्मको हणे (नाशकरे) हैं।

श्री ०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने मूलाचार में भी कहा है

"भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।"

अर्थ—जिनवर की भक्तिसे पूर्व संचित कर्मका नाश होता है।

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया [स. सि.]

अर्थ—चैत्य (जिन-बिम्ब), गुरु और शास्त्र की पूजा आदि क्रिया सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली (निमल करने वाली) है।

इस प्रकार जिनेन्द्र-भक्ति शुभ राग या मात्र बंधको कारण नहीं है। अपितु मोक्षकी कारण है १८०

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ॥१८१॥

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च। तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः। स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥१८१॥

अब विशिष्ट परिणामके भेदको तथा अविशिष्ट परिणामको, कारणमें कार्यका उपचार करके कार्यरूपसे बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[अन्येषु] परके प्रति [शुभ परिणामः] शुभ परिणाम [पुण्यम्] पुण्य है, और [अशुभः] अशुभ परिणाम [पापम्] पाप है, [इति भणितम्] ऐसा कहा है, [अनन्यगतः परिणामः] जो दूसरेके प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम [समये] समय पर [दुःखक्षयकारणम्] दुःख क्षयका कारण है।

टीकाः—प्रथम तो परिणाम दो प्रकारका है—परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। इनमें

से परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम परके द्वारा उपरक्त (परके निमित्तसे विकारी) होनेसे विशिष्ट परिणाम है, और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम परके द्वारा उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट परिणाम है उसमें विशिष्ट परिणामके पूर्वोक्त दो भेद हैं—शुभपरिणाम और अशुभ परिणाम। उनमें, पुण्यरूप पुद्गलके बंधका कारण होनेसे शुभपरिणाम पुण्य है, और पापरूप पुद्गलके बंधका कारण होनेसे अशुभ परिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक है, इसलिये उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसार दुःखके हेतुभूत कर्मपुद्गलके क्षयका कारण होनेसे संसारदुःखका हेतुभूत कर्मपुद्गलका क्षयस्वरूप मोक्ष ही है॥ १८१॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबन्धकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञां शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति;—

(सुहपरिणामो पुण्णं) द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते (असुहो पावत्ति भणिदं) द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः। (अण्णेसु) निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु (परिणामो णण्णगतो) परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः। स इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः (दुक्खक्खयकारणं) दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं (भणिदो) भणितः। क्व भणितः ? (समये) परमागमे लब्धिकाले वा।

किंच। मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमस्ति, अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः। नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव। तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति—वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं शुभाशुभशुद्धद्रव्यालम्बनमुपयोगलक्षणं चेति तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्नः कस्मादिति चेत् ? अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः। अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः। यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवद् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥१८१॥

एवं द्रव्यबन्धकारणत्वाद मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया ।.ँ ए चतुर्थस्थलं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि द्रव्यरूप पुण्य पाप बन्धका कारण होनेसे शुभ अशुभ परिणामोंको पुण्य पापकी संज्ञा है तथा शुभ अशुभसे रहित शुद्धोपयोगमय परिणाम मोक्षका कारण है—

गाथार्थः—(अण्णेसु) अपने आत्मासे अन्य द्रव्योंमें (सुहपरिणामो) शुभ रागरूप भाव (पुण्णं) द्रव्य पुण्यबन्धका कारण होनेसे भाव पुण्य है (असुहो) व अशुभ रागरूप भाव (पावत्ति भणियं) द्रव्य पाप बन्धका कारण होनेसे भाव पाप कहा है तथा (अणण्णगदो परिणामो) अन्य द्रव्यमें नहीं रमता हुआ स्वस्वरूपस्थ शुद्ध भाव (दुक्खक्खयकारणं) संसारके दुःखोंके क्षयका कारण भाव है ऐसा (समये) परमागममें कहा है।

टीकार्थः—अपने शुद्धात्मासे भिन्न सर्व शुभ व अशुभ द्रव्य हैं। इन द्रव्योंके सम्बन्धमें रहता हुआ जो शुभभाव है वह पुण्य है और जो अशुभभाव है वह पाप है तथा शुद्धोपयोगरूप भाव मोक्षका कारण होनेसे शुद्ध भाव है ऐसा परमागममें कहा है। अथवा ये भाव यथासंभव लब्धिकालमें होते हैं।

विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे अर्थात् कमती२ अशुभ परिणाम होता है ऐसा पहले कहा जा चुका है। अविरत सम्यक्त्व, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभ परिणाम कहा गया है। तथा अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय नाम बारहवें गुणस्थानतक तारतम्यसे शुद्धोपयोग ही कहा गया है। नयकी अपेक्षासे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे क्षीणकषाय तकके गुणस्थानोंमें अशुद्ध निश्चय नय ही होता है। इस अशुद्ध निश्चय नयके विषयमें शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ऐसा पूर्वपक्ष शिष्यने किया। उसका उत्तर देते हैं:- वस्तुके एक देशकी-परीक्षा यह नयका लक्षण है। शुभ अशुभ व शुद्ध द्रव्यके आलम्बनरूप भावको शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह उपयोगका लक्षण है। इस कारणसे अशुद्ध निश्चयनयके मध्यमें भी शुद्धात्माका आलम्बन होनेसे व शुद्ध ध्येय होनेसे व शुद्धका साधक होनेसे उपचारसे शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है। इस तरह नयका लक्षण और उपयोगका लक्षण यथासंभव सर्व जगह जानने योग्य है। यहां जो कोई रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित समाधि लक्षणमई शुद्धोपयोगको मुक्तिका कारण कहा गया है सो शुद्धात्मा द्रव्य लक्षण जो ध्येयरूप शुद्ध पारिणामिक भाव है उससे अभेद प्रधान द्रव्यार्थिक नयसे अभिन्न होनेपर भी प्रधान पर्यायार्थिक नयसे भिन्न है। इसका कारण यह है कि यह जो समाधिलक्षण शुद्धोपयोग है वह एकदेश आवरण रहित होनेसे क्षायोपशमिक खंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है तथा वह शुद्धात्मारूप शुद्ध पारिणामिक भाव सर्व आवरणसे रहित होनेके कारणसे अखंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है। यह समाधिरूप भाव आदि व अन्त सहित होनेसे नाशवान है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव अनादि व अनंत होनेसे अविनाशी है। यदि एकांतसे अभेद हो तो जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टीके पिंडके नाशकी तरह ध्यान पर्यायके नाश होनेपर व मोक्ष अवस्थाके उत्पन्न होनेपर ध्येयरूप पारिणामिकका भी विनाश होजायगा, सो ऐसा है नहीं। मिट्टीके पिंडसे जैसे घट अवस्थाकी अपेक्षा भेद है मिट्टीकी अपेक्षा अभेद है वैसे ध्यान पर्यायसे ध्येय भावका अवस्थाकी-अपेक्षा भेद है जब कि आत्म-द्रव्यकी अपेक्षा अभेद है। इसीसे जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यान भावनारूप नहीं है क्योंकि ध्यान नाशवंत है॥ १८१॥

भावार्थ—शुभ राग यद्यपि पुण्य बंधका कारण है तथापि वह शुभ राग व पुण्य मोक्षका कारण है।

विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः । सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ १२२ ॥

[आत्मानुशासन]

अर्थ—जिसने अज्ञान अंधकार दूर करदिया है ऐसे जीवके तप शास्त्रादिक-संबंधी रागभाव है सो कल्याणके उदय के लिये ही है। जैसे सूर्यकी प्रभातकाल-संबंधी रक्तता रात्रि संबंधी अंधकारका नाश कर प्रकाशको कारण है।

"लोहो सया पेज्जं, तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति दंसणादो।"

[जयधवल पु. १ पृ. ३६६]

अर्थ—लोभ कथंचित् पेज्ज (राग) है, क्योंकि रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है ॥ १८१ ॥

इस तरह द्रव्य बंधका कारण होनेसे मिथ्यात्व रागादि विकल्परूप भाव बन्ध ही निश्चयसे बन्ध है ऐसे कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकामाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः ॥१८२॥

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः। अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥१८२॥

अब, जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व-परका विभाग बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[अथ] अब जो [पृथिवीप्रमुखाः] पृथ्वी आदि, [जीवनिकायाः] जीवनिकाय [स्थावराः च त्रसाः] स्थावर और त्रस [भणिताः] कहे गये हैं, [ते] वे [जीवात् जीवसे (अन्ये) अन्य हैं, [च] और [जीवः अपि] जीव भी [तेभ्यः अन्यः] उनसे अन्य है।

टीकाः—जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रसस्थावरके भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तवमें अचेतनत्वके कारण जीवसे अन्य हैं, और जीव भी चेतनत्वके कारण उनसे अन्य है। यहां (यह कहा है कि) आत्माके षट् जीवनिकाय परद्रव्य हैं, एक आत्मा ही स्वद्रव्य है ॥ १८२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति;—

(भणिदा पुढविप्पमुहा) भणिताः परमागमे कथिताः पृथिवीप्रमुखाः । ते के । (जीवणिकाया) जीवसमूहाः (अथ) अहो । कथंभूताः (थावरा य तसा) स्थावराश्च त्रसाः । ते च किंविशिष्टाः । (अण्णा ते) अन्ये भिन्नास्ते । कस्मात् ? (जीवादो) शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात् । (जीवोवि य तेहिंदो अण्णो) जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति । तथाहि-टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः । जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति । अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्ति परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः ॥१८२॥

उत्थानिका—आगे इस जीवकी अपने आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्योंसे निवृत्तिके कारण छः प्रकार जीवकायोंसे भेदविज्ञान दिखलाते हैं:—

गाथार्थः—(पुढविप्पमुहा) पृथ्वीको आदि लेकर (जीवनिकाया) जीवोंके समूह (अथ थावरा य तसा) अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस (भणिदा) जो परमागममें कहे गए हैं (ते जीवादो अण्णा) वे सब शुद्धबुद्ध एक जीवके स्वभावसे भिन्न हैं । (जीवो वि य तेहिंदो अण्णो) तथा यह जीव भी उनसे भिन्न है ।

टीकार्थः—टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप परमात्मतत्त्वकी भावनाको न पाकर इस जीवने जो त्रस या स्थावर नाम कर्म बांधा है उसके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण अचेतन होनेसे ये त्रस स्थावर जीवों के समूह शुद्ध चैतन्य स्वभावधारी जीवसे भिन्न हैं । जीव भी उनसे विलक्षण होनेसे उनसे भिन्न है । यहां यह प्रयोजन है कि इस तरहके भेद विज्ञान हो जानेपर मोक्षार्थी जीव अपने निज आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति करता है और परद्रव्यसे अपनेको हटाता है ॥ १८ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥१८३॥

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥१८३॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥१८३॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि–जीवको स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका अज्ञान है:–

अन्वयार्थः—[यः] जो [एवं] इसप्रकार [स्वभावम् आसाद्य] स्वभावको प्राप्त करके (जीव-पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके) [परम् आत्मानं] परको और स्वको [न एव जानाति] जानता ही नहीं, [मोहात्] वह मोहसे '[अहम्] यह मैं हूं, [इदं मम] यह मेरा है' [इति] इस प्रकार [अध्यवसानं] अध्यवसान [कुरुते] करता है।

टीका:—जो आत्मा इसप्रकार (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभावके द्वारा जीव और पुद्गलके स्व-परके विभागको नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूं, यह मेरा है' इस प्रकार मोहसे परद्रव्यमें अपनेपनका अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं। इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके ज्ञानका अभाव-मात्र ही है, और (कहे विना भी) सामर्थ्यसे (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त उसका अभाव (स्व-परके-ज्ञानके अभावका अभाव–स्वपरके ज्ञानका सद्भाव) है १८३

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण दृढयति;—

(जो णवि जाणदि एवं) यः कर्त्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण । कं । (परं) षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यम् (अप्पाणं) निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम् । किंकृत्वा । (सहावमासिज्ज) शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य (कीरदि अज्झवसाणं) स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामं । केन रूपेण । (अहं ममेदत्ति) अहं ममेदमिति । ममकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकं ममेतिरूपेण । कस्मात् ? (मोहादो) मोहाधीनत्वादिति । ततः स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति ॥१८३॥

एवं भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका:—आगे इसी ही भेदविज्ञानको अन्य तरहसे दृढ़ करते हैं—

गाथार्थः—(जो) जो कोई (सहावं) निज स्वभावको (आसेज्ज) आश्रय करके (पर अप्पाणं एव) परको और आत्माको इस तरह भिन्न (ण व जाणदि) नहीं जानता है वही (मोहादो) मोह के निमित्तसे (अहं ममेदत्ति) मैं इस पर रूप हूं या यह पर मेरा है ऐसा (अज्झवसाणं कीरदि) अध्यवसान करता है।

टीकार्थः—जो कोई शुद्धोपयोग लक्षण निज स्वभावको आश्रय करके पूर्वमें कहे प्रमाण छः काय के जीव समूहादि परद्रव्योंको और निर्दोष परमात्मद्रव्यस्वरूप निज आत्माको भिन्न २ नहीं जानता है वह ममकार व अहंकार आदिसे रहित परमात्माकी भावनासे रहित मोहके अधीन होकर यह परिणाम किया

करना है कि मैं रागादि परद्रव्यरूप हूं या यह शरीरादि मेरा है इससे यह सिद्ध हुआ कि इस तरहके स्व-परके भेद विज्ञानके बलसे स्वसंवेदन ज्ञानी जीव अपने आत्म-द्रव्यमें प्रीति करता है और परद्रव्यसे निवृत्ति करता है ॥ १८३ ॥

इस तरह भेदभावनाके कथनकी मुख्यता करके दो सूत्रोंमें पांचमा स्थल पूर्ण हुआ।

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥१८४॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥१८४॥

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात्। स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात्। एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः। एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म ॥१८४॥

अब यह निरूपण करते हैं कि आत्माका कर्म क्या है:—

अन्वयार्थः—[स्वभावं कुर्वन्] अपने भावको करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तवमें [स्वकस्य भावस्य] अपने भावका [कर्ता भवति] कर्ता है, [तु] परन्तु [पुद्गलद्रव्यमयानां सर्व-भावानां] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोंका [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

टीकाः—प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्व (अपने) भावको करता है क्योंकि वह (भाव) उस आत्माका स्व धर्म है। आत्माके उसरूप होनेकी (परिणमित होनेकी) शक्ति होनेसे वह (भाव) अवश्यमेव आत्माका कार्य है (इस प्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्वभावको) स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है, और स्व भाव आत्माके द्वारा किया जाता हुआ आत्मा के द्वारा प्राप्य होनेसे अवश्य ही आत्माका कर्म है। इस प्रकार स्वपरिणाम आत्माका कर्म है।

परन्तु, आत्मा पुद्गलके भावोंको नहीं करता, क्योंकि वे परके धर्म हैं। आत्माके उस रूप(परिणत) होनेकी शक्ति न होनेसे, वे आत्माके कार्य नहीं हैं। (इसप्रकार) वह (आत्मा)

उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता, और वे आत्माके द्वारा न किये जाते हुये उसके कर्म नहीं हैं। इस प्रकार पुद्‌गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है ॥ १८४ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति:—

(कुव्वं सहावं) कुर्वन्स्वभावम्, अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि, शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते, तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते। तं स्वभावं कुर्वन्। स कः। (आदा) आत्मा (हवदि हि कत्ता) कर्त्ता भवति हि स्फुटम्। कस्य ? (सगस्स भावस्स) स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते। कस्मात्। तप्तायःपिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति। (पुग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं) चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्‌गलद्रव्यमयानां न तु कर्त्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति। ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म तस्यैव स कर्त्तेति ॥१८४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा अपने ही परिणामोंका कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है–अशुद्ध निश्चयसे रागादि भावोंका व शुद्ध निश्चयसे शुद्ध वीतराग भावका कर्ता है:—

गाथार्थ:—(आदा) आत्मा (सभावं कुव्वं) अपने भावको करता हुआ (सगस्स भावस्स) अपने भावका (हि) ही (कत्ता हवदि) कर्त्ता होता है। (पोग्गलदव्वमयाणं सव्वभावाणं) पुद्‌गल द्रव्य से बनी हुई सर्व अवस्थाओंका (ण दु कत्ता) तो कर्त्ता नहीं है।

टीकार्थ:—स्वभाव शब्दसे यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे शुद्धबुद्ध एक स्वभाव ही कहा जाता है तथापि यहां स्वभाव शब्दसे कर्मबन्धके प्रस्तावमें अशुद्ध निश्चयनयसे रागादि परिणामको भी स्वभाव कहते हैं। यह आत्मा इस तरह अपने भावको करता हुआ अपने ही चिद्रूप स्वभाव रूप रागादि परिणामका ही प्रगटपने कर्ता है और वह रागादि परिणाम निश्चयसे उसका भावकर्म कहा जाता है। जैसे गर्म लोहेमें उष्णता व्याप्त है वैसे आत्मा उन रागादि भावोंमें व्याप्त होजाता है। तथा चैतन्यरूपसे विलक्षण पुद्‌गल द्रव्यमई सर्व भावोंका–ज्ञानावरणीय आदि कर्मकी पर्यायोंका तो यह आत्मा कभी भी कर्ता होता नहीं। इससे जाना जाता है कि रागादि अपना परिणाम ही कर्म है जिसका ही यह जीव कर्ता है ॥ १८४ ॥

भावार्थ—श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तीने भी द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तापना इस तरह बताया है—

'*पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥*

यह आत्मा व्यवहारनयसे ज्ञानावरणीय आदि पौद्‌गलिक कर्मोंका कर्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चयसे रागादिभावोंका कर्ता है और शुद्ध निश्चयनयसे यह शुद्ध चेतनभावोंका कर्ता है ॥ १८४ ॥

अथ कथमात्मनः पुद्‌गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥१८५॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥१८५॥

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्, यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य। आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ॥१८५॥

अब, इस संदेहको दूर करते हैं कि पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं है ? :-

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [सर्वकालेषु] सर्व कालोंमें (सदा) [पुद्गलमध्ये वर्तमानः अपि] पुद्गलके मध्यमें रहता हुआ भी [पुद्गलानि कर्माणि] पौद्गलिक कर्मोंको [हि] वास्तवमें [गृह्णाति न एव] न तो ग्रहण करता है, [न मुंचति]न छोड़ता है और [न करोति] न करता है।

टीकाः—वास्तवमें पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्यके ग्रहण त्यागसे रहित है। जो जिसका परिणमन करानेवाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण-त्यागसे रहित नहीं देखा जाता, जैसे—अग्नि लोहेके गोलेके ग्रहण त्यागसे रहित होती है। आत्मा तो तुल्य क्षेत्रमें वर्तता हुआ भी (परद्रव्यके साथ एक क्षेत्रावगाही होने पर भी) परद्रव्यके ग्रहण त्यागसे रहित ही है इसलिये वह पुद्गलोंको कर्मभावरूप परिणमित करानेवाला नहीं है १८५

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथात्मनः कथं द्रव्यकर्मरूपपरिणामः कर्म न स्यादिति प्रश्नसमाधानं ददाति;—

(गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पुग्गलाणि कम्माणि जीवो) यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनिः परभावं न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्नि तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति । किं कुर्वन्नपि ? (पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु) क्षीरनीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्त्तमानोऽपि सर्वकालेषु । अनेन किमुक्तं भवति–यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्त्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण संसारी जीवोऽपीति भावार्थः ॥१८५॥

उत्थानिका—आगे इस प्रश्नके होनेपर कि आत्माके किस तरह द्रव्य कर्मका परिणामनरूपी कर्म नहीं होता है, आचार्य समाधान करते हैं:—

गाथार्थः—(जीवो) यह जीव (पोग्गलमज्झे) पुद्गलोंके मध्यमें (सव्वकालेसु) सर्व कालों

में (वट्टण्णवि) रहता हुआ भी (पोग्गलाणि कम्माणि) पुद्गलमई कर्मोंको (णेव गेण्हदि) न तो ग्रहण करता है (ण मुंचदि) न छोड़ता है (ण हि करेदि) और न करता है।

टीकार्थ:—यह जीव सर्व कालोंमें दूध पानीकी तरह पुद्गलके बीचमें वर्तमान है तो भी जैसे निर्विकल्प समाधिमें रत परम मुनि परभावको न ग्रहण करते, न छोडते, न करते अथवा जैसे लोहेका गोला उपादान रूपसे अग्निको ग्रहण करता, छोडता व करता नहीं है तैसे यह आत्मा उपादान रूपसे पुद्गल मई कर्मोंको न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है, न करता है। इससे यह कहा गया कि जैसे सिद्ध भगवान पुद्गलके मध्यमें रहते हुए भी परद्रव्यके ग्रहण त्यजन व करनेके व्यापारसे रहित हैं तैसे ही शुद्ध निश्चयनयसे स्वभावकी अपेक्षा संसारी जीव भी ग्रहण त्यागादि नहीं करते हैं ॥ १८५ ॥

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥१८६॥

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥१८६॥

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलिभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ॥१८६॥

तब फिर (यदि आत्मा पुद्गलोंको कर्मरूप परिणमित नहीं करता) तो आत्मा किस प्रकार पुद्गल कर्मोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है ? इसका निरूपण करते हैं:—

अन्वयार्थः—[सः] वह (आत्मा) [इदानीं] अभी (संसारावस्थामें) [द्रव्यजातस्य] द्रव्यसे (आत्मद्रव्यसे) उत्पन्न होनेवाले [स्वकपरिणामस्य] (अशुद्ध) स्वपरिणाम का [कर्ता सन्] कर्ता होता हुआ [कर्मधूलिभिः] कर्मरजसे [आदीयते] ग्रहण किया जाता है, और [कदाचित् विमुच्यते] कदाचित छोड़ा जाता है

टीकाः—वह यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित होता हुआ भी, अभी संसारावस्थामें, परद्रव्यपरिणामको निमित्तमात्र करते हुये, द्रव्यत्वभूत (द्रव्यरूप, द्रव्यसे उत्पन्न) होनेसे केवल अपने परिणाममात्रके कर्तृत्वका अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्मपरिणामको प्राप्त होती हुई पुद्गलरजके द्वारा विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है ॥ १८६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुञ्चति तर्हि बन्धः कथं तर्हि मोक्षोऽपि कथमितिप्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;—

(स इदाणीं कत्ता सं) स इदानीं कर्ता सन् स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा इदानीं कोऽर्थः एवं पूर्वोक्तनयविभागेन कर्त्ता सन् । कस्य ? (सगपरिणामस्स) निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीयपरिणामस्य । पुनरपि किं विशिष्टस्य ? (दव्वजादस्स) स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । (आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं) आदीयते बध्यते । काभिः ? कर्मधूलिभिः कर्तृभूताभिः कदाचित्पूर्वोक्तविभावपरिणामकाले । न केवलमादीयते (विमुंचदे) विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभिः कर्मधूलिभिः कदाचित्पूर्वोक्तकारणसमयसारपरिणतिकाले । एतावता किमुक्तं भवति—अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यत इति ॥१८६॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जब यह आत्मा पौद्गलिक कर्मको नहीं करता है, न न छोडता है तब इसके बन्ध कैसे होता है तथा मोक्ष भी कैसे होता है ? इसके समाधानमें आचार्य उत्तर देते हैं—

गाथार्थः—इदाणिं) अब इस संसार अवस्थामें अशुद्धनयसे (स) वह आत्मा (दव्वजादस्स सगपरिणामस्स) अपने ही आत्मद्रव्यसे उत्पन्न अपने ही परिणामका (कत्ता सं) कर्ता होता हुआ (कदाई) कभी तो (कम्मधूलीहिं) कर्मरूपी धूलसे (आदीयदे) बंध जाता है व कभी (विमुच्चदे) छूट जाता है ।

टीकार्थः—वह पूर्वोक्त संसारी आत्मा अब वर्तमानमें इस तरह पूर्वोक्त नय विभागसे अर्थात् अशुद्धनयसे निर्विकार नित्यानन्दमई एक लक्षणरूप परमसुखामृतकी प्रगटतामई कार्य समयसारको साधने वाले निश्चयरत्नत्रयमय कारण समयसारसे विलक्षण मिथ्यात्व व रागादि विभावरूप अपने ही आत्मद्रव्यरूप उपादान कारणसे उत्पन्न अपने परिणामका कर्त्ता होता हुआ पूर्वोक्त विभाव परिणामके समयमें कर्मरूपी धूलसे बंध जाता है। और जब कभी पूर्वोक्त कारण समयसार की परिणतिमें परिणमन करता है तब उन्हीं कर्मकी रजोंसे विशेष करके छूटता है । इससे यह कहा गया कि यह जीव अशुद्ध परिणामोंसे बंधता है तथा शुद्ध परिणामोंसे मुक्त होता है ॥ १८६ ॥

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥१८७॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥१८७॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् । तथाहि—यथा यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाद्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्त कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते । अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ॥१८७॥

अब पुद्गल कर्मोंकी विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) है, इसका निरूपण करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यदा] जब [रागद्वेषयुतः] रागद्वेषयुक्त [आत्मा] आत्मा [शुभे अशुभे] शुभ और अशुभ भावोंमें [परिणमति] परिणमित होता है, तब [कर्मरजः] कर्मरज [ज्ञानावरणादिभावैः] ज्ञानावरणादिरूपसे [तं] उसमें [प्रविशति] प्रवेश करती है।

टीकाः—जैसे नवमेघजलके भूमिसंयोगरूप परिणामके समय अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव वैचित्र्यको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार आत्माके शुभाशुभ परिणामके समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तवमें स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त होते हैं। वह इसप्रकार है कि—जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त हरियाली कुकुरमुत्ता (छत्ता), और इन्द्रगोप (चातुर्मासमें उत्पन्न लाल कीड़ा) आदि रूप परिणमित होता है, इसीप्रकार जब यह आत्मा राग द्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होना है तब अन्य, योगद्वारोंसे प्रविष्ट होते हुये, कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मोंकी विचित्रता (विविधता) का होना पुद्गलस्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नहीं। १८७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति;—

(परिणमदि जदा अप्पा) परिणमति यदात्मा समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षणं शुद्धोपयोगपरिणामं मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति । कथं ? (सुहम्हि असुहम्हि) शुभेऽशुभे वा परिणामे । कथंभूतः सन् ।

(रागदोसजुदो) रागद्वेषयुक्तः परिणत इत्यर्थः । (तं पविसदि कम्मरयं) तदा काले तत्प्रसिद्धं कर्मरजः प्रविशति । कैः कृत्वा ? (णाणावरणादिभावेहिं) भूमेर्मेघजलसंयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गलाः स्वयमेव हरितपल्लवादिभावैः परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावैः पर्यायैरिति । ततो ज्ञायते ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्तिः स्वयंकृता तथा मूलोत्तरप्रकृतिरूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥१८७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे द्रव्यकर्म निश्चय नयसे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं वैसे वे स्वयं ही ज्ञानावरणादि विचित्ररूपसे परिणमन करते हैं—

गाथार्थः—(जदा) जब (रागदोसजुदो) रागद्वेष सहित (अप्पा) आत्मा (सुहम्मि असुहम्मि) शुभ या अशुभ भावमें (परिणमदि) परिणमन करता है तब (कम्मरयं) कर्मरूपी रज स्वयं (णाणावरणादिभावेहिं) ज्ञानावरणादिकी पर्यायोंसे (पविसदि) जीवमें प्रवेश कर जाती है ।

टीकार्थ—जब यह राग द्वेषमें परिणमता हुआ आत्मा सर्व शुभ तथा अशुभ द्रव्यमें परम उपेक्षा के लक्षणरूप शुद्धोपयोग परिणामको छोडकर शुभ परिणाममें या अशुभ परिणाममें परिणमन करता है उसी समयमें, जैसे भूमिके पुद्गल मेघजलके संयोगको पाकर आप ही हरी घास आदि अवस्था में परिणमन करते हैं, इसी तरह कर्मपुद्गलरूपी रज नानाभेदको धरनेवाले ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी पर्यायोंमें स्वयं परिणमन करती है । इससे जाना जाता है कि (उपादानकी अपेक्षा) ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति उन्हींके द्वारा होती है तथा उनमें मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी विचित्रता भी उन्हींकृत है, जीवकृत नहीं है ॥ १८७ ॥

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीनां जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूपं प्रतिपादयति;—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि । विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं

शुभप्रकृतीनां विशुद्धया तीव्रो अशुभानां संक्लेशे । विपरीतास्तु जघन्यो अनुभागो सर्वप्रकृतीनां ॥॥१८७-१॥

(अणुभागो) अनुभागः फलदानशक्तिविशेषः भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतो भवति ? (तिव्वो) तीव्रः प्रकृष्टः परमामृतसमानः । कासां सम्बन्धी । (सुहपयडीणं) सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम् । कया कारणभूतया ? (विसोही) तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्धया । (असुहाण संकिलेसम्मि) असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसंक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति । (विवरीदो दु जहण्णो) विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति । जघन्यविशुद्धया जघन्यसंक्लेशेन च मध्यमविशुद्धया मध्यमसंक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीनां खण्डशर्करारूपः काञ्जीरविषरूपश्चेति । एवंविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभागः कासां सम्बन्धी भवति ? (सव्वपयडीणं) मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नानां हेयभूतानां सर्वमूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥१८७॥

उत्थानिका—आगे पूर्वमें कही हुई ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका जघन्य उत्कृष्ट अनुभागका स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थः—(सुहपयडीण) शुभ प्रकृतियोंका (अणुभागो) अनुभाग (विसोही) विशुद्धभावसे

(असुहाण) अशुभ प्रकृतियोंका (संकिलेसम्मि) संक्लेश भावसे (तिव्वो) तीव्र होता है, (विवरीदो दु) परन्तु इसके विपरीत होनेपर (सव्वपयडीणं) सर्व प्रकृतियोंका (जहण्णो) जघन्य होता है।

विशेषार्थः—फल देनेकी शक्ति विशेषको अनुभाग कहते हैं। तीव्र धर्मानुरागरूप विशुद्धभावसे सातावेदनीय आदि शुभ कर्म प्रकृतियोंका अनुभाग परम अमृतके समान उत्कृष्ट पड़ता है तथा मिथ्यात्व आदिरूप संक्लेश भावसे असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग हालाहल विषके समान तीव्र पड़ता है। तथा जघन्य विशुद्धिसे व मध्यम विशुद्धिसे शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग जघन्य या मध्यम पड़ता है अर्थात् गुड़, खांड, शर्करारूप पड़ता है। वैसे ही जघन्य या मध्यम संक्लेशसे अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग नीम, कांजीर विषरूप जघन्य या मध्यम पड़ता है। इस तरह मूल उत्तर प्रकृतियोंसे रहित निज परमानंदमई एक स्वभावरूप तथा सब प्रकार उपादेय भूत परमात्मद्रव्यसे भिन्न और त्यागने योग्य सर्व मूल और उत्तर प्रकृतियोंसे जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अनुभागको अर्थात् कर्मकी शक्तिके विशेषको जानना चाहिये ॥ १८७ । १ ॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः ।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥१८८॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ॥१८८॥

अब यह समझाते हैं कि अकेला आत्मा ही बंध है:—

अन्वयार्थः—[सप्रदेशः] प्रदेशयुक्त [सः आत्मा] वह आत्मा [समये] यथाकाल [मोहरागद्वेषैः] मोह-राग-द्वेषके द्वारा [कषायितः] कषायित होनेसे [कर्मरजोभिः श्लिष्टः] कर्मरजसे लिप्त या बद्ध होता हुआ [बंधः इति प्ररूपितः] 'बंध' कहा गया है।

टीकाः—जैसे जगतमें सप्रदेशत्व होते हुये वस्त्र लोध-फिटकरी आदिसे कषायित (कसैला) होनेसे मंजीठादिके रंगसे संबद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार सप्रदेशत्व होते हुये आत्मा भी यथाकाल मोह राग द्वेषके द्वारा कषायित (मलिन—रंगा हुआ) होनेसे कर्मरजके द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बंध है, ऐसा देखना (मानना) चाहिये, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है ॥ १८८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यत इत्यावेदयति;—

(सपदेसो) लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति (सो अप्पा) स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा। पुनरपि किं विशिष्टः ? (कसायदो) कषायितः परिणतो रञ्जितः। कैः। (मोहरागदोसेहिं) निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषैः। पुनश्च किंरूपः। (कम्मरएहिं सिलिट्ठो) कर्मरजोभिः श्लिष्टः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरजोभिः संश्लिष्टो बद्धः। (बंधोत्ति परूविदो) अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपितः। क्व ? (समये) परमागमे। अत्रेदं भणितं भवति-यथा वस्त्रं लोध्रादिद्रव्यैः कषायितं रञ्जितं सन्मञ्जीष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा लोध्रादिद्रव्यस्थानीयमोहरागद्वेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलैः संश्लिष्टः संबद्धः सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते। कस्मात् ? अशुद्धद्रव्यनिरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति ॥१८८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि अभेदनयसे बंधके कारणभूत रागादिभावोंमें परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंधके नामसे कहा जाता है।

गाथार्थः—(सपदेसो सो अप्पा) प्रदेशवान वह आत्मा (मोह रागदोसेहिं कसायदो) मोह राग द्वेषोंसे कषायला होता हुआ (कम्मरजेहिं) कर्मरूपी धूलसे (सिलिट्ठो) लिपटा हुआ (बंधोत्ति) बंधरूप है, ऐसा (समये परूविदो) आगममें कहा है।

टीकार्थः—लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको अखंड रूपसे रखनेवाला यह आत्मा मोह भाव रहित अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाको रोकनेवाले मोह राग द्वेष भावोंसे रंगा हुआ और कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलरूपी धूलसे बंधा हुआ, अभेदनयसे आगममें बंधरूप कहा गया है। यहां यह अभिप्राय है कि जैसे वस्त्र लोध, फिटकरी आदि द्रव्योंसे कषायला होकर मंजीठ आदि रंगसे रंगा हुआ अभेदनयसे लाल वस्त्र कहलाता है वैसे वस्त्रके स्थानमें यह आत्मा लोधादि द्रव्यके स्थानमें मोह रागद्वेषोंसे परिणमन करके मंजीठके स्थानमें कर्मपुद्गलोंसे बंधाहुआ वास्तवमें कर्मसे भिन्न है तो भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहारसे बंधरूप कहा जाता है, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनयका विषय अशुद्ध द्रव्य है

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥१८९॥

एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥१८९॥

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गलपरिणाम

आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः । उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः १८९

अब निश्चय और व्यवहारका अविरोध बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[एषः] यह (पूर्वोक्त प्रकारसे), [जीवानां] जीवोंके [बंधसमासः] बंधका संक्षेप कथन [निश्चयेन] निश्चयसे [अर्हद्भिः] अर्हन्त भगवानने [यतीनां] यतियोंको [निर्दिष्टः] कहा है, [अन्यथा] अन्यप्रकारसे (जो कथन है, वह) [व्यवहारः] व्यवहार है, (ऐसा जिनेन्द्रने) [भणितः] कहा है।

टीकाः—रागपरिणाम ही आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसीका ग्रहण करनेवाला है और उसीका त्याग करनेवाला है,-यह, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनय है। पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है, जो (यह कथन है) वह अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है। यह दोनों ही (नय) हैं, क्योंकि शुद्धतया और अशुद्धतया-दोनों प्रकारसे द्रव्यकी प्रतीति की जाती है। किन्तु यहां निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्टसाधक) होनेसे ग्रहण की गयी है, (क्योंकि) साध्यके शुद्ध होनेसे द्रव्यके शुद्धत्वकी द्योतक (प्रकाशक) होनेसे निश्चयनय ही साधकतम है, किन्तु अशुद्धत्वकी द्योतक व्यवहारनय (साधकतम) नहीं ॥१८९॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

(एसो बंधसमासो) एष वन्धसमासः एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसंक्षेपः केषां सम्बन्धी । (जीवाणं) जीवानाम् । (णिच्छयेण णिद्दिट्ठो) निश्चयेन निर्दिष्टः कथितः । कैः कर्तृभूतैः । (अरहंतेहिं) अर्हद्भिः निर्दोषपरमात्मभिः । केषाम् ? (जदीणं) जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम् । (ववहारो) द्रव्यकर्मरूपव्ययहारबन्धः (अण्णहा भणिदो) निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणितः । किंच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुंक्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अयं तु निश्चयनयो द्रव्यकर्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुंक्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते । इदं नयद्वयं तावदस्ति । किंत्वत्र निश्चयनय उपादेयः न चासद्भूतव्यवहारः ।

ननु रागादीनात्मा करोति भुंक्ते चेत्येवं लक्षणो निश्चयनयो व्याख्यातः स कथमुपादेयो भवति ? परिहारमाह—रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्मरागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति। ततः परंपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न भण्यते तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्रायः ॥१८९॥

एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थलं गतम्। इति 'अरसमरूवं' इत्यादिगाथात्रयेण पूर्वं शुद्धात्मव्याख्याने कृते सति शिष्येण यदुक्तममूर्तस्यात्मनो मूर्तकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति तत्परिहारार्थं नयविभागेन बन्धसमर्थनमुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभिः स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः।

अतः परं द्वादश गाथापर्यन्तं चतुर्भिः स्थलैः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणविशेषभेदभावनारूपचूलिका-व्याख्यानं करोति। तत्र शुद्धात्मनो भावना प्रधानत्वेन 'ण चयदि जो दु ममत्तिं' इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथा-चतुष्टयम्। तदनन्तरं शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोहग्रन्थिविनाशः क्रमेण तदुभयविनाशो भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'जो एवं जाणित्ता' इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। ततः परं केवलिध्यानोपचारकथनरूपेण 'णिहदघणघाइकम्मा' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तरं दर्शनाधिकारोपसंहारप्रधानत्वेन 'एवं जिणा जिणिंदा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। ततः परं 'दंसणसंसुद्धाणं' इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

उत्थानिका:—आगे निश्चय और व्यवहारका अविरोध दिखाते हैं—

गाथार्थ:—(अरहंतेहिं) अरहंतोंके द्वारा (जदीणं) यतियोंको (जीवाणं) जीवोंका (एसो बंधसमासो) यह पूर्वोक्त प्रकार रागादि परिणातरूप बंधका संक्षेप (णिच्छएण णिद्दिट्ठो) निश्चयनयसे कहा गया है। (ववहारो) व्यवहारनयसे (अण्णहा) इससे अन्य जीव पुद्गलका बंध (भणिदो) कहा गया है।

टीकार्थ—निर्दोष परमात्मा अरहंत हैं, उन्होंने जितेन्द्रिय तथा आत्मस्वरूपमें यत्नकरनेवाले गणधरदेव आदि यतियोंको निश्चयनयसे जीवोंके रागादि परिणामको ही संक्षेपमें बंध कहा है। व्यवहारनय से द्रव्यकर्मके बंधको बंध कहा है। जो निश्चयनय की अपेक्षा अन्यथा है, यहां पर निश्चयनयका यही मत है कि यह आत्मा रागादिभावोंका ही कर्ता और उनहीका भोक्ता है। द्रव्यकर्म-बन्धको कहनेवाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनयके भी दो भेद हैं। जो शुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह शुद्ध निश्चयनय है तथा जो अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह अशुद्ध निश्चयनय है। आत्मा द्रव्य कर्मोंको करता है तथा भोगता है यह अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। इस तरह दोनों नयोंसे बंधका स्वरूप है। यहां निश्चयनय उपादेय है और असद्भूत व्यवहार हेय है।

प्रश्न आपने निश्चयनयसे कहा है कि यह आत्मा रागादि भावोंको कर्ता व भोक्ता है सो यह किस तरह उपादेय हो सक्ता है ?

समाधानः—जीव इस बातको जानेगा कि रागादि भावोंको ही आत्मा करता है द्रव्यकर्मोंको नहीं करता है तथा ये रागादि भाव ही बंधके कारण हैं, तब यह रागादि विकल्पजालको त्यागकर रागादिके विनाशके लिये अपने शुद्ध आत्माकी भावना करेगा। इस भावनासे ही रागादि भावोंका नाश होगा रागादिके विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध होगा। इसलिये परम्परासे शुद्धात्माका साधक होनेसे इस अशुद्ध नयको भी उपचारसे शुद्ध नय कहते हैं, यह वास्तवमें निश्चयनय नहीं कही गई है तैसे ही उपचारसे इस अशुद्ध नयको उपादेय कहा है, यह अभिप्राय है ॥ १८९॥

इस तरह आत्मा अपने परिणामोंका ही कर्ता है। द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है। इस कथनकी मुख्यतासे सात गाथाओंमें छठा स्थल पूर्ण हुआ। इस तरह "अरसमरूवं" इत्यादि तीन गाथाओंसे पूर्वमें शुद्धात्माका व्याख्यान करके शिष्यके इस प्रश्नके होनेपर कि 'अमूर्त आत्माका मूर्तिक कर्मके साथ किस तरह बंध हो सकता है, इसके समाधानको करते हुए नय विभागसे बंध समर्थनकी मुख्यतासे उन्नीस गाथाओंके द्वारा छः स्थलोंसे तीसरा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे बारहगाथातक चार स्थलोंसे शुद्धात्मानुभूति लक्षण विशेष भेदभावनारूप चूलिकाका व्याख्यान करते हैं। तहां शुद्धात्माकी भावनाकी प्रधानता करके "ण जहदि जो दु ममत्तिं" इत्यादि पाठक्रमसे पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं। फिर शुद्धात्माकी प्राप्तिकी भावनाके फलसे दर्शनमोहकी गांठ नष्ट होजाती है तैसे ही चारित्रमोहकी गांठ नष्ट होती है व क्रमसे दोनोंका नाश होता है, ऐसे कथनकी मुख्यतासे 'जो एवं जाणित्ता' इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथाएं तीन हैं फिर केवलीके ध्यानका उपचार है ऐसा कहते हुए "णिहदघणघाइकम्मा" इत्यादि तीसरे स्थलमें गाथाएं दो हैं। फिर दर्शनाधिकारके संकोचकी प्रधानतासे "एवं जिणा जिणिंदा" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथा दो हैं। पश्चात् "दंसणसंसुद्धाणं" इत्यादि नमस्कार गाथा है। इस तरह बारह गाथाओंसे चार स्थलोंमें विशेष अन्तराधिकारमें समुदाय पातनिका है।

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥१९०॥

न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥१९०॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१९०॥

अब यह कहते हैं कि अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है:—

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [देहद्रविणेषु] देह-धनादिकमें [अहं मम इदम्] 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' [इति ममतां] ऐसी ममताको [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [सः] वह [श्रामण्यं त्यक्त्वा] श्रमणताको छोड़कर [उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति] उन्मार्गको प्राप्त होता है।

टीकाः—जो आत्मा, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयसे निरपेक्ष अशुद्धद्रव्यके निरूपण स्वरूप व्यवहार नयसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ, 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' इस प्रकार आत्मीयतासे देह धनादिक परद्रव्यमें ममत्व नहीं छोड़ता, वह आत्मा वास्तवमें शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य नामक मार्गको दूरसे छोड़कर अशुद्धात्म–परिणतिरूप उन्मार्गका ही प्राप्त होता है। इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्माकी ही प्राप्ति होती है ॥ १६० ॥

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति;—

(ण चयदि जो दु ममत्तिं) न त्यजति यस्तु ममतां ममकाराहंकारादिसमस्तविभावरहितसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपनिजात्मपदार्थनिश्चलानुभूतिलक्षणनिश्चयनयरहितत्वेन व्यवहारमोहितहृदयः सन् ममतां ममत्वभावं न त्यजति यः। केन रूपेण (अहं ममेदंति) अहं ममेदमिति। केषु विषयेषु ? (देहदविणेसु) देहद्रव्येषु देहे देहोऽहमिति परद्रव्येषु ममेदमिति। (सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं) स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गं स पुरुषो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिपरममाध्यस्थ्यलक्षणं श्रामण्यं यतित्वं चारित्रं दूरादपहाय तत्प्रतिपक्षभूतमुन्मार्गं मिथ्यामार्गं प्रतिपन्नो भवति। उन्मार्गाच्च संसारं परिभ्रमति। ततः स्थितं अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१६०॥

उत्थानिका—आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है, ऐसा उपदेश करते हैं—

गाथार्थः—(जो दु) जो कोई (देहदविणेसु) शरीर तथा धनादिमें (अहं ममेदंत्ति) मैं उनरूप हूँ व वे मेरे हैं ऐसे (ममत्तिं) ममत्वको (ण जहदि) नहीं छोडता है। (सो) वह (सामण्णं) मुनिपना (चत्ता) छोड़कर (उम्मग्गं पडिवण्णो होइ) उन्मार्गको प्राप्त होजाता है।

टीकार्थः—जो कोई ममकार अहंकार आदि सर्व विभावोंसे रहित सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप निज आत्मपदार्थका निश्चल अनुभूतिरूप निश्चयनयके विषयसे रहित होताहुआ व्यवहारके विषयमें मोहितचित्त होकर शरीर तथा परद्रव्योंमें "मैं शरीररूप हूँ तथा यह धन आदि परद्रव्य मेरा है" ऐसा ममत्वभावको नहीं छोड़ता है वह पुरुष जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, मित्र, शत्रु,

निन्दा, प्रशंसा आदिमें परम समताभावरूप यतिपनेके चारित्रको दूरसे ही छोड़कर उस चारित्रसे उल्टे मिथ्यामार्गमें लग जाता है। मिथ्याचारित्रसे संसारमें भ्रमण करता है। इससे सिद्ध हुआ कि अशुद्धनयके विषय में मोहित होनेसे अशुद्धात्माका लाभ होता है ॥ १९० ॥

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।

इदि झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१९१॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।

इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ॥१९१॥

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्नेकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥१९१॥

अब यह निश्चित करते हैं कि शुद्धनयसे शुद्धात्माकी ही प्राप्ति होती है :—

अन्वयार्थः—[अहं परेषां न भवामि] मैं परका नहीं हूँ, [परे मे न सन्ति] पर मेरे नहीं हैं, [ज्ञानम् अहम् एकः] मैं एक ज्ञान स्वरूप हूँ, [इति यः ध्यायति] इस प्रकार जो ध्यान करता है, [सः आत्मा] वह आत्मा [ध्याने] ध्यानमें (ध्यान के कालमें) [ध्याता भवति] ध्याता होता है।

टीकाः—जो आत्मा, मात्र अपने विषयमें प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयसे अविरोधरूप मध्यस्थ होता हुआ तथा शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा जिसने मोहको दूर किया है, ऐसा होता हुआ, 'मैं परका नहीं हूं, पर मेरे नहीं हैं' इस प्रकार स्व-परके परस्पर स्वस्वामिसंबंध को छोड़ कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ' इस प्रकार अनात्मको छोड़कर, आत्माको ही आत्म रूपसे ग्रहण करके, परद्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूप ही एक अग्रमें (ध्येय में) चिन्ताको रोकता है, वह एकाग्रचिन्तानिरोधक (एक विषयमें विचारको रोकनेवाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्तानिरोध के कालमें वास्तवमें शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ॥१९१॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति निश्चिनोति;—

(णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति) नाहं भवामि परेषाम्। न मे परे सन्तीति समस्तचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसम्बन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनयबलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य। पश्चात् किंकरोति? (णाणमहमेक्को) ज्ञानमहमेकः सकलविमलकेवलज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च। (इदि जो झायदि) इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति। क्व? (झाणे) निजशुद्धात्मध्याने स्थितः (सो अप्पाणं हवदि झादा) स आत्मानं भवति ध्याता। स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति। ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते। तदपि कस्मात्? उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्। ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ इति ॥१६१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्धनयसे शुद्धात्माका लाभ होता है:—

गाथार्थः—(अहं परेसिं न होमि) मैं दूसरोंका नहीं हूँ (परे मे ण सन्ति) दूसरे पदार्थ मेरे नहीं हैं (अहं एक्को णाणं) मैं अकेला ज्ञानमई हूं (इदि) ऐसा (जो झाणे झायदि) जो ध्यानमें ध्याता है (सो अप्पाणं झादा हवदि) वह आत्माको ध्यानेवाला होता है।

टीकार्थ—सर्व ही चेतन अचेतन परद्रव्योंमें अपने स्वामीपनेके सम्बन्धको मन वचनकाय व कृत कारित अनुमोदनासे अपने स्वात्मानुभव लक्षण निश्चयनयके बलके द्वारा पहले ही दूरकरके मैं सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानमई हूँ तथा सब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित एक हूँ इस तरह जो कोई निज शुद्ध आत्माके ध्यानमें तिष्ठकर चिन्तवन करता है वह चिदानंदमई एक स्वभावरूप परमात्माका ध्यानेवाला होता है। इस तरहके परमात्मध्यानसे वह ज्ञानी वैसे ही परमात्मा अवस्थाको पाता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य होता है। इस लिये यह बात जानी जाती है कि शुद्ध निश्चयनयके विषयका ध्यान करनेसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है ॥ १६१ ॥

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१६२॥

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम्।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥१६२॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत्। शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात्। तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च। तत्र ज्ञानमेवात्मनि

बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

अब यह उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्वके कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है:—

अन्वयार्थः—[अहम्] मैं [आत्मकं] आत्माको [एवं] इस प्रकार [ज्ञानात्मानं] ज्ञानात्मक, [दर्शन-भूतम्] दर्शनभूत, [अतीन्द्रियमहार्थं] अतीन्द्रिय महा पदार्थ, [ध्रुवम्] ध्रुव, [अचलम्] अचल, [अनालम्बं] निरालम्ब और [शुद्धम्] शुद्ध [मन्ये] मानता हूँ।

टीकाः—शुद्धात्मा सत् और अहेतुक (अकारण) होनेसे अनादि-अनन्त और स्वतः सिद्ध है, इसलिये आत्माके शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है। आत्माके शुद्धत्व, पर-द्रव्यसे भिन्नता और स्वधर्मसे अभिन्नता के द्वारा एकत्व होनेके कारण से है। वह एकत्व आत्माके (१) ज्ञानात्मकत्वके कारण, (२) दर्शनभूतत्वके कारण, (३) अतीन्द्रिय महापदार्थत्वके कारण, (४) अचलताके कारण, और (५) निरालम्बत्वके कारण है।

इनमेंसे (१-२) जो ज्ञानको ही अपनेमें धारण कर रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है ऐसी आत्माके, अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित) परद्रव्यसे भिन्नत्व और स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेसे, एकत्व है, (३) प्रतिनिश्चित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूप-पर्यायको ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियोंका अतिक्रम (उल्लंघन) करके समस्त स्पर्श-रस-गंध वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायको ग्रहण करनेवाले एक सत् महापदार्थ के (आत्माके), इन्द्रियात्मक परद्रव्यसे भिन्नत्व और स्पर्शादिके ग्रहण स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण, एकत्व है, (४) क्षण-विनाशरूपसे प्रवर्तमान ज्ञेय पर्यायोंको (प्रतिक्षण नष्ट होने वाली ज्ञातव्य पर्यायोंको) ग्रहण करने और छोड़नेका अभाव होनेसे जो अचल है

ऐसी आत्माके ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्यसे भिन्नत्व और तन्निमित्तक (ज्ञेयोंके निमितसे होने वाले) ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण, एकत्व है, (५) और नित्यरूपसे प्रवर्तमा शाश्वत) ज्ञेयद्रव्योंके आलम्बनका अभाव होनेसे जो निरालम्ब है ऐसी आत्माके, ज्ञेय रूप परद्रव्योंसे भिन्नत्व और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व होनेके कारण, एकत्व है।

इस प्रकार आत्मा शुद्ध है, क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है (अर्थात् चैतन्यमात्र को ग्रहण करने वाली शुद्धनय आत्माको मात्र शुद्ध ही निरूपित करती है।) और यही (एक शुद्धात्मा ही) ध्रुवत्वके कारण उपलब्ध करने योग्य है। किसी पथिकके शरीरके अंगोंके साथ संसर्गमें आनेवाली मार्गके वृक्षोंकी अनेक छायाके समान अन्य अध्रुव (पदार्थों) से क्या प्रयोजन है? (अर्थात् कुछ नहीं) ॥१९२॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति;—

(मण्णे) "मण्णे" इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेयत्वेन भावये। स कः। अहं कर्त्ता। कं कर्मतापन्नं। (अप्पग) सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम्। किं विशिष्टम्? (सुद्धं) रागादिसमस्तविभावरहितम्। पुनरपि किं विशिष्टम्? (धुवं) टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम्। पुनरपि कथंभूतम्? (एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं) एवं बहुविधपूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम्। पुनश्च किंरूपम्? (अइंदियं) अतीन्द्रियं मूर्त्तविनश्वरानेकेन्द्रियरहितत्वेनामूर्त्ताविनश्वरैकातीन्द्रियस्वभावम्। पुनश्च कीदृशम्? (महत्थं) मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वान्महार्थम्। पुनरपि किंस्वभावम्? (अचलं) अतिचपलचञ्चलमनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे निश्चलं स्थिरम्। पुनरपि किंविशिष्टम्? (अणालंबं) स्वाधीनद्रव्यत्वेन सालम्बनं भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थः ॥१९२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ध्रुव है इसलिये मैं शुद्ध आत्माकी भावना करता हूं ऐसा ज्ञानी विचारता है।

गाथार्थः—(एवं) इस तरह (णाणप्पाणं) ज्ञान स्वरूप (दंसणभूदं) दर्शनस्वरूप (अदिंदियम्) इन्द्रियोंके अगोचर अतीन्द्रियस्वरूप (धुवम्) अविनाशी (अचलं) अपने स्वरूपमें निश्चल (अणालंबं) परालम्बन रहित (सुद्धं) शुद्ध (महत्थं) महान पदार्थ ऐसे (अप्पगं) अपने आत्माको (अहं मण्णे) मैं अनुभव करता हूं।

टीकार्थ—ध्याता विचारता है कि मैं अपने आत्माको सर्व तरह उपादेय समझ कर इस तरह अनुभव करता हूं कि वह सहज परमानंदमई एक लक्षणको रखनेवाला आत्मा रागादि सर्व विभावोंसे रहित शुद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप रहनेसे अविनाशी है, अखंड एक ज्ञान दर्शन स्वरूप है,

मूर्तिक, विनाशीक, अनेक इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण अमूर्त, अविनाशी एक अतींद्रिय स्वभाव है। मोक्ष रूप महापुरुषार्थका साधक होनेसे महान पदार्थ है, अति चंचल मन वचनकायके व्यापारोंसे रहित होनेसे अपने स्वरूपमें निश्चल है तथा स्वाधीनपनेसे स्वालम्बनरूप भरा हुआ होनेपर भी सर्व पराधीन परद्रव्यके आलम्बनसे रहित होनेके कारण निरालम्ब है ॥ १६२ ॥

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१६३॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥१६३॥

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन वाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनोप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥१९३॥

अब, यह उपदेश देते हैं कि अध्रुवत्वके कारण आत्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है:—

अन्वयार्थः—[देहाः वा] शरीर, [द्रविणानि वा] धन, [सुखदुःखे] सुख दुःख (इष्ट-अनिष्ट सामग्री) [वा अथ] अथवा [शत्रुमित्रजनाः] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [जीवस्य] जीवके [ध्रुवाः न सन्ति] ध्रुव नहीं हैं, [ध्रुवः] ध्रुव तो [उपयोगात्मकः आत्मा] उपयोगात्मक आत्मा है।

टीकाः—जो परद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण और परद्रव्यके द्वारा उपरक्त[1] होनेवाले स्वधर्मसे भिन्न होनेके कारण आत्माको अशुद्धिका कारण है, ऐसा-आत्मासे अन्य (भिन्न)-कोई भी ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह असत्[2] और हेतुमान्[3] होनेसे आदि अन्तवाला और परतः सिद्ध है ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होनेसे मैं उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादिको प्राप्त नहीं करता, और ध्रुव शुद्धात्माको प्राप्त करता हूं ॥१६३॥

१—उपरक्त-मलिन, विकारी [परद्रव्यके निमित्तसे आत्माका स्वधर्म उपरक्त होता है।] २—असत्-अस्तित्वरहित (अनित्य) [धन देहादिक पुद्गल पर्याय हैं, इसलिये असत् हैं, इसीलिये आदि-अन्तवाली हैं।] ३—हेतुमान्-सहेतुक; जिसकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त हो ऐसा। [देह धनादिकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त होता है, इसलिये वे परतः सिद्ध हैं; स्वतः सिद्ध नहीं।]

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथात्मनः पृथग्भूतं देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति;—

(ण संति धुवा) ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति । कस्य ? (जीवस्स) जीवस्य । के ते ? (देहा वा दविणा वा) देहा वा द्रव्याणि वा सर्वप्रकारशुचीभूताद्देहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादिपञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च । न केवलं देहादयो ध्रुवा न भवन्ति (सुहदुक्खा वा) निर्विकार-परमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सांसारिकसुखदुःखानि वा । (अथ) अहो भव्याः (सत्तुमित्तजणा) शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्नाः शत्रुमित्रादिजनाश्च । यद्येतत्सर्वमध्रुवं तर्हि किं ध्रुवमिति चेत् ? (धुवो) ध्रुवः शाश्वतः । स कः । (अप्पा) निजात्मा । किंविशिष्टः । (उवओगप्पगो) त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्यायियुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति । एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् ॥१६३॥

एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा । शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया । ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया । आत्मनोऽन्यदध्रुवं न भावनीयमिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

उत्थानिका—:—आगे कहते हैं कि ये शरीरादि आत्मासे भिन्न विनाशीक हैं इसलिये इनको चिन्ता न करनी चाहिये ।

गाथार्थः—(जीवस्स) जीवके (देहा) शरीर (वा दविणा) या द्रव्य (वा सुहदुक्खा) या सांसारिक सुखदुःख (वाऽथ सत्तुमित्तजणा) तथा शत्रु मित्र आदि मनुष्य (धुवा ण संति) ध्रुव नहीं हैं । (उवओगप्पगो अप्पा) केवल उपयोगमई आत्मा (धुवो) ध्रुव है ।

टीकार्थः—सर्व प्रकारसे पवित्र शरीररहित परमात्मासे विलक्षण औदारिक आदि पांच प्रकारके शरीर तथा पचेंद्रियोंके भोग उपभोगके साधक धन आदिक परद्रव्य इस जीवके लिये ध्रुव नहीं हैं किन्तु ये अनित्य हैं, छूट जानेवाले हैं । केवल शरीरादि ही अनित्य नहीं हैं किन्तु विकाररहित परमानन्दमई एक लक्षणधारी अपने ही आत्मासे उत्पन्न सुखामृतसे विलक्षण सांसारिक सुख तथा दुःख तथा शत्रु मित्र आदि जनसमुदाय ये सब भी अनित्य हैं । जब ये सब अध्रुव हैं तब ध्रुव क्या है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि तीन लोकके उदरमें वर्तमान भूत भविष्य वर्तमान तीन कालके सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको एक साथ जाननेमें समर्थ केवलज्ञान तथा केवलदर्शनमई अपना आत्मा ही शाश्वत अविनाशी है । ऐसा अपनेसे भिन्न सर्व सम्बन्धको अध्रुव जान करके ध्रुव-स्वभावधारी अपने ही आत्मामें निरन्तर भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ॥ १६३ ॥

इस तरह अशुद्ध नयके आलम्बनसे अशुद्धआत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हुए पहली गाथा शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हुए दूसरी, ध्रुव होनेसे आत्मा ही भावने योग्य है, ऐसा कहते हुए तीसरी तथा आत्मासे अन्य सब अध्रुव हैं उनकी भावना न करनी चाहिये ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह शुद्धात्माके व्याख्यानकी मुख्यता करके पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं ।

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१९४॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥१९४॥

अमुना यथोदितेन शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्। ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात्। अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ॥१९४॥

इस प्रकार शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है, यह अब निरूपण करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [एवं ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [विशुद्धात्मा] विशुद्धात्मा होता हुआ [परमात्मानं] परम आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [सः] वह [साकारः अनाकारः] साकार हो या अनाकार, [मोहदुर्ग्रंथिं] मोहदुर्ग्रन्थिका [क्षपयति] क्षय करता है।

टीकाः—इस यथोक्त विधिके द्वारा शुद्धात्माको ध्रुव जाननेवाले के, उसीमें प्रवृत्त होनेके कारण से, शुद्धात्मत्व होता है इसलिये अनन्तशक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्माका एकाग्रसंचेतनलक्षण ध्यान होता है, और इसलिये (उस ध्यानके कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवालेको या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवालेको—दोनोंको अविशेषरूपसे एकाग्रसंचेतनकी प्रसिद्धि होनेसे—अनादि संसारसे बंधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रंथि छूट जाती है।

इससे (यह कहागया है कि) मोहग्रंथि भेद (दर्शनमोहरूपी गांठका टूटना) शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल है ॥१९४॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथैवं पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे सति किं फलं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह;—

(झादि) ध्यायति (जो) यः कर्ता। कम् ? (अप्पगं) निजात्मानम्। कथंभूतम् ? (परं) परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम्। किंकृत्वा पूर्वम् ? (एवं जाणित्ता) एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा कथंभूतः सन् ध्यायति ? (विसुद्धप्पा) ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथंभूतः (सागारोऽणागारो) सागारोऽनागारः। अथवा साकारानाकारः। सहाकारेण

विकल्पेन वर्त्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्त्तते साकारो यतिः अनाकारश्चिन्हरहितो गृहस्थः। (खवेदि सो मोहदुग्गंथि) य एवं गुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्। मोह एव दुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम्। ततः स्थितमेतत्-आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम् ॥१९४॥

उत्थानिका—आगे इस तरह शुद्धात्माका लाभ होनेपर क्या फल होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं:—

गाथार्थः—(जो सागाराणागारो) जो कोई श्रावक या मुनि (एवं जाणित्ता) ऐसा जानकर (परं अप्पगं) परम आत्माको (विसुद्धप्पा) विशुद्धभाव रखता हुआ (झादि) ध्याता है (सो) वह (मोहदुग्गंठिं) मोहकी गांठको (खवेदि) नाश कर देता है

टीकार्थः—जो कोई गृहस्थ या मुनि अथवा साकारसे ज्ञानोपयोगरूप, अनाकारसे दर्शनोपयोग रूप होकर अथवा साकारसे चिन्ह सहित मुनि या अनाकारसे चिन्ह रहित गृहस्थ होकर इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण अपने आत्माका लाभरूप स्वसंवेदन ज्ञानसे जानकरके परम अनन्तज्ञानादि गुणोंके आधाररूप होनेसे उत्कृष्ट रूप अपने ही आत्माको अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभादि सर्व मनोरथ जालसे रहित विशुद्ध आत्मा होता हुआ ध्याता है सो ऐसा गुणी जीव शुद्धात्माकी रुचिको रोकनेवाली दर्शनमोहकी खोटी गांठ को क्षय कर डालता है। इससे सिद्ध हुआ कि जिनको निज आत्माका लाभ होता है उन्हींको मोहकी गांठ नाश हो जाती है। यही फल है ॥ १९४ ॥

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये।
भवेत् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते ॥१९५॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवनं ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः। अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ॥१९५॥

अब यह कहते हैं कि मोहग्रंथिके टूटनेसे क्या होता है:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [निहतमोहग्रंथी] मोहग्रंथिको नष्ट करके, [रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा] रागद्वेषका क्षय करके, [समसुख-दुःखः] सुख-दुखमें समान होता हुआ [श्रामण्ये भवेत्] श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, [सः] वह [अक्षयं सौख्यं] अक्षय सौख्यको [लभते] प्राप्त करता है।

टीका:—मोहग्रंथिका क्षय करनेसे, मोहग्रंथि जिसका मूल हैं ऐसे राग द्वेषका, क्षय होता है, उससे, जिसे सुख-दुःख समान हैं ऐसे जीवका परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है ऐसी श्रमणतामें परिणमन होता है, और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

इससे (यह कहा है कि) मोहरूपीग्रंथिके छेदनेसे अक्षय सौख्यरूप फल होता है १६५

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति;—

(जो णिहदमोहगंठी) यः पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा (रागपदोसे खवीय) निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चरित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा। क्व ? (सामण्णे) स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये। पुनरपि किं कृत्वा। (होज्जं) भूत्वा। किंविशिष्टः।। समसुहदुक्खो) निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमसुखानुभवेन सांसारिकसुखदुःखोत्पन्नहर्षविषादरहितत्वात्समसुखदुःखः।। (सो सोक्खं अक्खयं लहदि) स एवं गुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षयं लभते। ततो ज्ञायते दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहसंज्ञरागद्वेषविनाशतश्च सुखदुःखमाध्यस्थ्यलक्षणश्रामण्येऽवस्थानं तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति ॥१९५॥

उत्थानिका—आगे दर्शनमोहकी गांठ टूटनेसे क्या होता है ? इस प्रश्नका समाधान करते हैं–

गाथार्थः—(जो) जो कोई (णिहदमोहगंठो) दर्शन मोहकी गांठको क्षय करके (सामण्णे) मुनि अवस्थामें रहकर (रागपदोसे) रागद्वेषोंको (खवीय) नाश करके (समसुहदुक्खो होज्जं) सुख दुःखमें समताभाव रखनेवाला हो जाता है (सो) वह ज्ञानी जीव (अक्खयं सोक्ख) अविनाशी आनंद को (लहदि) प्राप्त करता है।

टीकार्थः—जो कोई पूर्व सूत्रमें कहे प्रकारसे दर्शनमोहकी गांठको क्षय करके निश्चयसे अपने स्वभावमें ठहरकर अपने शुद्ध आत्माके निश्चय अनुभव स्वरूप वीतराग चारित्रको रोकनेवाले चारित्रमोहरूप रागद्वेषोंको नाशकरके अपने शुद्ध आत्माके स्वानुभवसे उत्पन्न रागादि विकल्पोंसे रहित जो परमसुख उसके अनुभवसे तृप्त होकर सांसारिक सुख व दुःखसे उत्पन्न हर्ष विषादसे रहित होनेके कारणसे सुख दुःखोंमें समताभाव रखता है, वह ऐसा गुणवान भेदज्ञानी जीव अक्षय सुखका लाभ करता है। इससे जाना जाता है कि दर्शन मोहके नाशसे फिर चारित्र मोहरूप रागद्वेषोंको विनाश करके सुख दुःखमें माध्यस्थ लक्षणधारी मुनिपदमें जो ठहरना है उसीसे ही अक्षयसुखका लाभ होता है ॥ १६५ ॥

अथैकाग्र्यसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१९६॥

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता ॥१९६॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसा निरोधः स्यात्। ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात्। तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते। अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति ॥१९६॥

अब, एकाग्र (एक-विषयक) संचेतन जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मामें अशुद्धता नहीं लाता, यह निश्चित करते हैंः–

अन्वयार्थः—[यः] जो [क्षपितमोहकलुषः] मोहमैलका क्षय करके [विषयविरक्तः] विषयसे विरक्त होकर, [मनः निरुध्य] मनका निरोध करके, [स्वभावे समवस्थितः] स्वभावमें समवस्थित (निश्चल) है, [सः] वह [आत्मानं] आत्माको [ध्याता भवति] ध्याने वाला होता है।

टीकाः—जिसने मोहमैलका क्षय किया है ऐसे आत्माके, मोहमैल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्यप्रवृत्तिका अभाव होनेसे, विषयविरक्तता होती है उससे, समुद्रके मध्यगत जहाजके पक्षीकी भांति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरोंका अभाव होनेसे जिसे अन्य कोई शरण नहीं रहा है ऐसे मनका निरोध होता है, इसलिये मन जिसका मूल है, ऐसी चंचलताका विलय होनेके कारण अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभावमें समवस्थान (दृढतया रहना) होता है। वह स्वभाव-समवस्थान तो, स्वरूपमें प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसंचेतन होनेसे, ध्यान कहा जाता है।

इससे (यह निश्चित हुआ कि–) ध्यान स्वभाव–समवस्थानरूप होनेके कारण आत्मासे अनन्य होनेसे, अशुद्धताका कारण नहीं होता ॥१९६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धिं करोतीत्यावेदयति,—

(जो खविदमोहकलुसो) यः क्षपितमोहकलुषः मोहो दर्शनमोहः कलुषश्चारित्रमोहः पूर्वसूत्रद्वयकथितक्रमेण क्षपितौ मोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुषः। पुनरपि किंविशिष्टः। (विसयविरत्तो) मोहकलुषरहितस्वात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकांक्षारहितत्वाद्विषयविरक्तः। पुनरपि कथं-

भूतः ? (समवट्ठिदो) सम्यगवस्थितः । क्व ? (सहावे) निजपरमात्मद्रव्ये स्वभावे । किंकृत्वा पूर्वं ? (मणो णिरुंभित्ता) विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूपं मनो निरुध्य निश्चलं कृत्वा (सो अप्पाणं हवदि झादा) स एवंगुणयुक्तः पुरुषः स्वात्मानं भवति ध्याता । तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकीं मुक्तिलक्षणां शुद्धिं लभत इति । ततः स्थितं शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति । किंच ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जातः ।

तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यानं क्रियते । तथाहि—ध्यानं ध्यानसन्तानस्तथैकध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति । तत्रैकाग्र्यचिन्तानिरोधो (ध्यानम्) तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा । अथ ध्यानसन्तानः कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिन्ता पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानम् पुनरपि ततः चिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्त्तनमस्ति स (ध्यानसन्तानो) भण्यते । स च धर्म्यध्यानसम्बन्धी । शुक्लध्यानं पुनरुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यारोहणे भवति । तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्त्तनरूपध्यानसन्तानो न घटते । इदानीं ध्यानचिन्ता कथ्यते—यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्त्तो नास्ति ध्यानसम्बन्धिनी चिन्तास्ति तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यानं करोति तथापि सा (ध्यानचिन्ता) भण्यते । अथ ध्यानान्वयसूचनं कथ्यते—यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसम्बन्धि संवेगवैराग्यवचनं व्याख्यानं वा तत् (ध्यानान्वयसूचनमिति ।) अन्यथा वा चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं ध्याता ध्यानं फलं ध्येयमिति । अथवार्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विधं ध्यानव्याख्यानं तदन्यत्र कथितमस्ति १९५

एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपणं भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपणं भवतीति कथनेन द्वितीया तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निज शुद्धात्मामें एकाग्रता रूप ध्यान ही आत्माकी अत्यन्त विशुद्धि कर देता है ।

गाथार्थः—(जो) जो कोइ (खविदमोहकलुसो) मोहकी कालिमाको क्षय करके (विसयविरत्तो) इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ (मणो णिरुंभित्ता) मनको सब तरहसे रोककर (सहावे समवट्ठिदो) अपने आत्मस्वभावमें भले प्रकार स्थिर होजाता है (सो) वही महात्मा (अप्पाणं धादा हवदि) आत्माको ध्यानेवाला होता है ।

टीकार्थः—जो कोई पूर्व दो सूत्रोंमें कहे प्रमाण दर्शनमोह और चारित्रमोहको क्षय करता हुआ, मोह और रागद्वेषकी कलुषतासे रहित निजात्मानुभवसे उत्पन्न सुखामृतरसके स्वादके बलसे कलुषता और मोहके उदयसे उत्पन्न विषयसुखोंकी इच्छासे रहित होता हुआ तथा विषयकषायोंसे उत्पन्न विकल्पजालोंमें वर्तनेवाले मनको रोककर निज परमात्मस्वभावमें भलेप्रकार स्थित होता है वही गुणी पुरुष अपने आत्मा का ध्याता होता है। इसी ही शुद्धात्मध्यानसे अत्यन्त शुद्धि अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करता है । इससे सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मध्यानसे जीव विशुद्ध होता है, क्योंकि ध्यानसे वास्तवमें आत्मा शुद्ध होता है ।

ध्यानके सम्बन्धमें चार प्रकारका व्याख्यान करते हैं । वह चार प्रकार ध्यान हैं । ध्यान, ध्यान संतान, एक ध्यानचिंता तथा ध्यानान्वय सूचना । इनमेंसे एक किसी विशेष भावमें चित्तको रोकनेको ध्यान कहते हैं । यह ध्यान शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकार है । अब ध्यान-संतानको कहते हैं जहां अंतर्मुहूर्त

पर्यंत ध्यान होता है फिर अन्तमुहूर्त पर्यंत तत्त्वचिंता होती है फिर भी अंतमुहूर्त पर्यंत ध्यान होता है पीछे फिर तत्वचिंता होती है इस तरह प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानकी तरह अन्तमुहूर्त २ वीतते हुए पलटन होजावे उसको ध्यानसंतान कहते हैं। यह धर्मध्यान सम्बन्धी जानना चाहिये। शुक्लध्यान उपशम तथा क्षपकश्रेणीके चढ़नेपर होता है वहां बहुत ही अल्पकाल है इससे (बुद्धि पूर्वक) पलटनेरूप ध्यान--संतान नहीं सिद्ध होती है। अब ध्यान चिंताको कहते हैं-जहां ध्यानकी संतानकी तरह ध्यानकी पलटन नहीं है किन्तु ध्यानसम्बन्धी चिन्ता है। इस चिन्ता के बीचमें ही किसी भी कालमें ध्यान करने लगता है तो भी उसको ध्यान चिन्ता कहते हैं। अब ध्यानान्वयसूचनाको कहते हैं कि जहां ध्यानकी सामग्रीरूप बारहभावनाका चिन्तवन है व ध्यान सम्बन्धी संवेग वैराग्य वचनोंका व्याख्यान है वह ध्यानान्वय सूचना है। ध्यानका चार प्रकार कथन ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा फलरूप है, अथवा आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल रूप है जिनका कथन अन्य ग्रन्थोंमें वर्णन किया गया है ॥१९६॥

इस तरह आत्म-ध्यानसे दर्शनमोहका क्षय होना है, ऐसा कहते हुए पहली गाथा, दर्शनमोहके क्षयमे चारित्रमोहका क्षय होना है, ऐसा कहते हुए दूसरी, इन दोनोंके क्षयसे मोक्ष होता है ऐसा कहते हुए तीसरी, इस तरह आत्माका लाभ होना फल होता है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति–

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।

णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥१९७॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः।

ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः ॥१९७॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वादनवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघनघातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषति न जिज्ञासति न संदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः। एवं सति किं ध्यायति ॥१९७॥

अब सूत्रद्वारा यह प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्माको प्राप्त किया है, ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं?:–

अन्वयार्थः—[निहतघनघातिकर्मा] जिनने घनघातिकर्मका नाश किया है, [प्रत्यक्ष सर्वभावतत्त्वज्ञः] जो सर्व पदार्थोंके स्वरूपको प्रत्यक्ष जानते हैं, और [ज्ञेयान्तगतः] जो ज्ञेयोंके पारको प्राप्त हैं, [असंदेहः] जो सन्देहरहित हैं, ऐसे [श्रमणः] महामुनि (केवली) [कम् अर्थं] किस पदार्थको [ध्यायति] ध्याते हैं?

टीकाः—(१) मोहका सद्भाव होनेसे तथा (२) ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधकका (ज्ञानावरणीय कर्म का) सद्भाव होनेसे, (१) लौकिक जीव (छद्मस्थ) तृष्णा–सहित है, तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं, और (३) वह विषयको अवच्छेदपूर्वक (स्पष्टता से) नहीं जानता, इसलिये वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थका ध्यान करता हुआ दिखाई देता है परन्तु, घनघातिकर्मके नाश होजानेके कारण (१) मोहका अभाव होजानेपर तथा (२) ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधकका अभाव होजानेपर (१) जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है, तथा (२) (जिनको) समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष है, तथा (जिन्होंने) ज्ञेयोंका पार पा लिया है, इसलिये भगवान सर्वज्ञदेव अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते, और संदेह नहीं करते, तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहांसे हो सकता है ? जबकि ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं ? ॥१९७॥

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका

अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्षं वा करोति;—

(णिहदघणघाइकम्मो) पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघनघातिकर्मा। (पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू) प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञः सर्वपदार्थपरिज्ञातस्वरूपः (णेयंतगदो) ज्ञेयान्तगतः ज्ञेयभूतपदार्थानां परिच्छित्तिरूपेण पारंगतः। एवं विशेषणत्रयविशिष्टः (समणो) जीवितमरणादिसमभावपरिणतात्मस्वरूपः श्रमणो महाश्रमणः सर्वज्ञः (झादि कमट्ठं) ध्यायति कमर्थमिति प्रश्नः। अथवा कमर्थं ध्यायति न कमपीत्याक्षेपः। कथंभूतः सन्। (असंदेहो) असन्देहः संशयादिरहित इति।

अयमत्रार्थः—यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्तं विद्याराधनाध्यानं करोति यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूतं विषयसुखं च सिद्धं भवति तदाराधनाध्यानं न करोति, तथायं भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्तं तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्तं च पूर्वं छद्मस्थावस्थायां शुद्धात्मभावनारूपं ध्यानं कृतवान् इदानीं तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुखं च सिद्धम् किमर्थं ध्यानं करोतीति प्रश्नः आक्षेपो वा, द्वितीयं च कारणं परोक्षेऽर्थे ध्यानं भवति भगवतः सर्वं प्रत्यक्षं कथं ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता ॥१९७॥

उत्थानिका—आगे शिष्य पूर्वपक्ष करके यह आक्षेप करता है कि शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त करके सकलज्ञानी परमात्मा किस वस्तुको ध्याते हैं।

गाथार्थः—(णिहदघणघादिकम्मो) सर्व घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले (पच्चक्खं) प्रत्यक्षरूपसे (सव्वभावतच्चण्हू) सब पदार्थोंके जाननेवाले (णेयंतगदो) सर्व ज्ञेय पदार्थोंके पार पहुंचनेवाले (असंदेहो) तथा संशयरहित (समणो) केवलज्ञानी महामुनि (कमट्ठं) किस पदार्थको (झादि) ध्याते हैं।

टीकार्थः—पूर्वसूत्रमें कहे प्रमाण निश्चल अपने परमात्म–तत्त्वमें परिणमनरूप शुद्ध ध्यानके बलसे घातिया कर्मोंके क्षयकर्ता, प्रत्यक्षज्ञानी, सब ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा उनके पार होनेवाले ऐसे ती॰

विशेषण सहित जीवन मरण आदिमें समताभाव रखनेवाले महा श्रमण श्री सर्वज्ञ भगवान जो संशयादिसे रहित हैं वह किस पदार्थको ध्याते हैं ? यह प्रश्न है अथवा किसी पदार्थको भी नहीं ध्याते हैं यह आक्षेप है।

यहां यह अर्थ है कि जैसे कोई भी देवदत्त विषयोंके सुखके निमित्त किसी विद्याकी आराधनारूप ध्यानको करता है। जब वह सिद्ध होजाती है तब उस विद्याके फलरूप विषयसुखको सिद्ध कर लेता है फिर उस विद्याकी आराधनारूप ध्यानको नहीं करता है। तैसे ही भगवान् भी केवलज्ञान रूपी विद्याके निमित्त तथा उसके फलरूप अनन्त सुखके निमित्त पहले छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञकी अवस्थामें शुद्ध आत्मा की भावना रूप ध्यानको करते थे अब उस ध्यानसे केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध होगई तथा उसका फलरूप अनन्त सुख भी सिद्ध होगया तब किसलिये ध्यान करते हैं, ऐसा प्रश्न है या आक्षेप है ? दूसरा कारण यह है कि पदार्थ परोक्ष होनेपर उसका ध्यान किया जाता है, भगवान्के सर्व प्रत्यक्ष है तब उनके ध्यान किस तरह होसकता है, ऐसा पूर्व पक्ष करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥ १९७ ॥

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१९८॥

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥१९८॥

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ॥१९८॥

अब, सूत्रद्वारा (उपरोक्त गाथाके प्रश्नका) उत्तर देते हैं कि—जिसने शुद्धात्माको उपलब्ध किया है वह सकलज्ञानी इस (परमसौख्य) को ध्याता है।

अन्वयार्थः—[अनक्षः] अनिन्द्रिय (दूसरेको इन्द्रिय-ज्ञानगम्य न होनेवाले) और [अक्षातीतः भूतः] इन्द्रियों से रहित हुए (तथा) [सर्वाबाधवियुक्तः] सर्व बाधा रहित और [समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः] सम्पूर्ण आत्मामें समंत (सर्वप्रकारके, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध (केवली भगवान्) [परं सौख्यं] परमसौख्यको [ध्यायति] ध्याते हैं।

टीका—जब यह आत्मा, जो सहजसुख और ज्ञानकी बाधाका आयतन (स्थान) है (ऐसी)

तथा जो असकल आत्मामें असर्वप्रकार के सुख और ज्ञानकी आयतन हैं, ऐसी इन्द्रियोंके अभावके कारण स्वयं 'अतीन्द्रिय' रूपसे वर्तता है, उसी समय वह दूसरोंको 'इन्द्रियातीत' (इन्द्रियअगोचर) वर्तता हुआ (१) निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होनेसे 'सर्वबाधा' रहित होता है, तथा (२) सकल आत्मामें सर्वप्रकारके (परिपूर्ण) सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण होनेसे 'समस्त आत्मामें समंत सौख्य और ज्ञानसे समृद्ध' होता है। इस प्रकारका वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेहका असंभव होनेपर भी, अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षणवाले परमसौख्यको ध्याता है, अर्थात् अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र' के संचेतन मात्ररूपसे अवस्थित रहता है, (अर्थात् अनाकुलताके साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषयके अनुभवन रूप ही मात्र स्थित रहता है) और ऐसा अवस्थान सहज ज्ञानानन्दस्वभावरूप सिद्धत्वकी सिद्धि ही है। (अर्थात् इसप्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है ऐसे सिद्धत्वकी प्राप्ति ही है।) ॥ १९८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथात्र पूर्वपक्षे परिहारं ददाति;—

(झादि) ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति। स कः कर्ता। भगवान्। किं ध्यायति (सोक्खं) सौख्यम्। किंविशिष्टम्? (परं) उत्कृष्टं सर्वात्मप्रदेशाल्हादकपरमानन्तसुखम्। कस्मिन्प्रस्तावे। यस्मिन्नेव क्षणे (भूदो) भूतः संजातः। किंविशिष्टः। (अक्खातीदो) अक्षातीतः इन्द्रियरहितः न केवलं स्वयमतीन्द्रियो जातः परेषां च (अणक्खो) अनक्षः इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थः। पुनरपि किंविशिष्टः। (सव्वाबाधविजुत्तो "प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्वं" सर्वाबाधवियुक्तः। आसमन्ताद् बाधाः पीडा आबाधाः सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधवियुक्तः। पुनश्च किंरूपः। (समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो) समन्ततः सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः। समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणां सम्बन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्यः परिपूर्ण इत्यर्थः। तद्यथा—अयं भगवानेकदेशोद्भवसांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहितः सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुखं ध्यायत्यनुभवति परिणमति। ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं नास्ति किंत्विदमेव परमसुखानुभवनं वा ध्यानकार्यभूतां कर्मनिर्जरां दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुनः सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यानं भवतीत्युक्तं तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्रायः ॥१९८॥

एवं केवली किं ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुखं ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे इस पूर्वपक्षका समाधान करते हैं—

गाथार्थ:—(सव्वावाधविजुत्तो) सर्व प्रकारकी बाधासे रहित व (समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो) सब तरहसे सर्व आत्मीक सुख और ज्ञानसे पूर्ण (अक्खादीदो) तथा अतींद्रिय (भूदो) होकर (अणक्खो) दूसरोंके भी इन्द्रियोंके जो विषय नहीं है, ऐसे केवली भगवान् (परं सोक्खं) परमानंदको (झादि) ध्याते हैं।

टीकार्थ:—जिस समयसे केवली भगवान् इंद्रियज्ञानसे रहित अतींद्रिय हुए, व सर्व प्रकारकी पीड़ासे रहित हुए तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आत्मीक शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध सुखसे परिपूर्ण हुए उसी समयसे वे भगवान् जिनकी आत्मा दूसरोंके इन्द्रियोंका विषय नहीं है किंतु परम उत्कृष्ट सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आह्लाद देनेवाले अनन्त सुखरूप एकाकार समता रसके भावसे परिणमन करते रहते हैं अर्थात् निरन्तर अनन्त सुखका स्वाद लेते रहते हैं। जिस समय यह भगवान् एक देश होनेवाले सांसारिक ज्ञान और सुखकी कारण तथा सब आत्माके प्रदेशोंमें पैदा होनेवाले स्वाभाविक अतींद्रिय ज्ञान और सुखको नाश करनेवाली इंद्रियोंको निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसारके बलसे उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् उन इन्द्रियोंके द्वारा प्रवृत्तिको नाश करदेते हैं उसी ही क्षणसे वे सर्व बाधासे रहित होजाते हैं, तथा अतींद्रिय और अनंत आत्मासे उत्पन्न आनन्दका अनुभव करते रहते हैं अर्थात् आत्म सुखको ध्याते हैं व आत्मसुख में परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि केवलियोंको दूसरा कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इसी परम सुखका अनुभव है अथवा उनके ध्यानका फलरूप कर्मोंकी निर्जराको देखकर ध्यान है ऐसा उपचार किया जाता है। तथा जो आगममें कहा है कि सयोग केवलीके तीसरा शुक्लध्यान व अयोग केवलीके चौथा शुक्लध्यान होता है वह उपचारसे जानना चाहिये, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ॥१९८॥

इस तरह केवली भगवान क्या ध्याते हैं व क्यों ध्याते हैं? इस प्रश्नकी मुख्यतासे पहली गाथा, तथा वे भगवान परमसुखको ध्याते या अनुभवते हैं इस तरह उस प्रश्नका समाधान करते हुए दूसरी, इस तरह ध्यान-सम्बन्धी पूर्वपक्षका परिहाररूपसे तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१९९॥

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥१९९॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति। अलं च प्रपञ्चेन। तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य

च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥१९९॥

अब, यह निश्चय करते हैं कि–'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्माकी उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका मार्ग है' :—

अन्वयार्थः—[जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) [एवं] इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार [मार्गं समुत्थिताः] मार्गपर आरूढ होते हुये [सिद्धाः जाताः] सिद्ध हुये हैं । [तेभ्यः] उन सबको [च] और [तस्मै निर्वाणमार्गाय] उस निर्वाणमार्गको [नमोऽस्तु] नमस्कार होवे ।

टीकाः—क्योंकि, सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिलक्षण विधिसे प्रवर्तमान मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुये, किसी दूसरी विधिसे नहीं, इसलिये निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं । अधिक विस्तारसे पूरा पड़े उस शुद्धात्मतत्वमें प्रवर्ते हुवे सिद्धोंको तथा उस शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको, जिसमेंसे भाव्य–भावकका (ध्येय-ध्याता का) विभाग अस्त हो गया है, ऐसा नोआगमभाव नमस्कार हो (इस प्रकार) मोक्षमार्ग निश्चित किया है, (और उसमें) प्रवृत्ति करते हैं ॥ १९९ ॥

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका

अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धलक्षणमोक्षमार्गो नान्य इति विशेषेण समर्थयति;–

(जादा ।) उत्पन्नः । कथंभूताः । (सिद्धा) सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थः । के कर्तारः । (जिणा) जिनाः अनागारकेवलिनः । (जिणिंदा) न केवलं जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थंकरपरमदेवाः । कथंभूताः सन्तः एते सिद्धा जाताः । (मग्गं समुट्ठिदा) निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिताः । केन । एवं पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण । न केवलं जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाताः (समणा) सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणाः शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च । अचरमदेहानां कथं सिद्धत्वमिति चेत् ?

"तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणंमि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंस्सामि ॥"

इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन (णमोत्थु तेसिं) नमोऽस्तु तेभ्यः । अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु (तस्स य णिव्वाणमग्गस्स) तस्मै निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च । ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो नान्य इति ॥१९९॥

उत्थानिका—आगे विशेष करके समर्थन करते हैं कि यही अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति लक्षण ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है :

गाथार्थः—(एवं) इस तरह पूर्व कहे प्रमाण (मग्गं समुट्ठिदा) मोक्षमार्गको प्राप्त होकर (समणा)

मुनि, (जिणा) सामान्य केवली जिन, (जिणिंदा) तथा तीर्थंकर केवली जिन, (सिद्धा) सिद्ध परमात्मा (जादा) हुए (तेसिं) उन सबको (य) और (तस्स णिव्वाणमग्गस्स) उस मोक्षमार्गको (णमोत्थु) नमस्कार हो।

टीकार्थः इस तरह बहुत प्रकारसे पहले कहे हुए निज परमात्मतत्वके अनुभवमई मोक्षमार्गको आश्रय करनेवाले जीव सुखदुःख आदिमें समताभावसे परिणमन करनेवाले तथा आत्मतत्वमें लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्य केवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए, ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं। उन सबको तथा उस विकार-रहित स्वसंवेदन लक्षण निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षके मार्गका हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार हो। यहां अचरम शरीरी मुनियों को सिद्ध मानकर इसलिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रयकी सिद्धि की है। जैसा कहा है—

"तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि"

अर्थात् जिन्होंने तपमें सिद्धि पाई है, नयोंके स्वरूप ज्ञानमें सिद्धि पाई है, संयममें सिद्धि की है, चारित्रमें सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें सिद्धि पाई है उन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्षका मार्ग है, अन्य कोई नहीं है॥ १६६॥

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञा निवहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति—

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि॥ २००॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे॥ २००॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते। तथाहि—अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबन्धाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव। अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये। स्वयमेव भवतु चास्यैव दर्शनविशुद्धि-

मूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ॥ २०० ॥

* शालिनी छन्द *

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ॥

संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥ १० ॥

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।

आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥ ११ ॥

वसन्ततिलका छन्द

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।

तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥ १२ ॥

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥२॥

अब, 'साम्यको प्राप्त करता हूं' ऐसी (पांचवीं गाथामें की गई) पूर्वप्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुये (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं:—

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसकारण (अर्थात् शुद्धात्मामें प्रवृत्तिके द्वारा ही मोक्ष होता है, इस कारण) से [तथा] उसी प्रकार [आत्मानं] आत्माको [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभावसे ज्ञायक [ज्ञात्वा] जानकर [निर्ममत्वे उपस्थितः] मैं निर्ममत्वमें स्थित रहता हुआ [ममतां परिवर्जयामि] ममताका परित्याग करता हूँ।

टीका:—मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्वके परिज्ञानपूर्वक ममत्वकी त्यागरूप और निर्ममत्वकी ग्रहणरूपी विधिके द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मामें प्रवृत्त होता हूँ, क्योंकि अन्य कृत्यका अभाव है। (अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है)। वह इसप्रकार है (अर्थात् मैं इसप्रकार शुद्धात्मामें प्रवृत्त होता हूँ):—प्रथम तो मैं स्वभावसे ज्ञायक ही हूँ, केवल ज्ञायक होनेसे मेरा विश्व (समस्तपदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बंध नहीं हैं। इसलिये मेरा किसीके प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।

अब, (१) एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्रपर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्रको—मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित होगये हों, भीतर घुस गये

हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समागये हों, प्रतिबिम्बित होगये हों,—एक क्षणमें ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, (२) ज्ञेयज्ञायकलक्षण रूप संबंधकी अनिवार्यताके कारण ज्ञेय–ज्ञायकको भिन्न करना अशक्य होनेसे, विश्वरूपताको प्राप्त होता हुआ भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभावके द्वारा एकरूपताको नहीं छोड़ता, (३) जो अनादि संसारसे इसी स्थितिमें (ज्ञायक भावरूप ही) रहा है, और (४) जो मोहके द्वारा दूसरे रूपमें जाना–माना जाता है, उस शुद्धात्माको यह मैं, मोहको उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ, यथास्थित (जैसाका तैसा) ही प्राप्त करता हूं।

इस प्रकार दर्शन विशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होनेसे, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको, उसीमें परायणता जिसका एक लक्षण है ऐसा भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो ॥२००॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञां निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोतीति प्रतिपादयति,

(तम्हा) यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्राः श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्माद-
हमपि (तह) तथैव तेनैव प्रकारेण (जाणित्ता) ज्ञात्वा । कम् ? (अप्पाणं) निजपरमात्मानम् । किं विशिष्टं ?
(जाणगं) ज्ञायकं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावं । केन कृत्वा ज्ञात्वा । (सहावेण) समस्तरागादिविभावरहितशुद्ध-
बुद्धैकस्वभावेन । पश्चात् किं करोमि ? (परिवज्जामि) परि समन्ताद्वर्जयामि । कां ? (ममत्तिं) समस्तचेतनाचेत-
नमिश्रपरद्रव्यसम्बन्धिनीं ममताम् । कथंभूतः सन् । (उवट्ठिदो) उपस्थितः परिणतः । क्व ? (णिम्ममत्तिम्हि)
समस्तपरद्रव्यममकाराहंकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्म-
स्वभावे वा । तथाहि—अहं तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटङ्कोत्कीर्णस्वभावः । तथाभूतस्य सतो मम नु
केवलं स्वस्वाम्यादयः परद्रव्यसम्बन्धा न सन्ति । निश्चयेन ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धो नास्ति । ततः कारणात्समस्तपरद्रव्यम-
मत्वरहितो भूत्वा परमसाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामीति । किंच 'उवसंपयामि सम्मं' इत्यादि स्वकीयप्रतिज्ञां
निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोत्येवं यदुक्तं गाथापातनिका प्रारम्भे तेन किमुक्तं भवति–ये तां प्रतिज्ञां
गृहीत्वा सिद्धिगतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्तिं नीता । कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थ-
समाप्तिरूपेण समाप्तिं नीता । शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च । कस्मादिति चेत् ? ये मोक्षं गतास्तेषां
सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता । न चैतेषां, कस्मात् ? चरमदेहत्वाभावादिति ॥२००॥

एवं ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे प्रथम ज्ञानाधिकारकी पांचवीं गाथामें आचार्यने कहा था कि "उवसंपयामि

सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती" मैं साम्य भावको धारण करता हूं जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है, उसी अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वयं ही मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ:—(तम्हा) इसलिये (तध) इसही प्रकार (सभावेण) अपने स्वभावसे (जाणगं) ज्ञायक मात्र (अप्पाणं) आत्माको (जाणित्ता) जानकर (णिम्ममत्तम्मि) ममतारहित भावमें (उवट्ठिदो) ठहरा हुआ (ममत्तिं) ममता भावको (परिवज्जामि) मैं दूर करता हूं।

टीकार्थ:—क्योंकि पहले कहे हुए प्रमाण शुद्धात्माके लाभ रूप मोक्ष मार्गके द्वारा जिन जिनेन्द्र तथा महामुनि सिद्ध हुए हैं इसलिये मैं भी इसी ही प्रकारसे सर्व रागादि विभावसे रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके द्वारा उस केवलज्ञानादि अनंतगुण स्वभावके धारी अपने ही परमात्माको जान करके सर्व परद्रव्य सम्बन्धी ममकार अहंकारसे रहित होकर निर्ममता लक्षण परम साम्यभाव नामके वीतराग चारित्रमें अथवा उस चारित्रमें परिणमन करनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ सर्व चेतन अचेतन व मिश्ररूप परद्रव्य सम्बन्धी ममताको सब तरहसे छोड़ता हूँ। भाव यह है कि मैं केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभावरूपसे ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूँ ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्योंके साथ अपने स्वामीपने आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है मात्र ज्ञेय ज्ञायक संबंध है, सो भी व्यवहार नयसे है निश्चयसे यह ज्ञेय ज्ञायक संबंध भी नहीं है। इस कारणसे मैं सर्व परद्रव्योंके ममत्वसे रहित होकर परम समता लक्षण अपने शुद्धात्मामें ठहरता हूँ। श्रीकुन्दकुन्द महाराजने "उवसंपयामि सम्मं" मैं समताभावको आश्रय करता हूँ इत्यादि अपनी की हुई प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वयं ही मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकार किया है ऐसा जो गाथाकी पातनिकाके प्रारम्भमें कहा गया है उससे यह भाव प्रगट होता है कि जिन महात्माओंने उस प्रतिज्ञाको लेकर सिद्धि पाई है उनहीके द्वारा वास्तवमें वह प्रतिज्ञा पूरी की गई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने तो मात्र ज्ञान दर्शन ऐसे दो अधिकारोंको ग्रंथमें समाप्त करते हुए उस प्रतिज्ञाको पूरा किया है। शिवकुमार महाराजने तो मात्र ग्रन्थके श्रवणसे ही साम्यभावका आलम्बन किया है। क्योंकि वास्तवमें जो मोक्ष प्राप्त हुए हैं उनही की वह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई है न कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजकी और न शिवकुमार राजाकी क्योंकि दोनोंके चरमदेहका अभाव है ॥ २०० ॥ पृष्ठ ४८७ पंक्ति ७से२५ तक पूर्ण पृष्ठ ४८८ पंक्ति १से३० तक पो-

इस तरह ज्ञानदर्शन अधिकारकी समाप्ति करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं। पृष्ठ ४८९ पंक्ति १से१४ तक पो

इस प्रकार प्रवचनसार का दूसरा खण्ड ज्ञेयाधिकार

दोनों संस्कृत टीकाओं तथा भाषा टीकाओं सहित

समाप्त हुआ

* चरणानुयोगसूचक चूलिका *

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका ।

तत्र—

* इन्द्रवज्रा छन्द *

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥ १३ ॥

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयपि—

*"एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदंधोदघाइकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं । वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥"*

**एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥**

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥ २०१ ॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं । अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥ तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज । उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसन्दर्भोभयसभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्न परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥ २०१ ॥

[अब श्लोकद्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्मके सम्यक् अभ्यासका फल कहा जाता है]:—

अर्थः—इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वको समझानेवाले जैन ज्ञानमें—विशाल शब्दब्रह्म में सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराईमें उतरकर निमग्न होकर) हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्तिसे (परिणतिसे) सदा युक्त रहते हैं ॥ १० ॥

[अब श्लोकके द्वारा मुक्तात्माके ज्ञानकी महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकारकी पूर्णाहुति की जा रही है ।]—

अर्थः—आत्मा ब्रह्मको (परमात्मत्वको, सिद्धत्वको) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्वको शीघ्रतासे (एक समयमें) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदोंको प्राप्त ज्ञेयोंको

ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकारके ज्ञेयोंको जानता हुआ) और स्वपरप्रकाशक ज्ञानको आत्मारूप करता हुआ, प्रगट–दैदीप्यमान होता है ॥११॥

[अब श्लोक द्वारा, द्रव्य और चरणका संबंध बतलाकर, ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन नामक द्वितीयाधिकार की और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीयाधिकारकी संधि बतलाई जाती है।]:—

अर्थः—चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है। इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये या तो द्रव्यका आश्रय लेकर अथवा तो चरणका आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्ष मार्गमें आरोहण करो।

इसप्रकार (श्री भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमत्-अमृतचन्द्राचार्यदे विरचित तत्वदीपिकानामक टीकाका यह 'ज्ञेयतत्व-प्रज्ञापन' नामक द्वितीय-स्कंध (का भाषानुवाद) समाप्त हुआ।

अब दूसरोंको चरणानुयोगकी सूचक चूलिका है।

[उसमें, प्रथम श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोकके द्वारा अब इस आगामी गाथाकी उत्थानिका करते हैं]

[अर्थः—] द्रव्यकी सिद्धिमें चरणकी सिद्धि है, और चरणकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है,–यह जानकर, कर्मोंसे (पापोंसे) अविरत तथा अन्य भी, द्रव्यसे अविरुद्ध चरण का आचरण करो अर्थात् चारित्र पालन करो।

इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस आगामी गाथाके द्वारा) दूसरोंको चरण (चारित्र) के आचरण करनेमें योजित करते (जोड़ते) हैं।

[अब गाथाके प्रारंभ करनेसे पूर्व उसकी संधिके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने पंच परमेष्ठीको नमस्कार करनेके लिये ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन अधिकारकी प्रथम तीन गाथायें लिखी हैं

[अब, इस अधिकारकी गाथा प्रारंभ करते हैं :—]

अन्वयार्थः—[यदि दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दुःखोंसे मुक्त होनेकी इच्छा है तो, [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापनकी प्रथम तीन गाथाओंके अनुसार) [पुनः पुनः] बारंबार [सिद्धान्] सिद्धोंको, [जिनवरवृषभान्] अर्हन्तोंको तथा [श्रमणान्] मुनियोंको [प्रणम्य] नमस्कार करके [श्रामण्यं प्रतिपद्यताम्] यति धर्मको अंगीकार करो।

टीकाः—जैसे दुःखोंसे मुक्त होनेके लिये मेरी आत्माने अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों,

उपाध्यायों तथा साधुओंको वंदनात्मक नमस्कार करके विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्यनामक जिस यति-मार्ग को, जिसका इस ग्रंथमें कथित दो अधिकारोंकी रचना द्वारा कथन किया गया है, स्वयं अंगीकार किया है उसी प्रकार दूसरोंका आत्मा भी, यदि दुःखोंसे मुक्त होनेका इच्छुक है तो, उसे अंगीकार करो। उस यति धर्म को अंगीकार करनेका जो यथानुभूत मार्ग है उसकी प्रेरणा करने के लिये हम खड़े हुये हैं ॥२०१॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

एवं निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धि गता ये च तदाराधकास्तेषां दर्शनाधिकारापेक्षयावसानमङ्गलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमङ्गलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कारं करोति;—

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं। अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥२००-१॥

दर्शनसंशुद्धेभ्यः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तेभ्यः। अव्याबाधरतेभ्यो नमो नमो सिद्धसाधुभ्यः ॥२००- ॥

(णमो णमो) नमो नमः पुनः पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्षं दर्शयति। केभ्यः ? (सिद्धसाहूणं) सिद्धसाधुभ्यः। पुनरपि कथंभूतेभ्यः। सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्यः साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः। पुनरपि कथंभूतेभ्यः। (दंसणसंसुद्धाणं) मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः। पुनरपि कथंभूतेभ्यः ? (सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं) संशयादिरहितं सम्यग्ज्ञानं तस्योपयोगः सम्यग्ज्ञानोपयोगः, योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थः ताभ्यां युक्ताः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्यः। पुनश्च किंरूपेभ्यः। (अव्वाबाधरदाणं) सम्यग्ज्ञानाविनाभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥२००-१॥

इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकारः समाप्तः। एवं 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तरं 'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य' इत्यादिगाथानवकपर्यन्तं पुद्गलानां परस्परबन्धमुख्यत्वेन द्वितीयो विशेषान्तराधिकारस्ततः परं 'अरसमरूव' इत्यादि एकोनविंशतिगाथापर्यंतं जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च 'ण चयदि जो दु ममत्तिं' इत्यादि द्वादशगाथापर्यंतं विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थः चारित्रविशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपञ्चाशद्गाथाभिर्विशेषान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानश्चतुर्थोन्तराधिकारः समाप्तः।

इति (श्री जयसेनाचार्य-) कृतायां तात्पर्यवृत्तौ 'तम्हा दसणमाई' इत्यादि पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्तं सामान्यज्ञेयव्याख्यानं तदनन्तरं 'दव्वं जीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन विशेषज्ञेयव्याख्यानं ततश्च 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तं सामान्यभेदभावना ततः परं 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकाधिकपञ्चाशद्गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभिः (सम्यग्दर्शनाधिकार) नामा (ज्ञेया-) धिकारापरसंज्ञो द्वितीयो महाधिकारः समाप्तः ॥२॥

कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थः समाप्त इति ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्। 'उवसंपयामि सम्मं' इति प्रतिज्ञासमाप्तेः। अतः परं यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकारूपेण चारित्राधिकारव्याख्यानं प्रारभ्यते। तत्र तावदुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य संक्षेपव्याख्यानम्। तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम्। ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम्। तदनन्तरं शुभोपयोगव्याख्यानमित्यन्तराधिकारचतुष्टयं भवति। तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे

पञ्चस्थलानि 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्यादि गाथासप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यतया प्रथमस्थलम् । अतः परं 'वदसमिदिंदिय' इत्यादिमूलगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तरं गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं 'लिंगग्गहणे' इत्यादि एका गाथा । तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया 'पयदंहि' इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयम् । अथाचारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोधनस्य संक्षेपसमाचारकथनार्थं 'अधिवासे व वि' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथात्रयम् । तदनन्तरं भावहिंसाद्रव्यहिंसापरिहारार्थं 'अपयत्तादो चरिया' इत्यादिपञ्चमस्थले सूत्रषट्कमित्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपञ्चकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा- अथासन्नभव्यजीवांश्चारित्रे प्रेरयति;—

(परिवज्जदु) प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु किम् ? (सामण्णं) श्रामण्यं चारित्रम् । यदि किम् ? (इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं) यदि च दुःखपरिमोक्षमिच्छति । स कः कर्त्ता । परेषामात्मा । कथं प्रतिपद्यताम् ? (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंद' इत्यादि गाथापञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं कृत्वा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिनान्यैः पूर्वोक्तभव्यैर्वा यथा तच्चारित्रं प्रतिपन्नं तथा प्रतिपद्यताम् । किं कृत्वा पूर्वं । (पणमिय) प्रणम्य । कान् ? (सिद्धे) अञ्जनपादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धिसमेतसिद्धान् । (जिणवरवसहे) सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते । तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् । न केवलं तान् प्रणम्य (पुणो पुणो समणे) चिच्चमत्कारमात्रनिजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादनसाधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूंश्च पुनः पुनः प्रणम्येति । किंच पूर्वं ग्रन्थप्रारम्भकाले साम्यमाश्रयामीति शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञां करोतीति भणितम् । इदानीं तु महात्मना चारित्रं प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोधः । परिहारमाह— ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति परं किन्तु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मानं भावनापरिणतं दर्शयति । क्वापि शिवकुमारमहाराजं क्वाप्यन्यं भव्यजीवं वा । तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति कालनियमो नास्तीत्यभिप्रायः ॥२००-१॥

उत्थानिका— इस तरह निज शुद्धात्माकी भावनारूप मोक्षमार्गके द्वारा जिन्होंने सिद्धि पाई है और और जो उस मोक्षमार्गके आराधनेवाले हैं उन सबको इस दर्शन अधिकारकी समाप्तिमें मंगलके लिये अथवा ग्रन्थकी अपेक्षा मध्यमें मंगलके लिये उस ही पदकी इच्छा करते हुए आचार्य नमस्कार करते हैं—

गाथार्थः —(दंसणसंसुद्धाणं) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध (सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं) व सम्यग्ज्ञानमई उपयोगसे युक्त तथा (अव्वावाधरदाणं) अव्याबाध सुखमें लीन (सिद्धसाहूणं) सिद्धोंको और साधुओंको (णमो णमो) बारबार नमस्कार हो ।

टीकार्थः— जो तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषोंसे रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, व संशयादि दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञानमई उपयोग धारी हैं अथवा सम्यग्ज्ञान और निर्विकल्प समाधिमें वर्तनेवाले वीतराग चारित्र सहित हैं तथा सम्यग्ज्ञान आदिकी भावनासे उत्पन्न अव्याबाध तथा अनन्त सुखमें लीन हैं ऐसे जो सिद्ध हैं अर्थात् अपने आत्माकी प्राप्ति करनेवाले अर्हंत और सिद्ध हैं तथा जो साधु हैं अर्थात् मोक्षके साधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं उन सबको मेरा वार वार नमस्कार हो ऐसा कहकर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने अपनी उत्कृष्ट भक्ति दिखाई है ॥ २०० । १ ॥

इस तरह नमस्कार गाथा सहित चार स्थलोंमें चौथा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस "अत्थित्त णिच्छिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथा तक शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग इन तीन उपयोगकी मुख्यतासे पहला विशेष अंतर अधिकार है फिर 'अपदेसो परमाणू पदेसमत्तोय' इत्यादि नौ गाथाओं तक पुद्गलोंके परस्पर बंधकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार है। फिर "अरसमरूव" इत्यादि उन्नीस गाथा तक जीवका पुद्गल कर्मोंके साथ बंध कथनकी मुख्यतासे तीसरा विशेष अंतर अधिकार है फिर "ण चयांदे जो दु ममत्ति" इत्यादि बारह गाथाओं तक विशेष भेदभावनाकी चूलिकारूप व्याख्यान है ऐसा चौथा चारित्र विशेषका अंतर अधिकार है, इस तरह इक्यावन गाथाओंसे चार विशेष अंतर अधिकारोंसे विशेष भेदभावना नामक चौथा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिमें "तम्हा दंसण माइं" इत्यादि पैंतीस गाथाओं तक सामान्य ज्ञेयका व्याख्यान है फिर "दव्वं जीवं" इत्यादि उन्नीस गाथाओं तक जीव पुद्गलधर्मादि भेदसे विशेष ज्ञेयका व्याख्यान है फिर 'सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदभावना है पश्चात् "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि इक्यावन गाथाओं तक विशेष भेदभावना है, इस तरह चार अंतर अधिकारोंमें एकसौ तेरह गाथाओंसे सम्यग्दर्शन नामका अधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार नामका दूसरा महाअधिकार समाप्त हुआ।

आगे चारित्रतत्त्वदीपिकाका व्याख्यान किया जाता है।

उत्थानिका—इस ग्रन्थका जो कार्य था उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो ग्रन्थकी समाप्ति दो खंडोंमें हो चुकी है, क्योंकि "उपसंपयामि सम्मं" मैं साम्यभावमें प्राप्त होता हूँ इस प्रतिज्ञाकी समाप्ति होचुकी है।

तो भी यहां क्रमसे ९७ सत्तानवें गाथाओं तक चूलिका रूपसे चारित्रके अधिकारका व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। इसमें पहले उत्सर्गरूपसे चारित्रका संक्षेप कथन है उसके पीछे अपवाद रूपसे उसी ही चारित्रका विस्तारसे व्याख्यान है। इसके पीछे श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्गका व्याख्यान है। फिर शुभोपयोगका व्याख्यान है इस तरह चार अन्तर अधिकार हैं। इनमेंसे भी पहले अन्तर अधिकारमें पांच स्थल हैं। "एवं पणमिय सिद्धे" इत्यादि सात गाथाओं तक दीक्षाके सन्मुख पुरुषका दीक्षा लेनेके विधानका कहनेकी मुख्यतासे प्रथम स्थल है। फिर "वद-समिदिंदिय" इत्यादि मूलगुणको कहते हुए दूसरे स्थलमें गाथाएं दो हैं। फिर गुरुकी व्यवस्था बतानेके लिये "लिंगग्गहणे" इत्यादि एक गाथा है। तैसे ही प्रायश्चित्तके कथनकी मुख्यतासे "पयदंहि" इत्यादि गाथाएं दो हैं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें गाथाएं तीन हैं। आगे आधार आदि शास्त्रके कहे हुए क्रमसे साधुका संक्षेप समाचार कहनेके लिये "अधिवासे व वि" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाएं तीन हैं। उसके पीछे भाव हिंसा, द्रव्य हिंसाके त्यागके लिये 'अपयत्तादो चरिया' इत्यादि पांचवें स्थलमें सूत्र छः हैं। इस तरह २१ इक्कीस गाथाओंमें पांच स्थलोंसे पहले अन्तर अधिकारमें समुदाय-पातनिका है।

पहली गाथाकी उत्थानिका—आगे आचार्य निकटभव्य जीवोंको चारित्रमें प्रेरित करते हैं।

गाथार्थः—यह आत्मा (जदि) यदि (दुक्खपरिमोक्खं) दुःखोंसे छुटकारा (इच्छदि) चाहता है तो (एवं) प्रथम पांचगाथामें कहे अनुसार (सिद्धे) सिद्धोंको, (जिणवरवसहे) जिनेन्द्रोंको, (समणे) और साधुओंको (पुणो पुणो) वारवार (पणमिय) नमस्कार करके (सामण्णं) मुनिपनेको (पडिवज्जद) स्वीकार करे।

टीकार्थः—यदि कोई आत्मा संसारके दुःखोंसे मुक्ति चाहता है तो उसको उचित है कि दुःखसे मुक्तिके इच्छुक मुझने पंच परमेष्ठीको नमस्कार करके चारित्रको धारण किया है अथवा दूसरे पूर्वमें कहे हुए भव्योंने चारित्र स्वीकार किया है, इसी तरह वह भी पहले अंजन पादुका आदि लौकिक सिद्धियोंसे विलक्षण अपने आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके धारी सिद्धोंको, जिनेंद्रोंमें श्रेष्ठ ऐसे तीर्थंकर परम देवोंको तथा चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयके आचरण करनेवाले, उपदेश देनेवाले तथा साधनमें उद्यमी ऐसे श्रमण शब्दसे कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको वार वार नमस्कार करके साधुके चारित्रको स्वीकार करे। सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक एकदेश जिन कहे जाते तथा शेष दो गुणस्थानवाले केवली मुनि जिनवर कहे जाते हैं, उनमें मुख्य जो हैं उनको जिनवर वृषभ या तीर्थंकर परमदेव कहते हैं।

यहां कोई शंका करता है कि पहले इस प्रवचनसार ग्रन्थके प्रारम्भमें यह कहा गया है कि शिवकुमार नामके महाराजा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शांतभावको या समताभावको आश्रय करता हूं अब यहां कहा है कि महात्माने चारित्र स्वीकार किया था। इस कथनमें पूर्वापर विरोध आता है। इसका समाधान यह है कि आचार्य ग्रन्थ प्रारम्भसे ही पूर्व दीक्षित हैं किन्तु ग्रन्थ करनेके बहानेसे किसी भी आत्माको अर्थात् शिवकुमार महाराजको व कहीं अन्य भव्य जीवको उस भावनामें परिणमन होते हुए आचार्य दिखाते हैं। इस कारणसे इस ग्रन्थमें किसी पुरुषका नियम नहीं है और न कालका नियम है ऐसा अभिप्राय है॥ २०१॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २०२ ॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २०२॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति। तथाहि—एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदं जनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञान-

ज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत इममात्मानं युवां विमुञ्चत, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि, तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदजनशरीरपुत्रस्यात्मन् अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादि–जन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहोकालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥ २०२ ॥

अथ, श्रमण होनेका इच्छुक पहले क्या क्या करता है, उसका उपदेश करते हैं :—

अन्वयार्थः—(श्रामण्यार्थी) [बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य] बंधुवर्गसे पूछकर [गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः] बड़ोंसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ [ज्ञानदर्शन चारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके विरक्त होता है ।

टीकाः—जो मुनि होना चाहता है पहले ही बंधुवर्गसे (सगे–संबंधियोंसे) पूछताहै,

गुरुजनों (बड़ों) से यथा स्त्री और पुत्रोंसे अपनेको छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है। वह इस प्रकार है :—

बंधुवर्गसे इस प्रकार कहता है:- अहो ! इस पुरुषके शरीरके बंधुवर्गमें प्रवर्तमान आत्माओ इस पुरुषका मेरा आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है,- इसप्रकार तुम निश्चयसे जानो। इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधुके पास जारहा है।

अहो ! इस पुरुषके शरीरके जनक (पिता) के आत्मा ! अहो इस पुरुषके शरीरकी जननी माता के आत्मा ! इस पुरुषका मेरा आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निचश्यसे जानो। इसलिये तुम इस आत्माको छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुषके शरीरकी रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तू इस पुरुषके मेरे आत्माको रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणीके पास जारहा है।

अहो ! इस पुरुषके मेरे शरीरके पुत्रके आत्मा ! तू इस पुरुषके मेरे आत्माका जन्य (उत्पन्न किया गया—पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्यके पास जारहा है। इस प्रकार बड़ोंसे, स्त्रीसे और पुत्रसे अपनेको छुड़ाता है।

उसी प्रकार-अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, अर्थ, व्यंजन, और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार ! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चयसे शुद्धात्माका नहीं है, तथापि मैं तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं। अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावनास्वरूप दर्शनाचार ! मैं यह जानता हूँ कि निश्चयसे तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूं जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं अहो मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्याभाषा एषण-आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन समितिस्वरूप चारित्राचार ! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चयसे शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसादसे

शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं । अहो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गस्वरूप तपाचार ! मैं यह जानता हूं कि निश्चयसे तू शुद्धात्माका नहीं है तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूं जबतक तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं । अहो समस्त इतर आचारमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्तिको नहीं छिपाने स्वरूप वीर्याचार ! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चयसे शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूं जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूं । इस प्रकार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है ॥ २०२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ श्रमणो भवन्निच्छन्पूर्वं क्षमितव्यं करोति;—'उवट्ठिदो होदि सो समणो' इत्यग्रे षष्ठगाथायां यद्व्याख्यानं तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं किं कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति;—

(आपिच्छ) आपृच्छ्य पृष्ट्वा । कम् ? (बंधुवग्गं) गोत्रम् । ततः कथंभूतो भवति ? (विमोचिदो) विमोचितस्त्यक्तो भवति । कैः कर्तृभूतैः ? (गुरुकलत्तपुत्तेहिं) पितृमातृकलत्रपुत्रैः । पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति । (आसिज्ज) आसाद्य आश्रित्य । कम् ? (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं) ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति । अथ विस्तरः—अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्रपुत्राः ! अयं मदीयात्मा साम्प्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितरं मातरं कलत्रं पुत्रं चाश्रयति तेन कारणेन मां मुञ्चत यूयमिति क्षमितव्यं करोति । ततश्च किं करोति । परमचैतन्यमात्रनिजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणस्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूपं निश्चयपञ्चाचारमाचारादिचरणग्रन्थकथिततत्साधकव्यवहारपञ्चाचारं चाश्रयतीत्यर्थः । अत्र यद्गोत्रादिभिः सह क्षमितव्यव्याख्यानं कृतं तदत्रातिप्रसङ्गनिषेधार्थम् । तत्र नियमो नास्ति । कथमिति चेत् ? पूर्वकाले प्रचुरेण भरतसगररामपाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षां गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति । यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादिममत्वं करोति तदा तपोधन एव न भवति । तथाचोक्तं—"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्ति । सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो" ॥२०२॥

उत्थानिका—आगे जो श्रमण होनेकी इच्छा करता है उसको पहले क्षमाभाव करना चाहिये । "उवट्ठिदो होदि सो समणो" इस छठी गाथामें जो व्याख्यान है उसीको मनमें धारण करके पहले क्या २ काम करके साधु होवेगा उसीका व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थः—(बन्धुवग्गं) बन्धुओंके समूहको (आपिच्छ) पूछकर (गुरुकलत्तपुत्तेहिं) माता पिता स्त्री पुत्रोंसे (विमोइदो) छूटता हुआ (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य ऐसे पांच आचारोंको (आसिज्ज) आश्रय करके मुनि होता है ।

टीकार्थः—वह साधु होनेका इच्छुक इस तरह बंधुवर्गोंको समझाकर क्षमाभाव करता व कराता है कि अहो बन्धुजनो ! मेरे पिता माता स्त्री पुत्रो ! मेरी आत्मामें परम भेद ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न होगई है इससे यह मेरी आत्मा अपने ही चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्माको ही निश्चयनयसे अनादि कालके बन्धु वर्ग, पिता, माता, स्त्री, पुत्ररूप मानकर उनहीका आश्रय करता है इसलिये आप सब मुझे छोड़ दो-मेरा मोह त्याग दो व मेरे दोषोंपर क्षमा करो, इस तरह क्षमाभाव कराता है। इसके पीछे निश्चय पंचाचारको और उसके साधक आचारादि ग्रंथोंमें कहे हुए व्यवहार पंचाचारको आश्रय करता है।

परम चैतन्य मात्र निज आत्मतत्त्व ही सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा ही ज्ञान सो निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है, उसी निज स्वभावमें निश्चलतासे अनुभव करना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है, सर्व परद्रव्योंकी इच्छासे रहित होना सो निश्चय तपश्चरण है तथा अपनी आत्मशक्तिको न छिपाना सो निश्चय वीर्याचार है इस तरह निश्चय पंचाचारका स्वरूप जानना चाहिए।

यहां जो यह व्याख्यान किया गया कि अपने बन्धु आदिके साथ क्षमा करावै सो यह कथन अति प्रसङ्ग अर्थात् अमर्यादाके निषेधके लिये है। दीक्षा लेते हुए इस बातका नियम नहीं है कि क्षमा कराए विना दीक्षा न लेवे। क्यों नियम नहीं है ? उसके लिये कहते हैं कि पहले कालमें भरत, सगर, राम, पांडवादि बहुतसे राजाओंने जिनदीक्षा धारण की थी। उनके परिवारके मध्यमें जब कोइ भी मिथ्यादृष्टि होता था तब धर्ममें उपसर्ग भी करता था तथा यदि कोइ ऐसा माने कि बन्धुजनोंकी सम्मति करके पीछे तप करूंगा तो उसके मतमें अधिकतर तपश्चरण ही न होसकेगा, क्योंकि जब किसी तरहसे तप ग्रहण करते हुए यदि अपने संबंधी आदिसे ममताभाव करे तब कोइ तपस्वी ही नहीं होसकता। जैसा कहा है:—

जो पहले सर्व नगर व राज्य छोड़ करके फिर ममत्ता करे वह मात्र भेषधारी है, संयमकी अपेक्षा से रहित है अर्थात् संयमी नहीं है ॥ २०२ ॥

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् ।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥२०३॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति । तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृहाणेत्युप-

सर्पन् प्रणतो भवति । एवमियं ते शुद्धात्मतत्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥२०३॥

इसके बाद वह मुनि होनेका इच्छुक क्या करता है, इसका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणं] जो श्रमण है, [गुणाढ्यं] गुणाढ्य है, [कुलरूपवयोविशिष्टं] कुल, रूप तथा वयसे विशिष्ट है, और [श्रमणैः इष्टतरं] श्रमणोंको अति इष्ट है [तम् अपि गणिनं] ऐसे गणीको [माम् प्रतीच्छ इति] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [प्रणतः] प्रणाम करता है [च] और [अनुगृहीतः] आचार्य द्वारा ग्रहण किया जाता है।

टीकाः—पश्चात् मुनि दीक्षा लेनेवाला प्रणाम करता है और आचार्य द्वारा ग्रहण किया जाता है। वह इस प्रकार है कि आचरण करनेमें और आचरण करानेमें आनेवाली समस्त विरतिकी प्रवृत्तिके समान आत्मरूप-ऐसे यति-धर्म का कारण जो 'श्रमण' है, ऐसे यति धर्म आचरण करनेमें और आचरण करानेमें प्रवीण होनेसे जो 'गुणाढ्य' है, सर्वलौकिकजनोंके द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होनेसे और कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे जो 'कुलविशिष्ट' है, अंतरंग-शुद्धरूपका अनुमान करानेवाला ऐसा बहिरंग-शुद्धरूप होनेसे जो 'रूपविशिष्ट' है, बालकत्व और वृद्धत्वसे होनेवाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होनेसे तथा यौवनोद्रेक के विकार रहित बुद्धि होनसे जो 'वय विशिष्ट' है, पूर्ण यथोक्त यति धर्मके चारित्र को आचरण करने संबंधी पौरुषेय-दोषोंको (जिन दोषोंका पुरुषके द्वारा लगना संभव है) के कारण नष्ट (प्रायश्चित्तादिके लिये) जिनका बहुआश्रय लेते हैं इसलिये जो 'श्रमणोंको अतिइष्ट' है, ऐसे गणीके निकट-शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिके साधक आचार्यके निकट-'शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धि सिद्धिके लिये मुझे ग्रहण करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) नमस्कार करता है। 'इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि' हो ऐसा (कहकर) वह गणी उस मुनिदीक्षा लेनेवालेको प्रार्थित अर्थसे संयुक्त करते हैं, अनुगृहीत करते हैं अर्थात् यति धर्म की दीक्षा देते हैं ॥२०३

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ जिनदीक्षार्थी भव्यो जैनाचार्यमाश्रयति;—

(समणं) निन्दाप्रशंसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदितनिश्चयव्यवहारपञ्चाचारस्य चरणाचरणप्रवीणत्वात् श्रमणम् । (गुणड्ढं) चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानुभूतिगुणेनाढ्यं भृतम् परिपूर्णत्वाद्गुणाढ्यम् । (कुलरूववयोविसिट्ठं) लोकदुगुञ्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं (कुलं) भण्यते । अन्तरङ्ग-

शुद्धात्मानुभूतिरूपकं निर्ग्रन्थनिर्विकारं (रूपमुच्यते) । शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्यरहितं (वय) श्चेति तैः कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात्कुलरूपवयोविशिष्टम् । (इट्ठदरं) सम्मतम् । कैः ? (समणेहिं) निजपरमात्मतत्त्वभावनासहितसमचित्तश्रमणैरन्याचार्यैः (गणिं एवंविधगुणविशिष्टं, परमभावनासाधकदीक्षादायकमाचार्यम् । (तं पि पणदो) न केवलमाचार्यमाश्रितो भवति प्रणतोऽपि भवति । केन रूपेण । (पडिच्छ मं) हे भगवन् अनन्तज्ञानादिजिनगुणसम्पत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षायाः प्रदानेन प्रसादेन मां प्रतीच्छ स्वीकुरु (चेदि अणुगहिदो) न केवलं प्रणतो भवति, तेनाचार्येणानुगृहीतः स्वीकृतश्च भवति । हे भव्य ! निस्सारसंसारे दुर्लभबोधिं प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफलं कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थः ॥२०३॥

उत्थानिक —आगे जिन दीक्षाको लेनेवाला भव्य जीव जैनाचार्यका शरण ग्रहण करता है, ऐसा कहते हैं:—

गाथार्थ:—(समणं) समताभावमें लीन, (गुणड्ढं) गुणोंसे परिपूर्ण, (कुलरूववयोविसिट्ठम्) कुल, रूप तथा अवस्थासे उत्कृष्ट, (समणेहिं इट्ठतरं) महामुनियोंसे अत्यन्त मान्य (तं गणिं) ऐसे उस आचार्यके पास प्राप्त होकर (पणदो) उनको नमस्कार करता हुआ (च अपि) और (मां पडिच्छ) 'मेरेको अंगीकार कीजिये' (इदि) ऐसी प्रार्थना करता हुआ (अणुगहिदो) आचार्य द्वारा अंगीकार किया जाता है।

टीकार्थ:—जिनदीक्षाका अर्थी जिस आचार्यके पास जाकर दीक्षाकी प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते हैं। वह निन्दा व प्रशंसा आदिमें समताभावको रखकर पूर्व सूत्रमें कहे गए निश्चय और व्यवहार पञ्च-प्रकार आचारके पालनेमें प्रवीण होते हैं चौरासीलाख गुण और अठारह हजार शीलके सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्माका अनुभवरूप उत्तम गुण उससे परिपूर्ण होते हैं। लोगोंकी घृणासे रहित जिनदीक्षाके योग्य कुलवाले होते हैं। अन्तरंग शुद्धात्माका अनुभवरूप निर्ग्रंथ निर्विकाररूपवाले होते हैं। शुद्धात्मानुभवको विनाश करनेवाले वृद्धपने, बालपने व यौवनपनके उद्धतपनेसे पैदा होनेवाली बुद्धिकी चंचलतासे रहित होनेसे वयवाले होते हैं। इन कुल, रूप तथा वयसे श्रेष्ठ तथा अपने परमात्मा तत्त्वकी भावनासहित समचित्तधारी अन्य आचार्योंके द्वारा सम्मत होते हैं। ऐसे गुणोंसे परिपूर्ण परमभावके साधक दीक्षाके दाता आचार्यका आश्रय करके उनको नमस्कार करता हुआ यह प्रार्थना करता है: -

हे भगवन् ! अनंतज्ञान आदि अरहंतके गुणोंकी सम्पदाको पैदा करनेवाली व जिसका लाभ अनादिकालमें भी अत्यन्त दुर्लभ रहा है। ऐसी भाव सहित जिनदीक्षाका प्रसाद देकर मेरेको अवश्य स्वीकार कीजिये। तब वह उन आचार्यके द्वारा इस तरह स्वीकार किया जाता है "हे भव्य इस असार संसारमें दुर्लभ रत्नत्रयके लाभको प्राप्त करके अपने शुद्धात्मा की भावनारूप निश्चय चार प्रकार आराधनाके द्वारा तू अपना जन्म सफल कर ॥ २०३ ॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिणिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ २०४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः ॥ २०४ ॥

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति। तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसंबन्धशून्यत्वात्। तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमतिः परद्रव्यस्वस्वामिसंबन्धनिबंधनानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥ २०४ ॥

और फिर वह क्या करता है, सो उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अहं] मैं [परेषां] दूसरोंका [न भवामि] नहीं हूँ [परे मे न] पर मेरे नहीं हैं, [इह] इस लोकमें [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नहीं है,—[इति निश्चितः] ऐसा निश्चय करके और [जितेन्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधरः] यथाजात रूपधारी [जातः] होता है।

टीकाः—तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधारी होता है। इसप्रकार किः—'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी परका नहीं हूं, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य निश्चयनयसे परके साथ समस्त संबंधरहित हैं, इसलिये इस षड्द्रव्यात्मक लोकमें आत्मासे अन्य कुछ भी मेरा नहीं है,'—इसप्रकार निश्चित मतिवाला, परद्रव्योंके साथ स्व-स्वामि संबंध जिनका आधार है, ऐसी इन्द्रियों और नो इन्द्रियोंके जयसे जितेन्द्रिय होता हुआ आत्मद्रव्यके (यति धर्मके) यथानिष्पन्न शुद्धरूप धारण करनेसे यथाजातरूपधारी होता है ॥२०४॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ गुरुणा स्वीकृतः सन्नीदृशो भवतीत्युपदिशति;—

(णाहं होमि परेसिं) नाहं भवामि परेषाम्। निजशुद्धात्मनः सकाशात्परेषां भिन्नद्रव्याणां सम्बन्धी न भवाम्यहम्। (ण मे परे) न मे सम्बन्धीनि परद्रव्याणि (णत्थि मज्झमिह किंचि) नास्ति ममेह किंचिदपि परद्रव्यं मम नास्ति (इदि णिच्छिदो) इति निश्चितमतिर्जातः (जिदिंदो जादो) इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपनिजपरमात्मद्रव्याद्विपरीतेन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च संजातः सन् (जधजादरूवधरो) यथाजातरूपधरः व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः ॥२०४॥

उत्थानिका—आगे गुरु द्वारा स्वीकार किये जानेपर वह जिस प्रकारके स्वरूपका धारी होता है उसका उपदेश करते हैं—

गाथार्थः—(अहं) मैं (परेसिं) दूसरोंका (ण होमि) नहीं हूं (ण मे परे) न दूसरे द्रव्य मेरे हैं। इस तरह (इह) इस लोकमें (किंचि) कोई भी पदार्थ (मज्झम्) मेरा (णत्थि) नहीं है। (इदि णिच्छिदो) ऐसा निश्चय करता हुआ (जिदिंदो) जितेन्द्रिय (जधजादरूवधरो) और जैसा मुनि का स्वरूप होना चाहिए वैसा, निर्ग्रन्थ रूप धारी (जादो) होजाता है।

टीकार्थः—दीक्षा लेनेवाला साधु अपने मन वचन कायसे सर्व परिग्रहसे ममता त्याग देता है। इसीलिये वह मनमें ऐसा निश्चय कर लेता है कि मेरे अपने शुद्ध आत्माके सिवाय और जितने पर द्रव्य हैं उनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है और न पर द्रव्य मेरे सम्बन्धी हैं। इस जगतमें मेरे सिवाय मेरा कोई भी पर-द्रव्य नहीं है। तथा वह अपनी पांच इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पजालोंसे रहित व अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप अपने परमात्म-द्रव्यसे विपरीत इन्द्रियों और नोइंद्रियको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय होजाता है। और यथाजात रूपधारी होजाता है अर्थात् व्यवहारनयसे नग्नपना यथाजातरूप है और निश्चयसे अपने आत्माका जो यथार्थ स्वरूप है वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनोंका धारण करके निर्ग्रन्थ हो जाता है॥ २०४॥

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यास कौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥ २०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥२०६॥ [जुगलं]

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम्।
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम्॥ २०५॥
मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम्।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम्॥ २०६॥ [युगलम्]

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निर्वसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरंगं लिंगम्। तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्व-

प्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनोममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम् २०५-२०६

अब, अनादिसंसारसे अनभ्यस्त होनेसे जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है ऐसे इस यथाजातरूपधरत्वके वहिरंग और अंतरंग दो लिंगोंका–जो कि अभिनव अभ्यासम कुशलतासे उपलब्धि की सिद्धिके सूचक हैं, उनका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यथाजातरूपजातम्] जन्म समयके रूप जैसा रूपवाला, [उत्पाटितकेशश्मश्रुकं] सिर और डाढ़ीमूंछके वालोंका लोंच किया हुआ [शुद्धं] शुद्ध (परिग्रहरहित) [हिंसादितः रहितम्] हिंसादिसे रहित और [अप्रतिकर्म] प्रतिकर्म (शारीरिक शृङ्गार) से रहित [लिंगं भवति) लिंग (यति धर्म का वहिरंग चिह्न) होता है।

[मूर्च्छारम्भवियुक्तम्] मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, [उपयोगयोगशुद्धिभ्यां युक्तं] उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्त तथा [न परापेक्षं] परकी अपेक्षासे रहित ऐसा [जैनं] जिनेन्द्रदेवकथित [लिंगम्] (श्रामण्यका अंतरंग) लिंग है [अपुनर्भवकारणम्] जो कि मोक्षका कारण है।

टीकाः—प्रथम तो अपनी इच्छासे, यथोक्त (गाथा २०३-२०४) क्रमसे यथाजातरूपधारी[1] होनेसे आत्माके अयथाजातरूप[2] के कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव होता ही है, और उनके अभावके कारण, जो कि उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे (१) वस्त्राभूषण का धारण, (२) सिर और डाढ़ी मूछोंके बालोंका रक्षण, (३) सकिंचनत्व[3] परिग्रह (४) सावद्ययोगसे युक्तता तथा (५) शारीरिक संस्कारका करना, इन (पांचों) का अभाव होता है, जिससे (उस आत्माके) (१) जन्म समयके रूप जैसा रूप, (२) सिर और डाढ़ी मूछके बालोंका लोंच, (३) शुद्धत्व (परिग्रह रहितता) (४) हिंसादिरहितता, तथा (५) अप्रतिकर्मत्व[4] (शारीरिक शृंगार-संस्कारका अभाव) होता ही है। इसलिये यह वहिरंग लिंग है।

और फिर, आत्माके यथाजातरूपधरत्वसे दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरत्व, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादि भावोंका अभाव होनेसे ही, जो उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे

१–यथाजातरूपधर (आत्माका) सहजरूप धारण करनेवाला। २–अयथाजातरूपधर (आत्माका) असहजरूप धारण करनेवाला। ३—सकिंचन जिसके पास कुछ भी (परिग्रह) हो ऐसा, ४—कर्मप्रक्रम कामको अपने ऊपर लेना, काममें युक्त होना, कामकी व्यवस्था। तत्पूर्वक—उपरक्त (मलिन) उपयोग-पूर्वक।

जो (१) ममत्वके और कार्य व्यवस्था (कर्मप्रक्रम) के परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योगकी अशुद्धिसे युक्तता, तथा (३) परद्रव्यसे सापेक्षत्व, इन तीनोंका अभाव होता है, इसलिये उस मुनिके (१) मूर्छा और आरम्भसे रहितता, (२) उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्तता, तथा (३) परकी अपेक्षासे रहितता होती है। इसलिये यह अंतरंग लिंग है॥ २०५-२०६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ तस्य पूर्वसूत्रोदितयथाजातरूपधरस्य निर्ग्रन्थस्यानादिकालदुर्लभायाः स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धेर्गमकं चिन्हं बाह्याभ्यन्तरलिङ्गद्वयमादिशति:—

(जधजादरूवजादं) पूर्वसूत्रोक्तलक्षणयथाजातरूपेण निर्ग्रन्थत्वेन जातमुत्पन्नं यथाजातरूपजातम् (उप्पाडिदकेसमंसुगं) केशश्मश्रुसंस्कारोत्पन्नरागादिदोषवर्जनार्थमुत्पाटितकेशश्मश्रुकम्। सुद्धं निरवद्यचैतन्यचमत्कारविसदृशेन सर्वसावद्ययोगेन रहितत्वाच्छुद्धम्। (रहिदं हिंसादीदो) शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणहिंसाकारणभूताया रागादिपरिणतिलक्षणनिश्चयहिंसाया अभावात् हिंसादिरहितम्। (अप्पडिकम्मं हवदि) परमोपेक्षासंयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति। किं। (लिंगं) एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं लिङ्गं द्रव्यलिङ्गं ज्ञातव्यमिति प्रथमगाथा गता। (मुच्छारंभविमुक्कं) परद्रव्यकांक्षारहितनिर्मोहपरमात्मज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्यां मूर्च्छारम्भाभ्यां विमुक्तं मूर्च्छारम्भविमुक्तम् (जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं) निर्विकारस्वसंवेदनलक्षण उपयोगः निर्विकल्पसमाधिर्योगः तयोरुपयोगयोगयोः शुद्धिरुपयोगयोगशुद्धिस्तया युक्तः (ण परावेक्खं) निर्मलानुभूतिपरिणतेः परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहितम् न परापेक्षम्। (अपुणब्भवकारणं) पुनर्भवविनाशकशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम्। (जेण्हं) जिनस्य सम्बन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। एवं पंचविशेषणविशिष्टं भवति। किं। (लिंगं) भावलिङ्गमिति। इति द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गस्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥२०५-२०६॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते हैं कि पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण यथाजातरूपधारी निर्ग्रथको, अनादिकालमें भी दुर्लभ, ऐसा निज आत्माकी प्राप्ति होती है। इसी स्वात्मोपलब्धि लक्षणको बतानेवाले चिन्ह उनके बाहरी और भीतरी दोनों लिंग होते हैं:—

गाथार्थः—(लिंगं) मुनिका द्रव्य या बाहरी चिन्ह (जधजादरूवजादं) जैसा परिग्रह रहित नग्नस्वरूप होता है वैसा होता है (उप्पाडिदकेसमंसुगं) जिसमें सिर और डाढ़ीके बालोंका लोंच किया जाता है (सुद्धं) जो निर्मल परिग्रहसे रहित और (हिंसादीदो रहिदं) हिंसादि पापोंसे रहित तथा (अप्पडिकम्मं) शृंगार रहित (हवदि) होता है। तथा (मुच्छारम्भविजुत्तं) ममता आरम्भ करनेके भावसे रहित तथा (उवजोगजोगसुद्धीहिं जुत्तं) उपयोग और ध्यानकी शुद्धि सहित (परावेक्खं ण) परद्रव्यकी अपेक्षा रहित (अपुणब्भवकारणं) मोक्षका कारण ऐसा (लिंगं) मुनिका भाव लिंग (जेण्हं) जिनेन्द्र ने कहा है

टीकार्थः—जैन साधुका द्रव्यलिंग या शरीरका चिन्ह पांच विशेषण सहित जानना चाहिये (१) पूर्व गाथामें कहे प्रमाण निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित नग्न होता है (२) मस्तकके और डाढ़ी मूछोंके शृंगार

सम्बन्धी रागादि दोषोंके हटानेके लिये सिर व डाढ़ी मूछोंके केशोंको उपाड़नेसे होता है (३) पाप रहित अर्थात् चैतन्य चमत्कारके विरोधी सर्व पाप योगोंमें रहित शुद्ध होता है (४) शुद्ध चैतन्यमई निश्चय प्राण की हिंसाके कारणभूत रागादि परिणतिरूप निश्चय हिंसाके अभावसे हिंसादि रहित होता है (५) परम उपेक्षा संयमके बलसे देहके संस्कार रहित होनेसे शृंगार रहित होता है। इसी तरह जैन साधुके भाव लिंगके भी पांच विशेषण हैं। (१) परद्रव्यकी इच्छा व मोहसे रहित परमात्माकी ज्ञान ज्योतिसे विरुद्ध बाहरी द्रव्योंमें ममताबुद्धिको मूर्छा कहते हैं तथा मन वचन कायके व्यापारसे रहित चैतन्य चमत्कारके प्रतिपक्षी व्यापारको आरम्भ कहते हैं। मूर्छा और आरम्भ इन दोनोंसे रहित होता है (२) विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण-धारी उपयोग और निर्विकल्प समाधिमई योग इन दोनोंकी शुद्धि सहित होता है (३) निर्मल आत्मानुभवकी परिणति होनेसे परद्रव्यकी सहायता रहित होता है (४) बारबार जन्म धारणको नाश करनेवाले शुद्ध आत्माके परिणामोंके अनुकूल पुनर्भव-रहित मोक्षका कारण होता है (५) जिन भगवान् सम्बंधी अथवा जैसा जिनेंद्रने कहा है वैसा होता है। इस तरह जैन साधुके द्रव्य और भाव लिंगका स्वरूप जानना चाहिये ॥ २०५-२०६ ॥

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवद किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ २०७ ॥

आदाय तदपि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः। २०७।

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिंगद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये शृणोति अथोपतिष्ठते उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति। तथाहि—तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरंगमपि लिंगं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति। ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति। ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युपन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति। ततः समस्तावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपस्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥ २०७ ॥

अब (श्रामण्यार्थी) इन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, और इतना-इतना करके श्रमण होता है, इस प्रकार योग्य क्रियामें बंधुवर्गसे विदा लेनेरूप क्रियासे लेकर शेष सभी क्रियाओं का एक कर्ता दिखलाते हुये, इतना करनेसे श्रामण्यकी प्राप्ति होती है, यह उपदेश करते हैं:-

अन्वयार्थः—[परमेण गुरुणा] परम गुरुके द्वारा प्रदत्त [तदपि लिंगम्] उन दोनों लिंगोंको [आदाय] ग्रहण करके, [तं नमस्कृत्य] उन्हें नमस्कार करके, [सव्रतां क्रियां श्रुत्वा] व्रत सहित क्रियाको सुनकर [उपस्थितः] उपस्थित (प्रतिक्रमण आदि द्वारा उपस्थित होता हुआ [सः] वह [श्रमणः भवति] श्रमण होता है।

टीकाः—तत्पश्चात् श्रमण होनेका इच्छुक दोनों लिंगोंको ग्रहण करता है, गुरुको नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रियाको सुनता है और उपस्थित होता है तथा उपस्थित होता हुआ यति धर्मको पर्याप्त सामग्री पर्याप्त (परिपूर्ण) होनेसे श्रमण होता है। वह इस प्रकारसे कि—

प्रथम ही परमगुरु अरहंत भट्टारक और तत्कालीन दीक्षाचार्यके द्वारा लिंगके ग्रहण की विधिके प्रतिपादक-पनेसे व्यवहार अपेक्षा दिये जानेसे दिये हुए इस यथाजातरूप धरत्वके सूचक बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग लिंगको (वह श्रमणार्थी) ग्रहण करनेके द्वारा आदर करके उस लिंगसे तन्मय होता है।

तपश्चात् जिन्होंने सर्वस्व दिया (मुनिदीक्षा संबंधी सब कुछ दिया है) ऐसे मूलगुरु (अरहंत) और उत्तर गुरु (दीक्षाचार्य) को भाव्य-भावक भावसे प्रवर्तित इतरेतर (परस्पर मिलनेके कारण) जिसमें स्व-परका भेद अस्त होगया है, ऐसी नमस्कार क्रियाके द्वारा संभावित (सम्मानित) करके भाव स्तुतिमय तथा भाव वन्दना मय होता है। [श्री अरहंत देवने मुनिदीक्षाकी विधिका प्रतिपादन किया है उसीके अनुसार दीक्षाचार्य श्रमणार्थीको मुनिदीक्षा की विधि बतलाकर दीक्षा देते हैं और श्रमणार्थी मुनि अंतरंग व बहिरंग लिंगको ग्रहण करके मुनि हो जाता है। अरहंत भगवान् व आचार्यकी भावना भावता हुआ इतना तन्मय हो जाता है कि भाव्य-भावक (जिसकी भावना की जाय वह भाव्य और भावना करनेवाला भावक) भावमें भेद नहीं रहता। यही भाव-नमस्कार भाव-स्तुति और भाव-वन्दना है।]

पश्चात् सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा समयमें परिणमित होते हुये आत्माको जानता हुआ सामायिकमें आरूढ होता है। पश्चात् प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रियाको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा त्रैकालिक कर्मों से भिन्न किये जाने वाले आत्माको जानता हुआ, अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वच-काय संबंधी कर्मोंसे विविक्तता (भिन्नता) में आरूढ होता है। पश्चात् समस्त सावद्य कर्मोंके

आयतनभूत कायका उत्सर्ग (उपेक्षा) करके यथाजातरूपवाले एक स्वरूपको, एकाग्रतासे अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टित्वके कारण साक्षात् श्रमण होता है ॥ २०७ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथैतल्लिङ्गद्वयमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्तं पंचाचारस्वरूपं तदिदानीं स्वीकृत्य तदाधारेणोपस्थितः स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति;—

(आदाय तं पि लिङ्गं) आदाय गृहीत्वा तत्पूर्वोक्तं लिङ्गद्वयमपि । कथंभूतं । दत्तमिति क्रियाध्याहारः । केन दत्तम् ? (गुरुणा परमेण) दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण । दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा, लिङ्गग्रहणानन्तरं (तं णमंसित्ता) तं गुरुं नमस्कृत्य (सोच्चा) तदनन्तरं श्रुत्वा । काम् ? (किरियं) क्रियां बृहत्प्रतिक्रमणाम् । किं विशिष्टाम् ? (सवदं) सव्रतां व्रतारोपणसहिताम् । (उवट्ठिदो) ततश्चोपस्थितः स्वस्थः सन् (होदि सो समणो) स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानीं श्रमणो भवतीति । इतो विस्तरः—पूर्वोक्तलिङ्गद्वयग्रहणानन्तरं पूर्वसूत्रोक्तपंचाचारमाश्रयति ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादकवचनरूपेण द्रव्यनमस्कारेण च गुरुं नमस्करोति । ततः परं समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूपं स्वस्वरूपे निश्चलावस्थानं परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति । मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन (बृहत्प्रतिक्रमणा) भण्यते । व्रतारोपणानन्तरं तां च शृणोति । ततो निर्विकल्पं समाधिबलेन कायमुत्सृज्योपस्थितो भवति, ततश्चैवं परिपूर्णश्रमणसामग्र्यां सत्यां परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थः ॥२०७॥

एवं दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम् ।

उत्थानिका—आगे यह कहते हैं कि मोक्षार्थी इन दोनों द्रव्य और भावलिंगोंको ग्रहणकर तथा पहले भावि नैगमनयसे जो पंच आचारका स्वरूप कहा गया है उसको इस समय स्वीकार करके उस चारित्र के आधारसे अपने स्वरूपमें तिष्ठता है वही श्रमण होता है—

गाथार्थः—(परमेण गुरुणा) उत्कृष्ट गुरुसे (तं पि लिंगं) उस उभय लिंगको ही (आदाय) ग्रहण करके फिर (तं णमंसित्ता) उस गुरुको नमस्कार करके तथा (सवदं किरियं) व्रत सहित क्रियाओंको (सोच्चा) सुन करके (उवट्ठिदा) मुनि मार्गमें तिष्ठता हुआ (सो) वह मुमुक्षु (समणो) मुनि (हवदि) होजाता है ।

टीकार्थः—दिव्यध्वनि होनेके कालकी अपेक्षा परमागमका उपदेश करनेरूपसे अर्हन्त भट्टारक परमगुरु हैं, दीक्षा लेनेके कालमें दीक्षादाता साधु परमगुरु हैं । ऐसे परमगुरु द्वारा दी हुई द्रव्य और भाव लिंगरूप मुनिकी दीक्षाको ग्रहण करके पश्चात् उसी गुरुको नमन करके उसके पीछे व्रतोंके ग्रहण सहित बृहत् प्रतिक्रमण क्रियाका वर्णन सुनकरके भलेप्रकार स्वस्थ होता हुआ वह पूर्वमें कहा हुआ तपोधन श्रमण होजाता है ।

विस्तार यह है कि पूर्वमें कहे हुए द्रव्य और भाव लिंगको धारण करनेके पीछे पूर्व सूत्रोंमें कहे हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यरूप पांच आचारोंका आश्रय करता है । फिर अनन्त ज्ञानादि

गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कारसे तैसे ही उन गुणोंको कहनेवाले वचन रूप द्रव्य नमस्कारसे गुरु महाराजको नमस्कार करता है। उसके पीछे सर्व शुभ व अशुभ परिणामोंसे निवृत्तिरूप अपने स्वरूपमें निश्चलतासे तिष्ठनेरूप परम सामायिकव्रतको स्वीकार करता है मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदनासे तीन जगत तीन कालमें भी सर्व शुभ अशुभ कर्मोंसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप लक्षणको रखनेवाली क्रिया उसको निश्चयसे बृहत् प्रतिक्रमण क्रिया कहते है। व्रतोंको धारण करनेके पीछे इस क्रियाको सुनता है, फिर विकल्प रहित होकर कायका मोह त्यागकर समाधिके बलसे कायोत्सर्गमें तिष्ठता है। इस तरह पूर्ण मुनिकी सामग्री प्राप्त होनेपर वह पूर्ण श्रमण या साधु होजाता है, यह अर्थ है ॥ २०७॥

इस तरह दीक्षाके सन्मुख पुरुषकी दीक्षा लेनेके विधानके कथनकी मुख्यतासे पहले स्थलसे सात गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ २०८ ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥ [जुम्मं]

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम्।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥ २०८ ॥
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति। २०९ ॥ [युग्मम्]

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥ २०८ २०९ ॥

अविच्छिन्न सामायिकमें आरूढ होनेपर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापनाके योग्य है, सो कहते हैं:—

अन्वयार्थ—[व्रतसमितीन्द्रियरोधः] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, [लोचावश्यकम्]

लोच, आवश्यक, [अचेलम्] अचेलत्व, [अस्नानं] अस्नान, [क्षितिशयनम्] भूमिशयन, [अदंतधावनं] अदंतधावन, [स्थितिभोजनम्] खड़े खड़े भोजन, [च] और [एकभक्तं] एकवार आहार [एते] यह [खलु] वास्तवमें [श्रमणानां मूलगुणाः] श्रमणोंके मूलगुण [जिनवरैः प्रज्ञप्ताः] जिनवरोंने कहे हैं, [तेषु] उनमें [प्रमत्तः] प्रमत्त होता हुआ [श्रमणः] श्रमण [छेदोपस्थापकः भवति] छेदोपस्थापक होता है।

टीकाः—सब सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत है उसके विशेष अथवा भेद हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहकी विरतिस्वरूप पांचमहा व्रत तथा उसीका परिकरभूत पांच प्रकारकी समिति, पांचप्रकारका इन्द्रियरोध, लोच, छहप्रकारके आवश्यक, अचेलकत्व (नग्नता) अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन (दांतुन न करना), खड़े खड़े भोजन, और एकवार आहार लेना, इसप्रकार यह (अट्ठाईस) एक अभेद सामायिक संयमके विकल्प (भेद) होनेसे श्रमणोंके मूलगुण ही हैं। जब श्रमण एक सामायिकसंयममें आरूढताके कारण जिसमें भेदरूप आचरण सेवन नहीं है, ऐसी दशासे च्युत होता है, तब 'केवल सुवर्णमात्रके अर्थीको कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदिका ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादिका ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्णकी ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूलगुणोंमें भेदरूपसे अपनको स्थापित करता हुआ अर्थात् मूलगुणोंमें भेदरूपसे आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक होता है॥ २०८। २०९॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ निर्विकल्पसामायिकसंयमे यदा च्युतो भवति तदा सविकल्पं छेदोपस्थापनचारित्रमारोहतीति प्रतिपादयति;—

(वदसमिदिंदियरोधो) व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितीन्द्रियरोधः। (लोचावस्सयं) लोचं चावश्यकानि च लोचावश्यकम्। "समाहारस्यैकवचनं" (अचेलमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च) अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि। (एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता) एते खलु स्फुटं अष्टाविंशतिमूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः (तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि) तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्तः च्युतो भवति। सः कः। श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति। छेदो व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति। तथाहि—निश्चयेन मूलमात्मा तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्प-समाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति। तेन कारणेन तदेव सामायिकं मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्ययं जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुषः सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति न च सर्वथा त्यागं करोति, तथायं जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापनं चारित्रं गृह्णाति। छेदे सत्युप-

स्थापनं छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनम्। तच्च संक्षेपेण पंचमहाव्रतरूपं भवति। तेषां व्रतानां च रक्षणार्थं पंचसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशति-परीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोप-सर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्रायः ॥२०८-२०९॥

एवं मूलोत्तरगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले सूत्रद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जब अभेदरूप सामायिक संयममें ठहरनेको असमर्थ होकर साधु उससे गिरता है तब भेदरूप छेदोपस्थापन चारित्रमें जाता है—

गाथार्थः—(वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियोंका निरोध (लोचावस्सं) केश-लोंच, छः आवश्यक कर्म (अचेलमण्हाणं) नग्नपना, स्नान न करना, (खिदिसयणमदंतवणं) पृथ्वीपर सोना, दन्तवन न करना (ठिदिभोयणमेयभत्तं च) खडे हो भोजन करना, और एक बार भोजन करना (एदे) ये (समणाणं मूलगुणा) साधुओंके अट्ठाइस मूल गुण (खलु) वास्तवमें (जिणवरेहिं पण्णत्ता) (जिनेन्द्रोंने कहे हैं। (तेसु पमत्तो) इन मूलगुणोंमें प्रमाद करनेवाला (समणो) साधु (छेदोवट्ठावगो) छेदोपस्थापक (होदि) होता है।

टीकार्थः—निश्चय नयसे मूल नाम आत्माका है उस आत्माके केवलज्ञानादि अनंत गुण मूल-गुण हैं। ये सब मूलगुण उस समय प्रगट होते हैं जब भेद-रहित समाधिरूप परम सामायिक निश्चय एक व्रतके द्वारा (जो मोक्षका बीज है) मोक्ष प्राप्त होजाता है। इस कारणसे वही सामायिक आत्माके केवल-ज्ञानादि मूल गुणोंको प्रगट करनेके कारण होनेसे निश्चय मूलगुण है। जब यह जीव अभेदरूप समाधिमें (सामायिक चारित्रमें) ठहरनेको समर्थ नहीं होता है तब भेदरूप चारित्रको ग्रहण करता है, चारित्र का सर्वथा त्याग नहीं करता, जैसे कोई भी सुवर्णका चाहनेवाला पुरुष सुवर्णको न पाता हुआ उसकी कुण्डल आदि अवस्था विशेषोंको ही ग्रहण कर लेता है, सर्वथा सुवर्णका त्याग नहीं करता है। तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नामकी परम समाधि अर्थात् अभेद सामायिक चारित्रका लाभ न होनेपर छेदोपस्थापना नाम अर्थात् भेदरूप चारित्रको ग्रहण करता है। छेद होनेपर फिर स्थापन करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेदसे अर्थात् व्रतोंके भेदसे चारित्रको स्थापन करना सो छेदोपस्थापन है। वह छेदोपस्थापना संक्षेपसे पांच महाव्रत रूप है। उन्हीं व्रतोंकी रक्षाके लिये पांच समिति आदिके भेदसे उसके अट्ठाईस मूल-गुण भेद होते हैं। उन ही मूलगुणोंकी रक्षाके लिये २२ परिषहोंका जीतना व १२ प्रकार तपश्चरण करना ऐसे चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। इन उत्तर गुणोंकी रक्षाके लिये देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन कृत चार प्रकार उपसर्गका जीतना व बारह भावनाओंका भावना आदि कार्य किये जाते हैं॥ २०८—२०९॥

इस तरह मूल और उत्तर गुणोंको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो सूत्र पूर्ण हुए।

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारे-णोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥२१०॥

लिङ्गग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति ।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥२१०॥

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव, ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥२१०॥

अब इनके (श्रमणके) प्रव्रज्यादायककी भांति छेदोपस्थापक पर (दूसरा) भी होता है यह, आचार्यके भेदोंके प्रज्ञापन द्वारा उपदेश करते हैं:–

अन्वयार्थः—[लिंगग्रहणे] लिंगग्रहणके समय [प्रव्रज्यादायकः भवति] जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं वह [तेषां गुरुः इति] उनके गुरु हैं और [छेदयोः उपस्थापकाः] जो छेदद्वयमें उपस्थापक है (अर्थात् १–जो भेदोंमें स्थापित करते हैं तथा २–जो संयममें छेद होनेपर पुनः स्थापित करते हैं) [शेषाः श्रमणाः] वे श्रमण [निर्यापकाः] निर्यापक हैं ।

टीकाः—लिंगग्रहणके समय जो आचार्य अभेद-सामायिकसंयमके प्रतिपादनके द्वारा प्रव्रज्यादायक हैं वे गुरु हैं, और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) भेदरूप छेदोपस्थापना संयमके प्रतिपादक होनेसे छेदके प्रति उपस्थापक (भेदमें स्थापित करनेवाले) हैं वे निर्यापक हैं, उसीप्रकार जो आचार्य संयमके छेद होनेपर पुनः निर्दोष संयमको प्राप्त करनेकी विधिके प्रतिपादक होनेसे छेद होनेपर उपस्थापक (संयममें छेद होनेपर उसमें पुनः स्थापित करनेवाले) हैं, वे भी निर्यापक ही हैं । इसलिये छेदोपस्थापक अन्य आचार्य भी होते हैं ॥ २१० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथास्य तपोधनस्य प्रव्रज्यादायक इवान्योऽपि निर्यापकसंज्ञो गुरुरस्ति इति गुरुव्यवस्थां निरूपयति;—

(लिंगग्गहणे तेसिं) लिङ्गग्रहणे तेषां तपोधनानां (गुरुत्ति होदि) गुरुर्भवतीति । स कः । (पव्वज्जदायगो) निर्विकल्पसमाधिरूपपरमसामायिकप्रतिपादको योऽसौ प्रव्रज्यादायकः स एव दीक्षागुरुः (छेदेसु अवट्ठगा) छेदयोश्च वर्तकाः ये (सेसा णिज्जावगा समणा) ते शेषाः श्रमणा निर्यापका भवन्ति शिक्षागुरवश्च भवन्तीति । अयमत्रार्थः—निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशछेदः, सर्वथा च्युतिः सकलदेशछेद इति देशसकलभेदेन द्विधा छेदः । तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा संवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते । दीक्षादायकस्तु दीक्षागुरुरित्यभिप्रायः ॥२१०॥

उत्थानिका—अब यह दिखलाते हैं कि इस तप ग्रहण करनेवाले साधुके लिये जैसे दीक्षादायक आचार्य या साधु होते हैं वैसे अन्य निर्यापक नामके गुरु भी होते हैं।

गाथार्थः—(लिंगग्गहणं) मुनिभेषके ग्रहण करते समय (तेसिं गुरुः) उन साधुओंका जो गुरु होता है (इति) वह (पव्वज्जदायगो) दीक्षागुरु (होदि) होता है। (छेदेसूवट्ठगा) एक देश या सर्व देश व्रतभंग होनेपर जो फिर व्रतमें स्थापित कराने वाले होते हैं (सेसा) वे सब शेष (णिज्जावया समणा) निर्यापक श्रमण या शिक्षागुरु होते हैं।

टीकार्थः—अभेद-समाधि-परमसामायिकरूप दीक्षाके जो दाता हैं उनको दीक्षा-गुरु कहते हैं तथा छेद दो प्रकारका है, जहां अभेद समाधिरूप सामायिकका एक देश भङ्ग होता है उसको एक-देश-छेद व जहां सर्वथा भङ्ग होता है उसको सर्व देश छेद कहते हैं। इन दोनों प्रकार छेदोंके होनेपर जो साधु प्राय शिचत्त देकर संवेग वैराग्यको पैदा करनेवाले परमागमके वचनोंसे उन छेदोंका निवारण करते हैं वे निर्यापक या शिक्षागुरु या श्रुतगुरु कहे जाते हैं। दीक्षा देनेवालेको दीक्षागुरु कहते हैं, यह अभिप्राय है ॥ २१०॥

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥२१२॥ [जुगलं]

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम्।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया। २११॥
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥२१२ [युगलम्]

द्विविधः किल संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ॥२११-२१२॥

संयमके छेद होजाने पर पुनः निर्दोषसंयम को प्राप्त करनेकी विधिका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणस्य] श्रमणके [प्रयतायां] सावधानी पूर्वक [समारब्धायां]

की जानेवाली [कायचेष्टायां] कायचेष्टाके द्वारा [यदि छेदः जायते] यदि छेद होता है तो [तस्य पुनः] उसे तो [आलोचनापूर्विका क्रिया] आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिये।

[श्रमणः छेदोपयुक्तः] (किन्तु) यदि श्रमण छेदमें उपयुक्त हुआ हो अर्थात् संयमका बुद्धि-पूर्वक छेद हुआ हो तो उसे [जिनमते] जैनमतमें [व्यवहारिणं] व्यवहारकुशल [श्रमणं आसाद्य] श्रमणके पास जाकर [आलोच्य] आलोचना करके (अपने दोषका निवेदन करके), [तेन उपदिष्टं] उनके उपदेश अनुसार [कर्तव्यम्] करना चाहिये अर्थात् प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये।

टीका:—संयमका छेद दो प्रकारका है, बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा संबंधी बहिरंग छेद है और उपयोग-संबंधी अन्तरंग छेद है। उसमें, यदि भलीभांति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत कायचेष्टामें कथंचित् संयमका बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेदसे रहित है इसलिये आलोचनापूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतीकार होता है। किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसंबंधी छेद होनेसे साक्षात् छेदमें ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधिमें-कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयम का प्रतिसंधान होता है अर्थात् संयमको पुनः प्राप्त करता है॥ २११-२१२॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पूर्वसूत्रोक्तछेदद्वयस्य प्रायश्चित्तविधानं कथयति;—

(पयदं हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि) प्रयतायां समारब्धायां छिदः श्रमणस्य कायचेष्टायां जायते यदि चेत्। अथ विस्तरः-छेदो जायते यदि चेत्। स्वस्थभावच्युतिलक्षणः छेदो भवति। कस्याम्? कायचेष्टायाम्। कथंभूतायां। प्रयतायां स्वस्थभावलक्षणप्रयत्नपरायां समारब्धायां अशनशयनयानस्थानादिप्रारब्धायाम्। (तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया) तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया। तदा काले तस्य तपोधनस्य स्वस्थभावस्य बहिरङ्गसहकारिकारणभूता प्रतिक्रमणलक्षणालोचनपूर्विका पुनः क्रियैव प्रायश्चित्तं प्रतिकारो भवति न चाधिकम्। कस्मादिति चेत्? अभ्यन्तरे स्वस्थभावचलनाभावादिति प्रथमगाथा गता। (छेदपउत्तो समणो) छेदे प्रयुक्तः श्रमणो निर्विकारस्वसंवित्तिभावनाच्युतिलक्षणछेदेन यदि चेत् प्रयुक्तः सहितः श्रमणो भवति (समणं ववहारिणं जिणमदम्हि) श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते तदा जिनमते व्यवहारज्ञं प्रायश्चित्तकुशलं श्रमणं (आसेज्ज) आसाद्य प्राप्य न केवलमासाद्य (आलोचित्ता) निःप्रपञ्चभावेनालोच्य दोषनिवेदनं कृत्वा (उवदिट्ठं तेण कायव्वं) उपदिष्टं तेन कर्तव्यम्। तेन प्रायश्चित्तपरिज्ञानसहिताचार्येण निर्विकारस्वसंवेदनभावनानुकूलं यदुपदिष्टं प्रायश्चित्तं तत्कर्तव्यमिति सूत्रतात्पर्यम्॥ २११-२१२॥

एवं गुरुव्यवस्थाकथनरूपेण प्रथमगाथा तथैव प्रायश्चित्तकथनार्थं गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें कहे हुए दो प्रकार छेदके लिये प्रायश्चित्तका विधान क्या है सो कहते हैं-

गाथार्थः—(पयदम्हि समारद्धे) चारित्रका प्रयत्न प्रारम्भ किये जानेपर (जदि) यदि (समणस्स) साधुकी (कायचेट्ठम्मि) कायकी चेष्टामें (छेदो) संयमका छेद या भंग (जायदि) हो जावे (पुणो तस्स) तो फिर उस साधुकी (आलोयणपुव्विया किरिया) आलोचनपूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित्त है। यदि साधु (छेदुवजुत्तो समणो) भंग या छेद से उपयुक्त है तो वह साधु (जिणमदम्मि) जिनमतमें (विवहारिणं) प्रायश्चित्त व्यवहारके ज्ञाता (समणं) आचार्य को (आसेज्ज) प्राप्त होकर (आलोचना करनेपर (तेण उवदिट्ठं) उस आचार्यके द्वारा जो शिक्षा मिले उसे (कायव्वं) करना चाहिये।

टीकार्थः—यदि साधुके आत्मामें स्थितिरूप सामायिकके प्रयत्नको करते हुए भोजन, शयन, चलने, खडे होने, बैठने आदि शरीरके क्रियाओंमें कोई दोष होजावे, उस समय उस साधुके साम्यभावके बाहरी सहकारी कारणरूप प्रतिक्रमण है लक्षण जिसका ऐसा आलोचना पूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित्त अर्थात् दोषकी शुद्धिकाउपाय है, अधिक नहीं क्योंकि वह साधु भीतरमें स्वस्थ आत्मीक भावसे चलायमान नहीं हुआ है पहली गाथाका भाव यह है। तथा यदि साधु निर्विकार स्वसंवेदनकी भावनासे च्युत हो जावे अर्थात् उसके सर्वथा स्वस्थभाव न रहे। ऐसे भङ्गके होनेपर वह साधु उस आचार्य या निर्यापकके पास जावे जो जिनमतमें वर्णित व्यवहार क्रियाओंके ज्ञाता प्रायश्चित्तादि शास्त्रोंमें कुशल हों और उनके सामने कपट-रहित होकर अपना दोष निवेदन करे। तब वह प्रायश्चित्तका ज्ञाता आचार्य उस साधुके भीतर जिस तरह निर्विकार स्वसंवेदनकी भावना पुनः होजावे उसके अनुकूल प्रायश्चित्त या दंड बतावेगा जो कुछ उपदेश मिले उसके अनुकूल साधुको करना योग्य है॥ २१ – १२॥

इस तरह गुरुकी अवस्थाको कहते हुए प्रथम गाथा तथा प्रायश्चित्तको कहते हुए दो गाथाएं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धाः प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥२१३॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ॥२१३॥

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम्। अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥२१३॥

अथ, श्रामण्यके छेदके आयतन होनेके कारण परद्रव्यसे संबंध निषेध करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अधिवासे] अधिवासमें (गुरुओंके सहवासमें) वसते हुये [वा] या [विवासे] विवासमें (गुरुओंसे भिन्न स्थानमें) वसते हुये, [नित्यं] सदा [निबंधान्] परद्रव्यके संबंधोंको [परिहरमाणः] परिहरण करता हुआ [श्रामण्ये] यति धर्म में [छेद-विहीनः भूत्वा] छेदविहीन होकर [श्रमणः विहरतु] श्रमण विहार करो।

टीकाः—वास्तवमें सभी परद्रव्यका संबंध उपयोगका विकारी करनेवाला होनेसे निर्विकारी उपयोगरूप यति-धर्म छेदका आयतन है, उसके अभावसे ही अछिन्न श्रामण्य होता है। इसलिये आत्मामें ही आत्माको सदा स्थापित करके (आत्मामें) वसते हुये अथवा गुरुरूपसे गुरुओंको स्थापित करके (गुरुओंके सहवासमें) निवास करते हुये या गुरुओंसे विशिष्ट—भिन्नवासमें वसते हुए, सदा ही परद्रव्यसंबंधोंको निषेधता (परिहरण करता) हुआ यतिधर्म छेदविहीन होकर श्रमण वर्तन करे॥ २१३॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ निर्विकारश्रामण्यछेदजनकान्परद्रव्यानुबन्धान्निषेधयति;—

(विहरदु) विहरतु विहारं करोतु। स कः। (समणो) शत्रुमित्रादिसमचित्तश्रमणः (णिच्चं) नित्यं सर्वकालं। किं कुर्वन्सन् ? (परिहरमाणो) परिहरन्सन्। कान् ? (णिबंधाणि) चेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्येष्वनुबन्धान्। क्व विहरतु ? (अधिवासे) अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा (विवासे) गुरुविरहितवासे वा। किं कृत्वा। (सामण्णे) निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रे (छेदविहीणो भवीय) छेदविहीनो भूत्वा रागादिरहितनिजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रच्युतिरूपछेदरहितो भूत्वा। तथाहि—गुरुपार्श्वे यावन्ति शास्त्राणि तावन्ति पठित्वा तदनन्तरं गुरुं पृष्ट्वा च समशीलतपोधनैः सह भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भव्यानामानन्दं जनयन् तपः श्रुतसत्त्वैकत्वसन्तोषभावनापञ्चकं भावयन् तीर्थंकरपरमदेवगणधरदेवादिमहापुरुषाणां चरितानि स्वयं भावयन् परेषां प्रकाशयंश्च विहरतीति भावः॥ २१३॥

उत्थानिका—आगे निर्विकार मुनिपनेके भङ्गके उत्पन्न करनेवाले निमित्त कारणरूप परद्रव्यके सम्बन्धोंका निषेध करते हैं:—

गाथार्थः—(समणो) शत्रु मित्रमें समान भावधारी साधु (णिबन्धाणि परिहरमाणो) चेतन अचेतन मिश्र पदार्थोंमें अपने रागद्वेष रूप सम्बन्धोंको छोड़ता हुआ (सामण्णे छेदविहूणो भवीय) अपने शुद्धात्मानुभवरूपी मुनिपदमें छेद रहित होकर अर्थात् निज शुद्धात्माका अनुभवनरूप निश्चय चारित्रमें भङ्ग न करते हुए (अधिवासे) व्यवहारसे अपने अधिकृत आचार्यके संघमें तथा निश्चयसे अपने ही शुद्धात्मारूपी घरमें (व विवासे) अथवा गुरु-रहित स्थानमें (णिच्चं विहरदु) नित्य विहार करै।

टीकार्थः—साधु अपने गुरुके पास जितने शास्त्रोंको पढ़ना हो उतने शास्त्रोंको पढ़कर पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर अपने समान शील और तपके धारी साधुओंके साथ निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावनासे भव्य जीवोंको आनन्द पैदा करता हुआ तथा तप, शास्त्र, वीर्य, एकत्व और संतोष इन पांच प्रकारकी भावनाओंको भाता हुआ तथा तीर्थंकर परमदेव, गणधर देव आदि महान पुरुषोंसे चारित्रोंको स्वयं विचारता हुआ और दूसरोंको प्रकाश करता हुआ विहार करता है, यह भाव है ॥ २१३ ॥

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥२१४॥

चरति निबद्धो नित्यं श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्यः ॥२१४॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥२१४॥

अब, श्रामण्यकी परिपूर्णताका आयतन होनेसे स्वद्रव्यमें ही संबंध करना योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः श्रमणः] जो श्रमण [नित्यं] सदा [ज्ञाने दर्शनमुखे] ज्ञानमें और दर्शनादिमें [निबद्धः] प्रतिबद्ध [च] तथा [मूलगुणेषु प्रयतः] मूलगुणोंमें प्रयत्नशील [चरति] विचरण करता है, [सः] वह [परिपूर्णश्रामण्यः] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है ।

टीकाः—एक स्वद्रव्यसे संबंध ही, उपयोगका मार्जन करनेवाला है, अतः मार्जित उपयोगरूप श्रामण्यकी परिपूर्णताका आयतन है, उसके सद्भावसे ही यतिधर्म परिपूर्ण होता है ।

इसलिये सदा ज्ञानमें और दर्शनादिकसे संबंध रखकर मूलगुणोंमें प्रयत्नशीलतासे विचरना, ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मद्रव्यमें प्रतिबद्ध-शुद्ध अस्तित्वमात्ररूपसे अर्थात् रागादि रहित उपयोग वर्तना, यह तात्पर्य है ॥ २१४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ श्रामण्यपरिपूर्णकारणत्वात्स्वशुद्धात्मद्रव्ये निरन्तरमवस्थानं कर्तव्यमित्याख्याति;—

(चरदि) चरति वर्तते । कथंभूतः (णिबद्धो) अधीनः (णिच्चं) नित्यं सर्वकालं । स कः कर्ता ।

(समणो) लाभालाभादिसमचित्तश्रमणः । क्व निबद्धः ? (णाणम्मि) वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसंवेदनज्ञाने वा (दंसणमुहम्मि) दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्फलभूतनिजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वं वा तत्प्रमुखेष्वनन्तसुखादिगुणेषु (पयदो मूलगुणेसु य) प्रयतः प्रयत्नपरश्च । केषु । मूलगुणेषु निश्चयमूलगुणाधारपरमात्मद्रव्ये वा (जो सो पडिपुण्णसामण्णो) य एवं गुणविशिष्टश्रमणः स परिपूर्णश्रामण्यो भवतीति । अयमत्रार्थः—निजशुद्धात्मभावनारतानामेव परिपूर्णश्रामण्य भवतीति ॥२१४॥

उत्थानिका आगे कहते हैं कि मुनिपदकी पूर्णताके हेतुसे साधुको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें सदा लीन होना योग्य है।

गाथार्थः—(जो समणो) जो मुनि (दंसणमुहम्मि णाणम्मि) सम्यग्दर्शनको मुख्य लेकर सम्यग्ज्ञानम (णिच्चं णिबद्धो) नित्य उनके अधीन होता हुआ (य मूलगुणेसु पयदो) और मूलगुणोंमें प्रयत्न करता हुआ (चरदि) आचरण करता है (सो पडिपुण्णसामण्णा) वह पूर्ण यति होजाता है।

टीकार्थः—जो लाभ अलाभ आदिमें समान चित्तको रखनेवाला श्रमण तत्त्वार्थश्रद्धान और उसके फलरूप निश्चय सम्यग्दर्शनमें 'जहां एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि होती है तथा वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके ज्ञानमें और उसके फलरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें तथा अट्ठाईस मूलगुणों में अथवा निश्चय मूलगुणके आधाररूप परमात्मद्रव्यमें उद्योग रखता हुआ सर्व काल आचरण करता है वह पूर्ण मुनि होता है। यहां यह भाव है कि जो निज शुद्धात्माकी भावनामें रत होते हैं उनहीके पूर्ण मुनिपना होसकता है॥ २१४॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥ २१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा।
उपधौ वा निबद्धं नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ २१५॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरङ्गविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरंगनिस्तरंगान्तरंगद्रव्यप्रसिद्ध्यर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गललोल्लाससंवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां कथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥ २१५ ॥

अब, मुनिजनको निकटका सूक्ष्मपरद्रव्य संबंध भी, श्रामण्यके छेदका आयतन होनेसे निषेध्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[भक्ते वा] मुनि आहारमें, [क्षपणे वा] उपवासमें [आवसथे वा] निवासस्थानमें [पुनः विहारे वा] और विहारमें, [उपधौ] परिग्रहमें, [श्रमणे] अन्य मुनिमें [वा] अथवा [विकथायाम्] विकथा में [निबद्धं] जड़ना लगना [न इच्छति] नहीं चाहता।

टीकाः—(१) श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरकी स्थितिके हेतुमात्रसे ग्रहण किये जानेवाले आहारमें (२) अर्थात् शरीरके टिकनेके साथ विरोध न आये इस प्रकार, शुद्धात्मद्रव्यमें विकाररहित और तरंगरहित स्थिरताकी रचना की जाय, तदनुसार प्रवर्तमान अनशनमें (३) नीरंग-और निस्तरंग अन्तरंग द्रव्यकी प्राप्तिके लिये सेव्यमान गिरीन्द्रकन्दरादिक आवासमें अर्थात् पर्वतकी गुफा इत्यादि निवासस्थानमें (४) यथोक्त शरीर स्थिति की कारणभूत भिक्षाके लिये विहारकार्यमें (५) श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जिसका निषेध नहीं है ऐसे केवल देहमात्र परिग्रहमें, (६) मात्र अन्योन्य बोध्यबोधकरूपसे जिनका कथंचित् परिचय पाया जाता है ऐसे अन्य मुनि में, और (७) शब्दरूप पुद्गलपर्यायके साथ वाच्य वाचक संबंधसे जिसमें चैतन्यरूपी भित्तिका भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्यसे विरुद्ध कथामें इन सब में लीन होना निषेध्य-त्यागने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पोंसे भी चित्तभूमिको चित्रित होने देना योग्य नहीं है ॥ २१५ ॥

श्री जयसेनाचार्य--कृत टीका

अथ श्रामण्यछेदकारणत्वात्प्रासुकाहारादिष्वपि ममत्वं निषेधयति;—

(णेच्छदि) नेच्छति । कम् ? (णिबद्धं) निबद्धमाबद्धम् । क्व ? (भत्ते वा) शुद्धात्मभावनासहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाणे भक्ते वा प्रासुकाहारे (खमणे वा) इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे वानशने (आवसधे वा) परमात्मतत्त्वोपलब्धिसहकारिभूते गिरिगुहाद्यावसथे वा (पुणो विहारे वा) शुद्धात्मभावनासहकारिभूताहारनीहारार्थव्यवहारार्थव्यवहारे वा । पुनर्देशान्तरविहारे वा (उवधिम्हि) शुद्धोपयोगभावनासहकारिभूतशरीरपरिग्रहे ज्ञानोपयोगकरणादौ वा (समणम्हि) परमात्मपदार्थविचारसहकारिकारणभूते श्रमणे समशीलसंघातकतपोधने वा । (विकधम्हि) परमसमाधिविघातश्रृङ्गारवीररागादिकथायां चेति । अयमत्रार्थः—आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तावत्पूर्वमेव निषिद्धः । योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्वं न कर्तव्यमिति ॥२१५॥

एवं संक्षेपेणाचाराराधनादिकथिततपोधनविहारव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि प्रासुक आहार आदिमें भी जो ममत्व है वह मुनिपदके भंगका कारण है इसलिये आहारादिमें भी ममत्व न करना चाहिये—

गाथार्थः—साधु (भत्ते) भोजनमें (वा) अथवा (खवणे) उपवास करनेमें (वा आवसधे)

अथवा वस्तिकामें (वा विहारे) विहार करनेमें, (वा उवधम्मि) अथवा शरीर मात्र परिग्रहमें (वा समणम्मि अथवा मुनियोंमें (पुणो विकधम्मि) या विकथाओंमें (णिबद्धं) ममतारूप सम्बन्धको (णेच्छदि) नहीं चाहता है।

टीकार्थः—साधु महाराज शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी शरीरकी स्थितिके हेतुसे प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त है, इन्द्रियोंके अभिमानको विनाश करनेके प्रयोजनसे तथा निर्विकल्प समाधिमें प्राप्त होने के लिये उपवास करते हैं सो क्षपण है, परमात्म तत्वकी प्राप्तिके लिये सहकारी कारण पर्वतकी गुफा आदि वसनेका स्थान सो आवसथ है. शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण आहार नीहार आदिक व्यवहारके लिये व देशान्तरके लिये विहार करना सो विहार है, शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण रूप शरीरको धारण करना व ज्ञानका उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडल, दयाका उपकरण पिच्छिका इनमें ममताभाव सो उपधि है, परमात्म पदार्थके विचारमें सहकारी कारण समता और शीलके समूह तपोधन सो श्रमण हैं, परम समाधिके घातक श्रृंगार वीर व रागद्वेषादि कथा करना सो विकथा है। इन भक्त, क्षपण, आवसथ, विहार, उपधि, श्रमण तथा विकथाओंमें साधु महाराज अपना ममताभाव नहीं रखते हैं। भाव यह है कि आगमसे विरुद्ध आहार विहार आदिमें वर्तनेका तो पहले ही निषेध है अतः अब साधुकी अवस्थामें योग्य आहार विहार आदिमें भी साधुको ममता न करना चाहिये॥ २१५॥

इस तरह संक्षेपसे आचारकी आराधना आदिको कहते हुए साधु महाराजके विहारके व्याख्यान की मुख्यतासे चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा॥ २१६॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचंक्रमणादिषु।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा सततेति मता॥ २१६॥

शुद्धोपयोगो हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा। अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचंक्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव॥ २१६॥

अब, छेद क्या है, उसका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणस्य] श्रमणके [शयनासनस्थानचंक्रमणादिषु] शयन, बैठना खड़े रहना गमन इत्यादिमें [अप्रयता वा चर्या] जो अयत्नाचार चर्या है [सा] वह [सर्वकाले] सदा [संतता हिंसा इति मता] सतत हिंसा मानी गई है।

टीकाः—अशुद्धोपयोगसे ही छेद है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्यका छेदन होता है, और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य

का हिंसन (हनन) होता है। इसलिये श्रमणके, जो अशुद्धोपयोगके विना नहीं होती ऐसी शयन-आसन स्थान गमन-इत्यादिमें अयत्नाचार चर्या (आचरण) वास्तवमें उसके लिये सर्व कालमें (सदा) ही धारावाही हिंसा ही है,—जो कि छेदसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है ॥२१६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ शुद्धोपयोगभावनाप्रतिबन्धकछेदं कथयति;—

(मदा) मता सम्मता। का ? हिंसा शुद्धोपयोगलक्षणश्रामण्यछेदकारणभूता हिंसा। कथंभूता। (संतत्तियत्ति) सन्तता निरन्तरेति। का हिंसा मता। (चरिया) चर्या चेष्टा यदि चेत्। कथंभूता। (अपयत्ता वा) अप्रयत्ना वा निःकषायस्वसंवित्तिरूपप्रयत्नरहिता संक्लेशसहितेत्यर्थः। केषु विषयेषु (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयनासनस्थानचंक्रमणस्वाध्यायतपश्चरणादिषु। कस्य। (समणस्स) श्रमणस्य तपोधनस्य। क्व ? (सव्वकाले) सर्वकाले। अयमत्रार्थः—बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्त्वा तपोधनैः अशनशयनादिव्यापारः पुनस्त्यक्तो नायाति। ततः कारणादन्तरङ्गक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि संक्लेशो न कर्तव्य इति ॥२१६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि छेद या भंग शुद्धात्माकी भावनाका विरोध करनेवाला है।

गाथार्थः—(वा) अथवा (समणस्स) साधुकी (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयन, आसन, खडा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्योंमें (अपयत्ता चरिया) प्रयत्नरहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित-स्वसंवेदन-ज्ञानसे छूटकर जीवदयाकी रक्षासे रहित संक्लेश-भाव-सहित जो व्यवहारका वर्तना है (सा) वह (सव्वकालं) सर्वकालमें (संतत्ति हिंसा) निरन्तर होनेवाली हिंसा अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणमई मुनिपदको छेद करनेवाली हिंसा (मदा) मानी गई है।

टीकार्थः—यहां यह अर्थ है कि बाहरी व्यापाररूप शत्रुओंको तो पहले ही मुनियोंने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना, आदि व्यापारका त्याग हो नहीं सकता-इसलिये इनके निमित्तसे अन्तरङ्ग में क्रोध आदि शत्रुओंकी उत्पत्ति न हो-साधुको उन कार्योंमें सावधानी रखनी चाहिये। परिणाममें संक्लेश न करना चाहिये ॥ २१६ ॥

अथान्तरंगबहिरंगत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ २१७ ॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ २१७ ॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः। तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य

परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् पुनर्बहिरङ्गः। एवमप्यन्तरङ्गच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरङ्गच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव।

अब, छेदके अन्तरंग और बहिरंग, ऐसे दो प्रकार बतलाते हैं:–

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [म्रियतां वा जीवतु वा] मरे या जिये, [अयताचारस्य] अयत्नाचार आचारवालेके [हिंसा] हिंसा [निश्चिता] निश्चित है, [प्रयतस्य समितस्य] यत्नाचारीके समितिवान्के [हिंसामात्रेण] हिंसामात्रसे [बन्धः] बंध [नास्ति] नहीं है।

टीका:—अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है, परप्राणोंका विच्छेद बहिरंगछेद है। इनमेंसे अन्तरंगछेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं, क्योंकि-परप्राणोंके विच्छेदका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता ऐसे अयत्नाचार आचरणसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है, और इस प्रकार जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे यत्नाचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके, परप्राणोंके विच्छेदके सद्भावमें भी बंधकी अप्रसिद्धि है, अतः हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है। अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं, ऐसा होनेपर भी बहिरंग छेद अंतरंगछेदका आयतनमात्र है इसलिये उस बहिरंगछेदको स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये॥ २१७॥

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अथान्तरङ्गबहिरङ्गहिंसारूपेण द्विविधछेदमाख्याति;—

(मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा) म्रियतां वा जीवतु वा जीवः प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति बहिरङ्गान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति। (पयदस्स णत्थि बंधो) बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्धः। केन ? (हिंसामेत्तेण) द्रव्यहिंसामात्रेण। कथंभूतस्य पुरुषस्य। (समिदस्स) समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य। व्यवहारेणेर्यादिपंचसमितियुक्तस्य च। अयमत्रार्थः–स्वस्वभावनारूपनिश्चयप्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा हिंसा भण्यते रागाद्युत्पत्तेर्बहिरङ्गनिमित्तभूतः परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या। किन्तु विशेषः बहिरङ्गहिंसा भवतु मा भवतु स्वस्वभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति। ततः कारणात्सैव मुख्येति॥२१७॥

उत्थानिका—आगे हिंसाके दो भेद हैं अन्तरङ्ग हिंसा और बहिरङ्ग हिंसा। इसलिये छेद या भङ्ग भी दो प्रकार है ऐसा व्याख्यान करते हैं:—

गाथार्थः—(जीवो मरदु व जियदु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्न पूर्वक आचरणसे रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदीसु) समितियोंमें (पयदस्स) जो प्रयत्नवान है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणोंकी हिंसा मात्रसे (बन्धो णत्थि) बन्ध नहीं होता है।

टीकार्थः—बाहरमें दूसरे जीवका मरण हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्नसे रहित है तब उसके निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणका घात होनेसे निश्चय हिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्मस्वभावमें लीन है, अर्थात् निश्चय समितिका पाल रहा है तथा व्यवहारमें ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पांच समितियोंमें सावधान है, अन्तरंग व बहिरंग प्रयत्नवान है, प्रमादी नहीं है उसके बन्ध नहीं होता है। यहां यह भाव है कि अपने आत्मस्वभावरूप निश्चय प्राणका विनाश करनेवाली रागादि परिणति निश्चयहिंसा कही जाती है। रागादिक उत्पन्न करनेके लिये बाहरी निमित्त-रूप जो परजीवका घात है सो व्यवहार हिंसा है, ऐसे दो प्रकार हिंसा जाननी चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि बाहरी हिंसा हो, वा न हो जब आत्मस्वभावरूप निश्चय प्राणका घात होगा तब निश्चय हिंसा ही मुख्य है ॥ २१७ ॥

अथ तमेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति:—

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए। आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज २१७

ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये। मुच्छापरिग्गहोच्चि अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो। जुम्मं

(उच्चालियम्हि पाए) उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे। कस्य। (इरियासमिदस्स) ईर्यासमितितपोधनस्य। क्व ? (णिग्गमत्थाए) विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने (आबाधेज्ज) आबाध्येत पीड्येत। स कः। (कुलिंगं) सूक्ष्म-जन्तुः न केवलमाबाध्येत (मरिज्ज) म्रियतां वा किं कृत्वा। (तं जोगमासेज्ज) तं पूर्वोक्तं पादयोगं पादसंघट्टनमा-श्रित्य प्राप्येति। (ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो य देसिदो समये) न हि तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये तस्य तपोधनस्य तन्निमित्तं सूक्ष्मजन्तुघातनिमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नैव दृष्टः समये परमागमे। दृष्टान्तमाह—(मुच्छापरिग्गहोच्चिय) मूर्च्छापरिग्रहश्चैव (अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो) अध्यात्मं दृष्टमिति। अयमत्रार्थः— "मूर्च्छा परिग्रहः" इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गप-रिग्रहानुसारेण तथात्र सूक्ष्मजन्तुघातेपि यावतांशेन स्वस्वभावचलरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादसंघट्टमात्रेण तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभावहिंसा नास्ति। ततः कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥२१७ २॥

उत्थानिका—आगे इसी ही अर्थको दृष्टांत दार्ष्टांतसे दृढ़ करते हैं।

गाथार्थः—(इरियासमिदस्स) ईर्या समितिसे चलनेवाले मुनिके णिग्गमत्थाए (किसी) स्थानसे जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पगको उठाते हुए (तं जोगमासेज्ज) उस पगके संघट्टनके निमित्त से (कुलिंगं) कोई छोटा जंतु (आबाधेज्ज) बाधाको पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधुके (तण्णिमित्तो सुहमो य बंधो) इस क्रियाके निमित्तसे जरासा भी कर्मका बन्ध (समये) आगममें (णहि देसिदो) नहीं कहा गया है। जैसे (मुच्छापरिग्गहोच्चि य) मूर्छाको परिग्रह कहते हैं सो (अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो) अन्तरंग भावके अनुसार मूर्छा देखी गई है।

टीकार्थः—मूर्छारूप रागादि परिणामोंके अनुसार परिग्रह होता है, बाहरी परिग्रहके अनुसार परिग्रह नहीं होता है तैसे यहां सूक्ष्म जन्तुके घात हानेपर जितने अंशमें अपने स्वभावसे चलनरूप रागादि परिणति रूप भाव हिंसा है उतने ही अंशमें बन्ध होगा, केवल पगके संघट्टनसे मरते हुए जीवके उस तपोधनके रागादि परिणतिरूप भाव हिंसा नहीं होती है, इसलिये बंध भी नहीं होता है ॥ २१७ ॥

अथ सर्वथान्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१८॥

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥२१८॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात् । यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललित कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥२१८॥

अब, सर्वथा अन्तरंग छेद निषेध्य-त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अयताचारः श्रमणः] अयत्नाचारवाला श्रमण [षट्सु अपि कायेषु] छहों काय [वधकरः] वधकरनेवाला [इति मतः] माना गया है, [यदि] यदि [नित्यं] सदा [यतं चरति] यत्नरूपसे आचरण करे तो [जले कमलम् इव] जलमें कमलकी तरह [निरुपलेपः] निर्लेप कहा गया है।

टीकाः—जो अशुद्धोपयोगके बिना नहींहोता ऐसे अयत्नाचारके द्वारा प्रसिद्धि (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव हिंसा ही है, क्योंकि छहकायके प्राणोंके व्यच्छेदके आश्रय से होनवाले बंधकी प्रसिद्धि है। और जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे यत्नाचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव अहिंसा ही है, क्योंकि परके आश्रयसे होनेवाले लेशमात्र भी बंधका अभाव होनेसे निर्लेपत्वकी प्रसिद्धि है जैसे जलमें झूलता हुआ कमल। इसलिये उन उन सर्वप्रकारसे अशुद्धोपयोग रूप अन्तरंग छेद निषेध्य है—त्यागने योग्य है, और उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध है ॥ २१८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ निश्चयहिंसारूपोऽन्तरङ्गच्छेदः सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति;—

(अयदाचारो) निर्मलात्मानुभूतिभावनालक्षणप्रयत्नरहितत्वेन अयताचारः प्रयत्नरहितः । स कः । (समणो) श्रमणस्तपोधनः (छस्सुवि कायेसु वधकरोत्ति मदो) षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मतः सम्मतः कथितः । (चरदि) आचरति वर्त्तते । कथं यथा भवति । (जदं) यतं यत्नपरं (जदि) यदि चेत् (णिच्चं) नित्यं सर्वकालं तदा (कमलं व जले णिरुवलेवो) कमलमिव जले निरुपलेप इति । एतावता किमुक्तं भवति—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षण-शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषः षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि बहिरङ्गद्रव्यहिंसामात्रमस्ति तथापि निश्चयहिंसा नास्ति । ततः कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चयहिंसैव सर्वतात्पर्येण परिहर्त्तव्येति ॥२१८॥

उत्थानिका:—आगे आचार्य निश्चय हिंसारूप जो अन्तरंग छेद है उसका सर्वथा निषेध करते हैं:-

गाथार्थ:—(अयदाचारो समणो) निर्मल आत्माके अनुभव करनेकी भावनारूप चेष्टाके विना साधु (छस्सुवि कायेसु) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन छहों ही कायोंकी (वधकरोत्ति मदो) हिंसा करनेवाला माना गया है । (जदि) यदि (णिच्चं) सदा (जदं) यत्नपूर्वक (चरदि) आचरण करता है तो (जले कमलं व णिरुवलेवो) जलमें कमलके समान कर्म-बन्धके लेप रहित होता है । यदि गाथामें (बंधगोत्ति) पाठ लेवें तो यह अर्थ होगा कि अयत्न-शील कर्म बन्ध करनेवाला है ।

टीकार्थ:—यहां यह भाव बताया गया है कि जो साधु शुद्धात्माका अनुभवरूप शुद्धोपयोगमें परिणमन कर रहा है वह पृथ्वी आदि छह कायरूप जन्तुओंसे भरे हुए इस लोकमें विचरता हुआ भी यद्यपि बाहरमें कुछ द्रव्य हिंसा है तो भी उसके निश्चय हिंसा नहीं है । इस कारण सब तरहसे प्रयत्न करके शुद्ध परमात्माकी भावनाके बलसे निश्चय हिंसा ही छोड़ने योग्य है ॥ २१८ ॥

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति––

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥२१६॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ॥२१६॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्या-मनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभा-वित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव । अत एव भगवन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ॥२१९॥

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्तमेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि ।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥१४॥ [वसन्ततिलका

परिग्रह ऐकान्तिक अन्तरंग-छेद होनेसे वह परिग्रह अन्तरंग छेदके समान त्याज्य है, यह उपदेश करते है:—

अन्वयार्थः—[कायचेष्टायाम्] कायचेष्टापूर्वक [जीवे मृते] जीवके मरने पर [बन्धः] बंध [भवति] होता है, [वा] अथवा [न भवति] नहीं भी होता, किन्तु [उपधेः] उपधिसे—परिग्रहसे [ध्रुवम् बंधः] निश्चय ही बंध होता है, [इति] इसलिये [श्रमणाः] श्रमणों (अर्हन्तदेवों) ने [सर्वं] सर्वपरिग्रह [त्यक्तवन्तः] छोड़ा है ।

टीकाः—जैसे कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोपको अशुद्धोपयोगके सद्भाव और असद्भावके द्वारा अनैकांतिक बधका अनियम होनेसे छेदका अनियम माना गया है, वैसा परिग्रहके द्वारा बंधका अनियम नहीं है । परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभाविपना है उससे प्रसिद्ध होनेवाले निश्चित अशुद्धोपयोगके सद्भावके कारण परिग्रहसे तो बंध निश्चित है, इसलिये उस परिग्रह को छेदका नियम ही है, इसीलिये भगवन्त अर्हन्तोंने, परम श्रमणोंने स्वयं ही पहले ही सभी परिग्रहको छोड़ा है, और इसीलिये दूसरोंके द्वारा भी, अन्तरङ्ग छेदकी भांति प्रथम ही सभी परिग्रह छोड़नेका उपदेश दिया, सो योग्य है, क्योंकि वह परिग्रह अन्तरङ्गछेदके बिना नहीं होता ॥ २१९ ॥

[अब, 'कहने योग्य सब कहा गया है' इत्यादि कथन श्लोक द्वारा किया जाता है ।]

[अर्थः—] जो कहने योग्य था वह सम्पूर्णतया कह दिया गया है, इतने मात्रसे ही यदि यहां कोई चेत जाय तो समझ ले (अन्यथा) वाणीका अतिविस्तार किया जाय तो भी निश्चेतन अर्थात् नासमझ को व्यामोहका जाल वास्तवमें अति दुस्तर है ।

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ बहिरङ्गजीवघाते बन्धो भवति न भवति वा परिग्रहे सति नियमेन भवतीति प्रतिपादयति;—

(हवदि व ण हवदि बंधो) भवति वा न भवति बन्धः कस्मिन्सति (मदं हि) जीवे मृते सत्यन्यजीवे । (अथ अहो । कस्यां सत्याम् ? (कायचेट्ठंहि) कायचेष्टायाम् । तर्हि कथं बन्धो भवति । (बंधो धुवमुवधीदो) बन्धो भवति ध्रुवं निश्चितं । कस्मादुपधेः परिग्रहात्सकाशादिति हेतोः (समणा छंडिया सव्वं) श्रमणा महाश्रमणाः सर्वज्ञाः पूर्वं दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैकस्वभावं निजात्मानमेव परिग्रहं कृत्वा शेषं समस्तं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं छर्दितवन्तः । एवं ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा शेषः सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति । अत्रेदमुक्तं भवति शुद्धचैतन्यरूपनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामरूपनिश्चयहिंसया पातिते सति

नियमेन बन्धो भवति । परजीवघाते पुनर्भवति न भवति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ॥२१९॥

एवं भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चमस्थले गाथाषट्कं गतम् । इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिः स्थलपंचकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा "प्रथमोऽन्तराधिकारः" समाप्तः ।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि बाहरी जीवका घात होनेपर बन्ध होता है तथा नहीं भी होता है, किन्तु परिग्रहके होते हुए तो नियमसे बन्ध होता है ।

गाथार्थः—(कायचेट्ठम्मि) शरीरसे हलन चलन आदि क्रियाके होते हुए (जीवे मदे) किसी जंतुके मरजाने पर (हि) निश्चयसे (बंधो हवदि) कर्मबंध होता है (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है (अध) परन्तु (उवधीदो) परिग्रहके निमित्तसे (बंधो धुवं) बंध निश्चयसे होता ही है (इदि) इसीलिये (समणा) साधुओंने (सव्वं) सर्व परिग्रहको (छंडिया) छोड़ दिया ।

टीकार्थः—साधुओंने व महाश्रमण सर्वज्ञोंने पहले दीक्षाकालमें शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई अपने आत्माको ही परिग्रह मानकर शेष सर्व बाह्य अभ्यंतर परिग्रहको छोड़ दिया ऐसा जानकरके अन्य साधुओंको भी अपने परमात्मस्वभावको ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रहको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग देना चाहिये । यहां यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणका घात जब राग द्वेष आदि परिणामरूप निश्चयहिंसासे किया जाता है तब नियमसे बन्ध होता है । पर जीवके घात होजाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्यमें ममतारूप मूर्छा-परिग्रहसे तो नियमसे बंध होता ही है ॥ २१९ ॥

इस तरह भाव हिंसाके व्याख्यानकी मुख्यतासे पांचवें स्थलमें छः गाथाएं पूर्ण हुईं । इस तरह पहले कहे हुए क्रमसे "एवं पणमिय सिद्धे" इत्यादि २१ इक्कीस गाथाओंसे ५ स्थलोंके द्वारा उत्सर्गचारित्रका व्याख्याननामा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥ २२० ॥

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः ।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं तु कर्मक्षयो विहितः ॥ २२० ॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधस्तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः । अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरंगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ।

अब, इस परिग्रहका निषेध अंतरंग छेदका ही निषेध है, यह उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[निरपेक्षः त्यागः न हि] यदि निरपेक्ष (सर्व अपेक्षाओंसे रहित)

त्याग न हो तो [भिक्षोः] भिक्षुके [आशयविशुद्धिः] भावकी विशुद्धि [न भवति] नहीं होती, [च] और [चित्ते अविशुद्धस्य] जो भावमें अविशुद्ध है उसके [कर्मक्षयः] कर्मक्षय [कथं नु] कैसे [विहितः] हो सकता है ॥२२०॥

टीकाः—जैसे छिलकेके सद्भावमें चावलोंमें पाई जानेवाली ललाईरूप अशुद्धताका त्याग (नाश-अभाव) नहीं होता, उसी प्रकार बहिरंग संगके सद्भावमें अशुद्धोपयोगरूप अंतरंगछेदका त्याग नहीं होता और उस अंतरंगछेदके सद्भावमें शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये अशुद्धोपयोगरूप अंतरग छेदका निषेध है : प्रयोजनकी अपेक्षा रखनेवाली जो उपधि उसका निषेध वास्तवमें अन्तरंग छेदका ही निषेध है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अतः परं चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहृतसंयनरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद्गाथाभिर्द्वितीयोन्तराधिकारः प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि गाथापंचकम्। अत्र टीकायां गाथात्रयं नास्ति। तदनन्तरं सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामायिकसंयमासमर्थानां यतीनां संयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन 'छेदो जेण ण विज्जदि' इत्यादि सूत्रत्रयम्। तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति। ततः परं सर्वोपेक्षासंयमसमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्संयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारणं ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन "उवयरणं जिणमग्गं" इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति। अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति। एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः टीकापेक्षया पुनर्द्वाविंशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तथाहि—

अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरङ्गपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः कृत एव भवतीति निर्दिशति;—(ण हि णिरवेक्खो चागो) न हि निरपेक्षस्त्यागः यदि चेत् परिग्रहत्यागः सर्वथा निरपेक्षो न भवति किन्तु किमपि वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यमिति [1]भवता भण्यते तर्हि हे शिष्य (ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसोही) न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः तदा सापेक्षपरिणामे सति भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति। (अविसुद्धस्स हि चित्ते) शुद्धात्मभावनारूपशुद्धिरहितस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुटं (कहं तु कम्मक्खओ विहियो) कथं तु कर्मक्षयो विहितः उचितो न कथमपि। अनेनैतदुक्तं भवति—यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धिं कर्तुं नायाति तथा विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति। यदि पुनर्विशिष्टवैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति ॥२२०-१॥

समुदाय उत्थानिका—अब आगे चारित्रका देशकालकी अपेक्षासे अपहृत संयमरूप अपवादपना समझानेके लिये पाठके क्रमसे ३० तीस गाथाओंसे दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमें चार स्थल हैं।

1 श्वेताम्बरेण।

पहले स्थलमें निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी स्थापनाकी मुख्यतासे "णहि णिरवेक्खो चाओ" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। इनमेंसे तीन गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें नहीं हैं। फिर सर्व पापके त्यागरूप सामायिक नामके संयमके पालनेमें असमर्थ यतियोंके लिये संयम, शौच व ज्ञानका उपकरण होता है। उसके निमित्त अपवाद व्याख्यानकी मुख्यतासे "छेदो जेण ण विज्जदि" इत्यादि सूत्र तीन हैं। फिर स्त्रीको तद्भव मोक्ष होती है इसके निराकरणकी प्रधानतासे 'पेच्छदि णहि इह लोगं' इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं। ये गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकी टीकामें नहीं हैं। इसके पीछे सर्व उपेक्षा संयमके लिये जो साधु असमर्थ है उसके लिये देश व कालकी अपेक्षासे इस संयमके साधक शरीरके लिये कुछ दोष-रहित आहार आदि सहकारी कारण ग्रहण करने योग्य हैं। इससे फिर भी अपवादके विशेष व्याख्यानकी मुख्यतासे "उवयरणं जिणमग्गे" इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं, इनमेंसे भी उस टीकामें ४ गाथाएं नहीं हैं। इस तरह मूल सूत्रोंके अभिप्रायसे तीस गाथाओंसे तथा अमृतचन्द्रकृत टीकाकी अपेक्षासे बारह गाथाओंसे दूसरे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

अथ तमेव परिग्रहत्यागं द्रढयति;—

गेह्णदि व चेलखंडं भायणमत्थित्तिभणिदमिह सुत्ते। जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥२२०-१॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेह्णदि णियदं। विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२२०-२॥
गेह्णइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता। पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि। विसेसयं।

(गेण्हदि व चेलखंडं) गृह्णाति वा चेलखण्डं वस्त्रखण्डं (भायणं) भिक्षाभाजनं वा (अत्थित्ति भणिदं) अस्तीति भणितमास्ते। क्व। (इह सुत्ते) इह विवक्षितागमसूत्रे। (जदि) यदि चेत् ? (सो चत्तालंबो हवदि कहं) निरालम्बनपरमात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् स पुरुषो बहिर्द्रव्यालम्बनरहितः कथं भवति न कथमपि (वा अणारंभो) निःक्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथं भवति किन्तु सारम्भ एव, इति प्रथमगाथा।

(वत्थक्खडं दुद्दियभायणं) वस्त्रखण्डं दुग्धिकाभाजनं (अण्णं च गेण्हदि) अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिकं यदि चेत्। तदा किं भवति। (णियदं विज्जदि पाणारंभो) निजशुद्धचैतन्यलक्षणप्राणविनाशरूपो वा नियतं प्राणारम्भः प्राणवधो विद्यते न केवलं प्राणारम्भः (विक्खेवो तस्स चित्तम्मि) अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य परिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति। इति द्वितीयगाथा। (गेण्हइ) स्वशुद्धात्मग्रहणशून्यः सन् गृह्णाति किमपि बहिर्द्रव्यं (विधुणइ) कर्मधूलिं विहाय बहिरङ्गधूलिं विधुनोति विनाशयति। (धोवइ) निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनकरागादिमलं विहाय बहिरङ्गमलं धौति प्रक्षालयति (सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता) निर्विकल्पध्यानातपेन संसारनदीशोषणमकुर्वन् शोषयति शुष्कं करोति जदं तु यत्नपरं तु यथा भवति। किं कृत्वा। आतपे निक्षिप्य। किं तत्। (पत्थं च चेलखंडं) पात्रं वस्त्रखण्डं वा (विभेदि) निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन् बिभेति भयं करोति। कस्मात्सकाशात् ? (परदो य) परतश्चौरादेः (पालयदि) परमात्मभावनां न पालयन् रक्षयन्परद्रव्यं किमपि पालयतीति तृतीया गाथा ॥२२०-१-२-३॥

गाथाकी उत्थानिका अब कहते हैं कि जो भावोंकी शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रहका त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रहका ही त्याग किया गया।

गाथार्थः—(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चाओ) त्याग (नहि) यदि न होवे तो (भिक्खु-

स्स) साधुके (आसवविसुद्धीण हवदि) आशय या चित्तकी विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्धस्स चित्ते) अशुद्ध मनके होने पर (कहं णु) किस तरह (कम्मक्खओ) कर्मोंका क्षय (विहिओ) उचित हो अर्थात् न हो।

टीकार्थः—यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रहका त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रक्खे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिये, तो अपेक्षा सहित परिणामोंके होनेपर उस साधुके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सकती है। तब जिस साधुका चित्त शुद्धात्माकी भावना रूप शुद्धिसे रहित होगा उस साधुके कर्मोंका क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है।

इस कथनसे यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहरका तुष रहते हुए चावलके भीतरकी शुद्धि नहीं की जासक्ती। इसी तरह विद्यमान परिग्रहमें या अविद्यमान परिग्रहमें जो अभिलाषा है उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्माके अनुभवको करनेवाली चित्तकी शुद्धि नहीं की जासक्ती है। जब विशेष वैराग्य के होनेपर सब परिग्रहका त्याग होगा तब भावोंकी शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि पूजा या लाभके निमित्त त्याग किया जायगा तो चित्तकी शुद्धि नहीं होगी॥ २२०॥

उत्थानिका—आगे इसही परिग्रहके त्यागको दृढ़ करते हैं।

गाथार्थः—(जदि) यदि (इह सुत्ते) किसी विशेष सूत्रमें (चेलखंडं गेण्हदि) साधु वस्त्रके खंड को स्वीकार करता है (व [भ]ायणं अत्थित्ति भणिदम्) या उसके भिक्षाका पात्र होता है ऐसा कहा गया है तो (सो) वह पुरुष निरालम्ब परमात्माके तत्वकी भावनासे शून्य होता हुआ (कहं) किस तरह (चत्तालंबो) बाहरी द्रव्यके आलम्बनरहित (हवदि) होसक्ता है? अर्थात् नहीं होसक्ता (वा अणारम्भो) अथवा किस तरह क्रिया रहित व आरम्भ रहित निज आत्मतत्त्वकी भावनासे रहित होकर आरम्भसे शून्य होसकता है? अर्थात् आरम्भ रहित न होकर आरम्भ सहित ही होता है। यदि वह (वत्थखण्डं) वस्त्रके टुकड़ेको, (दुद्दियभायणं) दूधके लिये पात्रको (अण्णं च गेण्हदि) तथा अन्य किसी कम्बल या मुलायम शय्या आदिको ग्रहण करता है तो उसके (णियद) निश्चयसे (पाणारम्भो विज्जदि) अपने शुद्ध चैतन्य लक्षण प्राणोंका विनाश रूप अथवा प्राणियोंका वध रूप प्राणारम्भ होता है तथा (तस्स चित्तम्मि विक्खेवो) उस क्षोभ रहित चित्तरूप परम योगसे रहित परिग्रहवान पुरुषके चित्तमें विक्षेप होता है या आकुलता होती है। वह यति (पत्थ च चेलखण्डं) भाजनको या वस्त्रखण्डको (गेण्हइ) अपने शुद्धात्माके ग्रहणसे शून्य होकर ग्रहण करता है, (विधुणइ) कर्म धूलको झाड़ना छोड़कर उसकी बाहरी धूलको झाड़ता है, (धोवइ) निज परमात्मतत्वमें मल उत्पन्न करनेवाले रागादि मलको छोड़कर उनके बाहरी मैलको धोता है (तदं तु आदवे खित्ता सोसइ) और निर्विकल्प ध्यानरूपी धूपसे संसारनदीको नहीं सुखाता हुआ यत्नवान होकर उसे धूपमें डालकर सुखाता है (परदो य विभेदि) और निर्भय शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे शून्य होकर दूसरे चोर आदिकोंसे भय करता है (पालयदि) तथा परमात्मभावनाकी रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है॥ २२०-१, २२०-२, २२०-३॥

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।

तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥२२१॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २२१ ॥

उपधिसद्भावे हि म त्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य वावश्यंभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥ २२१

'परिग्रह नियमसे अन्तरंग छेद है' यह विस्तारसे उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[तस्मिन्] उस परिग्रह सद्भावमें [तस्य] उस भिक्षुके [मूर्च्छा] मूर्छा, [आरम्भः] आरंभ [वा] या [असंयमः] असंयम [नास्ति] न हो [कथं] यह कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता), [तथा] तथा [परद्रव्ये रतः] जो परद्रव्यमें रत हो वह [आत्मानं] आत्माको [कथं] कैसे [प्रसाधयति] साध सकता है ? (नहीं साध सकता)

टीकाः—उपधिके सद्भावमें (१) ममत्वपरिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा, (२) परिग्रह संबंधी कार्य व्यवस्थाके परिणाम रूप लक्षण वाला आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूपका हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम ये अवश्य होता ही है तथा उपधि जिसका द्वितीय है (अर्थात् परिग्रह आत्मासे अन्य है, वह परिग्रह जिसने ग्रहण किया है) उसके परद्रव्यमें लीनता होनेके कारण शुद्धात्मद्रव्यकी साधकताका अभाव होता है, इससे उपधिके नियमसे अन्तरङ्गछेदका निश्चय होता ही है।

यहां यह तात्पर्य है कि—'उपधि—परिग्रह अन्तरंग छेद ही है' यह निश्चित करके उस परिग्रहको सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ २२१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति;—

(किह तम्हि णत्थि मुच्छा) परद्रव्यममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशमूर्च्छा कथं नास्ति अपि त्वस्त्येव । क्व ? तस्मिन् परिग्रहाकांक्षितपुरुषे (आरंभो वा) मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्यप्रतिबन्धक आरम्भो वा कथं नास्ति किन्त्वस्त्येव (असंजमो तस्स) शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासंयमो वा कथं नास्ति किन्त्वस्त्येव तस्य सपरिग्रहस्य (तह परदव्वम्मि रदो) तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रतः (कहमप्पाणं पसाहयदि) स तु सपरिग्रहपुरुषः कथमा-

त्मानं प्रसाधयति ? न कथमपीति ॥२२१॥

एवं श्वेताम्बरमतानुसारिशिष्यसम्बोधनार्थं निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथापंचकं गतम् ।

उत्थानिका:—आगे आचार्य कहते हैं कि जो परिग्रहवान है उसके नियमसे चित्तकी शुद्धि नष्ट होजाती है:—

गाथार्थ:—(तम्मि) उस परिग्रह सहित साधुमें (किध) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्यकी ममतासे रहित चैतन्यके चमत्कारकी परिणतिसे भिन्न मूर्छा (वा आरम्भो) अथवा मन वचन कायकी क्रिया रहित परम चैतन्यके भावमें विघ्नकारक आरम्भ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहवानके शुद्धात्माके अनुभवसे विलक्षण असंयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वमि रदा) अपने आत्मा द्रव्यसे भिन्न परद्रव्यमें लीन होता हुआ (कधमप्पाणं पसाधयदि) किस तरह अपने आत्माकी साधना परिग्रहवान पुरुष कर सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सकता है ॥ २२१ ॥

इस तरह श्वेताम्बर मतके अनुसार माननेवाले शिष्यके संबोधनके लिये निर्ग्रंथ मोक्षमार्गके स्थापनकी मुख्यतासे पहले स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२२ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २२२ ॥

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः । अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २२२ ॥

अब, 'किसीके कहीं कभी किसी प्रकार कोई परिग्रह अनिषिद्ध भी है, ऐसा अपवाद कहते हैं।

अन्वयार्थः—[येन ग्रहणविसर्गेषु] जिस उपकरणके ग्रहण विसर्जनसे [सेवमानस्य] सेवन करनेवालेके [छेदः] छेद [न विद्यते] नहीं होता [इह] इस लोकमें [श्रमणः]

श्रमण [कालं क्षेत्रं विज्ञाय] काल क्षेत्रको जानकर, [तेन वर्तताम्] उस उपकरणका सेवन करे

टीकाः—आत्मद्रव्यके द्वितीय पुद्‌गलद्रव्यका अभाव होनेसे समस्त ही उपधि निषिद्ध है-ऐसा उत्सर्ग है, और विशिष्ट कालक्षेत्रके वश कोई उपधि अनिषिद्ध है-ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधिके निषेधका आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होने पर भी विशिष्ट कालक्षेत्रके वश हीन-शक्तिवाला होनेसे उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें हीनता करके अनुत्कृष्ट संयम प्राप्त करता हुआ उस संयमको बहिरंग साधन-मात्र उपधिका आश्रय लेता है। इस प्रकार जिस उपधिका आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपनके कारण भी वास्तवमें छेदरूप नहीं है, प्रत्युत छेदकी निषेधरूप ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोगके विना नहीं होती, वह छेद है। किन्तु यह उपधि तो श्रामण्यपर्यायकी सहकारी कारणभूत शरीरकी स्थिति के हेतुभूत आहार नीहारादिके ग्रहण-विसर्जन संबंधी छेदके निषेधार्थ ग्रहण की जानेसे सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेदके निषेधरूप ही है

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ कालापेक्षया परमोपेक्षासंयमशक्त्यभावे सत्याहारसंयमशौचज्ञानोपकरणादिकं किमपि ग्राह्यमित्यपवादमुपदिशति;—

(छेदो जेण ण विज्जदि) छेदो येन न विद्यते। येनोपकरणेन शुद्धोपयोगलक्षणसंयमस्य छेदो विनाशो न विद्यते। कयोः ? (गहणविसग्गेसु) ग्रहणविसर्गयोः यस्योपकरणस्यान्यवस्तुनो वा ग्रहणे स्वीकारे विसर्जने। किं कुर्वतः तपोधनस्य। (सेवमाणस्स) तदुपकरणं सेवमानस्य (समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता) श्रमणस्तेनोपकरणेनेह लोके वर्तताम्। किं कृत्वा। कालं क्षेत्रं च विज्ञायेति। अयमत्र भावार्थः-कालं पञ्चमकालं शीतोष्णादिकालं वा क्षेत्रं भरतक्षेत्रं मानुषजाङ्गलादिक्षेत्रं वा विज्ञाय येनोपकरणेन स्वसंवित्तिलक्षणभावसंयमस्य बहिरङ्गद्रव्यसंयमस्य वा छेदो न भवति तेन वर्तत इति ॥२२२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि कालकी अपेक्षासे साधुकी शक्ति परम उपेक्षा संयमके पालनेकी न हो तो वह आहार करता है, संयमका उपकरण पीछी व शौचका उपकरण कमंडल व ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण करता है, ऐसे अपवाद मार्गका उपदेश देते हैं—

गाथार्थः—(जेण गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरणके ग्रहण करने व रखनेमें उस उस उपकरणके सेवनेवाले साधुके (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोगमई संयमका घात न होवे (तेणिह समणो कालं खेत्तं वियाणित्ता वट्टदु) उसी उपकरणके साथ इस लोकमें साधु क्षेत्र और कालको जानकर वर्तन करे।

टीकार्थः—यहां यह भाव है कि कालकी अपेक्षा पञ्चमकाल या शीत उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्रकी अपेक्षा भरतक्षेत्र, मनुष्य क्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनोंको जानकर जिस उपकरणसे स्वसंवेदन लक्षण भाव संयमका अथवा बाहरी द्रव्य संयमका घात न होवे, उस तरहसे मुनिको वर्तना चाहिये।२२२।

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति–

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥ २२३ ॥

अप्रतिकुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः ।
मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणः यद्यप्यल्पम् ॥ २२३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिकुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः । अतो अथोदितस्वरूपएवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः२२३

अब अनिषिद्ध उपधिका स्वरूप कहते हैं:—

अन्वयार्थ:—[यद्यपि अल्पम्] भले ही अल्प हो तथापि [अप्रतिकुष्टम्] जो निषेधने योग्य न हो, [असंयतजनैः अप्रार्थनीयं] असंतजनोंसे अप्रार्थनीय हो, और [मूर्च्छादिजननरहितं] जो मूर्च्छा आदिको उत्पन्न न करे [उपधिं] ऐसी उपधिको [श्रमणः] श्रमण [गृह्णातु] ग्रहण करो ।

टीका—जो उपधि सर्वथा बंधकी असाधक होनेसे अनिषिद्ध है, संयतके अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होनेसे असंयतजनोंके द्वारा अप्रार्थनीय (अवाञ्छनीय) है, और रागादिपरिणामके बिना धारण की जानेसे मूर्च्छादिके उत्पादनसे रहित है, वह वास्तवमें अनिषिद्ध है । इससे यथोक्त स्वरूपवाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु यथोक्त स्वरूपसे विपरीत स्वरूपवाली अल्प भी उपधि-उपादेय नहीं है ॥ २२३ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ पूर्वसूत्रोदितोपकरणस्वरूपं वर्णयति;—

(अप्पडिकुट्ठं उवधिं) निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपधिमुपकरणरूपोपधिं (अपत्थणिज्जं असंजदजणस्स) अप्रार्थनीयं निर्विकारात्मोपलब्धिलक्षणभावसंयमरहितस्यासंयतजनस्यानभिलषणीयम् । (मुच्छादिजणणरहियं) परमात्मद्रव्यविलक्षणबहिर्द्रव्यममत्वरूपमूर्च्छारक्षणार्जनसंस्काराविदोषजननरहितम् । (गेण्हदु समणो जदिवि अप्पं) गृह्णातु श्रमणो यमप्यल्पं पूर्वोक्तमुपकरणोपधिं यद्यप्यल्पं तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्यं न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्रायः ॥२२३॥

उत्थानिका—आगे पूर्व गाथामें निज उपकरणोंको साधु अपवाद मार्गमें काममें ले सकता है उनका स्वरूप दिखलाते हैं ।

गाथार्थः—(समणो) साधु (उवधिं) परिग्रहको (अप्पडिकुट्ठं) जो निषेधने योग्य न हो, (असंजदजणेहिं अपत्थणिज्जं) असंयमी लोगोंके द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहिदं) व मूर्छा आदि भावोंको न उत्पन्न करे (जदि वि अप्पं) यद्यपि अल्प हो (गेण्हदु) तो भी ग्रहण करें।

टीकार्थः—साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रहको ही ग्रहण करें जो निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गमें सहकारी कारण होनेसे निषिद्ध न हो, जिसको वे असंयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभवरूप भाव संयमसे रहित हैं, कभी मांगें नहीं, न उसकी इच्छा करें, तथा जिसके रखनेसे परमात्म-द्रव्यसे विलक्षण बाहरी द्रव्योंमें ममतारूप मूर्छा न पैदा हो जावे, न उसके उत्पन्न करनेका दोष हो, न उसके संस्कारसे दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रहको यदि रक्खें तो भी बहुत थोडा रक्खें। इन लक्षणोंसे विपरीत परिग्रह न लेवें।

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥२२४॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा निःप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥२२४॥

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः। अथ तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतः। अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः। इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ॥२२४॥

अब, 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं' ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[अथ] जब कि [जिनवरेन्द्राः] जिनवरेन्द्रोंने [अपुनर्भवकामिनः] मोक्षाभिलाषीके, [संगः इति] 'देह परिग्रह है' यह कहकर [देहे अपि] देहमें भी [निःप्रतिकर्मत्वम्] अप्रतिकर्मत्व (संस्काररहितत्व) का [उद्दिष्टवन्तः] उपदेश दिया है, तब [किं किंचनम् इति तर्कः] अन्य परिग्रहका विधान तो कैसे हो सकता है ?

टीकाः—यहां श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जिसका निषेध नहीं किया गया है ऐसे अत्यन्त मिले हुए शरीरमें भी, 'यह शरीर परद्रव्य होनेसे परिग्रह है, वास्तवमें यह अनुग्रहयोग्य नहीं, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है,' ऐसा कहकर, भगवन्त अर्हंतदेवोंने निर्ममत्वका उपदेश दिया है, तब फिर वहां शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिकी संभावनाके रसिक पुरुषोंके शेष बेचारा अनुपात्त (शरीरसे पृथक्) परिग्रह कैसे ग्राह्य हो सकता है ? ऐसा उनका (अर्हंत देवोंका) आशय

व्यक्त ही है। इससे निश्चित होता है कि-उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं। तात्पर्य यह कि वस्तुधर्म होनेसे परम निर्ग्रंथत्व ही अवलम्बन योग्य है॥ २२४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ सर्वसङ्गपरित्याग एव श्रेष्ठः शेषमशक्यानुष्ठानमिति प्ररूपयति;—

(किं किंचणत्ति तक्कं) किं किंचनमिति तर्कः किं किंचनं परिग्रह इति तर्को विचारः क्रियते तावत्। कस्य ? (अपुणब्भवकामिणो) अपुनर्भवकामिनः अनन्तज्ञानादिचतुष्टयात्ममोक्षाभिलाषिणः (अथ) अहो (देहोवि) देहोऽपि (संगोत्ति) सङ्गः परिग्रह इति हेतोः (जिणवरिंदा) जिनवरेन्द्राः कर्तारः (णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा) निःप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्त। शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षासंयमबलेन देहेपि निःप्रतिकारित्वं कथितवन्त इति। ततो ज्ञायते मोक्षसुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसङ्गपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ॥२२४॥

एवमपवादव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

उत्थानिका—आगे फिर आचार्य यही कहते हैं कि सर्व परिग्रहका त्याग ही श्रेष्ठ है। जो कुछ उपकरण रखना है वह अशक्यानुष्ठान है-अपवाद है -

गाथार्थः—(अथ) अहो (अपुणब्भवकामिणो) पुनः-भवरहित ऐसे मोक्षके इच्छुक साधुके (देहोवि) शरीर मात्र भी (संगत्ति) परिग्रह है ऐसा जानकर (जिणवरिंदा) जिनवरेंद्रोंने (अप्पडिकम्मत्तिं) ममता रहित भावको ही उत्तम (उद्दिट्ठा) कहा है (किं किंचनत्ति तक्कं) ऐसी दशामें साधुके क्या परिग्रह हैं यह मात्र एक तर्क ही है अर्थात् अन्य उपकरणादि परिग्रहका विचार भी नहीं होसकता।

टीकार्थः— अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप जो मोक्ष है उसकी प्राप्तिके अभिलाषी साधुके शरीर मात्र भी जब परिग्रह है तब और परिग्रहका विचार क्या किया जा सकता है। शुद्धोपयोग लक्षणमई परम उपेक्षा संयमके बलसे देहमें भी कुछ प्रतिकर्म अर्थात् ममत्व नहीं करना चाहिये तब ही वीतराग संयम होगा, ऐसा जिनेन्द्रोंका उपदेश है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि मोक्ष सुखके चाहने वालोंको निश्चयसे शरीर आदि सब परिग्रहका त्याग ही उचित है अन्य कुछ भी कहना सो उपचार है॥ २२४ ॥

इस तरह अपवाद व्याख्यानके रूपमें दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथैकादशगाथापर्यन्तं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति। तद्यथा—श्वेताम्बरमतानुसारी शिष्यः पूर्वपक्षं करोति;—

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो। धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं २२४-१

(पेच्छदि ण हि इह लोगं) निरुपरागनिजचैतन्यनित्योपलब्धिभावनाविनाशकं ख्यातिपूजालाभरूपं प्रेक्षते न च हि स्फुटं इह लोकं। न च केवलमिह लोकं (परं च) स्वात्मप्राप्तिरूपं मोक्षं विहाय स्वर्गभोगप्राप्तिरूपं परं च परलोकं च नेच्छति। स कः। (समणिंददेसिदो धम्मो) श्रमणेन्द्रदेशितो धर्मः जिनेन्द्रोपदिष्ट इत्यर्थः। (धम्मम्हि तम्हि कम्हा) धर्मे तस्मिन् कस्मात् (वियप्पियं) विकल्पितं निर्ग्रन्थलिङ्गाद्वस्त्रप्रावरणेन पृथक्कृतं। किं। (लिंगं) सावरणचिन्हं। कासां सम्बन्धि। (इत्थीणं) स्त्रीणामिति पूर्वपक्षगाथा ॥१॥

उत्थानिका—आगे ग्यारह गाथाओं तक स्त्रीको उसी भवसे मोक्ष हो सकता है इसका निरा-

करण करते हुए व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही श्वेताम्बर मतके अनुसार बुद्धि रखनेवाला शिष्य पूर्वपक्ष करता है:—

गाथार्थ:—(समिणिंददेसिदो धम्मो) श्रमणोंके इन्द्र जिनेन्द्रोंसे उपदेश किया हुआ धर्म (इह लोगं परं च) इस लोकको तथा परलोकको (णहि पेच्छदि) नहीं चाहता है। (तम्हि धम्मम्हि) उस धर्ममें (कम्हा) किस लिये (इत्थीणं लिंगं) स्त्रियोंका वस्त्र-सहित लिंग (वियप्पियं) भिन्न कहा है? यह शंका रूप गाथा है।

टीकार्थ: - जैनधर्म वीतराग निज चैतन्य भावकी नित्य प्राप्तिकी भावनाके विनाशक अपनी पूजा व लाभ रूप इस लौकिक विषयको नहीं चाहता है और न अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षको छोड़कर स्वर्गोंके भोगोंकी प्राप्तिकी कामना करता है। यहां यह शंका की गई है कि ऐसे धर्ममें स्त्रियोंका वस्त्रसहित लिंग किस लिये निर्ग्रन्थ लिंगसे भिन्न कहा गया है? ॥ २२४-१ ॥

अथ परिहारमाह;—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा। तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ।२२४-२॥

(णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा) निश्चयतः स्त्रीणां नरकादिगतिविलक्षणानन्तसुखादिगुणस्वभावा तेनैव जन्मना सिद्धिर्न दृष्टा न कथिता। (तम्हा तप्पडिरूवं) तस्मात्कारणात्प्रतियोग्यं सावरणरूपं (वियप्पियं लिंगमित्थीणं) निर्ग्रन्थलिङ्गात्पृथक्त्वेन विकल्पितं कथितं लिङ्गं प्रावरणसहितं चिन्हं। कासां। स्त्रीणामिति ॥२॥

उत्थानिका—इसी प्रश्नका आगे समाधान करते हैं।

गाथार्थ:—(णिच्छयदो) वास्तवमें (तेण जम्मणा) उसी जन्मसे (इत्थीणं सिद्धी) स्त्रियोंको मोक्ष (ण हि दिट्ठा) नहीं देखी गई है (तम्हा) इसलिये (इत्थीणं लिंगं) स्त्रियोंका भेष (तप्पडिरूव) आवरण सहित (वियप्पियं) पृथक् कहा गया है।

टीकार्थ:—नरक आदि गतियोंसे विलक्षण अनंत सुख आदि गुणोंके धारी सिद्धकी अवस्थाकी प्राप्ति निश्चयसे स्त्रियोंको उसी जन्ममें नहीं कही गई है। इस कारणसे उसके योग्य वस्त्र सहित भेष मुनिके निर्ग्रंथ भेषसे अलग कहा गया है ॥ २२४-२ ॥

अथ स्त्रीणां मोक्षप्रतिबन्धकं प्रमादबाहुल्यं दर्शयति;—

पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा। तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा ॥२२४-३॥

(पइडीपमादमइया) प्रकृत्या स्वभावेन प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी। का कर्त्री भवति। (एदासिं वित्ति) एतासां स्त्रीणां वृत्तिः परिणतिः (भासिया पमदा) तत एव नाममालायां प्रमदाः प्रमदासंज्ञा भणिता भासिताः स्त्रियः। (तम्हा ताओ पमदा) यत एव प्रमदा संज्ञास्ताः स्त्रियः तस्मात्तत एव (पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा) निःप्रमादपरमात्मतत्त्वभावनाविनाशकप्रमादबहुला इति निर्दिष्टाः ॥३॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोक्षमार्गको रोकनेवाले प्रमादकी बहुत प्रबलता है—

गाथार्थ:—(पयडी) स्वभावसे (एतासिं वित्ति) इन स्त्रियोंकी परिणति (पमादमइया) प्रमाद

गई है (पमदा भासिया) इसलिये उनको प्रमदा कहा गया है (तम्हा) अतः (ताओ पमदा) वे स्त्रियां (पमादबहुलोत्ति) णिद्दिट्ठा) प्रमादसे भरी हुई हैं ऐसा कहा गया है।

टीकार्थः—क्योंकि स्वभावसे उनका वर्तन प्रमादमयी होता है इसलिये नाममालामें उनको प्रमदा संज्ञा कही गई है। प्रमदा होनेसे ही उनमें प्रमाद रहित परमात्म-स्वकी भावनाके नाश करनेवाले प्रमाद की बहुलता कही गई है ॥ २२४ । ३ ॥

अथ तासां मोहादिबाहुल्यं दर्शयति—

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंच्छा य। चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ।२२४-४॥

(संति धुवं पमदाणं) सन्ति विद्यन्ते ध्रुवं निश्चितं प्रमदानां स्त्रीणां। के ते (मोहपदोसा भयं दुगुंच्छा य) मोहादिरहितानन्तसुखादिगुणस्वरूपमोक्षकारणप्रतिबन्धकाः मोहप्रद्वेषभयदुगुंच्छापरिणामाः (चित्ते चित्ता माया) कौटिल्यादिरहितपरमबोधादिपरिणतेः प्रतिपक्षभूता चित्ते मनसि चित्रा विचित्रा माया (तम्हा तासिं ण णिव्वाणं) तत एव तासामव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं निर्वाणं नास्तीत्यभिप्रायः ॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोह आदि भावोंकी अधिकता है—

गाथार्थः—(पमदाणं चित्ते) स्त्रियोंके चित्तमें (धुवं) निश्चयसे (मोहपदोसा भयं दुगुंच्छा य मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा (चित्ता माया) चित्तमें माया (संति) होता है (तम्हा) इसलिये (तासिं ण णिव्वाणं) उनके निर्वाण नहीं होता है।

टीकार्थः—निश्चयसे स्त्रियोंके मनमें मोहादि रहित व अनन्तसुख आदि गुण स्वरूप मोक्षके कारणको रोकनेवाले मोह, द्वेष, भय, ग्लानिके परिणाम पाए जाते हैं तथा उनमें कुटिलता आदिसे रहित उत्कृष्ट ज्ञानकी परिणतिकी विरोधी नाना प्रकारकी माया होती है। इसीलिये ही उनको बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत मोक्ष नहीं हो सकता है, यह अभिप्राय है ॥ २२४–४ ॥

अथैतदेव दृढयति;—

ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि। ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ॥२२४-५॥

(ण विणा वट्टदि णारी) न विना वर्तते नारी (एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि) तेषु निर्दोषिपरमात्मध्यानविघातकेषु पूर्वोक्तदोषेषु मध्ये जीवलोके त्वेकमपि दोषं विहाय (ण हि संउडं च गत्तं) न हि स्फुटं संवृतं गात्रं च शरीरं (तम्हा तासिं च संवरणं) तत एव च तासां संवरणं वस्त्रावरणं क्रियत इति ॥५॥

उत्थानिका—और भी उसी को दृढ़ करते हैं:—

गाथार्थः—(जीवलोयम्हि) इस जीवलोकमें (तेसु एक्कं विणा वा) इन दोषोंमेंसे एक भी दोषके विना (णारी ण वट्टदि) स्त्री नहीं पाई जाती है (ण हि संउडं च गत्तं) न उनका शरीर ही संकोचरूप या दृढ़तारूप होता है (तम्हा) इसलिये (तासिं च संवरणं) उनको वस्त्रका आवरण उचित है

टीकार्थः—इस जीवलोकमें ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसके ऊपर कहे हुए निर्दोष परमात्म ध्यानके घात करनेवाले दोषोंके मध्यमें एक भी दोष न पाया जाता हो। तथा निश्चयसे उनका शरीर भी संवृत रूप नहीं है इसीलिये उनका शरीर वस्त्रसे आच्छादन किया जाता है ॥ २२४–५ ॥

अथ पुनरपि निर्वाणप्रतिबन्धकदोषान्दर्शयति;—

चित्तस्सावो तासिं सिथिल्लं अत्तवं च पक्खलणं। विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥२२४-६॥

(विज्जदि) विद्यते तासु च स्त्रीषु। किं ? (चित्तस्सावो) चित्तस्रवः निःकामात्मतत्त्वसंवित्तिविनाशक-चित्तस्य कामोद्रेकेण स्रवो रागसार्द्रभावः (तासिं) तासां स्त्रीणां (सिथिल्लं) शिथिलस्य भावः शैथिल्यं तद्भव-मुक्तियोग्यपरिणामविषये चित्तदार्ढ्याभावः सत्त्वहीनपरिणाम इत्यर्थः। (अत्तवं च पक्खलणं) ऋतौ भवमार्त्तवं प्रस्खलनं रक्तस्रवणं सहसा झटिति मासे मासे दिनत्रयपर्यन्तं चित्तशुद्धिविनाशको रक्तस्रवो भवतीत्यर्थः (उप्पादो सुहममणुआणं) उत्पाद उत्पत्तिः सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तमनुष्याणामिति ॥६॥

उत्थानिका—और भी स्त्रियोंमें ऐसे दोष दिखलाते हैं जो उनके निर्वाण होनेमें बाधक हैं।

गाथार्थः—(तासिं) उन स्त्रियोंके (चित्तस्सावो) चित्तमें कामका उद्रेक (सिथिल्लं) शि-थिलपना (सहसा अत्तवं च पक्खलणं) तथा यकायक ऋतु धर्ममें रक्तका बहना (विज्जदि) मौजूद है (तासु अ सुहममणुआणं उप्पादो) तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है।

टीकार्थः—उन स्त्रियोंके चित्तमें कामवासना रहित आत्मतत्वके अनुभवको विनाश करनेवाले कामकी तीव्रतासे रागसे गीले परिणाम होते हैं तथा उसी भवसे मुक्तिके योग्य परिणामोंमें चित्तकी दृढता नहीं होती है। वीर्य-हीन शिथिलपना होता है। इसके सिवाय उनके यकायक प्रत्येक मासमें तीन तीन दिन पर्यंत ऐसा रक्त बहता है जो उनके मनकी शुद्धि का नाश करनेवाला है तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी उत्पत्ति हुआ करती है ॥ २२४-६ ॥

अथोत्पत्तिस्थानानि कथयति;—

लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु। भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ २२४-७ ॥

(लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु) स्त्रीणां लिङ्गे योनिप्रदेशे स्तनान्तरे नाभिप्रदेशे कक्षप्रदेशे च (भणिदो सुहुमुप्पादो) एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणितः। एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत् ? एवं न वक्तव्यं स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति। नचास्तित्वमात्रेण समानत्वं। एकस्य विषकणिकास्ति द्वितीयस्य च विषं सर्वतोऽस्ति किं समानत्वं भवति ? किन्तु पुरुषाणां प्रथमसंहननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसंयमोऽस्ति। (तासिं कह संजमो होदि) ततः कारणात्तासां कथं संयमो भवतीति ॥७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उनके शरीरमें किस तरह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पैदा होते हैं:-

गाथार्थः—(इत्थीणं) स्त्रियोंके (लिंगं हि य थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु) योनि स्थानमें, स्तनोंके भीतर, नाभिमें व बगलोंके स्थानोंमें (सुहुमुप्पादो) सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति (भणिदो) कही गई है (तासिं संजमो कह होदि) इसलिये उनके संयम किस तरह हो सकता है ?

टीकार्थः—यहां कोई यह शंका करे कि क्या ये पूर्वमें कहे हुए दोष पुरुषोंमें नहीं होते ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिलकुल नहीं होते किन्तु स्त्रियोंके भीतर वे दोष अधिकतासे होते हैं ? दोषोंके अस्तित्व मात्रसे ही स्त्री और पुरुषमें समानता नहीं है। पुरुषके यदि दोषरूपी विषकी एक कणिका मात्र है तब स्त्रीके दोषरूपी विष सर्वथा मौजूद है। समानता नहीं है। इसके सिवाय

पुरुषोंके पहला वज्रवृषभनाराचसंहनन भी होता है जिसके बलसे सर्व दोषोंका नाश करनेवाला मुक्तिके योग्य विशेष संयम हो सकता है ॥ २२४-७ ॥

अथ स्त्रीणां तद्भवमुक्तियोग्यां सकलकर्मनिर्जरां निषेधयति;—

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता । घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥२२४-८

(जदि दंसणेण सुद्धा) यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धाः (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता) एकादशाङ्गसूत्राध्ययनेनापि संयुक्ता (घोरं चरदि व चरियं) घोरं पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चारित्रं (इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा) तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भावः । किंच यथा प्रथमसंहननाभावात्स्त्री सप्तमनरकं न गच्छति तथा निर्वाणमपि । "पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा । सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति" इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणां कथं निर्वाणमिति चेत् ? तासां भावस्त्रीणां प्रथमसंहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति । द्रव्यस्त्रीणां प्रथमसंहननं नास्तीति कस्मिन्नागमे कथितमास्त इति चेत् ? तत्रोदाहरणगाथा—"अंतिमतिगसंघडणं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं । आदिमतिगसंघडणं णत्थिति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥१॥"

अथ मतं—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम् ? परिहारमाह तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम् । नचोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् । तथाचोक्तम्—मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्त्तते । किन्तु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति । सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधोः । किन्तु भवन्मते मल्लितीर्थंकरः स्त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम् । तीर्थंकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनाः पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टेः स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथं स्त्री भविष्यतीति । किं च यदि मल्लितीर्थंकरो वान्यः कोऽपि वा स्त्री भूत्वा निर्वाणं गतः तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः । यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्तः स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गे गता इति चेत् ? परिहारमाह—तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे । तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति । इदमत्र तात्पर्यं—स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परं प्रति विवादो न कर्तव्यः । कस्मात् ? विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥८॥

उत्थानिका—आगे और भी निषेध करते हैं कि स्त्रियोंके उसी भवसे मुक्तिमें जानेयोग्य सर्व कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती है।

गाथार्थः—(जदि दंसणेण सुद्धा) यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता) तथा शास्त्रके ज्ञानसे भी संयुक्त हो (घोरं चरियं चरदि) और घोर चारित्रको भी आचरण करै (इत्थिस्स णिज्जरा ण भणिदा) तो भी स्त्रीके सर्व कर्मकी निर्जरा नहीं कही गई है।

टीकार्थ,—यदि कोई स्त्री शुद्ध सम्यक्त्वकी धारी हो व ग्यारह अंग सूत्रोंका अध्ययन करनेवाली हो, पक्षका या मासका उपवास आदि घोर चारित्रको आचरण करनेवाली हो, तथापि उसके ऐसी निर्जरा नहीं हो सकती जिससे स्त्री उसी भवमें सर्व कर्मको क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर सके। इस कहनेका प्रयोजन

यह है कि जैसे प्रथम संहनन वज्रवृषभनाराचके न होनेके कारण सातवें नर्क नहीं जासकती तैसे ही वह निर्वाणको भी नहीं प्राप्त कर सकती है।

शंका:—जैसे पुरुष वेदके उदय वाले पुरुष क्षपक श्रेणीपर आरूढ होजाते हैं वैसे ही स्त्री व नपुंसक वेदके उदय वाले पुरुष भी ध्यानमें लीन हो क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर सिद्ध होजाते हैं, इस गाथामें भाव स्त्रियोंका निर्वाण होना क्यों कहा है ?

समाधानः—भाव स्त्रियोंके प्रथम संहनन होता है, द्रव्य-स्त्रीवेद नहीं होनेसे उनके उसी भवमें मोक्षके भावोंको रोकनेवाला तीव्र कामका वेग भी नहीं होता है। द्रव्य स्त्रियोंको प्रथम संहनन नहीं होता है क्योंकि आगममें ऐसा ही कहा है—

कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहनन नियमसे होते हैं तथा आदिके तीन नहीं होते हैं ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

शंका:—यदि स्त्रियोंको मोक्ष नहीं होती है तो आपके मतमें किस लिये आर्यिकाओंका महाव्रतोंका आरोपण किया गया है ?

समाधानः—यह उपचार कथन कुलकी व्यवस्थाके निमित्त कहा है। जो उपचार कथन है वह साक्षात नहीं होता है। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्निके समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टान्तमें अग्निका मात्र दृष्टांत है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियोंके महाव्रत जैसा आचरण है, महाव्रत नहीं, क्योंकि मुख्यका अभाव होनेपर भी प्रयोजन तथा निमित्तके वश उपचार प्रवर्तता है, ऐसा आर्षवाक्य है।

यदि स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष हो सकती हो तो सौ वर्षकी दीक्षित आर्यिका आज ही दीक्षा लेने वाले साधुको क्यों वन्दना करती है ? चाहिये तो यह था कि पहले यह नया दीक्षित साधु ही उसकी वन्दना करता, सो ऐसा नहीं है। तथा आपके मतमें मल्लि तीर्थंकरको स्त्री कहा है सो ठीक नहीं है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो पूर्वभवमें दर्शन-विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंको भाकरके तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवके स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं होता है फिर सम्यग्दृष्टी किस तरह स्त्री पर्यायमें पैदा होगा। तथा यदि ऐसा माना जायगा कि मल्लि तीर्थंकर व अन्य कोई भी स्त्री होकर फिर निर्वाणको गए तो स्त्री रूपकी प्रतिमाकी आराधना क्यों नहीं आप लोग करते हैं ?

शंका:—यदि स्त्रियोंमें पूर्व लिखित दोष होते हैं तो सीता, रुक्मिणी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि जिन दीक्षा लेकर विशेष तपश्चरण करके किस तरह सोलहवें स्वर्गमें गई हैं ?

समाधानः—उनके स्वर्ग जानेमें कोई दोष नहीं है। वे उस स्वर्गसे आकर पुरुष होकर मोक्ष जावेंगी, स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष नहीं है किन्तु अन्यभवमें उस आत्माको मोक्ष हो, इसमें कोई दोष नहीं है

यहां यह तात्पर्य है कि स्वयं वस्तु स्वरूपको ही समझना चाहिये केवल विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि विवादमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिस कारणसे शुद्धात्माकी भावना नष्ट हो जाती है

अथोपसंहाररूपेण स्थितपक्षं दर्शयति;—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं। कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥२२४-६॥

(तम्हा) यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् (तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं) तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिङ्गं चिन्हं लाञ्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टं कथितम् । (कुलरूववओजुत्ता समणीओ) लोकदुगुञ्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते । अन्तरङ्गनिर्विकारचित्तशुद्धिज्ञापकं बहिरङ्गनिर्विकारं रूपं भण्यते । शरीरभङ्गरहितं वा अतिबालवृद्धबुद्धिवैकल्यरहितं वयो भण्यते । तैः कुलरूपवयोभिर्युक्ताः कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति । काः श्रामण्यार्यिकाः । पुनरपि किंविशिष्टाः ? तस्समाचारा) तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहितसमाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचारा इति ॥ २२४-६ ॥

उत्थानिका—आगे इस विषयको संकोचते हुए स्त्रियोंकी व्रतोंमें क्या स्थिति है उसे समझाते हैं:-

गाथार्थः—(तम्हा) इसलिये (तासिं लिंगं) उन स्त्रियोंका चिन्ह या भेष (तं पडिरूवं) वस्त्र सहित (जिणेहिं) णिद्दिट्ठं) जिनेन्द्रोंने कहा है। (कुलरूववओजुत्ता) कुल, रूप, वय करके सहित (तस्समाचारा) जो उनके योग्य आचरण हैं उनको पालनेवाली (समणीओ) आर्जिकाएं होती हैं।

टीकार्थः—क्योंकि स्त्रियोंको उसी भवसे मोक्ष नहीं होती है इसलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवानने उन आर्यिकाओंका लक्षण या चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है। उनका कुल लौकिकमें घृणाके योग्य नहीं, ऐसा जिनदीक्षा योग्य कुल हो। उनका स्वरूप ऐसा हो कि जो बाहरमें भी विकारसे रहित हो तथा अंतरंगमें भी उनका चित्त निर्विकार व शुद्ध हो तथा उनकी वय या अवस्था ऐसी हो कि शरीरमें जीर्णपना या भंग न हुआ हो, न अति बाल हों, न वृद्ध हों, न बुद्धि-रहित मूर्ख हों, आचार शास्त्रमें उनके योग्य जो आचरण कहा गया है उसको पालनेवाली हों, ऐसी आर्यिकाएं होनी चाहिये ॥ २२४-६ ॥

अथेदानीं पुरुषाणां दीक्षाग्रहणे वर्णव्यवस्थां कथयति; —

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा । सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥२२४-१०॥

(वण्णेसु तीसु एक्को) वर्णेषु त्रिष्वेकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेकः (कल्लाणंगो) कल्याणाङ्ग आरोग्यः (तवोसहो वयसा) तपःसहः तपःक्षमः । केन ? अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा (सुमुहो) निर्विकाराभ्यन्तरपरमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापकं गमकं बहिरङ्गनिर्विकारं मुखं यस्य मुखावयवभङ्गरहितं वा स भवति सुमुखः (कुंछारहिदो) लोकमध्ये दुराचाराद्यपवादरहितः (लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो) एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि ॥ १० ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पुरुष दीक्षा लेते हैं। उनकी वर्णव्यवस्था क्या होती है।

गाथार्थः—(तीसु वण्णेसु एक्को) तीन वर्णोंमेंसे एक वर्णवाला (कल्लाणंगो) आरोग्य शरीर धारी, (तवोसहो) तपस्याको सहन करनेवाला, (वयसा सुमुहो) अवस्थासे सुन्दर मुखवाला तथा (कुंछारहिदो) अपवाद रहित (लिंगग्गहणे जोग्गो हवदि) पुरुष साधु भेषके लेने योग्य होता है।

टीकार्थः—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णोंमें से कोई एक वर्ण धारी हो, जिसका शरीर नीरोग हो, जो तप करनेको समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो, जिसका मुखका भाग भंग-दोष रहित निर्विकार हो तथा वह इस बातका बतलाने वाला हो कि इस साधुके भीतर निर्वि-

कार परम चैतन्य परिणति शुद्ध है तथा जिसका लोकमें दुराचारादिके कारणसे कोई अपवाद न हो ऐसा गुणधारी पुरुष हो जिनदीक्षा ग्रहणके योग्य होता है-तथा सत् शूद्र आदि भी यथायोग्य व्रतोंकी दीक्षा ले सकते हैं ॥ २२४--१० ॥

अथ निश्चयनयाभिप्रायः कथयति;—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो । सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो । २२४-११

(जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो) यो रत्नत्रयनाशः स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभावस्तस्य विनाशः स एव निश्चयेन नाशो भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्टः (सेसं भंगेण पुणो) शेषभंगेन पुनः शेषखण्डमुण्डवातवृषणादिभंगेन (ण होदि सल्लेहणाअरिहो) न भवति सल्लेखनार्हः लोकदुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति । कौपीनग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

एवं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिस्तृतीयं स्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे निश्चय नयका अभिप्राय कहते हैं-

गाथार्थः—(जो रयणत्तयणासो) जो रत्नत्रयका नाश है (सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो) उसको जिनेन्द्रोंने व्रतभंग कहा है (पुणो सेसं भंगे ण) तथा शरीरके भंग होनेपर पुरुष (सल्लेहणा अरिओ ण होदि (साधुके समाधिमरणके योग्य नहीं होता है ।

टीकार्थः—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप जो आत्माका निश्चल स्वभाव है उसका नाश सो ही निश्चयसे भंग है, ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है । तथा शरीरके अंगके भंग होनेपर अर्थात् मस्तक भंग, अंडकोष या लिंग भंग (वृषणभंग) वात-पीड़ित आदि शरीरकी अवस्था होनेपर कोई समाधिमरणके योग्य नहीं होता है अर्थात् लौकिकमें निरादरके भयसे निर्ग्रंथ भेषके योग्य नहीं होता है । यदि कोपीन मात्र भी ग्रहण करे तो साधुपदकी भावना करनेके योग्य होता है

भावार्थः—स्त्रियोंके तीन अन्तके ही संहनन होते हैं जिससे वह मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकती । १६ स्वर्गसे ऊपर तथा छठे नरकके नीचे स्त्रीका गमन नहीं होसकता है—न वह सातवें नरक जासकती, न ग्रैवेयक आदिमें जासकती है । श्वेतांबर लोग स्त्रियोंके मोक्षकी कल्पना करते हैं सो बात उनहीके शास्त्रोंसे विरोध रूप भासती है । कुछ श्वेतांबरी शास्त्रोंकी बातें—

श्वेताम्बर सप्ततिका नामा छठा कर्म ग्रन्थ गाथा ५७ की टीकामें निम्न गाथा आई है, जिसमें कि स्त्रीको चौदहवां पूर्व पढनेका निषेध है, सूत्रमें कहा है:—

तुच्छागारवबहुला चलिंदिआ दुब्बला अधीइए । इय अवसेसज्जयणा भू अऊडा अनोच्छीणं ॥ १ ।

अर्थ—भूतवाद अर्थात दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग स्त्रीको नहीं पढना चाहिये क्योंकि स्त्री जाति स्वभावसे तुच्छ (हलकी) होती है, गर्व अधिक करती है, विद्या झेल नहीं सकती, इंद्रियोंकी चंचलता स्त्रियोंमें विशेष होती है, स्त्रीकी बुद्धि दुर्बल होती है ।

श्वेताम्बर प्रवचनसारोद्धार-प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (छपा सं० १९६५ भीमसेन माणक जी बम्बई) पन्ने ५४४-४५ में है कि स्त्रियोंको नीचे लिखी बातें नहीं होसकती हैं—

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय चारणे पुव्वा । गणहर पुलाय आहारगं च न हु भवियमहिलाणं ॥५४०

अर्थ—अरहंत, चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्नश्रोता, विद्याचारणादि, पूर्वका ज्ञान, गणधर, पुलाकपना, आहारक शरीर ये दश लब्धियें भव्य स्त्रीके नहीं होती हैं।

श्वेताम्बर प्रवचन सारोद्धार प्रकरण रत्नाकर ४ था भागके षडशीति नामा चतुर्थ कर्मग्रंथ पत्र ३६८

चौथे गुणस्थानमें स्त्रीवेदके उदय होते हुए औदारिकमिश्र विक्रियिक मिश्र, कार्मण ये तीन योग-प्रायः नहीं होते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें नहीं उपजता है।

इस प्रकार स्त्री-निर्वाण निराकरणके व्याख्यानकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२२५॥

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम्।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च निर्दिष्टम् ॥२२५॥

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥२२५॥

अब, अपवादके भेद कौनसे हैं? सो कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[यथाजातरूपं लिंगं] यथाजातरूप (जन्मजात-नग्न) लिंग [जिनमार्गे] जिनमार्ग में [उपकरणं इति भणितम्] उपकरण कहा गया है, [गुरुवचनं] गुरुके वचन, [सूत्राध्ययनं च] सूत्रोंका अध्ययन [च] और [विनयः अपि] विनय भी [निर्दिष्टम्] उपकरण कहे गये हैं।

टीका:—इसमें जो अनिषिद्ध उपधिरूप अपवाद है, वह सभी वास्तवमें ऐसा ही है कि जो श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमें उपकार करनेवाला होनेसे उपकरणभूत है, दूसरा नहीं। उसके विशेष (भेद) इस प्रकार हैं:—(१) सर्व औपाधिक भावोंसे रहित स्वाभाविक यथा-

जातरूपत्वके कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं, ऐसी पुद्गलकाय (२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक, गुरुद्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व-द्योतक, अमोघ उपदेश रूप पौद्गलिक वचन तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादि-निधन शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेमें समर्थ श्रुतज्ञानके साधनभूत शब्दात्मक सूत्र पौद्-गलिक और (४) शुद्ध आत्मतत्त्वको व्यक्त करनेवाली जो दर्शनादिक पर्यायें, और उन रूप से परिणत पुरुषके प्रति विनय का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाला पौद्गलिक मन, ये पौद्ग-लिक काय वचन मन उपकरण हैं।

यहां यह तात्पर्य है कि कायकी भांति वचन और मन भी वस्तुधर्म नहीं है किन्तु उपकारक होनेसे उपकरण हैं ॥ २२५ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पूर्वोक्तस्योपकरणरूपापवादव्याख्यानस्य विशेषविवरणं करोति;—

(इदि भणिदं) कथितम् । किम् ? (उवयरणं) उपकरणं । क्व ? (जिणमग्गे) जिनोक्तमोक्षमार्गे । किमुपकरणम् ? (लिंगं) शरीराकारपुद्गलपिण्डरूपं द्रव्यलिङ्गम् । किं विशिष्टम् ? (जहजादरूवं) यथाजातरूपं यथाजातशब्देनात्र व्यवहारेण सङ्गपरित्यागयुक्तं निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मस्वरूपं (गुरुवयणं पि य) गुरुवचनमपि निर्विकारपरमचिज्ज्योतिःस्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधकं सारभूतं सिद्धोपदेशरूपं गुरूपदेशवचनं । न केवलं गुरूपदेशवचनं (सुत्तज्झयणं च) आदिमध्यान्तवर्जितजातिजरामरणरहितनिजात्मद्रव्यप्रकाशसूत्राध्ययनं च परमा-गमवाचनमित्यर्थः । (णिद्दिट्ठं) उपकरणरूपेण निर्दिष्टं कथितम् । (विणओ) स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चय-विनयः तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः । उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरणं भवतीति निर्दिष्टः । अनेन किमुक्तं भवति-निश्चयेन चतुर्विधमेवोपकरणम् । अन्यदुपकरणं व्यवहार इति ॥ २२५ ॥

उत्थानिका -आगे पूर्वमें कहे हुए उपकरणरूप अपवाद व्याख्यानका विशेष वर्णन करते हैं।

गाथार्थः—(जिणमग्गे) जिनधर्ममें (उवयरणं) उपकरण (जहजादरूवं लिंगं इदि भणिदं) यथाजातरूप नग्न भेष कहा है (गुरुवयणं पि य) तथा गुरुसे धर्मोपदेश सुनना (विणओ) गुरुओं आदिकी विनय करना (सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं) तथा शास्त्रोंका पढ़ना भी उपकरण कहा गया है।

टीकार्थः—जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए मोक्षमार्गमें उपकरण इस भांति कहे गए हैं ( ) व्यवहारनय से सर्व परिग्रहसे रहित शरीरके आकार पुद्गल पिंडरूप द्रव्यलिंग तथा निश्चयसे भीतर मनके शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माका स्वरूप [२] विकार रहित परम चैतन्य ज्योति स्वरूप परमात्मतत्त्वके बताने वाले सार और सिद्ध अवस्थाके उपदेशक गुरुके वचन [३] आदि मध्य अन्तसे रहित व जन्म जरा मरण से रहित निज आत्मद्रव्यके प्रकाश करनेवाले सूत्रोंका पढ़ना परमागमका वांचना [४] अपने ही निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि से निश्चय विनय और उसके आधाररूप पुरुषोंमें भक्तिका परिणाम सो व्यवहार विनय दोनों ही प्रकारके विनय परिणाम ऐसे चार उपकरण कहे गए हैं, यही वास्तवमें उपकारी हैं। अन्य कोई कमंडलादि व्यवहारमें उपकरण हैं ॥ २-५ ॥

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

इहलोकनिरापेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥२२६॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्त-स्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोक-निरपेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परि-च्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्धयर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्वोपलम्भप्रसिद्धयर्थंत-च्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः। इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत। शुद्धात्मतत्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहारः स्यात्।

अब, अनिषिद्ध शरीर मात्र उपधिके पालनकी विधिका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणः] मुनि [रहितकषायः] कषाय रहित होता हुआ [इहलोक निरपेक्षः] इस लोकमें विषयाभिलाषा रहित होता हुआ और [परस्मिन् लोके] परलोकमें [अप्रतिबद्धः] देवादि पर्यायकी इच्छा नहीं करता हुआ [युक्ताहारविहारः भवेत्] योग्य आहार विहारमें प्रवृत्ति करता है।

टीकाः—अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्वमें परिणत होनेसे श्रमण समस्त कर्म-पुद्गलके विपाकसे अत्यन्त विविक्त (भिन्न) स्वभावके द्वारा कषायरहित होनेसे, वर्तमान कालमें मनुष्यत्वके होते हुये भी स्वयं समस्त मनुष्य व्यवहारसे उदासीन होनेके कारण इस लोकके प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) है, तथा भविष्यमें होनेवाले देवादिके भोगोंकी तृष्णासे रहित होनेके कारण परलोकके प्रति अप्रतिबद्ध (वांछासे रहित) है, इसलिये, जैसे घटपटादि पदार्थोंको देखनेके लिये ही दीपकमें तेल डाला जाता है और बत्ती आदि ठीक करते हैं, उसी प्रकार श्रमण शुद्धात्माको प्राप्त करनेके लिये ही उस शरीरको खिलाता और चलाता है, इस-लिये युक्ताहारविहारी होता है।

यहां तात्पर्य यह है कि:—श्रमण कषाय-रहित है, इसलिये वह वर्तमान मनुष्य शरीरके

अनुरागसे या दिव्य शरीरके अर्थात भावी देवशरीरके अनुरागसे आहार विहारमें अयुक्तरूपसे प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधनभूत श्रामण्यपर्यायके पालनके लिये ही मात्र योग्य आहार विहारमें प्रवृत्ति करता है।

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ युक्ताहारविहारलक्षणतपोधनस्य स्वरूपमाख्याति;—

(इहलोगणिरावेक्खो) इहलोकनिरापेक्षः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसंवित्तिविनाशकख्यातिपूजालाभरूपेहलोककांक्षारहितः (अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि) अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवंविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति (जुत्ताहारविहारो हवे) युक्ताहारविहारो भवेत् । स कः । (समणो) श्रमणः । पुनरपि कथंभूतः । (रहिदकसाओ) निःकषायस्वरूपसंवित्त्यवष्टंभबलेन रहितकषायश्चेति । अयमत्र भावार्थ —योसौ इहलोकपरलोकनिरपेक्षत्वेन निःकषायत्वेन च प्रदीपस्थानीयशरीरे तैलस्थानीयं ग्रासमात्रं दत्वा घटपटादिप्रकाश्यपदार्थस्थानीयं निजपरमात्मपदार्थमेव निरीक्षते स एव युक्ताहारविहारो भवति पुनरन्यः शरीरपोषणनिरत इति ॥ २२६ ॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहार विहारको करते हुए तपोधनका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थः—(इहलोगणिरावेक्खो) जो इस लोककी इच्छासे रहित है, (परम्मि लोयम्मि अप्पडिबद्धो) परलोक सम्बन्धी अभिलाषासे रहित है, (रहिदकसाओ) व क्रोधादि कषायोंसे रहित है ऐसा (समणो) साधु (जुत्ताहारविहारो) योग्य आहार विहार करनेवाला होता है।

टीकार्थः—जो साधु टांकीसे उकेरेके समान अमिट ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप निज आत्माके अनुभवके नाश करनेवाली इस लोकमें प्रसिद्धि, पूजा व लाभरूप अभिलाषाओंसे शून्य है, परलोकमें तपश्चरण करनेसे देवपद व उसके साथ स्त्री, देव परिवार व भोग प्राप्त होते हैं ऐसी इच्छासे रहित है, तथा कषाय रहित आत्मस्वरूपके अनुभवकी थिरताके बलसे कषायरहित वीतरागी है वही योग्य आहार व विहारको करता है। यहां यह भाव है कि जो साधु इस लोक व परलोककी इच्छा छोड़कर व क्रोध लोभादिके वश न होकर इस शरीरको प्रदीप समान जानता है तथा इस शरीर दीपकके लिये आवश्यक तैलरूप ग्रासमात्रको देता है जिससे शरीररूपी दीपक बुझ न जावे। तथा जैसे दीपकसे घटपट आदि पदार्थोंको देखते हैं वैसे इस शरीररूपी दीपककी सहायतासे वह साधु अपने परमात्म-पदार्थको ही देखता या अनुभव करता है वही साधु योग्य आहार विहार करनेवाला होता है परन्तु जो शरीरको पुष्ट करनेके निमित्त भोजन करता है वह युक्ताहार-विहारी नहीं है ॥ २२६ ॥

अथ पञ्चदशप्रमादैस्तपोधनः प्रमत्तो भवतीति प्रतिपादयति;—

कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं । समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ २२६-१॥

(हवदि) क्रोधादिपंचदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युतः सन् भवति । स कः कर्ता (समणो) सुखदुःखादिसमचित्तः श्रमणः । किंविशिष्टो भवति । (पमत्तो) प्रमत्तः प्रमादी । किं कृत्वा । (कोहादि

हि चउविहि चतुर्भिरपि क्रोधादिभिः (विकहाहि) स्त्रीभक्तचौरराजकथाभिः (तहिंदियाणमत्थेहिं) तथैव पञ्चेन्द्रियाणामर्थैः स्पर्शादिविषयैः । पुनरपि किंरूपः । (उवजुत्तो) उपयुक्तः परिणतः । काभ्याम् ? (णेहणिद्दाहिं) स्नेहनिद्राभ्यामिति ॥२२६-१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पंद्रह प्रमाद हैं इनसे साधु प्रमादी होता है ।

गाथार्थः—(चउविहि कोहादिएहि विकहाहिं) चार प्रकार क्रोध आदि कषायसे व चार प्रकार विकथा-स्त्री, भोजन, चोर, राजा कथासे (तहिंदियाणमत्थेहि) तथा पांच इंद्रियोंके विषयोंसे (णेहणिद्दाहिं उवजुत्तो) स्नेह व निद्रासे उपयुक्त होकर (समणो) साधु (पमत्तो हवदि) प्रमादी होता है ।

टीकार्थः—सुखदुःख आदिमें समान चित्त रखनेवाला साधु उपर्युक्त क्रोधादि पंद्रह प्रमादसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्वकी भावनासे गिरा हुआ पन्द्रह प्रकार प्रमादोंके कारण प्रमादी हो जाता है ॥ २२६--१ ॥

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः ।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥२२७॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात् । तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्धयमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् । इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः, तत्प्रतिषिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति । एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥२२७॥

अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यस्य आत्मा अनेषणः] जिसका आत्मा भोजनकी इच्छासे रहित है [तत् अपि तपः] वही तप है, (और) [तत्प्रत्येषकाः] उसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले [श्रमणाः] श्रमणोंके [अन्यत् भैक्षम्] अन्न आदिकी भिक्षा [अनेषणम्] एषणा दोषसे रहित होती है, [अथ] इसलिये [ते श्रमणाः] वे श्रमण [अनाहाराः] अनाहारी हैं।

टीकाः—स्वयं अनशनस्वभाववाला होनेसे और एषणादोषशून्यभिक्षावाला होनेसे,

युक्ताहारी मुनि साक्षात् अनाहारी ही है। यथा-सदा ही समस्त पुद्गलाहारसे शून्य आत्मा को जानने वालेके समस्त अशनतृष्णारहित होनेसे जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही अनशन नामक अंतरंग तप है, क्योंकि वह बलवान है। यह समझकर जो श्रमण आत्माको स्वयं अनशनस्वभाव भाते हैं और उसकी सिद्धिके लिये एषणादोषशून्य अन्न आदिकी भिक्षा आचरते हैं, वे आहार करते हुए भी अनाहारी हैं क्योंकि युक्ताहारित्वके कारण उनके स्वभाव तथा परभावके निमित्तसे बन्ध नहीं होता, इसलिये साक्षात् अनाहारी ही हैं।

इसी प्रकार स्वयं अविहारस्वभाव वाला होनेसे और ईर्या समितिसे शुद्ध विहारवाला होनेसे युक्तविहारी मुनि साक्षात् अविहारी ही है। इसप्रकार गाथामें नहीं कहने पर भी समझना चाहिये ॥ २२७ ॥

श्री जयसेनाचार्य–कृत टीका

अथ युक्ताहारविहारतपोधनस्वरूपमुपदिशति;—

*(जस्स) यस्य मुनेः सम्बन्धी (अप्पा) आत्मा । किंविशिष्टः ? (अणेसणं) स्वकीयशुद्धात्मतत्त्वभावनो-*त्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते एषणमाहाराकांक्षा यस्य स भवत्यनेषणः । (तंपि तवो) तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपमुपवासलक्षणं तपः (तं पडिच्छगा समणा) तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः तन्निश्चयोपवासलक्षणं तपः प्रतीच्छन्ति तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः । पुनरपि किं येषां । (अण्णं) निजपरमात्मतत्त्वादन्यद्भिन्नं हेयं । किं । (अणेसणं) अन्नस्याहारस्यैषणं वाञ्छानेषणम् । कथंभूतं ? (भिक्खं) भिक्षायां भवं भैक्ष्यं (अह) अथ अहो (ते समणा अणाहारा) ते अनशनादिगुणविशिष्टाः श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति । तथैव च निःक्रियपरमात्मानं ये भावयन्ति पञ्चसमितिसहिता विहरन्ति च विहारा भवन्तीत्यर्थः ॥ २२७ ॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहार विहारी साधुका स्वरूप कहते हैं।

गाथार्थः—(जस्स) जिस साधुका (अप्पा) आत्मा [अणेसणं] भोजनकी इच्छासे रहित है [तंपि तओ] सो ही तप है [तप्पडिच्छगा] उस तपको चाहने वाले [समणा] मुनि [अणेसणं अण्णं भिक्खं] एषणादोष रहित निर्दोष अन्नको भिक्षाको लेते हैं [अध ते समणा अणाहारा] तो भी वे साधु आहार लेनेवाले नहीं हैं।

टीकार्थः—जिस मुनिकी आत्मामें अपने ही शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके भोजनसे तृप्ति होरही है वह मुनि लौकिक भोजनकी इच्छा नहीं करता है। यही उस साधुका निश्चयसे आहार रहित आत्माकी भावनारूप उपवास नामका तप है। इसी निश्चय उपवासरूपी तपकी इच्छा करनेवाले साधु अपने परमात्मतत्वसे भिन्न त्यागने योग्य अन्य अन्नकी निर्दोष भिक्षाको लेते हैं तो भी वे अनशन आदि गुणोंसे भूषित साधुगण आहारका ग्रहण करते हुए भी अनाहार होते हैं। तैसे ही जो साधु क्रिया रहित परमात्माका भावना करते हैं वे पांच समितियोंको पालते हुए विहार करते हैं तो भी वे विहार नहीं करते हैं ॥ २२७ ॥

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्धयतीत्युपदिशति—

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्ति ॥२२८॥

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम्। २२८॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात्। ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्धयेत्। यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात्। तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् ॥२२८॥

अथ, (श्रमण के) युक्ताहारित्व कैसे सिद्ध होता है, सो उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[केवलदेहः श्रमणः] केवलदेही-जिसके देहमात्रपरिग्रह विद्यमान है, ऐसे श्रमणने [देहे] शरीरको भी [न मम इति] 'मेरा नहीं है' यह समझकर [रहितपरिकर्मा शरीर संस्कार नहीं करते हुये, [आत्मनः] अपने आत्माकी [शक्ति] शक्ति को [अनिगूह्य] नहीं छिपाते हुए [तपसा] तपमें [तं] उस शरीरको [आयुक्तवान्] लगादेते हैं

टीकाः—श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमें केवल देहमात्र उपधिको श्रमण जबरदस्ती निषेध नहीं करता इसलिये वह केवल देहवान् है, ऐसा देहवान् होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा २२४) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वरके अभिप्रायका ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तवमें मेरा नहीं है इसलिये यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु वहउपेक्षा योग्य ही है, इस प्रकार समस्त शारीरिक संस्कारको छोड़नेसे परिकर्मरहित है। इसलिये उसके देहके ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहणका अभाव होनेसे युक्ताहारित्व सिद्ध होता है। और प्रकारान्तरसे उसने समस्त ही आत्मशक्तिको प्रगट करके, अन्तिम (गाथा २२७) सूत्र द्वारा कथित अनशनस्वभावलक्षण तपमें उस शरीरको उद्यमसे लगाया इसलिये मुनिपनेके नाशक आहारग्रहणके परिणामका अभाव होनेसे उसका आहार योगी का आहार है, इसलिये उसके युक्ताहारित्व सिद्ध होता है ॥ २२८ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ तदेवानाहारकत्वं प्रकारान्तरेण प्राह;—

(केवलदेहो) केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति । स कः कर्त्ता । (समणो) निन्दाप्रशंसादिसमचित्तः श्रमणः । तर्हि किं देहे ममत्वं भविष्यति ? नैवं (देहेवि ममत्तरहिदपरिकम्मो) देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा ।

" ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो । आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ।।"

इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहितः (आजुत्तो तं तवसा) आयुक्तवान् आयोजितवांस्तं देहं तपसा । किं कृत्वा । (अणिगूहिय) अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा । काम् ? (अप्पणो सत्तिं) आत्मनः शक्तिमिति । अनेन किमुक्तं भवति-यः कोऽपि देहाच्छेषपरिग्रहं त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव तं देहं तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति ॥२२८॥

उत्थानिका—आगे इसी अनाहारकपनेको दूसरी रीतिसे कहते हैं—

गाथार्थः— (समणो) साधु (केवलदेहो) केवल मात्र शरीरधारी हैं-(देहे वि ममेत्ति रहिदपरिकम्मो) देहमें भी ममता रहित क्रिया करनेवाले हैं । इसमें उन्होंने (अप्पणो सत्तिं) अपनी शक्तिको (अणिगूहिय) न छिपाकर (तवसा) तपसे (तं) उस शरीरको (आउत्तो) योजित किया है अर्थात् तप में अपने तनको लगा दिया है ।

टीकार्थः—निन्दा, प्रशंसा आदिमें समान चित्तके धारी साधु अन्य परिग्रहको त्यागकर केवल मात्र शरीरके धारी हैं तौ भी क्या वे देहमें ममता करेंगे, कभी नहीं-वे देहमें भी ममता रहित होकर देहकी क्रिया करते हैं । साधुओंकी यह भावना रहती है. जैसा इस गाथामें है ।

मैं ममताको त्यागता हूँ निर्ममत्व भावमें ठहरता हूँ, मेरेको अपना आत्मा ही आलम्बन है और सर्वको मैं त्यागता हूँ ।

शरीरसे ममता न रखते हुए वे साधु अपने आत्मवीर्यको न छिपाकर इस नाशवंत शरीरको तपसाधनमें लगा देते हैं । यहां यह कहा गया है कि जो कोई देहके सिवाय सर्व वस्त्रादि परिग्रहका त्याग-कर शरीरमें भी ममत्व नहीं रखता है तथा देहको तपमें लगाता है वही नियमसे युक्ताहार विहार करने वाला है ॥ २२८ ॥

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२२९॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षः न मधुमांसः ॥ २२९ ॥

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात् । अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । शरीरानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् . प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः ।

प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य। यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात्। अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य। भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्यत्वात्। अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य। दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात्। अदिवसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य। अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात्। रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्धया प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः। अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य। अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वात्। समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः। एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य। मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः॥ २२९॥

अब युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[एकः] चौबीस घंटेमें एक बार [अप्रतिपूर्णोदरः] ऊनोदर [यथालब्धः] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [भैक्षाचरणेन] भिक्षाचरणसे, [दिवा] दिनमें [न रसापेक्षः] रसकी अपेक्षासे रहित, और [न मधुमांसः] मधु मांस रहित [सः] वह आहार [खलु] वास्तवमें [युक्तः] युक्त आहार होता है।

टीका:—एकबार आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उतनेसे ही मुनि पर्यायका सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है शरीरमें अनुरागके कारण अनेकबार आहारका सेवन किया जाता है और उससे अत्यन्त हिंसा होती है इसलिये युक्त (योग्य) नहीं है, और शरीरको पोषण करनेके लिये आहार भी अयोग्य है।

अपूर्णोदर[1] आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वह मुनित्वका नाश नहीं करता पूर्णोदर आहार मुनिपनेका नाश करनेसे कथंचित् हिंसायतन होता हुआ योग्य नहीं है पूर्णोदर आहार करने वाला मुनिपनेका नाश करता है, इसलिये वह आहार योगीका आहार नहीं है।

यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही (आहार) विशेष रुचिरूप अनुरागसे शून्य है। अयथालब्ध[2] आहार विशेष रुचिरूप अनुरागसे सेवन किया जाता है, इसलिये

१—अपूर्णोदर पूरा पेट न भरकर, ऊनोदर। २—अयथालब्ध-जैसा मिल जाय वैसा नहीं, किन्तु अपनी पसंदगी का, स्वेच्छालब्ध।

आत्यंतिक हिंसायतन होनेसे योग्य नहीं है, और अयथालब्ध आहारका सेवन करनेवाला विशेष रुचिरूप अनुरागके द्वारा सेवन करने वाला होनेसे, उसका वह आहार योगीका आहार नहीं है।

भिक्षाचरणसे आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है। अभिक्षाचरणसे (भिक्षाचरण रहित) आहारमें आरम्भ सम्भव होनेसे हिंसायतनत्व प्रसिद्ध है, अतः वह आहार युक्त योग्य नहीं है, और ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त (प्रगट) होने से वह आहार युक्त नहीं है।

दिनका आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही भलीभांति देखा जा सकता है। अदिवस (रात्रिमें) आहार भलीभांति नहीं देखा जा सकता इसलिये उसके हिंसायतनत्व अनिवार्य होनेसे वह आहार योग्य नहीं है, और ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे वह आहार युक्त नहीं है।

रसकी अपेक्षासे रहित आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धिसे सुन्दर है। रसकी अपेक्षावाला आहार अन्तरंग अशुद्धिके द्वारा आत्यंतिक हिसायतन किया जाता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है, और उसका सेवन करनेवाला अन्तरंग अशुद्धि-पूर्वक सेवन करता है इसलिये वह आहार योगीका नहीं है।

मधु मांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसके ही हिंसायतनत्व का अभाव है। मधु-मांस रहित (सहित) आहार हिंसायतन होनेसे योग्य नहीं है, और ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे वह आहार योगीका नहीं है। यहां मधु-मांस हिंसायतनका उपलक्षण है इसलिये समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है ॥ २२९ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ युक्ताहारत्वं विस्तरेणाख्याति;—

(एक्कं खलु तं भत्तं) एककाल एव खलु हि स्फुटं स भक्त आहारो युक्ताहारः कस्मादेकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसम्भवात्। स च कथंभूतः? (अप्पडिपुण्णोदरं) यथाशक्त्या न्यूनोदरः (जहालद्धं) यथालब्धो न च स्वेच्छालब्धः (चरणं भिक्खेण) भिक्षाचरणेनैव लब्धो न च स्वपाकेन (दिवा) दिवैव न च रात्रौ। (ण रसावेक्खं) रसापेक्षो न भवति किन्तु सरसविरसादौ समचित्तः (ण मधुमंसं) अमधुमांसः अमधुमांस इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहाररहित इति। एतावता किमुक्तं भवति? एवंविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनानां युक्ताहारः। कस्मादिति चेत्? चिदानन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता

रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चयनयेनाहिंसा तत्साधकरूपा बहिरङ्गपरजीवप्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे सम्भवति। यस्तु तद्विपरीतः स युक्ताहारो न भवति। कस्मादिति चेत् ? तद्विलक्षणभूताया द्रव्यरूपाया हिंसाया सद्भावादिति ॥२२६॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहारका स्वरूप और भी विस्तारसे कहते हैं—

गाथार्थः—(खलु) वास्तवमें (तं भत्तं एक्कं) उस भोजनको एक ही बार (अप्पडिपुण्णोदरं) पूर्ण पेट न भरके ऊनोदर (जधा लद्धं) जैसा मिलगया वैसा (भिक्खेण चरणं) भिक्षाके द्वारा लेना सो योग्य आहार होता है (रसावेक्खं ण) उसमेंसे रसोंकी इच्छा नहीं होनी चाहिये (मधुमंसं ण) तथा वह मधु व मांस से रहित होना चाहिये।

टीकार्थः—साधु महाराज दिनमें एक बार ही भोजन लेते हैं वही उनका योग्य आहार है इससे ही विकल्प-रहित समाधिमें सहकारी कारणरूप शरीरकी स्थिति रहनी संभव है। एकबार भी वे शक्ति अनुसार भूखसे कम लेते हैं जैसा मिलगया वैसा लेत हैं उसके लिये चाह नहीं करते। भिक्षाद्वारा ही लेते हैं, अपने आप नहीं बनाते। दिनमें लेते हैं, रात्रिमें कभी नहीं लेते। भोजन सरस है या रस-रहित है, ऐसा विकल्प न करके समभाव रखते हैं। मधु मांम रहित व उपलक्षणसे आचार शास्त्रमें कही हुई पिंड शुद्धिके क्रमसे समस्त अयोग्य आहारको वर्जन करते हुए लेते हैं

इससे यह बात कही गई कि इन गुणों करके सहित जा आहार है वही तपस्वियोंका योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहार लेनेसे ही दो प्रकार हिंसाका त्याग होसकता है। चिदानन्द एक लक्षणरूप निश्चय प्राणकी रक्षाभूत रागादि विकल्पोंकी रक्षाभून, उपाधि न होने देना सो निश्चय अहिंसा है तथा इसकी साधनरूप बाहरमें परजीवोंके प्राणोंको कष्ट देनेसे निवृत्तिरूप रहना सो द्रव्य अहिंसा है, दोनों ही अहिंसा की प्रतिपालना योग्य-आहारमे होती है और जो इसके विरुद्ध आहार हो तो वह योग्य आहार न होगा, क्योंकि उसमें द्रव्य अहिंसासे विलक्षण द्रव्यहिंसाका सद्भाव हो जायगा ॥ २२६ ॥

अथ विशेषेण मांसदूषणं कथयति;—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। संत्ततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं ॥२२६-१॥

जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा। सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं २२६-२

भणित इत्यध्याहारः। स कः। (उववादो) व्यवहारनयेनोत्पादः। किंविशिष्टः (संत्तत्तियं) सान्ततिको निरन्तरः। केषां सम्बन्धी। (णिगोदाणं) निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावानामनादिनिधनत्वेनोत्पादव्ययरहितानामपि निगोदजीवानाम्। पुनरपि कथंभूतानाम् ? (तज्जादीणं) तद्वर्णतद्गन्धतद्रसतत्स्पर्शत्वेन तज्जातीनां मांसजातीनाम्। कास्वधिकरणभूतासु ? (मंसपेसीसु) मांसपेशीषु मांसखण्डेषु। कथंभूतासु। (पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु) पक्वासु चामासु च विपच्यमानास्विति प्रथमगाथा। (जो पक्कमपक्कं वा) यः कर्त्ता पक्वामपक्वां वा (पेसीं) पेशीं खण्डं। कस्य ? (मंसस्स) मांसस्य (खादि) निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखसुधाहारमलभमानः सन् खादति भक्षति (पासदि वा) स्पर्शति वा (सो किल णिहणदि पिंडं) स कर्त्ता किल लोकोक्त्या परमागमोक्त्या वा निहन्ति पिण्डम्।

केषाम् ? (जीवाणं) जीवानां । कतिसंख्योपेतानाम् ? (अणेगकोडीणं) अनेककोटीनामिति । अत्रेदमुक्तं भवति-शेषकन्दमूलाद्याहाराः केचनानन्तकाया अप्यग्निपक्वाः सन्तः प्रासुका भवन्ति मांसं पुनरनन्तकायं भवति तथैव चाग्निपक्वमपक्वं पच्यमानं वा प्रासुकं न भवति । तेन कारणेनाभोज्यमभक्षणीयमिति ॥ २२९-१,-२२९-२॥

उत्थानिका—प्रकरण पाकर आचार्य मांसके दूषण बताते हैं—

गाथार्थ—(पक्केसु अ) पके हुए व (आमेसु अ) कच्चे तथा (विपच्चमाणासु) पकते हुए (मांसपेसीसु) मांसके खंडोंमें (तज्जादीणं) उस मांसकी जातिवाले (णिगोदाणं) निगोद अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंका (संतत्तियमुववादो) निरंतर जन्म होता है (जो) जो कोई (पक्कं व अपक्कं मंसरस पेसी) पक्की, या कच्ची मांसकी डलीको (खादि) खाता है (वा फासदि) अथवा स्पर्श करता है (सो) वह (अणेगकोडीणं) अनेक करोड़ (जीवाणं) जीवोंके (पिंडं) समूहको (किल) निश्चयसे (णिहणदि) नाश करता है ।

टीकार्थः—मांसपेशीमें जो कच्ची, पक्की व पकती हुई हो हरसमय उस मांसकी रंगत, गंध, रस, स्पर्शके धारी अनेक निगोद जीव-जो निश्चयसे अपने शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारी हैं-अनादि व अनंत कालमें भी अपने स्वभावसे न उपजते न विनशते हैं, ऐसे जंतु व्यवहारनयसे उत्पन्न होते रहते हैं । जो कोई ऐसे कच्चे या पक्के मांस खंडको अपने शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतको न भोगता हुआ खालेता है अथवा स्पर्श भी करता है वह निश्चयसे लोकोंके कथनसे व परमागममें कहे प्रमाण करोडों जीवोंके समूहको नाश करता है ॥ २२९-१, २२९-२ ॥

अथ पाणिगताहारः प्रासुकोऽप्यन्यस्मै न दातव्य इत्युपदिशति;—

अप्पडिकुट्ठं [1]पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स दत्ता भोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥२२९-३॥

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स) अप्रतिकुष्ट आगमाविरुद्ध आहारः पाणिगतो हस्तगतो नैव देयो न दातव्योऽन्यस्मै (दत्ता भोत्तुमजोग्गं) दत्वा पश्चाद्भोक्तुमयोग्यं (भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो) कथंचित् भुक्तो वा भोजनं कृतवान् तर्हि प्रतिकुष्ठो भवति प्रायश्चित्तयोग्यो भवतीति । अयमत्र भावः—हस्तगताहारं योऽसावन्यस्मै न ददाति तस्य निर्मोहात्मतत्त्वभावनारूपं निर्मोहत्वं ज्ञायत इति ॥२२९-३॥

उत्थानिका—आगे इस बातको कहते हैं कि हाथपर आया हुआ आहार जो प्रासुक हो उसे दूसरोंको न देना चाहिये ।

गाथार्थः—(अप्रतिकुष्टं पिंडं) आगमसे जो आहार विरुद्ध न हो (पाणिगतं) सो हाथपर आजावे उस (अण्णस्स णेव देयम्) दूसरेको देना नहीं चाहिये । (दत्ता भोत्तुमजोग्गं) दे करके फिर भोजन करनेके योग्य नहीं होता है (भुत्तो वा पडिकुट्ठो होदि) यदि कदाचित् उसको भोग ले तो प्रायश्चित्तके योग्य होता है ।

टीकार्थः—यहां यह भाव है-कि जो हाथमें आया हुआ शुद्ध आहार दूसरेको नहीं देता है किन्तु खालेता है उसके मोह-रहित आत्मतत्त्वकी भावनारूप मोहरहितपना जाना जाता है ॥ २२९-३ ॥

१-'अप्पडिकुट्ठाहारं' इत्यपि पाठः ।

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥२३०॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा ।
चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति ॥२३०॥

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणकी सुस्थितताका उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[बालः वा] बाल [वृद्धः वा] वृद्ध [श्रमाभिहतः वा] श्रांत[1] [पुनः ग्लानः वा] या ग्लान[2] श्रमण [मूलच्छेदः] मूलका छेद [यथा न भवति] जैसे न हो उस प्रकारसे [स्वयोग्यां] अपने योग्य [चर्यां चरतु] आचरण आचरो ।

टीकार्थः—बाल, वृद्ध, श्रमित (थका हुआ) या ग्लान रोगी मुनिको भी संयमका जो कि शुद्धात्मतत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार संयत-अपने योग्य अति कर्कश (कठोर) आचरण ही आचरना, इस प्रकार उत्सर्ग है ।

बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान मुनिको शरीरका-जो कि शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत संयमका

१—श्रान्त-श्रमित, थका हुआ । २—ग्लान-व्याधिग्रस्त, रोगी, दुर्बल ।

साधन होनेसे मूलभूत है उसका-छेद जैसे न हो उस प्रकार से बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानको अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना, इस प्रकार अपवाद है।

बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानके, संयमका जो कि शुद्धात्मतत्वका साधन होनेसे मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकारका संयत ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुये, शरीरका जो कि शुद्धात्मतत्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है, भी छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानको अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना। इस प्रकार अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है।

बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानको शरीरका, जो कि शुद्धात्मतत्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकारसे बाल-वृद्ध श्रान्त-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुये, संयमका, जो कि शुद्धात्मतत्वका साधन होनेसे मूलभूत है, भी छेद जैसे न हो, उस प्रकारसे संयत ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना, इसप्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है।

इससे यह कहा है कि सर्वथा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरणकी सुस्थितता करनी चाहिये ॥ २३० ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ निश्चयव्यवहारसंज्ञयोरुत्सर्गापवादयोः कथंचित्परस्परसापेक्षभावं स्थापयन् चारित्रस्य रक्षां दर्शयति;—

(चरदि) चरत्याचरति । किं । (चरियं) चारित्रमनुष्ठानम् । कथंभूतं । (सजोग्गं) स्वयोग्यमवस्थायोग्यम् । कथं यथाभवति । (मूलच्छेदो जधा ण हवदि) मूलच्छेदो यथा न भवति । स कः कर्त्ता चरति । (बालो वा वुड्ढो वा समभिहुदो वा पुणो गिलाणो वा) बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतः पीडितः श्रमाभिहतो वा ग्लानो व्याधिस्थो वेति । तद्यथा—उत्सर्गापवादलक्षणं कथ्यते तावत्स शुद्धात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो 'निश्चयनयः' सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो 'व्यवहारनय' एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः । तत्र शुद्धात्मभावनानिमित्तं सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गे दुर्द्धरानुष्ठाने प्रवर्तमानस्तपोधनः शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथा छेदो विनाशो न भवति तथा किमपि प्रासुकाहारादिकं गृह्णातीत्यपवादसापेक्ष उत्सर्गो भण्यते । यदा पुनरपवादलक्षणेऽपहृतसंयमे प्रवर्तते तथापि शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसंयमस्य संयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथोच्छेदो विनाशो न भवति तथोत्सर्गसापेक्षत्वेन प्रवर्तते । तथा प्रवर्तत इति कोऽर्थः ? यथा संयमविराधना न भवति तथेत्युत्सर्गसापेक्षोऽपवाद इत्यभिप्रायः ॥२३०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उत्सर्ग निश्चय है तथा अपवाद व्यवहार है। इन दोनोंमें किसी अपेक्षासे परस्पर सहकारीपना है, ऐसा स्थापित करते हुए चारित्रकी रक्षा करनी चाहिये, ऐसा दिखाते हैं।

गाथार्थः—(बालो वा) बालक मुनि हो अथवा (वुड्ढो वा) बुड्ढा हो या (समभिहदो) थक गया हो (पुणो गिलाणो वा) अथवा रोगी हो ऐसा मुनि (जधा) जिस तरह (मूलच्छेदं) मूल संयमका भंग (ण हवदि) न होवे (सजोग्गं) वैसे अपनी शक्तिके योग्य (चर्या) आचारको (चरइ) पालो

टीकार्थः—प्रथम ही उत्सर्ग और अपवादका लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्मासे अन्य सर्व भीतरी व बाहरी परिग्रहका त्याग देना सो उत्सर्ग है, इसीको निश्चयनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम सर्व-परित्याग है, परमोपेक्षा संयम है, वीतराग चारित्र है, शुद्धोपयोग है-इन सबका एक ही भाव है। इस निश्चय मार्गमें जो ठहरनेको समर्थ न हो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके सहकारी कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है। इसीको व्यवहारनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम एक देश परित्याग है, अपहृत संयम है, सरागचारित्र है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहां शुद्धात्माकी भावनाके निमित्त सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग मार्गके कठिन आचरणमें वर्तन करता हुआ साधु शुद्धात्मतत्वके साधकरूपसे जो मूल संयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह नाश नहीं होवे उस तरह कुछ भी प्रासुक आहार आदिको ग्रहण कर लेता है सो अपवादकी अपेक्षा या सहायता-सहित उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। और जब वह मुनि अपवाद रूप अपहृत संयमके मार्गमें वर्तता है तब भी शुद्धात्मतत्वका साधकरूपसे जो मूल संयम है उसका तथा मूल संयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह विनाश न हो उस तरह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित वर्तता है-अर्थात् इस तरह वर्तन करता है जिसतरह संयमका नाश न हो। यह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवाद मार्ग है ॥ २३० ॥

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थ्यमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ २३१ ॥

आहारे वा विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम्।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ॥ २३१ ॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः। बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते। अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण-प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्त-

समस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न, श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः ॥ २३१ ॥

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरैरुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वतश्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिं ॥१५॥

—इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम् ।

अब, उत्सर्ग और अपवादके विरोध (अमैत्री) से आचरणकी स्थिति नहीं होती है, यह उपदेश करते हैंः—

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [आहारे वा विहारे] आहार या विहारमें [देशं] देश, [कालं] काल, [श्रमं] श्रम, [क्षमां] क्षमता तथा [उपधिं] उपधि, [तान् ज्ञात्वा] इनको जानकर [वर्तते] प्रवर्ते [सः अल्पलेपः] तो वह थोडे कर्मोंसे बंधता है।

टीकाः—क्षमता तथा ग्लानता का हेतु उपवास है और बाल तथा बुढ़ापा उपधिरूप शरीर के आश्रित हैं। इसलिये यहां बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ही लिये गये हैं।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत ग्लानत्वके अनुरोधसे (कारणसे) आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प लेप होता ही है, अर्थात् लेपका सर्वथा अभाव नहीं होता, इसलिये उत्सर्ग अच्छा है।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे आहार-विहारमें प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणमे प्रवृत्त होनेसे अल्प ही लेप होता है। अर्थात् विशेष लेप नहीं होता, इस लिये अपवाद अच्छा है।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे (कारण) जो-आहार विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेपके भयसे उसमें प्रवृत्ति न करे तो अर्थात् अपवादके आश्रय से होनेवाले अल्पबंधके भयसे उत्सर्गका हठ करके अपवादमें प्रवृत्त न हो तो अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रमसे शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृतका समूह वमन कर डाला है उसे तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेपको न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो अर्थात् अपवादसे होने वाले अल्पबन्धके प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येयको चूककर अपवादमें स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करे तो मृदुआचरण रूप होकर संयम विरोधीको-असंयतजनके समान हुये उसको-उस समय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है। इसलिये उत्सर्ग-निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

इससे उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे होनेवाले आचरणकी दुःस्थितता सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसीलिये परस्पर-सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसका कार्य प्रगट होता है, ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने योग्य है ॥ २३१ ॥

अब श्लोक द्वारा आत्मद्रव्यमें स्थिर होनेकी बात कहकर 'आचरणप्रज्ञापन' पूर्ण किया जाता है।

अर्थः—इस प्रकार विशेष आदर-पूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंमें विचरण करनेवाले यति चारित्रको प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके सामान्य विशेषरूप चैतन्य जिसका प्रकाश है ऐसे निज द्रव्यमें सर्वतः स्थिति करो। इसप्रकार 'आचरण प्रज्ञापन' समाप्त हुआ।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथापवादनिरपेक्षमुत्सर्गं तथैवोत्सर्गनिरपेक्षमपवादं च निषेधयंश्चारित्ररक्षणाय व्यतिरेकद्वारेण तमेवार्थं दृढयति;—

(वट्टदि) वर्त्तते। स कः कर्त्ता। (समणो) शत्रुमित्रादिसमचित्तः श्रमणः यदि। किम्? (जदि अप्पलेवी सो) यदि चेदल्पलेपी स्तोकसावद्यो भवति। कयोर्विषययोर्वर्तते। (आहारे य विहारे) तपोधनयोग्याहारविहारयोः। किं कृत्वा। पूर्वं (जाणित्ता) ज्ञात्वा। कान् कर्मतापन्नान्? (देसं कालं समं खमं उवधिं) देशं कालं मार्गादिश्रमं क्षमं क्षमतामुपवासादिविषये शक्तिं उपधिं बालवृद्धश्रान्तग्लानसम्बन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति पंच देशादीन् तपोधनाचरणसहकारिभूतानिति। तथाहि—पूर्वकथितक्रमेण तावद्दुर्धरानुष्ठानरूपोत्सर्गे वर्तते। तत्र च प्रासुकाहारादिग्रहणनिमित्तमल्पलेपं दृष्ट्वा यदि न प्रवर्त्तते तदा आर्त्तध्यानसंक्लेशेन शरीरत्यागं कृत्वा पूर्वकृतपुण्येन देवलोके समुत्पद्यते। तत्र संयमाभावान्महान् लेपो भवति। ततः कारणादपवादनिरपेक्षमुत्सर्गं त्यजति। शुद्धात्मभावनासाधकमल्पलेपं बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति तथैव च पूर्वसूत्रोक्तक्रमेणापहृतसंयमशब्दवाच्येऽपवादे प्रवर्त्तते तावत्प्रवर्त्तमानः सन् यदि कथंचिदौषधपथ्यादिसावद्यभयेन व्याधिव्यथादिप्रतीकारमकृत्वा शुद्धात्मभावनां न करोति तर्हि महान् लेपो भवति। अथवा प्रतीकारे प्रवर्त्तमानोऽपि हरीतकीव्याजेन गुडभक्षणवदिन्द्रियसुखलाम्पट्येन संयमविराधनां करोति तदापि महान् लेपो भवति। ततः कारणादुत्सर्गनिरपेक्षमपवादं त्यक्त्वा शुद्धात्मभावनारूपं

शुभोपयोगरूपं वा संयममविराधयन्नौषधपथ्यादिनिमित्तोत्पन्नाल्पलेपत्वादल्पमपि बहुगुणराशिमुत्सर्गसापेक्षमपवादं स्वीकरोतीत्यभिप्रायः ॥२३१॥

एवं 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथाभिरपवादस्य विशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थलं व्याख्यातम्। इति पूर्वोक्तक्रमेण हि 'णिरवेक्खो जोगो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिः स्थलचतुष्टयेनापवादनामा "द्वितीयान्तराधिकारः" समाप्तः।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि अपवादकी अपेक्षा विना उत्सर्ग तथा उत्सर्गकी अपेक्षा विना अपवाद निषेधने योग्य है। तथा इस बातको व्यतरेक द्वारसे दृढ करते हैं।

गाथार्थः—(जदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहारमें (देसं कालं समं खमं उवधिं ते जाणित्ता) देशको, समयको, मार्गकी थकानको, उपवासकी क्षमता या सहनशीलताको, तथा शरीररूपी परिग्रहको दशाको इन पांचोंको जानकर (वट्टदि) वर्तन करता है (सो अप्पलेवी) वह बहुत कम कर्मबंधसे लिप्त होता है।

टीकार्थः—जो शत्रु मित्रादिमें समान चित्तको रखनेवाला साधु तपस्वीके योग्य आहार लेनेमें तथा विहार करनेमें नीचे लिखी इन पांच बातोंको पहले समझकर वर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध करनेवाला होता है (१) देश या क्षेत्र कैसा है (२) काल आदि किस तरहका है (३) मार्गमें कितना श्रम हुवा है व होगा (४) उपवासादि तप करनेकी शक्ति है या नहीं (५) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है। ये पांच बातें साधुके आचरणके सहकारी पदार्थ हैं। भाव यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आचरणरूप उत्सर्ग मार्गमें ही वर्तन करे और यह विचार करे कि यदि मैं प्रासुक आहार आदि ग्रहणके निमित्त जाऊंगा तो कुछ कर्मबंध होगा इसलिये अपवाद मार्गमें न प्रवर्ते तो यह फल होगा कि शुद्धोपयोगमें निश्चलता न पाकर चित्तमें आर्त्तध्यानसे संक्लेश भाव हो जायगा तब शरीर त्यागकर पूर्वकृत पुण्यसे यदि देवलोकमें चला गया तो वहां दीर्घकालतक संयमका अभाव होनेसे महान कर्मका बन्ध होवेगा इसलिये अपवादकी अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्गको साधु त्याग देता है तथा शुद्धात्माकी भावनाको साधन करानेवाला थोड़ासा कर्मबन्ध हो तो लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवाद की अपेक्षा सहित उत्सर्ग मार्गको स्वीकार करता है। तैसे ही पूर्व सूत्रमें कहे क्रमसे कोई अपहृत संयम शब्दसे कहने योग्य अपवाद मार्गमें प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी कारणसे औषधि, पथ्य आदिके लेनेमें कुछ कर्मबन्ध होगा ऐसा भय करके रोगका उपाय न करके शुद्ध आत्माकी भावनाको नहीं करता है तो उसके महान कर्मका बंध होता है अथवा व्याधिके उपायमें प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात् हरड़के बहाने गुड़ खानेके समान इंद्रियोंके सुखमें लम्पटी होकर संयमकी विराधना करता है तो भी महान कर्मबन्ध होता है। इसलिये साधु उत्सर्गकी अपेक्षा न करके अपवाद मार्गको त्याग करके शुद्धात्माकी भावनारूप व शुभोपयोगरूप संयमकी विराधना न करता हुआ औषधि पथ्य आदिके निमित्त अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणोंसे पूर्ण उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवादको स्वीकार करता है, यह अभिप्राय है।

इस तरह 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे अपवाद मार्गका विशेष वर्णन करते

हुए चौथे स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह पूर्व कहे हुए क्रमसे ही "णिरवेक्खोजोगो" इत्यादि तीस गाथाओंसे तथा चार स्थलोंसे अपवाद नामका दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

चौदह गाथाओंमें श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग नामका तीसरा अंतर अधिकार कहा जाता है। इसके चार स्थल हैं उनमेंसे पहले ही आगमके अभ्यासकी मुख्यतासे "एयग्गमणो" इत्यादि यथाक्रमसे पहले स्थलमें २३२ से २३५ तक चार गाथाएं हैं। इसके पीछे भेद व अभेद रत्नत्रय स्वरूप ही मोक्षमार्ग है, ऐसा व्याख्यान करते हुए "आगमपुव्वा दिट्ठी" इत्यादि दूसरे स्थलमें २३६ से २३९ तक चार सूत्र हैं। इसके पीछे द्रव्य व भाव संयमको कहते हुए "चागो य अणारंगो" इत्यादि तीसरे स्थलमें २४२ तक चार गाथाएं है। फिर निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका संकोच करनेकी मुख्यतासे "मज्झदिवा" इत्यादि चौथे स्थलमे २४३ व २४४ गाथा दो हैं। इस तरह तीसरे अंतर अधिकारमें चार स्थलोंसे समुदाय पातनिका है सो ही कहते हैं।

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागमे एव व्यापारयति-

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

ऐकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा॥ २३२॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति। ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति। अर्थ-निश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति। यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते, तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्। न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतोऽनिश्चतार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया कृतनिश्चयनिःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्। न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमिति प्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा संततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्ति-

दुःस्थितस्य चैकात्म्यप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात् अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥ २३२ ॥

अब, श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसे एकाग्रतालक्षणवाले मोक्षमार्गका प्रज्ञापन है। उसमें प्रथम उस (मोक्षमार्ग) के मूल साधनभूत आगममें व्यापार (प्रवृत्ति) कराते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणः] श्रमण [एकाग्र्यगतः] एकाग्रताको प्राप्त होता है, [ऐकाग्र्यं] एकाग्रता [अर्थेषु निश्चितस्य] पदार्थोंके निश्चयवान्‌के होती है, [निश्चितिः] पदार्थोंका निश्चय [आगमतः] आगम द्वारा होता है, [ततः] इसलिये [आगमचेष्टा] आगमाभ्यास [ज्येष्ठा] मुख्य है।

टीकाः—प्रथम तो श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त ही होता है, एकाग्रता पदार्थोंके निश्चय करने वालेके ही होती है, और पदार्थोंका निश्चय आगम द्वारा ही होता है, इसलिये आगम-अभ्यास ही अधिक मुख्य है, पदार्थ निश्चयका अन्य मार्ग नहीं है। इसका कारण यह है कि:—

वास्तवमें आगमके विना पदार्थोंका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम ही त्रैकाल (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवृत्ति करनेवाले सकल पदार्थ समूहके यथार्थ ज्ञान द्वारा, सुस्थित है और अंतरंगसे गंभीर है (अर्थात् आगमका ही अंतरंग, सर्व पदार्थोंके समूहके यथार्थज्ञान द्वारा सुस्थित है इसलिये आगम ही समस्त पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे गंभीर है)

पदार्थोंके निश्चयके विना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि, जिसे पदार्थोंका निश्चय नहीं है वह (१) कदाचित् निश्चय करनेकी इच्छासे आकुलता प्राप्त चित्तके अर्थात् सर्वतः दोलायमानके (डमाडोल चित्त वालेके) अत्यन्त चचलताके कारण (२) कदाचित् करनेकी इच्छासे ज्वर-परवश होनवालेके विश्वको (समस्त पदार्थोंको) स्वयं उत्पन्न करनेकी इच्छा करनेवालेके विश्व व्यापाररूप (समस्त पदार्थोंकी प्रवृत्ति करनेरूप) परिणमित होनेवालेके प्रतिक्षण क्षोभकी प्रगटताके कारण और (३) कदाचित् भोगनेकी इच्छासे भावित होता हुआ विश्वको स्वयं भोग्यरूप ग्रहणकरके, रागद्वेषरूप दोषसे कलुषित चित्तवृत्तिके कारण वस्तुओंमें इष्ट अनिष्ट विभागके द्वारा द्वैतको प्रवर्तित करते हुएके अर्थात् प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होनेवालेके अत्यन्त अस्थिरताके कारण उपरोक्त तीन कारणोंसे उस अनिश्चयी जीवके (१) कृत निश्चय, (२)

निष्क्रिय और (३) निर्भोग ऐसे भगवान् आत्माको—जो कि युगपत विश्वको पी जानेवाला होने पर भी विश्वरूप न होनेसे (निज स्वरूपका त्याग न करनेसे) एक है उसे—नहीं देखने वालेके सतत व्यग्रता ही होती है, (एकाग्रता नहीं होती)।

और एकाग्रताके विना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है वह जीव (१) 'यह अनेक ही है' ऐसा देखता (श्रद्धान करता) हुआ उस प्रकारकी प्रतीतिमें आग्रह करनेवालेके (२) 'यह अनेक ही है' ऐसा जानता हुआ उस प्रकारकी अनुभूतिसे भावित होनेवालेके, और (३) यह अनेक ही है' इस प्रकार प्रत्येक पदार्थके विकल्पसे खंडित (छिन्नभिन्न) चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ उसप्रकारकी वृत्तिसे दुःस्थित होने वालेके इन तीनोंके, एक आत्माकी प्रतीति—अनुभूति—वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणति-रूप प्रवर्तमान जो दृशि (दर्शन) ज्ञप्तिवृत्तिरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रताका अभाव होनेसे शुद्धात्म-तत्त्व प्रवृत्तिरूप यति धर्म (मुनित्व) ही नहीं होता।

इससे (यह कहा गया है कि) मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है ऐसे श्रामण्यकी सर्व प्रकारसे सिद्धि करनेके लिये मुमुक्षुको भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञसे उपज्ञ (कथित) शब्दब्रह्ममें जिसका कि अनेकान्तरूपी चिन्ह प्रगट है उसमें—निष्णात होना चाहिये ॥ २३२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अतः परं चतुर्दशगाथापर्यन्तं श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकारः कथ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तेषु प्रथमतः आगमाभ्यासमुख्यत्वेन 'एयग्गगदो' इत्यादि यथाक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं भेदाभेद-रत्नत्रयस्वरूपमेव मोक्षमार्ग इति व्याख्यानरूपेण 'आगमपुव्वा दिट्ठी' इत्यादि द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयम्। अतः परं द्रव्यभावसंयमकथनरूपेण 'चागो य अणारंभो' इत्यादि तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्ष-मार्गोपसंहारमुख्यत्वेन 'मज्झविदा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। एवं स्थलचतुष्टयेन तृतीयान्तराधिकारे समुदायपा-तनिका। तद्यथा—अथैकाग्र्यगतः श्रमणो भवति। तच्चैकाग्र्यमागमपरिज्ञानादेव भवतीति प्रकाशयति;—

(एयग्गगदो समणो) ऐकाग्र्यगतः श्रमणो भवति। अत्रायमर्थः—जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायै-कसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपमैकाग्र्यं भण्यते। तत्र गतस्तन्मयत्वेन परिणतः श्रमणो भवति। (एयग्गं णिच्छिदस्स) ऐकाग्र्यं पुनर्निश्चितस्य तपोधनस्य भवति। केषु। (अत्थेसु) टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतिष्वर्थेषु (णिच्छित्ती आगमदो) सा च पदार्थनिश्चितिरागमतो भवति। तथाहि—जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति न केवलमभ्यासात्तथैवाग-मपदे सारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति (आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा) ततः कारणादेवमुक्तलक्षणागमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्तिः ज्येष्ठा प्रशस्येत्यर्थः ॥ २३२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो अपने स्वरूपमें एकाग्र है वही श्रमण है तथा सो एकाग्रता आगमके ज्ञानसे ही होती है।

गाथार्थः—(एयग्गगदो) जो रत्नत्रयकी तन्मयताको प्राप्त है वह (समणो) साधु है। (अत्थेसु णिच्छिदस्स) जिसके पदार्थोंमें श्रद्धा है उसके (एयग्गं) एकाग्रता होती है। (आगमदो णिच्छिती) पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है (तदो) इसलिये (आगमचेट्ठा) शास्त्रज्ञानमें उद्यम करना (जेट्ठा) उत्तम है या प्रधान है।

टीकार्थः—तीन जगत व तीन कालवर्ती सर्व द्रव्योंके गुण और पर्यायोंको एक काल जाननेको समर्थ सर्व तरहसे निर्मल केवलज्ञान लक्षणके धारी अपने परमात्मतत्वके सम्यक श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से तन्मयताको एकाग्रता कहते हैं। उस तन्मयताको जो प्राप्त हुआ है सो श्रमण है। वह एकाग्रता निश्चयसे साधुके होती है। टांकीमें उकेरेके समान ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावका धारी जो परमात्मा पदार्थ है उसको आदि लेकर सर्व पदार्थोंका निश्चय करनेवाला जो साधु है उसीके एकाग्रता होती है। तथा इन जीवादि पदार्थोंका निश्चय आगमके द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगममें जीवोंके भेद तथा कर्मोंके भेदादिका कथन हो उसी आगमके अभ्याससे पदार्थोंका निश्चय होता है केवल पढ़नेका ही अभ्यास न करे किन्तु आगमोंमें सारभूत जो चिदानंदरूप एक परमात्मतत्वका प्रकाशक अध्यात्म ग्रंथ है व जिसके अभ्याससे पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करे। इस कारणसे ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागममें जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है ऐसा अर्थ है॥ २३२॥

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥ २३३॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मनं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः॥ २३३॥

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात्। तथाहि-न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्धयेत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात् ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्धयेत्। परा-

त्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्धयेत् तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्धयेत्। अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥ २३३ ॥

अब, आगमहीनके मोक्ष नामसे कहा जानेवाला कर्मक्षय नहीं होता, यह प्रतिपादन करते हैं:—

अन्वयार्थः—[आगमहीनः] आगमहीन [श्रमणः] श्रमण [आत्मानं] आत्मा को (निज को) और [परं] परको [न एव विजानाति] नहीं जानता, [अर्थात् अविजानन्] पदार्थोंको नहीं जानता हुआ [भिक्षुः] भिक्षु [कर्माणि] कर्मोंको [कथं] किस प्रकार [क्षपयति] क्षय करे।

टीकाः—वास्तवमें आगमके विना परात्मज्ञान या परमात्मज्ञान नहीं होता, और परात्मज्ञानशून्यके या परमात्मज्ञानशून्यके मोहादि द्रव्यभाव कर्मोंका या ज्ञप्तिपरिवर्तन (ज्ञानरूप क्रियाका परिवर्तनरूप कार्यका क्षय नहीं होता। वह इसप्रकार है कि—

प्रथम तो, आगमहीन यह जगत् कि जो निरवधि (अनन्त) संसाररूप नदीके प्रवाह को बहाने वाले (पंच परिवर्तन करने वाले) महामोहमलसे मलीन है वह-धतूरा पिये हुये मनुष्यकी भांति विवेकके नाशको प्राप्तहोनेसे अविविक्त ज्ञानज्योतिसे यद्यपि देखता है तथापि उसे स्वपर-निश्चायक आगमोपदेश-पूर्वक स्वानुभवके अभावके कारण, आत्मामें और आत्मप्रदेशमें स्थित शरीरादि द्रव्योंमें तथा उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादि भावोंमें 'यह पर है और यह आत्मा है' ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता तथा उसे, परमात्मनिश्चायक आगमोपदेश—पूर्वक स्वानुभवके अभावके कारण, जिसके त्रिकाल परिपाटीमें विचित्र पर्यायोंका समूह प्रगट होता है ऐसे अगाध-गम्भीर स्वभाव वाले विश्वको ज्ञेयरूप करके प्रतापवान ज्ञानस्वभावी एक परमात्माका ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार जो (१) परात्मज्ञानसे तथा (२) परमात्मज्ञानसे शून्य है उसे, (१) द्रव्यकर्मसे होने वाले शरीरादिके साथ तथा तत्संबंधी मोहरागद्वेषादि भावोंके साथ एकताका अनुभव करनेके कारण वध्यघातक (द्रव्यकर्म) के विभागका अभाव होनेसे मोहादि द्रव्य-भाव

कर्मोंका क्षय सिद्ध नहीं होता, तथा (२) ज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तुके प्रति उत्पाद विनाश रूप परिणमित करनेके कारण अनादि संसारसे परिवर्तनको पानेवाली जो ज्ञप्ति, उसका परिवर्तन परमात्म-निष्ठताके अतिरिक्त अनिवार्य होनेसे, ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कार्यका क्षय भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये कर्मक्षयार्थियोंको सर्वप्रकारसे आगमकी पर्युपासना करना योग्य है

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथागमपरिज्ञानहीनस्य कर्मक्षपणं न भवतीति प्ररूपयति;—

(आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि) आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं वा विजानाति (अविजाणंतो अट्ठे) अविजानन्नर्थान्परमात्मादिपदार्थान् (खवेदि कम्माणि किह भिक्खू) क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुर्न कथमपि इति। इतो विस्तरः—"गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा" इति गाथाकथितावागममजानन् तथैव "भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहपरमत्थु। सो अंधउ अवरहाहं किं दावरिसइपत्थु" इति दोहकसूत्रकथितात्मागमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्रं चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादिगुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्पजालैर्निश्चयेन कर्मभिः सह भेदं न जानाति तथैव कर्मारिविध्वंसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिरपि सह पृथक्त्वं न वेत्ति। तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मकर्मभिः सहान्यत्वं न जानाति। इत्थंभूतभेदज्ञानाभावाद्देहस्थमपि निजशुद्धात्मानं न रोचते। समस्तरागादिपरिहारेण न च भावयति। ततश्च कथं कर्मक्षयो भवति न कथमपीति। ततः कारणान्मोक्षार्थिना परमागमाभ्यास एव कर्त्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥ २३३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसको आगमज्ञान नहीं है उसके कर्मोंका क्षय नहीं होसक्ता है।

गाथार्थ—(आगमहीणो) शास्त्रके ज्ञानसे रहित (समणो) साधु (णेवप्पाणं परं) न तो आत्माको न परको (वियाणादि) जानता है। (अत्थे अविजाणंतो) परमात्मा आदि पदार्थोंको नहीं जानता हुआ (भिक्खू) साधु (किध) किस तरह (कम्माणि) कर्मोंका (खवेदि) क्षय कर सकता है?

टीकार्थ:—"गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य, उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा" श्री गोम्मटसारकी इस गाथाका भाव यह है कि इस गोमटसार जीवकांडमें २० प्ररूपणाका कथन है, १ गुणस्थान, २ जीवसमास, ३ पर्याप्ति, ४ प्राण, ५ संज्ञा, ६ गतिमार्गणा, ७ इंद्रिय मा०, ८ काय मा०, ९ योग मा०, १० वेद मा०, ११ कषाय मा०, १२ ज्ञान मा०, १३ संयम मा०, १४ दर्शन मा०, १५ लेश्या मा० १६ भव्य मा०, १७ सम्यक्त्व मा०, १८ संज्ञि मा०, १९ आहार, २० उपयोग जिसने इन बीस प्ररूपणाके आगमको नहीं जाना तथा—

"भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहपरमत्थु। सो अंधउ अवरहाहं किं दावरिसइ पत्थु।

इस दोहा सूत्रका भाव यह है कि जिसने अपनी देहसे परमपदार्थ आत्माको भिन्न नहीं जाना वह आर्त-रौद्रध्यानी किस तरह अपने आत्म पदार्थको देख सकता है। इस प्रकारके आगममें सारभूत अध्यात्म शास्त्र को जिसने नहीं जाना अर्थात् बीस प्ररूपणाओंके शास्त्रका और अध्यात्म शास्त्र इन दोनों शास्त्रोंको नहीं जाना, वह पुरुष रागादि दोषोंसे रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणोंके धारी अपने आत्म द्रव्यको भावकर्म

के वाच्य राग द्वेषादि नाना प्रकार विकल्प जालोंसे वास्तवमें भिन्न नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रुको विध्वंस करनेवाले अपने ही परमात्म-तत्वको ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंसे जुदा जानता है। और न अशरीरी शुद्ध आत्म-पदार्थका शरीरादि नोकर्मोंसे जुदा समझता है। इस तरह भेद ज्ञानके न होने पर उसको शरीरमें विराजित भी अपने शुद्धात्माकी रुचि नहीं होती है और न उसकी भावना सर्व रागादिका त्याग करनेको होती है, ऐसी दशामें उसके कर्मोंका क्षय किस तरह होसकता है ? अर्थात् कदापि नहीं होसकता है। इसी कारणसे मोक्षार्थी पुरुषको परमागमका अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है ॥ २३३ ॥

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ॥२३४॥

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥२३४॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः। अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव। एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत्। अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति। ते तु ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते। अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥२३४॥

अब, मोक्षमार्गपर चलनेवालोंको आगम ही एक चक्षु है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

अन्वयार्थः—[साधुः] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु (आगमरूप चक्षुवाले) हैं, [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इन्द्रियचक्षूंषि] इन्द्रिय चक्षुवाले हैं, [देवाः च] देव [अवधिचक्षुषः] अवधिचक्षु वाले हैं [पुनः] और [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतः चक्षुषः] सर्वतःचक्षु (सर्व ओरसे चक्षुवाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशोंसे चक्षुवान्) हैं।

टीकाः—प्रथम तो, इस लोकमें भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमय होनेसे सर्वतः चक्षु हैं, और शेष 'सभी जीव इन्द्रिय चक्षु हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि मूर्त-द्रव्योंमें ही लगी होती है। देव

सूक्ष्मतत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्योंको ग्रहण करते हैं इसलिये वे अवधिचक्षु हैं, अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्योंको देखते हैं इसलिये उन्हें इन्द्रिय चक्षुवालोंसे अलग न किया जाय तो, इन्द्रिय-चक्षु ही हैं। इस प्रकार इन सभी संसारी जीवोंके मोहसे मलिन होनेके कारण ज्ञेयनिष्ठ होनेसे ज्ञाननिष्ठताका मूल जो शुद्धात्मतत्वका संवेदन उससे साध्य ऐसा सर्वतःचक्षुत्व सिद्ध नहीं होता।

अब, उस (सर्वतःचक्षुत्व) की सिद्धिके लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञानका पारस्परिक मिलन हो जानेसे उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात न हों ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगमचक्षुसे स्वपरका विभाग करके, महामोहका भेद करने वाले वे परमात्माको पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं। इससे (यह कहा है कि) मुमुक्षुओंको सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ॥ २३४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ मोक्षमार्गार्थिनामागम एव दृष्टिरित्याख्याति;—

(आगमचक्खू) शुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकपरमागमचक्षुषो भवन्ति । के ते । (साहू) निश्चयरत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधकाः साधवः (इंदियचक्खूणि) निश्चयेनातीन्द्रियामूर्तकेवलज्ञानादिगुणस्वरूपाण्यपि व्यवहारेणानादि-कर्मबन्धवशादिन्द्रियाधीनत्वेनेन्द्रियचक्षूंषि भवन्ति । कानि कर्तॄणि । (सव्वभूदाणि) सर्वभूतानि सर्वसंसारिजीवा इत्यर्थः (देवावि ओहिचक्खू) देवा अपि सूक्ष्ममूर्तपुद्गलद्रव्यविषयावधिचक्षुषः (सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू) सिद्धाः पुनः शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवाजीवलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयसर्वप्रदेशचक्षुष इति । अनेन किमुक्तं भवति सर्वशु-द्धात्मप्रदेशे लोचनोत्पत्तिनिमित्तं परमागमोपदेशादुत्पन्नं निर्विकारं मोक्षार्थिभिः स्वसंवेदनज्ञानमेव भावनीयमिति ॥२३४

उत्थानिका—आगे कहते हैं, कि मोक्षमार्ग पर चलने वालोंके लिये आगम ही चक्षु है—

गाथार्थः—(साहू) साधु महाराज (आगमचक्खू) आगमके नेत्रसे देखनेवाले हैं (सव्वभूदाणि) सर्व संसारी जीव (इंदियचक्खूणि) इंद्रियोंके द्वारा जाननेवाले हैं (देवा य ओहिचक्खू) और देवगण अवधिज्ञानसे जाननेवाले हैं (पुण) परन्तु (सिद्धा सव्वदो चक्खू) सिद्ध भगवान सब तरफसे सब देखनेवाले हैं।

टीकार्थः—निश्चय-रत्नत्रयके आधारसे निज शुद्धात्माके साधनेवाले साधुगणकी चक्षु शुद्धात्मा आदि पदार्थोंका कथन करनेवाला परमागम है। सर्व संसारी जीव निश्चयनयसे अतीन्द्रिय और अमूर्त केवलज्ञानादि गुण स्वरूप हैं। व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे इन्द्रियाधीन हैं अतः वे संसारी जीव इन्द्रियोंके द्वारा जानते हैं। चार प्रकारके देव भी सूक्ष्म मूर्तिक पुद्गल द्रव्यको जाननेवाले अवधिज्ञानके द्वारा देखते हैं। सिद्ध भगवान शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई जीव-अजीवसे भरे हुए लोकाकाशके प्रमाण, जो अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेश-उन सर्व प्रदेशोंसे देखते हैं। इससे यह बात कही गई है कि सर्व शुद्धात्माके प्रदेशोंसे देखनेकी योग्यताके लिये मोक्षार्थी पुरुषोंको उस स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिये। वह स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकार है और परमागमके उपदेशसे उत्पन्न होता है ॥ २३४ ॥

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥२३५॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात्। विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति। अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात्। अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात् ॥२३५॥

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमरूप चक्षुसे सब ही दिखाई देता है—

अन्वयार्थः—[चित्रैः गुणपर्यायैः] विचित्र (अनेक प्रकारकी) गुणपर्यायों सहित [सर्वे अर्थाः] समस्त पदार्थ [आगमसिद्धाः] आगमसिद्ध हैं। [तान् अपि] उन्हें भी [ते श्रमणाः वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा वास्तवमें देखकर [जानन्ति] जानते हैं।

टीकाः—प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणासे अविरुद्ध हैं, और फिर, आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगमको सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक अनेकान्तमय होनेसे प्रमाणताकी उपपत्ति है (अर्थात् आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है)। इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही हैं। और वे श्रमणोंको स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमण विचित्रगुण पर्यायवाले सर्वद्रव्योंमें व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं। (इससे यह कहा है कि) आगमरूप चक्षुवालोंको कुछ भी अदृश्य नहीं है ॥२३५॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथागमलोचनेन सर्वं दृश्यत इति प्रज्ञापयति;—

(सव्वे आगमसिद्धा) सर्वेऽप्यागमसिद्धा आगमेन ज्ञाताः। के ते। (अत्था) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयोऽर्थाः। कथं सिद्धाः। (गुणपज्जएहिं चित्तेहिं) विचित्रगुणपर्यायैः सह। (जाणंति) जानन्ति। कान्। (तेवि) तान् पूर्वोक्तार्थगुणपर्यायान्। किंकृत्वा पूर्वं। (पेच्छित्ता) दृष्ट्वा ज्ञात्वा। केन ?

(आगमेण य) आगमेनैव । अयमत्रार्थः— पूर्वमागमं पठित्वा पश्चाज्जानन्ति (ते समणा) ते श्रमणा भवन्तीति । अत्रेदं भणितं भवति—सर्वे द्रव्यगुणपर्यायाः परमागमेन ज्ञायन्ते । कस्मात् ? आगमस्य परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात्, पश्चादागमाधारेण स्वसंवेदनज्ञाने जाते स्वसंवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति । ततः कारणादागमचक्षुषा परंपरया सर्वं दृश्यं भवतीति ॥२३५॥

एवमागमाभ्यासकथनरूपेण प्रथमस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमके लोचनसे सर्व दिखता है:—

गाथार्थः—(चित्तेहिं गुण पज्जएहिं) नाना प्रकार गुण पर्यायोंके साथ (सव्वे अत्था) सर्व पदार्थ (आगमसिद्धा) आगमसे सिद्ध हैं । (आगमेण) आगमके द्वारा (तेवि) उन सबको (हि पेछित्ता) यथार्थ देखकर (जाणंति) जो जानते हैं (ते समणा) वे ही साधु हैं ।

टीकार्थः—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्म पदार्थको लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्व गुण और पर्याय परमागमके द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि परोक्षरूप आगम केवलज्ञानके समान है। आगम द्वारा पदार्थोंको जान लेनेपर जब स्वसंवेदन ज्ञान पैदा हो जाता है तब उस स्वसंवेदनके बलसे जब केवल ज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होजाते हैं । इसलिये आगम-चक्षुके द्वारा परम्परासे सर्व ही प्रत्यक्ष दीख जाता है ॥ २३५ ॥

भावार्थः—श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमांसामें स्याद्वादको केवलज्ञानके समान बताते हैं, जैसे—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ५ ॥

भावार्थः—स्याद्वाद और केवलज्ञानमें सर्व तत्वोंके प्रकाशनेकी अपेक्षा समानता है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है । यदि दोनोंमेंसे एक न होय तो वस्तु ही न रहे । जो पदार्थ केवलज्ञानसे प्रगट होते हैं उन सबको परोक्षरूपसे शास्त्र बताता है । इसलिये सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको दोनों बताते हैं—केवलज्ञान न हो तो स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो और यदि स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो तो केवलज्ञान नहीं होता।

इस तरह आगमके अभ्यासको कहते हुए प्रथम स्थलमें चार सूत्र पूर्ण हुए ॥

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥२३६॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य ।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥२३६॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीवनिकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञाना-

भावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत् । असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगतत्वरूपं मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्ध्येत् । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥२३६॥

अब, आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्वकी युगपत्तावाले के मोक्षमार्गत्व होनेका नियम करते हैं।

अन्वयार्थः—[इह] इस लोकमें [यस्य] जिसकी [आगमपूर्वा दृष्टिः] आगम-पूर्वक दृष्टि (दर्शन) [न भवति] नहीं है [तस्य] उसके [संयमः] संयम [नास्ति] नहीं है, [इति] इसप्रकार [सूत्रं भणति] सूत्र कहता है, और [असंयतः] जो असंयत है, वह [श्रमणः] श्रमण [कथं भवति] कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

टीकाः—इस लोकमें प्रथम तो स्यात्कार चिन्हवाले आगम पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली दृष्टिसे जो शून्य हैं उन सभीको संयम वास्तवमें ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्वपरके विभागके अभावके कारण काय और कषायोंके साथ एकताका अध्यवसाय करनेवाले वे जीव, विषयोंकी अभिलाषाका निरोध नहीं होनेसे छह जीवनिकायके घाती होकर सर्वत्र प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये उनके सर्वतः निवृत्तिका अभाव है, तथापि (२) उनके परमात्मज्ञान के (केवल ज्ञानके) अभावके कारण ज्ञेयसमूहको क्रमशः जाननेवाली निरर्गल ज्ञप्ति होनेसे ज्ञानरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है। जिनके संयम सिद्ध नहीं होता उनके सुनिश्चित ऐकाग्र्यपरिणततारूप श्रामण्य ही जिसका कि दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, सिद्ध नहीं होता। (यहां पर मुनिकी एकाग्र-परिणति अर्थात् शुक्ल ध्यानको मोक्षमार्ग कहा है) इससे आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्तावालेको ही मोक्षमार्गत्व होनेका नियम सिद्ध होता है ॥ २३६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथागमपरिज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वकसंयतत्वत्रयस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति;—

(आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह) आगमपूर्विका दृष्टिः सम्यक्त्वं नास्ति यस्येह लोके (संजमो तस्स णत्थि) संयमस्तस्य नास्ति (इदि भणदि) इत्येवं भणति कथयति। किं कर्तृ। (सुत्तं) सूत्रमागमः (असंजदो होदि किह समणो) असंयतः सन् श्रमणस्तपोधनः कथं भवति न कथमपीति। तथाहि—यदि निर्दोषिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानरूपमात्मानं जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति ज्ञानी

च न भवति तद्द्वयाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषषड्जीववधव्यावृत्तोपि संयतो न भवति । ततः स्थितमेतत् परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वत्रयमेव मुक्तिकारणमिति ॥ २३६ ॥

उत्थानिका— आगे कहते हैं कि आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा श्रद्धान ज्ञानपूर्वक चारित्र इन तीनके ही मोक्षमार्गका नियम है।

गाथार्थः—(इह) इस लोकमें (जस्स) जिस जीवके (आगमपुव्वा) आगमज्ञान-पूर्वक (दिट्ठी) सम्यक्दर्शन (ण हवदि) नहीं है (तस्स) उस जीवके (संजमो णत्थित्ति सुत्तं भणइ) संयम नहीं है, ऐसा सूत्र कहता है। (असंजदो) जो असंयमी है वह (किध) किस तरह (समणो) श्रमण या साधु (हवदि) हो सकता है ? नहीं हो सकता।

टीकार्थः—दोष रहित अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। ऐसी रुचि सहित सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है, वह परमागमके बलसे निर्मल एक ज्ञान स्वरूप आत्माको जानते हुए भी न सम्यग्दृष्टि है और न सम्यग्ज्ञानी है। इन दोनोंके अभाव होते हुए पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा तथा छः प्रकार जीवोंके वधसे अलग रहनेपर भी संयमी नहीं होता। इससे यह सिद्ध किया गया कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयमपना ये तीनों ही एक साथ मोक्षके कारण होते हैं ॥ २३६ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि ॥२३७॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु ।
श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥२३७॥

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्ध्यति । तथाहि—आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्टं तर्कयन्नपि यदि सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति तदा यथोदितात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथोदितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किंच—सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि–आगमज्ञान–तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी अयुगपतता वालेके मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता—

अन्वयार्थः—[आगमेन] आगमसे [यदि अपि] यदि [अर्थेषु श्रद्धानं नास्ति] पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो, [न हि सिद्ध्यति] सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती, [अर्थान् श्रद्दधानः] पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भी [असंयतः वा] यदि असंयत हो तो [न निर्वाति] निर्वाणको प्राप्त नहीं होता।

टीका:—आगमजनित ज्ञानसे, यदि श्रद्धानशून्य (श्रद्धान उत्पन्न न हुआ) हो तो सिद्धि नहीं होती, और जो आगमज्ञानके अविनाभावी श्रद्धानसे भी, यदि संयमशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती। यथाः—

आगमबलसे सकल पदार्थोंकी विस्पष्ट तर्कणा करता हुआ भी यदि जीव, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होनेवाला विशद एक ज्ञान, वह ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्माको उस प्रकारसे प्रतीत नहीं करता तो यथोक्त आत्माके श्रद्धानसे शून्य होनेके कारण जो यथोक्त आत्माका अनुभव नहीं करता (नहीं जानता) ऐसा वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञान-विमूढ जीव कैसे ज्ञानी होगा ? (नहीं होगा, वह अज्ञानी ही होगा) और ज्ञेयद्योतक होनेपर भी आगम अज्ञानीको क्या करेगा ? (आगम ज्ञेयोंका प्रकाशक होनेपर भी वह अज्ञानीके लिये क्या कर सकता है ? इसलिये श्रद्धानशून्य वालेको आगमसे सिद्धि नहीं होती। (जो श्रद्धापूर्वक आगमको नहीं पढ़ते उनको आगमसे सिद्धि नहीं होती)

और सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होता हुआ एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्माका श्रद्धान करता हुआ भी अनुभव करता (जानता) हुआ भी यदि जीव अपनेमें ही संयमित होकर नहीं रहता, तो वह संयत कैसे होगा ? क्योंकि उसकी चिद्वृत्ति (चैतन्यकी परिणति) अनादि मोह राग द्वेष की वासनासे जनित-पर-द्रव्यमें भ्रमणताके कारण स्व-इच्छा-चारिणी होरही है, और उस चिद्वृत्तिके ऐसी चिद्वृत्तिका अभाव है जो अपने में ही रहनेसे वासना (विषय कषाय) रहित निष्कंप और एक तत्त्वमें लीन हो। (अर्थात् जिसकी चिद्वृत्ति स्व-इच्छा-चारणी हो और एकाग्रता रूप ध्यानसे रहित हो वह असंयत है) यथोक्त आत्मतत्त्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्वकी अनुभूतिरूप ज्ञान असंयतको क्या करेगा ? इसलिये संयमशून्य श्रद्धान व ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती। इससे आगमज्ञान तत्वार्थ श्रद्धान संयतत्व के अयुगपतत्व वालेके मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता॥ २३७॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्याभावे मोक्षो नास्तीति व्यवस्थापयति:—

(ण हि आगमेण सिज्झदि) आगमजनितपरमात्मज्ञानेन न सिद्धयति (सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु) श्रद्धानं यदि च नास्ति परमात्मादिपदार्थेषु । (सद्दहमाणो अत्थे) श्रद्दधानो वा चिदानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थान् । (असंजदो वा ण णिव्वादि) विषयकषायाधीनत्वेनासंयतो वा न निर्वाति निर्वाणं न लभत इति । तथाहि-यथा प्रदीपसहितपुरुषस्य कूपपतनप्रस्तावे कूपपतनान्निवर्त्तनं मम हितमिति निश्चयरूपं श्रद्धानं यदि नास्ति तदा प्रदीपः किं करोति न किमपि । तथा जीवस्यापि परमागमाधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकारकरावलम्बितविशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवोपादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदास्य प्रदीपस्थानीय आगमः किं करोति न किमपि । यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि । तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्त्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति । अतः एतदायाति परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां मध्ये द्वयेनैकेन वा निर्वाणं नास्ति किन्तु त्रयेणेति एवं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्था मोक्षावस्थात्रयं तिष्ठति । अवस्थात्रयेऽनुगताकारद्रव्यं तिष्ठति । एवं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थः । तत्र मोक्षकारणं चिन्त्यते । मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा मुक्तिकारणं न भवति । मोक्षावस्था शुद्धात्मफलभूता सा चाग्रे तिष्ठति । एताभ्यां द्वाभ्यां भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन शुद्धा यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरणं नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येकदेशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम् । यावतांशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावतांशेन मोक्षकारणं भवति । तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूपं परमात्मद्रव्यं ध्येयं भवति । तच्च तस्मादन्तरात्मध्यानावस्थाविशेषात्कथंचिद्भिन्नम् । यदैकान्तेनाभिन्नं भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यानं प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति । एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः ॥२३७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थका श्रद्धान तथा संयमपना ये तीनों यदि एक साथ नहीं होवें तो मोक्ष नहीं होसकती है ।

गाथार्थ:—(जदि) यदि (अत्थेसु सद्दहणं न अत्थि) पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं होवे तो (नहि आगमेन सिद्‌ध्यति) मात्र आगमके ज्ञानसे सिद्ध नहीं होसकता है । (अत्थे सद्दहमाणो) पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ (असंजदो वा ण णिव्वादि) यदि असंयम है तो भी निर्वाणको प्राप्त नहीं करता है

टीकार्थ:—यदि कोई परमात्मा आदि पदार्थों में अपना श्रद्धान नहीं रखता है तो वह आगम से होनेवाले मात्र परमात्माके ज्ञानसे सिद्धि नहीं पासकता है । तथा चिदानन्दमय एक स्वभाव रूप अपने परमात्मा आदि पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ भी यदि विषयों और कषायोंके अधीन रहकर असंयमी

रहता है तो भी निर्वाणको नहीं पासकता है।

जैसे किसी पुरुषके हाथमें दीपक है तथा उसको यह निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है कि यदि दीपकसे देखकर चलूंगा तो कुएमें गिरनेका अवसर प्राप्त होने पर कुएं में मैं न गिरूंगा, इसमें मेरा हित है, तो उसके पास दीपक होनेसे भी कोई लाभ नहीं है। तैसे ही किसी जीवका परमागमके आधारसे अपने आत्माका ऐसा एक ज्ञान है जो सर्व ज्ञेय पदार्थके आकारोंको हाथपर रखे हुए आंवलेके समान, स्पष्ट जाननेको समर्थ है। अपनी आत्माको ऐसा जानता हुआ भी यदि यह निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है कि मेरा आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है तो उसके लिये दीपकके समान आगम क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता है। अथवा जैसे वही दीपकको रखनेवाला पुरुष अपने पुरुषार्थके बलसे कूप पतनसे यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, तैसे ही यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु पौरुषके समान चारित्रके बलसे रागद्वेषादि विकल्परूप असंयम भावसे यदि अपनेको नहीं हटाता है तो श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमपना इन तीनोंमेंसे केवल दो से वा मात्र एकसे निर्वाण नहीं होसकता है, किन्तु तीनोंसे ही मोक्ष होती है।

इस तरह भेद और अभेद स्वरूप रत्नत्रयमय मोक्षमार्गको स्थापनकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

यहां यह भाव है कि बहिरात्मा अवस्था, अंतरात्मा अवस्था, परमात्मा अवस्था या मोक्षअवस्था ऐसी तीन अवस्थाएं जीवकी होती हैं, इन तीनों अवस्थाओंके अनुरूप होकर द्रव्य रहता है। इस तरह परस्पर अपेक्षासहित द्रव्यरूप व पर्यायरूप जीव पदार्थको जानना चाहिये। अब यहां मोक्षका कारण विचारा जाता है। मिथ्यात्व रागादि रूप जो बहिरात्मा अवस्था है वह तो अशुद्ध है इसलिये मोक्षका कारण नहीं है। मोक्षावस्था तो शुद्धात्मा रूप अर्थात् फलरूप है जो आगामी कालमें होगी। इन दोनों बहिरात्मावस्था और मोक्षावस्थासे भिन्न जो अंतरात्मावस्था है वह मिथ्यात्व रागादिसे रहित होनेके कारणसे शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोदिया जीवके ज्ञानमें अन्य ज्ञानका आवरण होनेपर भी क्षयोपशम ज्ञानका सर्वथा आवरण नहीं है तैसे इस अन्तरात्मा अवस्थामें केवलज्ञानावरणके होते हुए भी एक देश क्षयोपशम ज्ञानकी अपेक्षा आवरण नहीं है। जितने अंशमें क्षयोपशम ज्ञान रागादि भावोंसे रहित होकर शुद्ध है उतने अंशमें यह मोक्षका कारण है। इस अवस्थामें शुद्ध पारिणामिक-भाव स्वरूप परमात्मा द्रव्य तो ध्येय (ध्यान करने योग्य) है सो परमात्मा द्रव्य उस अंतरात्मापनेकी ध्यानकी अवस्था-विशेषसे कथंचित् भिन्न है। यदि एकांतसे अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्थाको अभिन्न या अभेद माना जायगा तो मोक्षमें भी ध्यान प्राप्त होजायगा अथवा इस ध्यान पर्यायके विनाश होते हुए पारिणामिक भावका भी विनाश होजायगा सो हो नहीं सकता। इस तरह बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्माके कथन रूपमें मोक्षमार्ग जानना चाहिये॥ २३७॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाटचा बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥२३८॥

अब, आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वका युगपतत्व होने पर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्गका साधकतम (उत्कृष्ट साधक) है, यह बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यत् कर्म] जो कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभिः] लक्षकोटिभवोंमें [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह [ज्ञानी] ज्ञानी (क्षपकश्रेणीवाला) [त्रिभिः गुप्तः] तीन प्रकार (मन वचन काय) से गुप्त होनेसे [उच्छ्वासमात्रेण] उच्छ्वासमात्रमें [क्षपयति] खपा देता है ।

टीका:—जो कर्म, (अज्ञानीको) क्रमपरिपाटीसे तथा अनेक प्रकारके बालतपादिरूप उद्यमसे पककर उदय में आते हुये रागद्वेषको ग्रहण किया होनेसे सुखदुःखादिविकार भावरूप परिणमित होनेसे पुनः संतान को आरोपित करते हैं, उन कर्मो का अज्ञानी लक्षकोटिभवोंमें जिस तिस प्रकार निस्तारा करता है, वही कर्म, ज्ञानी को स्यात्कारकेतन रूप आगम का ज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्व इनकी युगपत्ताके अतिशयप्रसादसे प्राप्त शुद्ध ज्ञानमयी आत्मतत्वकी अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपनके सद्भावके कारण कायवचन-मनको कर्मोंके उपरम (रुकने) से त्रिगुप्तिमें प्रवर्तमान होनेके (कारण) प्रचण्ड उद्यमसे पकते हुए,

रागद्वेषके अभावमें समस्त सुखदुःखादिविकार अत्यन्त निरस्त होजानेसे, पुनः संतानको आरोपित नहीं करते, उन कर्मों को ज्ञानी उछ्वासमात्रमें ही—लीलामात्रसे ही नष्ट कर देता है।

इससे, आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी (क्षपक श्रेणी-में होनेवाले) आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संमत करना चाहिये। ॥ २३८ ॥

भावार्थ—गाथा २३६ की टीका में एकाग्रय परिणततारूप श्रामण्य को मोक्षमार्ग कहा गया था। 'एकाग्रता' वीतराग निर्विकल्प समाधि अर्थात् श्रेणी में होती है। यहां पर आत्म-ज्ञान को मोक्षमार्ग का साधकतम कहा गया है। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व संयम की एकता होने पर वह आत्म-ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि इस गाथा तथा गाथा २३६ में 'आत्मज्ञान' से अभिप्राय उस आत्मज्ञान से है जो वीतराग निर्विकल्प समाधि अर्थात् श्रेणी में होता है और वही आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम है। और उसी आत्मज्ञान के विना साक्षात मोक्षमार्ग नहीं होता, इसीलिये उस आत्मज्ञान के विना आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और सयंतत्व को अकिंचित्कर कहते हैं।

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्पस-माधिलक्षणमात्मज्ञानं निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति;—

(जं अण्णाणी कम्मं खवेइ) निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति। काभिः कर्मभूताभिः। (भवसयसहस्सकोडीहिं) भवशतसहस्रकोटिभिः (तण्णाणी तिहि गुत्तो) तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् (खवेइ उस्सासमेत्तेण) क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति। तद्यथा—बहिर्विषये परमा-गमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञानं तथैव श्रद्धानं व्रताद्यनुष्ठानं चेति त्रयं तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्प-रिज्ञानं श्रद्धानं तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठानं चेति त्रयं तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानं स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनम् तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्रमिति त्रयम्। तत्त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदनज्ञानं तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति तत्कर्म ज्ञानी जीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नु-च्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति। ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भा-वेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसंवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति ॥ २३८ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रयोंके मिलाप होनेपर भी जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधिमय आत्मज्ञान है वही निश्चय से मोक्षका कारण है:—

गाथार्थः—(अण्णाणी) अज्ञानी (जं कम्मं) जिस कर्मको (भवसयसहस्सकोडीहिं) एक-ला खकरोड़भवोंमें (खवेइ) नाश करता है। (तं) उस कर्मको (णाणी) आत्मज्ञानी (तिहिंगुत्तो) मन वचन काय तीनोंकी गुप्ति सहित होकर (उस्सासमेत्तेण) एक उच्छ्वास मात्रमें (खवेइ) क्षय कर देता है।

टीकार्थः—निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमय विशेष भेद ज्ञान को न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मबंधको क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव तीन गुप्तिमें गुप्त होकर एक उच्छ्वासमें नाश कर डालता है। इसका भाव यह है कि बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें जो सम्यग्ज्ञान परमागमके अभ्यासके बलसे होता है तथा जो उनका श्रद्धान होता है और श्रद्धान ज्ञानपूर्वक व्रत आदिका चारित्र पाला जाता है, इन तीन रूप रत्नत्रयके आधारसे सिद्ध परमात्माके स्वरूपमें सम्यकश्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान होकर उनके गुणोंका स्मरण करना इसीके अनुकूल जो चारित्र होता है। फिर भी इसी प्रकार इन तीनके आधारसे जो उत्पन्न होता है। निर्मल अखंड एक ज्ञानाकार रूप अपने ही शुद्धात्मामें जानन रूप सविकल्पज्ञान तथा "शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी रुचि सो विकल्प रूप सम्यग्दर्शन और इसी ही आत्माके स्वरूपमें रागादि विकल्पोंसे रहित सो सविकल्प चारित्र उत्पन्न होते हैं फिर भी इन तीनोंके प्रसादसे विकल्प-रहित समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमय विशेष स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान को न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मका क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव पूर्वोक्त ज्ञान गुणके सद्भावमें मन वचन कायकी गुप्तिमें लवलीन होकर एक श्वास मात्रमें लीला मात्रसे ही नाश कर डालता है। इससे यह बात जानी जाती है कि परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इस भेद रत्नत्रयके होनेपर भी अभेद या निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञानकी ही मुख्यता है ॥ २३८ ॥

भावार्थ—वृत्तिकारने आत्मज्ञान पैदा होनेकी सीढ़ियां बताई हैं पहली (१) सीढ़ी यह है कि जिनवाणीको अच्छी तरह पढ़कर हमें सात तत्त्वोंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये तथा विषय कषायोंके घटानेके लिये मुनि वा गृहस्थके योग्य व्रतादि पालना चाहिये। (२) दूसरी सीढ़ी यह है कि सिद्ध परमात्माका ज्ञान, श्रद्धान करके उनके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। (३) तीसरी सीढ़ी यह है कि अपने ही आत्माको निश्चयसे शुद्ध परमात्मा जानना, श्रद्धान करना व रागादि छोड़ उसीकी भावना भानी। (४) चौथी सीढ़ी यह है कि विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना। जहां यद्यपि श्रद्धान ज्ञान चारित्र है तथापि कोई विकल्प या विचार नहीं है मात्र अपने स्वरूपानंदमें मग्नता है, यही आत्मज्ञान है। यह सीढ़ी साक्षात मुक्ति सुन्दरीके महलमें पहुँचाने वाली है, अतएव जिनको यह चौथी सीढ़ी प्राप्त है वे ही कर्मोंको दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं।

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्कर-मित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥२३९॥

परमाणुप्रमाणं वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः ।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ॥२३९॥

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयंश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्धयति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ॥२३९॥

अब यह उपदेश करते हैं कि- आत्मज्ञानशून्यके (वीतराग निर्विकल्प समाधि-रहितके) सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व की युगपत्ता भी अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती:—

अन्वयार्थः— [पुनः] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादि के प्रति [परमाणुप्रमाणं वा] परमाणुमात्र स्तोक भी [मूर्च्छा] ममत्व [विद्यते] पाई जाय तो [सः] वह [सर्वागमधरः अपि] भले ही सर्वागमका धारी हो तो भी [सिद्धिं न-लभते] सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ।

टीकाः—सकल आगमके सारको हस्तामलकवत् करनेसे (हथेली में रक्खे हुए आंवलेके समान स्पष्ट ज्ञान होनेसे) जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित-पर्यायों के साथ समस्त द्रव्यसमूहको जाननेवाले आत्माको जानता है, श्रद्धान करता है और संयमित रखता है, उस पुरुषके आगमज्ञान-तत्त्वार्थ-श्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमलसे (रागद्वेष से) लिप्त होनेके कारण शरीरादिके प्रति ममत्व भाव द्वारा मलिन होनेसे, निर्मल उपयोगमें परिणत करके ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभव नहीं करता, तो वह पुरुष मात्र उतने स्तोक मोहमलकलंकरूप कीलेके साथ बंधे हुये कर्मोंसे छुटकारा न पाता हुआ सिद्ध नहीं होता ।

इसलिये आत्मज्ञानशून्य (वीतराग निर्विकल्प समाधि रहित) आगमज्ञान-तत्त्वार्थ-श्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर ही है ॥ २३९ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पूर्वसूत्रोक्तात्मज्ञानरहितस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्युपदिशति:—

(परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि) परमाणुमात्रं वा मूर्च्छा देहादिषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत् ? (सो सिद्धिं ण लहदि) स सिद्धिं मुक्तिं न लभते । कथंभूतः । (सव्वागमधरो) सर्वागमधरोपीति । अयमत्रार्थः—सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकममत्वं विद्यते तस्य पूर्वसूत्रोक्तं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं निश्चयरत्नत्रयात्मकं स्वसंवेदनज्ञानं नास्तीति ॥२३६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो पूर्व सूत्रमें कहे हुए आत्मज्ञानसे रहित है उसके एक साथ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयमपना होना भी कुछ कार्यकारी नहीं है। मोक्ष प्राप्तिमें अकिंचित्कर है:—

गाथार्थः—(पुणो) तथा (जस्स) जिसके (देहादियेसु) शरीर आदिकोंसे (परमाणुपमाणं वा) परमाणु मात्र अर्थात् अल्प भी (मुच्छा) ममत्वभाव (जदि विज्जदि) यदि है तो (सो) वह साधु (सव्वागम धरो वि) सर्व आगमको जाननेवाला होते हुए भी (सिद्धिं ण लहदि) मोक्षको नहीं पासकता है।

टीकार्थः—सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना एक कालमें होते हुए जिसके शरीरादि पर-द्रव्योंमें ममता है उसके पूर्व-सूत्र-कथित निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय मय स्वसंवेदनका लाभ नहीं है ॥ २३६ ॥

अथ द्रव्यभावसंयमस्वरूपं कथयति;—

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं। सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥२३६-१॥

(चागो य) निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः (अणारंभो) निःक्रियनिजशुद्धात्मद्रव्ये स्थित्वा मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भः (विसयविरागो) निर्विषयस्वात्मभावनोत्थसुखे तृप्तिं कृत्वा पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविरागः। (खओ कसायाणं) निःकषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्रोधादिकषायत्यागः कषायक्षयः। (सो संजमोत्ति भणिदो) स एवं गुणविशिष्टः संयम इति भणितः। (पव्वज्जाए विसेसेण) सामान्येनापि तावदिदं संयमलक्षणं प्रव्रज्यायां तपश्चरणावस्थायां विशेषेणेति। अत्राभ्यन्तरशुद्धसंवित्तिर्भावसंयमो बहिरङ्गनिवृत्तिश्च द्रव्यसंयम इति ॥२२६॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य तथा भाव संयमका स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थः—(चागो य) त्याग और (अणारंभो) आरम्भ रहितपना (विसयविरागो) विषयों से वैराग्य (कसायाणं खओ) कषायोंका क्षय (सो संजमोत्ति भणिदो) वह संयम है, ऐसा कहा गया है। (पव्वज्जाए) तपके समय (विसेसेण) यह संयम विशेषतासे होता है।

टीकार्थः—निज शुद्धात्माको ग्रहण करके और बाहरी भीतरी २४ प्रकारके परिग्रहकी निवृत्ति सो त्याग है। निःक्रिय निज शुद्ध-आत्मद्रव्यमें ठहरकर मन वचन कायके व्यापारोंसे छूट जाना सो अनारम्भ है। इंद्रिय विषय रहित अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखमें तृप्त होकर पंचेन्द्रियोंके सुखोंकी इच्छाका त्याग सो विषय-विराग है। निःकषाय निज शुद्धात्माकी भावनाके बलसे क्रोधादि कषायोंका त्याग सो कषाय क्षय है। इन गुणोंसे संयुक्तपना संयम है, ऐसा कहा गया है। यह सामान्य संयमका लक्षण है। तपश्चरणकी अवस्थामें विशेष संयम होता है। यहां अभ्यंतर परिणामोंकी शुद्धिको भाव संयम तथा बाह्य त्यागको द्रव्यसंयम कहते हैं।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति–

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥२४०॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥२४०।

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपचेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति।

अब आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ताको सिद्ध करते हैं, अर्थात् आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान, और संयतत्व इस त्रिक (तीनों) के साथ आत्मज्ञानके युगपत्त्वको सिद्ध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[पंचसमितः] पांचसमितियुक्त, [पंचेन्द्रियसंवृतः] पांच इन्द्रियोंका संवर वाला [त्रिगुप्तः] तीन गुप्ति सहित, [जितकषायः] कषायों को जीतने वाला, [दर्शनज्ञानसमग्रः] दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण [श्रमणः] जो श्रमण [सः] वह [संयतः] संयत [भणितः] कहा गया है।

टीकाः—जो पुरुष अनेकान्तसे चिह्नित आगमज्ञानके बलसे, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित तथा विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मामें ही नित्यनिश्चल वृत्तिको इच्छता हुआ, संयमके साधनरूप बनाये हुये शरीरपात्र पांचसमितियोंसे अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित शरीरको संयमका साधन बनाता हुआ, फिर निश्चल पंचेन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रिय द्वारा रुक जानेसे काय वचन-मनका व्यापार विरामको प्राप्त हुआ है, ऐसा होकर, चिद्वृत्तिके लिये परद्रव्यमें भ्रमणका निमित्त

जो कषायसमूह वह आत्माके साथ अन्योन्य मिलनके कारण अत्यन्त एकरूप होजाने पर भी स्वभाव भेदके कारण उसे पररूपसे निश्चित करके कुशल मल्लकी भांति आत्मासे ही अत्यन्त मर्दन कर करके अक्रमसे उसे मार डालता है, वह पुरुष वास्तवमें, सकल परद्रव्यसे शून्य होनेपर भी विशुद्ध दर्शन ज्ञानमात्र स्वभावरूपसे अवस्थित आत्मतत्त्वसे उत्पन्न नित्यनिश्चल परिणति उस परिणतिके द्वारा साक्षात् संयत ही है। और उसे ही आगमज्ञान—तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता सिद्ध होती है ॥ २४० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां त्रयाणां यत्सविकल्पं यौगपद्यं तथा निर्विकल्पात्मज्ञानं चेति द्वयोः सम्भवं दर्शयति;—

(पंचसमिदो) व्यवहारेण पञ्चसमितिभिः समितः संवृतः पंचसमितः निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः (तिगुत्तो) व्यवहारेण मनोवचनकायनिरोधत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः निश्चयेन स्वरूपे गुप्तः परिणतः (पंचेन्दियसंवुडो) व्यवहारेण पंचेन्द्रियविषयव्यावृत्त्या संवृतः पंचेन्द्रियसंवृतः निश्चयेन चातीन्द्रियसुखस्वादरतः (जियकसाओ) व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषायः निश्चयेन चाकषायात्मभावनारतः (दंसणणाणसमग्गो) अत्र दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं ग्राह्यम् । ज्ञानशब्देन तु स्वसंवेदनज्ञानमिति ताभ्यां समग्रो दर्शनज्ञानसमग्रः (समणो सो संजदो भणिदो) स एवं गुणविशिष्टः श्रमणः संयत इति भणितः । अत एतदायातं व्यवहारेण यद्बहिर्विषये व्याख्यानं कृतं तेन सविकल्पं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं यौगपद्यं ग्राह्यम् । अभ्यन्तरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञानं ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्यं निर्विकल्पात्मज्ञानं च घटत इति ॥२४०॥

उत्थानिका—आगे आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान, संयमपना इन तीनोंकी भेद रूपसे एक कालमें प्राप्ति तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान इन दोनोंका संभवपना दिखलाते हैं अर्थात् इन सविकल्प और अविकल्प भावके धारीका स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—(पंचसमिदो) जो पांच समितियोंका धारी है, (तिगुत्तो) तीन गुप्तिमें लीन है, (पंचेदियसंवुडो) पांच इन्द्रियोंका विजयी है, (जिदकसाओ) कषायोंको जीतनेवाला है (दंसणणाणसमग्गो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है (सो समणो) वह साधु (संजदो) संयमी (भणिदो) कहा गया है।

टीकार्थः—जो व्यवहार नयसे पांच समितियोंसे युक्त है, निश्चय नयसे अपने आत्माके स्वरूपमें भले प्रकार परिणमन कर रहा है। जो व्यवहार नयसे मन वचन कायको रोक करके त्रिगुप्त है, निश्चय नय से अपने स्वरूपमें लीन है। जो व्यवहारकरके स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे हट करके संवृत है, निश्चयसे अतींद्रिय सुखके स्वादमें रत है। जो व्यवहार करके क्रोधादि कषायोंको जीत लेनेसे जितकषाय है, निश्चयनयसे अकषाय आत्माकी भावनामें रत है। जो अपने शुद्धात्माका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन

तथा स्वसंवेदन ज्ञान इन दोनोंसे युक्त है गुणोंका धारी वही साधु संयमी है, ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध किया गया कि व्यवहारमें जो बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें व्याख्यान किया गया उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंका एक साथ होना चाहिये, भीतरी आत्माकी अपेक्षा व्याख्यानसे निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिये। सविकल्प दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंकी युगपतता तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान घटित होते हैं॥ २४०॥

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥२४१॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः।
समलोष्ठकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः॥२४१॥

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः। ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम्। तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्ठकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समं अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्ठकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम्॥२४१॥

अब, आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता जिसे सिद्ध हुई है ऐसे इस संयतका क्या लक्षण है सो कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[समशत्रुबन्धुवर्गः] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुखदुःखः] सुख दुख समान है, [प्रशंसानिन्दासमः] प्रशंसा और निन्दाके प्रति जिसको समता है, [समलोष्ठकाञ्चनः] जिसे लोष्ठ और सुवर्ण समान है, [पुनः] तथा [जीवितमरणे समः] जीवन-मरणके प्रति जिसको समता है, वह [श्रमणः] श्रमण है।

टीका:—संयम सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है, चारित्र धर्म है, धर्म साम्य है, साम्य मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम है। इसलिये संयतका साम्य लक्षण है। (देखो गाथा ७ की टीका)

वहां, (१) शत्रु बन्धुवर्गमें, (२) सुख-दुखमें, (३) प्रशंसा-निन्दामें, (४) कंकड़ और सोनेमें, (५) जीवित-मरणमें एक ही साथ (१) यह मेरा पर (शत्रु) है, यह स्व (स्वजन) है, (२), 'यह आह्लाद है यह परिताप है, (३) 'यह मेरा उत्कर्षण बढ़वारी यह अपकर्षण घटती है, (४ 'यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक है, (५) 'यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यन्त विनाश है, इस प्रकार मोहके अभावके कारण सर्वत्र जिसके रागद्वेषका द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्माका अनुभ करता है, और (इस प्रकार) शत्रु-बंधु, सुख-दुख, प्रशंसा-निन्दा, लोष्ठकांचन और जीवित-मरणको, निर्विशेषतया ही (बिना अन्तरके) ज्ञेयरूपसे जान कर ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वतः साम्य है सो साम्य संयतका लक्षण समझना चाहिये उस संयतके आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता है ॥ २४१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथागमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसंयतत्वलक्षणेन विकल्पत्रययौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च युक्तो योऽसौ संयतस्तस्य किं लक्षणमित्युपदिशति। इत्युपदिशति कोऽर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासंभवमिति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः—

स श्रमणः संयतस्तपोधनो भवति। यः किं विशिष्टः। शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्ठकाञ्चनजीवितमरणेषु समः समचित्तः इति। ततः एतदायाति। शत्रुबन्धुसुखदुःखनिन्दाप्रशंसालोष्ठकांचनजीवितमरणसमताभावनापरिणतनिजशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूपं यत्परमसाम्यं तदेवपरमागमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येन तदा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥ २४१ ॥

उत्थानिका—आगे आगमका ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान, संयमीपना इन तीन विकल्परूप लक्षणसे एक साथ युक्त तथा निर्विकल्प आत्मज्ञानसे युक्त जो कोई संयमी होता है उसका क्या लक्षण है, ऐसा उपदेश करते हैं। यहां "इति उपदेश करते हैं" इसका यह भाव लेना कि शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं। इस तरह प्रश्नोत्तरको दिखानेके लिये कहीं कहीं यथा संभव इति शब्दका अर्थ लेना योग्य है।

गाथार्थः—(समसत्तुबंधुवग्गो) जो शत्रु व मित्र समुदायमें समान बुद्धिका धारी है, (समसुहदुक्खो) जो सुख दुःखमें समानभाव रखता है, (पसंसणिंदसमो) जो अपनी प्रशंसा व निन्दामें समताभाव करता है, (समलोट्ठुकंचणो) जो कंकड़ और सुवर्णको समान समझता है, (पुण) तथा (जीविदमरणे समो) जो जीवन तथा मरणको एकसा जानता है, वही (समणो) श्रमण या साधु है।

टीकार्थ—शत्रु बंधु, सुख दुःख, निन्दा प्रशंसा, लोष्ठ कंचन तथा जीवन मरणमें समताकी भावनामें परिणमन करते हुए अपने ही शुद्धात्माका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न निर्विकार परम आल्हादरूप एक लक्षणधारी सुखरूपी अमृत में परिणमन स्वरूप जो परम समताभाव सो ही उस तपस्वीका लक्षण है जो परमागमका ज्ञान, तत्वार्थका श्रद्धान, संयमपना इन तीनों को एक साथ रखता हुआ निर्विकल्प आत्मज्ञानमें परिणमन कर रहा है ऐसा जानना चाहिये ॥ २४१ ॥

वास्तवमें सुखदुःख मानने, अच्छा बुरा समझने, मान अपमान गिननेके जितने भाव हैं वे सब रागद्वेष की पर्यायें हैं—कषायके ही विकार हैं। परम तत्वज्ञानी साधुने कषायोंको त्याग करके वीतराग भावपर चलना शुरू किया है इसलिये उनके कषायभाव नहीं होते। वे बाहरी अच्छी बुरी दशामें समता भाव रखते हुए उसे पुण्य पापका नाटक जानते हुए अपने निष्कषाय भावसे हटते नहीं। ऐसे साधु आत्मानुभवरूपी समताभावमें लवलीन रहते हैं इसीसे बाहरी चेष्टाओंसे अपने परिणामोंमें कोई असर नहीं पैदा करते। साधुओंका मुक्ति द्वीपमें जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है। शरीरोंका बदलना वस्त्रोंके बदलने के समान दिखता है। जो भावलिंगी साधु हैं उनके ये ही लक्षण हैं।

सो ही मोक्षपाहुडमें कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो। आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो शरीरकी ममता रहित है, रागद्वेषसे शून्य है, यह मेरा है इस बुद्धिको जिसने त्याग दिया है, व जो लौकिक व्यापारसे रहित है तथा आत्माके स्वभावमें रत है वही योगी निर्वाणको पाता है।

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्रचलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ २४२ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु।
एकाग्रगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ २४२ ॥

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण, च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्प-

र्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ॥ २४२ ॥

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः ।

द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ।

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान की युगपत्ताके साथ आत्मज्ञान की युगपत्ताकी सिद्धिरूप जो यह संयतता है वही मोक्षमार्ग है, जिसका अपर नाम एकाग्रता-लक्षणवाला श्रामण्य है:—

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [त्रिषु] इन तीनोंमें [युगपत] एक ही साथ [समुत्थितः] ठहरा हुआ है, वह [एकाग्रगतः] एकाग्रताको प्राप्त है [इति] इसप्रकार [मतः] (शास्त्रमें) कहा गया है। [तस्य] उसके [श्रामण्यं] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है।

टीकाः—ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी (ज्ञानकी) यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है, ज्ञेय और ज्ञाताकी अन्य क्रियासे निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्त्वमें परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्र पर्याय है। इन पर्यायोंके और आत्माके भाव्यभावकर्ता के द्वारा उत्पन्न अति गाढ इतरेतर मिलनके बलके कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग अंगी भावसे परिणत आत्माके, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है वह संयतता, एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसा मोक्षमार्ग ही है—ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि वहां संयतत्वमें, पेयसे समान अनेकात्मक एकका अनुभव होने पर भी, समस्त परद्रव्य से निवृत्ति होनेसे एकाग्रता प्रगट है।

वह (संयतत्वरूप अथवा श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग) भेदात्मक है, इसलिये 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है, इसप्रकार पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे उसका प्रज्ञापन है, वह इन तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है, यह अभेदात्मक होनेके कारण द्रव्यप्रधान निश्चयनयसे प्रज्ञापन है, समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक है, इसलिये वे दोनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तीनोंकी एकता) मोक्षमार्ग है इस प्रकार प्रमाणसे उसका प्रज्ञापन है ॥ २४२ ॥

[अब श्लोक द्वारा मोक्षप्राप्तिके लिये द्रष्टा-ज्ञातामें लीनता करनेको कहा जाता है।]

अर्थः—इस प्रकार, प्रतिपादकके आशयके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ तथा

त्रिलक्षणताको प्राप्त जो अपवर्ग (मोक्ष) का मार्ग है उसको, लोक द्रष्टा ज्ञातामें परिणति बांधकर, अचलरूपसे अवलम्बन करे जिससे वह लोक उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें प्राप्त करता है।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति:—

(दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु) दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्त्ता (एयग्गगदोत्ति मदो) स ऐकाग्र्यगत इति मतः सम्मतः (सामण्णं तस्स पडिपुण्णं) श्रामण्यं चारित्रं यतित्वं तस्य परिपूर्णमिति। तथाहि—भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपंचद्रव्येभ्योऽपि भिन्नं सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभावं ममसम्बन्धि यदात्मद्रव्यं तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूपं 'सम्यग्दर्शनम्' तत्रैव परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्नेव स्वरूपे निश्चलानुभूतिलक्षणं चारित्रं चेत्युक्तस्वरूपं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैकं यत् तत्सविकल्पावस्थायां व्यवहारेणैकाग्र्यं भण्यते। निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति। तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति। ऐकाग्र्य मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति। समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः ॥२४२॥

एवं निश्चयव्यवहारसंयमप्रतिपादनमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो यहां संयमी तपस्वीका साम्यभाव लक्षण बताया है वही साधुपना है तथा वही मोक्षमार्ग कहा जाता है—

गाथार्थ:—(जो दु) जो कोई (दंसणणाणचरित्तेसु तीसु) इन सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनोंमें (जुगवं समुट्ठिदो) एक साथ भले प्रकार तिष्ठता है (एयग्गगदोत्ति मदो) वही एकाग्रताको प्राप्त है अर्थात् ध्यान-मग्न है, ऐसा माना गया है (तस्स परिपुण्णं सामण्णं) उसीके यतिपना अथवा चारित्र परिपूर्ण है।

टीकार्थ—जो भाव-कर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे भिन्न है तथा अपने सिवाय शेष जीव तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल इन सब द्रव्योंसे भी भिन्न है, और जो स्वभाव हीसे शुद्ध नित्य, आनंदमई एक स्वभाव रूप है, 'वही मेरा आत्मद्रव्य है, वही मुझे ग्रहण करना चाहिये' ऐसी रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है, उसी निज स्वरूपकी यथार्थ पहचान होना सो सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही आत्मस्वरूपमें निश्चल अनुभूति सो सम्यक्चारित्र है। जैसे शरबत अनेक पदार्थोंसे बना है इसलिये अनेक रूप है, परन्तु अभेद करके एक शर्बत है। ऐसे ही विकल्पसहित अवस्थामें व्यवहारनयसे उक्त स्वरूप वाले सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन हैं, परन्तु विकल्परहित समाधिके कालमें निश्चयनयसे इनको एकाग्र कहते हैं। यह जो स्वरूपमें एकाग्रता है या तन्मयता है इसीको दूसरे नामसे परम-

साम्य कहते हैं। इसी परम-साम्यका अन्य पर्याय नाम शुद्धोपयोग लक्षण श्रमणपना है या दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, ऐसा जानना चाहिये। इसी मोक्षमार्गका जब भेदरूप पर्यायकी प्रधानतासे अर्थात् व्यवहारनयसे निर्णय करते हैं तब यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जब अभेदपनेसे द्रव्यकी मुख्यतासे या निश्चयनयसे निर्णय करते हैं तब कहते हैं कि एकाग्रता मोक्षमार्ग है। सब ही पदार्थ इस जगतमें भेद और अभेद स्वरूप हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग भी निश्चय व्यवहार रूपसे दो प्रकार है, इन दोनोंका एक साथ निर्णय प्रमाण ज्ञानसे होता है, यह भाव है ॥ २४२ ॥

इस तरह निश्चय और व्यवहार संयमके कहनकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ २४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ २४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते। यत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ २४३ ॥

अब यह दिखाते हैं कि—अनेकाग्रताके मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता (अर्थात् अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है):—

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण, [अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य] अन्यद्रव्यका आश्रय करके [अज्ञानी] अज्ञानी होता हुआ, [मुह्यति वा] मोह करता है, [रज्यति वा] राग करता है, [द्वेष्टि वा] अथवा द्वेष करता है, तो वह [विविधैः कर्मभिः] विविध कर्मोंसे [बध्यते] बंधता है।

टीकाः—जो वास्तवमें ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को नहीं भाता (वीतराग निर्विकल्प समाधिमें लीन नहीं होता) वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है, और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मा उसी आत्मज्ञानसे भ्रष्ट (वीतराग निर्विकल्प समाधिसे रहित) स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, और ऐसा (मोही रागी अथवा द्वेषी) होता हुआ बन्धको ही प्राप्त होता है इससे अनेकाग्रताको मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता ॥ २४३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यः स्वशुद्धात्मन्येकाग्रो न भवति तस्य मोक्षाभावं दर्शयति;—

(मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि) मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा यदि चेत् ? किं कृत्वा । द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य । स कः । (समणो) श्रमणस्तपोधनः । तदा काले (अण्णाणी) अज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् (बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं) बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति । तथाहि—यो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मानं न जानाति तस्य चित्तं बहिर्विषयेषु गच्छति । ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति । ततश्च रागद्वेषमोहैः परिणमति तत्परिणमन् बहुविधकर्मणा बध्यत इति । ततः कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूपं भावनीयमित्यर्थः ॥ २४३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो शुद्ध आत्मामें एकाग्र नहीं होता है उसके मोक्ष नहीं हो सकता है—

गाथार्थ:—(जदि) यदि (समणो) कोई साधु (अण्णं दव्वं आसेज्ज) अपनेसे अन्य किसी द्रव्यको ग्रहण कर (मुज्झदि वा) उसमें मोहित होजाता है (रज्जदि वा) अथवा उसमें रागी होता है (दुस्सदि वा) अथवा उसमें द्वेष करता है (अण्णाणी) तो वह साधु अज्ञानी है, इसलिये (विविहेहिं कम्मेहिं) नाना प्रकार कर्मोंसे (बज्झदि) बंधता है ।

टीकार्थ:—जो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे एकाग्र होकर अपने आत्माको नहीं अनुभव करता है उसका चित्त बाहरके पदार्थोंमें जाता है तब चिदानन्दमई एक अपने आत्माके निज स्वभावसे च्युत हो जाता है फिर रागद्वेष मोह भावोंसे परिणमन करता हुआ नाना प्रकार कर्मोंको बांधता है । इस कारण मोक्षार्थी पुरुषोंको चाहिये कि एकाग्रताके द्वारा अपने आत्मस्वरूपकी भावना करें, यह तात्पर्य है ॥२४३॥

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति ।
श्रमणो यदि स नियतं क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥ २४४ ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न रज्यति न द्वेष्टि तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते । अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥२४४॥

इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ॥

अब, एकाग्रता मोक्षमार्ग है यह (आचार्य महाराज) निश्चित करते हुये (मोक्ष-मार्ग-प्रज्ञापनका) उपसंहार करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यदि यः श्रमणः] यदि जो श्रमण [अर्थेषु] पदार्थोंमें [न मुह्यति] मोह नहीं करता, [न हि रज्यति] राग नहीं करता, [न एव द्वेषम् उपयाति] और न द्वेषको प्राप्त होता है [सः] तो वह [नियतं] नियमसे [विविधानि कर्माणि] विविध कर्मोंको [क्षपयति] खपाता है।

टीकाः—जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है (वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थित है।) वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता, और उसका आश्रय नहीं करता वह ज्ञानात्मा (ज्ञानी) आत्मज्ञानसे अभ्रष्ट स्वयमेव ज्ञानीभूत रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बंधता नहीं है। इससे एकाग्रताको ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है॥ २४४

इस प्रकार मोक्षमार्गप्रज्ञापन समाप्त हुआ।

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति:—

(अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि) अर्थेषु बहिःपदार्थेषु यो न मुह्यति न रज्यति हि स्फुटं नैव द्वेषमुपयाति (जदि) यदि चेत् (सो समणो) स श्रमणः (णियदं) निश्चितं खवेदि विविहाणि कम्माणि) क्षपयति कर्माणि विविधानि इति। अथ विशेषः–योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपाद्यपध्यानत्यागेन निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्तं बहिःपदार्थेषु न गच्छति ततश्च बहिःपदार्थे चिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति। तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति। ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्त्तव्येति। इत्थं वीतरागचारित्रव्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति–सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णचारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति नैवं वक्तव्यम्। अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्रं तच्च ध्यानं केवलिनामुपचारेणोक्तं चारित्रमप्युपचारेणेति। यत्पुनः समस्तरागादिविकल्पजालरहितं शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं वीतरागछद्मस्थचारित्रं तदेव कार्यकारीति। कस्मादिति चेत्? तेनैव केवलज्ञानं जायते तस्माच्चारित्रे तात्पर्यं कर्त्तव्यमिति भावार्थः। किंच उत्सर्गव्याख्यानकालेऽपि श्रामण्यं व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह—तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्गः अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति परं किन्तु श्रामण्यं मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति॥२४४॥

एवं श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसंहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो अपने शुद्ध आत्मामें एकाग्र हैं उन हीके मोक्ष होती है:—

गाथार्थः—(जदि जो) तथा जो कोई (अट्ठेसु) अपने आत्माको छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थोंमें (ण मुज्झदि) मोह नहीं करता है, (ण हि रज्जदि) राग नहीं करता है (णेव दोसमुवयादि) और

न द्वेषको प्राप्त होता है (सो समणो) वह साधु (णियदं) निश्चयसे (विविहाणि कम्माणि खवेदि) नाना प्रकार कर्मोंका क्षय करता है।

टीकार्थः—जो कोई देखे, सुने, अनुभवे भोगोंकी इच्छा आदि अपध्यानके त्यागके द्वारा अपने स्वरूपकी भावना करता है उसका मन बाहरी पदार्थों में नहीं जाता है। तब बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता न होनेसे विकार रहित चैतन्यके चमत्कार मात्र भावसे च्युत नहीं होता। च्युत न होनेसे रागद्वेषादि भावोंसे रहित होता हुआ नाना प्रकार कर्मोंका नाश करता है। इसलिये मोक्षार्थीको निश्चल चित्त करके अपने आत्माकी भावना करनी योग्य है।

इस तरह वीतराग चारित्रका व्याख्यान सुनकर कोई कहते हैं कि सयोगकेवलियोंको भी एक देश चारित्र है, पूर्ण-चारित्र तो अयोग-केवलीके अंतिम समयमें होगा, इस कारणसे हमको तो सम्यग्दर्शनकी भावना तथा भेद विज्ञानकी भावना से ही पूर्ति है। चारित्र पीछे हो जायगा ? उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये। अभेद नयसे ध्यान ही चारित्र है। वह ध्यान केवलियोंके उपचारसे है तथा चारित्र भी उपचारसे है। वास्तवमें जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सर्व रागादि विकल्प जालोंसे रहित शुद्धात्मानुभव रूपी छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानीको होनेवाला वीतराग चारित्र है वही कार्यकारी है, क्योंकि इसी ही के प्रतापसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये चारित्रमें सदा यत्न करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

यहां कोई शंका करता है कि उत्सर्ग मार्गके व्याख्यानके समयमें भी श्रमणपना कहा गया तथा यहां भी कहा गया यह क्यों ? इसका समाधान करते हैं कि वहां तो सब परका त्याग करना इस स्वरूप ही उत्सर्गकी मुख्यतासे मोक्षमार्ग कहा गया यहां साधुपनेका व्याख्यान है कि साधुपना ही मोक्षमार्ग है इसकी मुख्यता है, ऐसा विशेष है ॥ २४४ ॥

इस तरह श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्गको संकोच करने की मुख्यतासे चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ २४५ ॥

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ॥ २४५ ॥

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते। ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते। 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो। पावदि णिव्वाण-

सुहं सुहोपजुत्तो व सग्गसुहं' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः। ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव च अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥ २४५ ॥

अब, शुभोपयोगका प्रज्ञापन करते हैं। उसमें (प्रथम), शुभोपयोगियोंको श्रमणरूप में गौणतया बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[समये] शास्त्रमें (ऐसा कहा है कि), [शुद्धोपयुक्ताः श्रमणाः] शुद्धोपयोगी श्रमण हैं [शुभोपयुक्ताः च भवन्ति] शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं [तेषु अपि] उनमें भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, [शेषाः सास्रवाः] शेष सास्रव हैं, (अर्थात्–शुभोपयोगी आस्रवसहित हैं।)

टीकाः—जो वास्तवमें श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी, कषाय-कणके जीवित होनेसे, समस्त परद्रव्यसे निवृत्तिरूपसे प्रवर्तमान जो सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोगभूमिका उसमें आरोहण करनेको असमर्थ हैं, वे (शुभोपयोगी) जीव–जो कि शुद्धोपयोगभूमिकाके निकट निवास कर रहे हैं, और कषायने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है, तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित मनवाले हैं, वे-श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जा रहा है:—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ' पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं

इस प्रकार (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने ११ वीं गाथामें) स्वयं ही निरूपण किया है, इसलिये शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय (अभिन्नता) है। इसलिये शुभोपयोगी भी धर्मका सद्भाव होनेसे, श्रमण हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके साथ समान कोटिके नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोंको निरस्त किया होनेसे निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषायकणके विनष्ट न होनेसे सास्रव ही हैं। और ऐसा होनेसे ही शुद्धोपयोगियोंके साथ इन्हें (शुभोपयोगियोंको) एकत्रित नहीं लिया (वर्णन किया) जाता, मात्र पीछेसे (गौणरूपमें ही) लिया जाता है।

भावार्थः—परमागममें ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी

गौणतया श्रमण हैं जैसे निश्चयसे शुद्ध बुद्ध-एक-स्वभाववाले सिद्ध ही जीव कहलाते हैं और व्यवहारसे चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव भी जीव कहे जाते हैं, उसीप्रकार श्रमणपने शुद्धोपयोगी जीवोंको मुख्यता है और शुभोपयोगी जीवोंकी गौणता है, क्योंकि शुद्धोपयोगी निज शुद्धात्मभावनाके बलसे समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेसे निरास्रव ही हैं, और शुभोपयोगियोंके मिथ्यात्वविषयकषायरूप अशुभास्रवका निरोध होनेपर भी वे पुण्यास्रवयुक्त हैं।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुभोपयोगिनां आस्रवत्त्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्वं व्यवस्थापयति;—

(संति) विद्यन्ते । क्व ? (समयम्हि) समये परमागमे । के सन्ति । (समणा) श्रमणास्तपोधनाः । किंविशिष्टाः । (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगयुक्ता शुद्धोपयोगिन इत्यर्थः (सुहोवजुत्ता य) न केवलं शुद्धोपयोगयुक्ताः शुभोपयोगयुक्ताश्च । चकारोऽत्र अन्वयार्थे गौणार्थे ग्राह्यः । तत्र दृष्टान्तः । यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावाः सिद्धजीवा एव जीवा भण्यन्ते व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जीवा इति तथा शुद्धोपयोगिनां मुख्यत्वं शुभोपयोगिनां तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम् । कस्माद्गौणत्वजातमितिचेत् ? (तेसुवि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा) तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवाः शेषाः सास्रवा इति यतः कारणात् । तद्यथा–निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव शेषा शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भावः ॥२४५॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगधारियोंको आस्रव होता है इससे उनके व्यवहारपनसे मुनिपना स्थापित करते हैं—

गाथार्थः—(समयम्मि) परमागममें (समणा) मुनि महाराज (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (य सुहोवजुत्ता) और शुभोपयोगी ऐसे दो तरहके (होंति) होते हैं। (तेसु वि) इन दो तरहके मुनियोंमें भी (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (अणासवा) आस्रव रहित होते हैं (सेसा) शेष शुभोपयोगी मुनि (सासवा) आस्रव सहित होते हैं। इस गाथामें 'च' शब्दका 'गौण' अर्थ है।

टीकार्थः—जैसे निश्चयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप सिद्ध जीव ही जीव हैं, परन्तु व्यवहारनयसे चारों गतियोंमें भ्रमण करने वाले अशुद्ध जीव भी जीव हैं। तैसे ही शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले साधुओंकी मुख्यता है और शुभोपयोगमें परिणमन करनेवालोंकी गौणता है, क्योंकि इन दोनोंके मध्यमें शुद्धोपयोगी साधु आस्रवरहित हैं व शेष शुभोपयोगी आस्रववान् हैं। अपने शुद्धात्माकी भावनाके बलसे जिनके सर्व शुभ अशुभ संकल्प विकल्पोंकी शून्यता है उन शुद्धोपयोगी साधुओंके कर्मोंका आस्रव नहीं होता है, परन्तु शुभोपयोगी साधुओंके मिथ्यादर्शन व विषय कषायरूप अशुभ आस्रवके रुकने पर भी पुण्यास्रव होता है, यह भाव है ॥ २४५ ॥

भावार्थ—तत्व दो प्रकारका है एक स्वतत्व दूसरा परतत्व, इनमें स्वतत्व अपना आत्मा है तथा परतत्व अरहंतादि पंचपरमेष्ठी हैं। इन पंच परमेष्ठीके अक्षररूप मंत्रोंके ध्यानसे भव्य मनुष्योंको बहुत पुण्यबंध

होता है तथा परम्परायसे मोक्ष होसकती है। और जो स्वतत्त्व है वह भी दो प्रकारका है। एक सविकल्प स्वतत्त्व, दूसरा निर्विकल्प स्वतत्त्व। जहां यह विचार किया जावे कि आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा आनन्दमय है वहां सविकल्प आत्मतत्त्व है, परन्तु जहां मनका विचार भी बंद होजावे केवल आत्मा अपने आत्मामें तन्मय हो स्वानुभव रूप हो जावे वहां निर्विकल्प आत्मतत्त्व है। राग सहित सविकल्प तत्त्व कर्मोंके आस्रवका कारण है जब कि वीतराग निर्विकल्प तत्त्व कर्मोंके आस्रवसे रहित है। जब इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्तता होती है तथा मन हलन चलन रहित अर्थात् संकल्प-विकल्प-रहित होता है तब यह निर्विकल्प तत्त्व अपने आत्माके स्वरूपमें झलकता है जो वास्तवमें आत्माका स्वभाव ही है। (तत्त्वसार गाथा ३ ६)

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति--

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ २४६ ॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ २४६ ॥

सकलसंगसन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रतिपादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगि चारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगि चारित्रत्वलक्षणम् ॥ २४६ ॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण सूत्रद्वारा कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रामण्ये] श्रामण्यमें [यदि] यदि [अर्हदादिषु भक्तिः] अर्हन्तादिके प्रति भक्ति तथा [प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता] प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य [विद्यते] पाया जाता है तो [सा] वह [शुभयुक्ता चर्या] शुभयुक्त चर्या शुभोपयोगी चारित्र [भवेत्] है।

टीकाः—सकल परिग्रहके त्याग स्वरूप श्रामण्यके होनेपर भी जो कषायांशके आवेशके वश केवल शुद्धात्म-परिणतिरूपसे रहनेमें स्वयं अशक्त है, ऐसा श्रमण, पर जो (१) केवल शुद्धात्मपरिणतरूप से रहनेवाले अर्हन्तादिक तथा (२) केवल शुद्धात्मपरिणतरूपसे रहनेका प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीव हैं उनके प्रति (१) भक्ति तथा (२) वात्सल्यसे चंचल है उस (श्रमण) के, मात्र उतने रागसे प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्तिके साथ शुद्धात्मपरिणति-मिलित होनेसे, शुभोपयोगी श्रमण वाला चारित्र है।

इसलिये शुद्धात्माका अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है ॥२४६॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमाख्याति:—

(सा सुहजुत्ता हवे चरिया) सा चर्या शुभयुक्ता भवेत् । कस्य । तपोधनस्य । कथंभूतस्य । समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य । यदि किम् ? (विज्जदि जदि) विद्यते यदि चेत् । क्व ? (सामण्णे) श्रामण्ये चारित्रे । किं विद्यते ? (अरहंतादिसु भत्ती) अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः (वच्छलदा) वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्यं विनयोऽनुकूलवृत्तिः । केषु विषयेषु ? (पवयणाहिजुत्तेसु) प्रवचनाभियुक्तेषु । प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते संघो वा तेन प्रवचनेनाभियुक्ताः प्रवचनाभियुक्ता आचार्योपाध्यायसाधवस्तेष्विति । एतदुक्तं भवति—स्वयं शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामायिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च याऽसौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणानां लक्षणमिति ॥२४६॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगी साधुओंका लक्षण कहते हैं—

गाथार्थः—(जदि) यदि (सामण्णे) मुनिके चारित्रमें (अरहंतादिसु भत्ती) अनन्तगुण सहित अरहंत तथा सिद्धोंमें गुणानुराग रूप भक्ति है (पवयणाभिजुत्तेसु वच्छलदा) आगम या संघके धारी आचार्य उपाध्याय व साधुओंमें विनय, प्रीति व उनके अनुकूल वर्तन (विज्जदि) पाया जाता है तब (सा चरिया सुहजुत्ता हवे) वह आचरण शुभोपयोग सहित होता है।

टीकार्थ—जो साधु सर्व रागादि विकल्पोंसे शून्य परम समाधि अथवा शुद्धोपयोग रूप परम सामायिकमें तिष्ठनेको असमर्थ है उसके शुद्धोपयोगके फलको पानेवाले केवलज्ञानी अरहंत सिद्धोंमें जो भक्ति है तथा शुद्धोपयोगके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुमें जो प्रीति है यही शुभोपयोगी साधुओंका लक्षण है ॥ २४६ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥२४७॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥२४७॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ॥२४७॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति बतलाते हैं:—

अन्वयार्थ:—[श्रमणेषु] श्रमणोंके प्रति [वन्दननमस्करणाभ्यां] वन्दन-नमस्कार पूर्वक [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः] खड़ा हो जाने और पीछे चलने से विनय सहित प्रवृत्ति

करना तथा [श्रमापनयः] उनका थकान दूर करना [रागचर्यायाम्] रागचर्यामें [न निन्दिता] निषिद्ध नहीं है।

टीका—जिनने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणोंके प्रति शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्रके द्वारा जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनययुक्त प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो थकान दूर करनेकी (वैयावृत्यरूप) प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोंके लिये दूषित नहीं है ॥ २४७॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुभोपयोगिनां शुभप्रवृत्तिं दर्शयति;—

(ण णिंदिदा) नैव निषिद्धा। क्व ? (रायचरियम्हि) शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम्। का न निन्दिता ? (वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती) वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः। (समणेसु समावणओ) श्रमणेषु श्रमापनयः रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति। अनेन किमुक्तं भवति—शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानां इत्थंभूताः शुभोपयोगप्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकस्वरूपेषु विषये युक्ता एव विहिता एवेति ॥२४७॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी शुभ प्रवृत्तिको और भी दर्शाते हैं।

गाथार्थ—(रागचरियम्मि) शुभ रागरूप आचरणमें अर्थात् सराग चारित्रकी अवस्थामें (वंदणणमंसणेहिं) वंदना और नमस्कारके साथ २ (अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती) आते हुए साधुको देखकर उठ खड़ा होना, उनके पीछे २ चलना आदि प्रवृत्ति तथा (समणेसु) साधुओंके सम्बन्धमें उनका (समावणओ) खेद दूर करना आदि क्रिया (ण णिंदिया) निषेध्य या वर्जित नहीं है।

टीकार्थ—पंच परमेष्ठियोंको वंदना नमस्कार व उनको देखकर उठना, पीछे चलना आदि प्रवृत्ति व रत्नत्रयकी भावना करनेसे प्राप्त जो परिश्रमका खेद उसको दूर करना आदि शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले साधुओंके लिये मना नहीं है किन्तु करने योग्य है। जो साधु शुद्धोपयोगके साधक शुभोपयोगमें ठहरे हुए हैं। उनके लिये रत्नत्रयके आराधकोंके संबंध में इस प्रकार की शुभ प्रवृत्ति उचित ही है। ॥ २४७ ॥

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम्।
चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥२४८॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४८॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि शुभोपयोगियोंके ही ऐसी प्रवृत्तियां होती हैं:—

अन्वयार्थः—[दर्शनज्ञानोपदेशः] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका उपदेश, [शिष्यग्रहणं] शिष्योंका ग्रहण, [च] तथा [तेषाम् पोषणं] उनका पोषण, [च] और [जिनेन्द्रपूजोपदेशः] जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश [हि] वास्तवमें [सरागाणां चर्या] सरागियोंकी चर्या है।

टीका—अनुग्रह करनेकी इच्छापूर्वक दर्शनज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति, शिष्यग्रहणकी प्रवृत्ति, उनके पोषणकी प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजनके उपदेशकी प्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं ॥ २४८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थंभूताः प्रवृत्तयो भवन्ति न च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति;—

(दंसणणाणुवदेसो) दर्शनं मूढत्रयादिरहितं सम्यक्त्वं ज्ञानं परमागमोपदेशः तयोरुपदेशो दर्शनज्ञानोपदेशः
(सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं) रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनशयना-
दिचिन्ता (चरिया हि सरागाणं) इत्थंभूता चर्या चारित्रं भवति हि स्फुटं । केषां । सरागाणां धर्मानुरागचारित्रस-
हितानाम् । न केवलमित्थंभूता (जिणिंदपूजोवदेसो य) यथासम्भवं जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति । ननु शुभोपयोगि-
नामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते । श्रावकाणा-
मपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह—युक्तमुक्तं भवता परं
किन्तु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते । यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावनां कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव
भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् ?
बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥२४८॥

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते हैं कि शुभोपयोगी साधुओंकी ऐसी प्रवृत्तियां होती हैं न कि शुद्धोपयोगी साधुओंकी—

गाथार्थः—(दंसणणाणुवदेसो) तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित सम्यक्त्व तथा परमागम
का उपदेश सो ज्ञान, इन दोनोंका उपदेश सो दर्शन-ज्ञानका उपदेश है (सिस्सग्गहणं) रत्नत्रयके आरा-
धक शिष्योंको दीक्षित करना (च तेसिं पोषणं) और उन शिष्योंके शयन भोजनादि पोषणकी चिन्ता
(जिणिंदपूजोवदेसो य) तथा यथासंभव जिनेन्द्रकी पूजा आदिका धर्मोपदेश ये सब (सरागाणं चरिया)
अर्थात् धर्मानुराग सहित सराग चारित्र पालनेवालोंका ही चारित्र है।

टीकार्थ—कोई शिष्य प्रश्न करता है कि साधुओंके चारित्रके कथनमें आपने बताया कि शुभो
पयोगी साधुओंके भी कभी कभी शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है तथा शुद्धोपयोगी साधुओंके कभी २

शुभोपयोगी भावना होती जाती है। तैसे ही श्रावकोंके भी सामायिक आदि उदासीन धर्म कालमें शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है तब साधु और श्रावकोंमें क्या अंतर रहा ? इसका आचार्य करते हैं कि आपने जो कहा वह सब युक्ति संगत है-ठीक है। परन्तु जो अधिकतर शुभो द्वारा ही वर्तन करते हैं यद्यपि वे कभी कभी शुद्धोपयोगकी भावना कर लेते हैं ऐसे अधिकतर शु श्रावकोंको शुभोपयोगी ही कहा है क्योंकि उनके शुभोपयोगकी प्रधानता है तथा जो शुद्धोपयोगी यद्यपि वे किसी कालमें शुभोपयोग द्वारा वर्तन करते हैं तथापि वे शुद्धोपयोगी हैं। बहुलताकी रहती है। जैसे किसी वनमें आम्रवृक्ष अधिक हैं व और वृक्ष थोड़े हैं तो उसको आम्र-वन कहते जहां नीमके वृक्ष बहुत हैं, आम्रादिके कम हैं वहां उसको नीमका वन कहते हैं ॥ ४८ ।

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥२४९॥

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ॥२४९॥

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राण त्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभो नामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४९॥

अब, यह निश्चय करते हैं कि सभी प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोंके ही होती हैं:—

अन्वयार्थः—[यः अपि] जो कोई (श्रमण) [नित्यं] सदा [चातुर्वर्णस्य] प्रकारके [श्रमणसंघस्य] श्रमण संघका [कायविराधनरहितं] जीवोंकी विराधनासे र [उपकरोति] उपकार करता है, [सः अपि] वह भी [सरागप्रधानः स्यात] रागकी नता वाला है।

टीका—क्योंकि संयमकी प्रतिज्ञा की है इसलिये षट्काय के विराधनसे रहित कोई भी, शुद्धात्मपरिणति के रक्षणमें निमित्तभूत, चारप्रकारके श्रमणसंघके उपकाररूप है वह सभी रागप्रधानताके कारण शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके क नहीं ॥ २४९ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ काश्चिदपि या प्रवृत्तयस्ताः शुभोपयोगिनामेवेति नियमति;—
(उवकुणदि जो वि णिच्चं चाउव्वण्णस्स समणसंघस्स) उपकरोति योऽपि नित्यं कस्य पूर्व

श्रमणसंघस्य । अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्याः । "देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः । राजा ब्रह्मा च देवपरम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥१॥" ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरमऋषिभेदात् । तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति । ब्रह्मर्षयो बुद्धयौषधर्द्धियुक्ता भवन्ति । देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसम्पन्ना भवन्ति, परमर्षयः केवलिनः केवलज्ञानिनो भवन्ति, मुनयः अवधिमनःपर्ययकेवलिनश्च । यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढाः । अनगाराः सामान्यसाधवः । कस्मात् ? सर्वेषां सुखदुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति । अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसंघः । कथं यथा भवति । (कायविराहणरहिदं) स्वस्वभावनास्वरूपं स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षणं निश्चयप्राणं रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहितं यथा भवति (सो वि सरागप्पधाणो से) सोऽपीत्थंभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधानः श्रेष्ठः स्यादित्यर्थः ॥२४९॥

उत्थानिका—ये प्रवृत्तियां शुभोपयोगी साधुओंके होती हैं, ऐसा नियम करते हैं—

गाथार्थः—(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स) चार प्रकार साधुसंघका (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिदं) छहकायके प्राणियोंकी विराधनासे रहित क्रिया द्वारा (उपकुणदि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो से) शुभोपयोगधारियोंमें मुख्य होता है।

टीकार्थः—चार प्रकार संघमें ऋषि, मुनि, यति, अनगार लेने योग्य हैं।

एक देश प्रत्यक्ष अर्थात् अवधि मनःपर्ययज्ञानके धारी तथा केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं, ऋद्धिप्राप्त मुनि ऋषि कहलाते हैं, उपशम और क्षपकश्रेणिमें आरूढ यति कहलाते हैं तथा सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं। ऋद्धिप्राप्त ऋषियोंके चार भेद हैं-राजऋषि, ब्रह्मऋषि, देवऋषि, परमऋषि इनमें जो विक्रिया और अक्षीणऋद्धिके धारी हैं वे राजऋषि हैं, जो बुद्धि और औषधि ऋद्धिके धारी हैं वे ब्रह्मऋषि हैं, जो आकाशगमन ऋद्धिके धारी हैं वे देव ऋषि हैं, परमऋषि केवलज्ञानी हैं। ये चारों ही श्रमण संघ इसीलिये कहलाता है कि सुख दुःख आदिके संबंधमें इन सबोंके समताभाव रहना है। अथवा श्रमण धर्मके अनुकूल चलनेवाले श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ऐसे भी चार प्रकार संघ है। इन चार तरहके संघका उपकार करना इस तरह योग्य है जिसमें उपकारकर्ता साधु आत्मीक भावना स्वरूप अपने ही शुद्धचैतन्यमय निश्चय प्राणकी रक्षा करता हुआ बाह्यमें छः कायके प्राणियोंकी विराधना न करता हुआ वर्तन कर सके। ऐसा ही तपोधन धर्मानुराग रूप चारित्रके पालनेवालोंमें श्रेष्ठ होता है ॥ २४९ ॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥२५०॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराध-

यति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥२५०॥

अब इस प्रवृत्तिके संयमके विरोधी होनेका निषेध करते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण के संयमके साथ विरोधवाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, यह कहते हैं) :—

अन्वयार्थः—[यदि] यदि (श्रमण) [वैयावृत्त्यर्थम् उद्यतः] वैयावृत्तिके लिये उद्यमी वर्तता हुआ [कायखेदं] जीवोंको पीड़ित [करोति] करता है तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, [अगारी भवति] गृहस्थ है, (क्योंकि) [सः] वह [श्रावकाणां धर्मः स्यात्] श्रावकोंका धर्म है।

टीकाः—दूसरेके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाके अभिप्रायसे जो मुनि वैयावृत्यकी प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयमकी विराधना करता है, उसका गृहस्थधर्ममें प्रवेश होनेसे श्रामण्यसे च्युत होता है। इसलिये जो भी प्रवृत्ति हो उसका संयमके साथ सर्वथा विरोध न आये ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्तिमें संयम ही साध्य है ॥ २५० ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ वैयावृत्त्यकालेऽपि स्वकीयसंयमविराधनाकर्तव्येत्युपदिशति;—

(जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो) यदि चेत् करोति कायखेदं षट्कायविराधनां । कथंभूतः सन् । वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः (समणो ण हवदि) तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति । तर्हि किं भवति ? (हवदि अगारी) अगारी गृहस्थो भवति । कस्मात् । (धम्मो सो सावयाणं से) षट्कायविराधनां कृत्वा योऽसौ धर्मः स श्रावकाणां स्यात् न च तपोधनानामिति । इदमत्र तात्पर्यं—योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ॥२५०॥

उत्थानिका—आगे उपदेश करते हैं कि वैयावृत्यके समयमें भी अपने संयमका घात साधुको कभी नहीं करना चाहिये—

गाथार्थः—(जदि) यदि (वेज्जावच्चत्थमुज्जदो) वैयावृत्त्यके लिये उद्यम करता हुआ साधु (कायखेदं कुणदि) षटकायके जीवोंकी विराधना करता है तो (समणो ण हवदि) वह साधु नहीं है, (अगारी हवदि) वह गृहस्थ होजाता है, क्योंकि (सो सावयाणं धम्मो से) षट्कायके जीवोंका आरम्भ श्रावकोंका कार्य है, साधुओंका धर्म नहीं है।

टीकार्थः—यहां यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीरकी पुष्टिके लिये वा शिष्यादिकोंके मोहमें पड़कर उनके लिये पाप कर्मकी या हिंसा कर्मकी इच्छा नहीं करता है उसीके यह व्याख्यान शोभनीक है, परन्तु यदि वह अपने व दूसरोंके लिये पापमय कर्मकी इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्थाके

योग्य धर्म कार्यकी अपेक्षासे नहीं चाहता है उसके तबसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहो ॥ २५० ॥

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

जैनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥२५१॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा। न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्या शुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥ २५१ ॥

अब प्रवृत्तिके विषयके दो विभाग बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यद्यपि अल्पः लेपः] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [जैनानां] जैनोंका [निरपेक्षं] निरपेक्षतया [अनुकम्पया] अनुकम्पासे [उपकारं करोतु] (शुभोपयोगसे) उपकार करो।

टीकाः—जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति उसके करनेसे यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तो भी अनेकान्तके साथ मैत्रीसे जिनका चित्त पवित्र हुआ है ऐसे शुद्ध जैनोंके प्रति—जो कि शुद्धात्मज्ञान-दर्शनमें प्रवर्तमान चर्या के कारण सागार अनागार चर्यावाले हैं उनके प्रति,—शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्तिके करनेका निषेध नहीं है, किन्तु अल्पलेपवाली होनेसे सबके प्रति सभी प्रकारसे वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इसमें (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकारसे की जाय तो) उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे परके और निजके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं हो सकती २५१

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकारः कर्तव्य इत्युपदिशति;—
(कुव्वदु) करोतु। स कः कर्ता। शुभोपयोगी पुरुषः। कं करोतु। (अणुकंपयोवयारं) अनुकम्पासहितोप-

कारं दयासहितं धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् ? (लेवो जवि वियप्पो) "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" इति दृष्टान्तेन द्यप्यल्पलेपः स्तोकसावद्यं भवति । केषां करोतु । (जेण्हाणं) निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गपरिणतजैनानाम् । कथम् । (णिरवेक्खं) निरपेक्षं शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजालाभवाञ्छारहितं यथा भवति । कथंभूतानां जैनानाम् ? (सागारणगारचरियजुत्ताणं) सागारानागारचर्यायुक्तानां श्रावकतपोधनाचरणसहितानामित्यर्थः ॥२५१॥

उत्थानिका—यद्यपि परोपकार करनेमें कुछ अल्प बंध होता है, तथापि शुभोपयोगी साधुओंका धर्म संबंधी उपकार करना चाहिये, ऐसा उपदेश करते हैं—

गाथार्थः—(यद्विवियप्पं लेवो) यद्यपि अल्प बंध होता है तथापि शुभोपयोगी मुनि (सागारणगारचरियजुत्ताणं) श्रावक तथा मुनिके आचरणसे युक्त (जोण्हाणं) जैन धर्म धारियोंका (णिरवेक्खं) विना किसी इच्छाके (अणुकंपयोवयारं) दया सहित उपकार (कुव्वदि) करै ।

टीकार्थः—यद्यपि अल्प कर्म बंध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गपर चलनेवाले श्रावकोंकी तथा मुनियोंकी सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्मप्रेम या उपकार, शुद्धात्माकी भावनाको विनाश करनेवाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभकी इच्छा आदि भावोंसे रहित होकर करे ॥७० ॥

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम्
दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ २५२ ॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ॥२५२॥

अब, प्रवृत्तिके कालका विभाग बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[रोगेण वा] रोगसे, [क्षुधया) क्षुधासे, [तृष्णया वा] तृषासे [श्रमेण वा] अथवा थकावटसे [रूढम्] पीडित [श्रमणं] श्रमणको [दृष्ट्वा] देखकर [साधुः] साधु [आत्मशक्त्या] अपनी शक्तिके अनुसार [प्रतिपद्यताम्] वैयावृत्यादि करो ।

टीकाः—जब शुद्धात्मपरिणतिमें भले प्रकार लीन श्रमणको, उससे च्युत करनेवाला कारण—कोई भी उपसर्ग—आजाय, तब शुभोपयोगीको अपनी शक्तिके अनुसार उपसर्गको दूर करनेके लिये प्रवृत्ति करनेका काल है, और उसके अतिरिक्त काल अपनी शुद्धात्मपरिणति की प्राप्तिके लिये केवल निवृत्तिका काल है ॥ २५२ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्त्यं कर्तव्यमित्युपदिशति;—

(पडिवज्जदु) प्रतिपद्यतां स्वीकरोतु । कया । (आवसत्तीए) स्वशक्त्या स कः कर्ता । (साहू) रत्नत्र भावनया स्वात्मानं साधयतीति साधुः । कम् ? (समणं । जीवितमरणादिसमपरिणतत्वाच्छ्रमणस्तं श्रमण (दिट्ठा) दृष्ट्वा । कथंभूतं । (रूढं) रूढं व्याप्तं पीडितं कदर्थितम् । केन ? (रोगेण वा) अनाकुलत्वलक्षणपरम त्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा (छुहाए) क्षुधया (तण्हाए वा) तृषया वा (समे वा) मार्गोपवासादिश्रमेण वा । अत्रेदं तात्पर्यम् -स्वस्वभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्त्यं करोति शेषका स्वकीयानुष्ठानं करोतीति ॥२५२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि किस समय साधुओंकी वैयावृत्य की जाती है:—

टीकार्थः—(रोगेण) रोगसे (वा छुधाए) वा भूखसे (तण्हया वा) वा प्यासते (समे वा) वा थकनसे (रूढं) पीडित (समणं) किसी साधुको (दिट्ठा) देखकर (साधू) साधु (आद सीए) अपनी शक्तिके अनुसार (पडिवज्जदु) उसका वैयावृत्य करे ।

टीकार्थः—जो रत्नत्रयकी भावनासे अपने आत्माको साधता है वह साधु है । ऐसा साधु कि दूसरे श्रमणको, जो जीवन मरण, लाभ अलाभ आदिमें समभावको रखनेवाला है, ऐसे रोगसे पीडि देखकर, जो रोग अनाकुलतारूप परमात्मस्वरूपसे विलक्षण आकुलताको पैदा करनेवाला है, या भू प्याससे निर्बल जानकर या मार्गकी थकनसे वा मास पक्ष आदि उपवासकी गर्मीसे असमर्थ समझ अपनी शक्तिके अनुसार उसकी सेवा करे । तात्पर्य यह है कि अपने आत्माकी भावनाके घातक रोग आ के अवसर पर वैयावृत्य करना साधुका कर्तव्य है उस शेषकालमें अपना चारित्र पाले ॥ २५२ ॥

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

वैयावृत्त्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् ।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥२५३॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्त्यनिमित्तमेव शुद्ध त्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥२५३॥

अब लोगोंके साथ बातचीत करनेकी प्रवृत्ति विभागका कारण बतलाते हैं ।

अन्वयार्थः—[वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी [वैयावृत्यनिमित्तं] सेवाके निमित्तसे, [शुभोपयुता] शुभोपयो

युक्त मुनि [लौकिकजनसंभाषा] लौकिक जनोंके साथ बातचीत करनेका [न निन्दिता] निषेध नहीं है ।

टीका:—शुद्धात्मपरिणतिमें भले प्रकार लीन ऐसे रोगी, गुरु बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवाके निमित्तसे ही (शुभोपयोगी श्रमणको) शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगोंके साथ बातचीत युक्त है (शास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं है), किन्तु अन्य निमित्तसे निषेध है ॥ २५३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुभोपयोगिनां तपोधनवैयावृत्यनिमित्तं लौकिकसंभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति;—

(ण णिंदिदा) शुभोपयोगितपोधनानां न निन्दिता न निषिद्धा । का कर्मतापन्ना । (लोगिगजणसंभासा) लौकिकजनैः सह संभाषा वचनप्रवृत्तिः (सुहोवजुदा वा) अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते । किमर्थं न निषिद्धा ? (वेज्जावच्चणिमित्तं) वैयावृत्यनिमित्तम् । केषां वैयावृत्यम् ? (गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं) ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते अथवा पूज्यो वा गुरुरिति । तथाहि—यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वैयावृत्यं करोति तदा काले तद्वैयावृत्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह सम्भाषणं करोति न शेषकाल इति भावार्थः ॥२५३॥

एवं गाथापञ्चकेन लौकिकव्याख्यानसम्बन्धिप्रथमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे उपदेश करते हैं कि साधुओंकी वैयावृत्यके वास्ते शुभोपयोगी साधुओंका लौकिकजनोंके साथ भाषण करनेका निषेध नहीं है—

गाथार्थ:—(वा) अथवा (गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं) रोगी मुनि, गुरु अर्थात् स्थूल काय मुनि या पूज्य मुनि, बालक मुनि तथा वृद्धमुनिकी (वेज्जावच्चणिमित्तं) वैय्यावृतके लिये (सुहोवजुदा) शुभोपयोगी मुनिको (लोगिगजणसंभासा) शुभोपयोगी लौकिक जनोंके साथ भाषण करना णिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है ।

टीकार्थ:—जब कोई भी शुभोपयोग सहित आचार्य सरागचारित्ररूप शुभोपयोगके धारी साधुओंकी अथवा वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगधारी साधुओंकी वैयावृत्य करता है उस समय उस वैयावृत्यके प्रयोजनसे लौकिकजनोंके साथ संभाषण भी करता है । शेषकालमें नहीं, यह भाव है । २५३ ॥

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा लौकिक व्यवहारके व्याख्यानके सम्बन्धमें पहला स्थल पूर्ण हुआ

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥२५४॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः । २५४॥

अब इस प्रकारसे कहे गये शुभोपयोगका गौण-मुख्य विभाग बतलाते हैं, अर्थात् यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है:—

अन्वयार्थः—[एषा] यह [प्रशस्तभूता] प्रशस्तभूत [चर्या] चर्या [श्रमणानां] श्रमणोंके (गौण) होती है [वा गृहस्थानां पुनः] और गृहस्थोंके तो [परा] मुख्य होती है, [इति भणिता] (शास्त्रोंमें) ऐसा कहा गया है, [तया एव] उसीसे [परंसौख्यं लभते] गृहस्थ परम सौख्यको प्राप्त होता है।

टीकाः—इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप शुभोपयोग वर्णित किया गया है। वह शुभोपयोग, शुद्धात्माकी प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोंके कषायकणके सद्भावके कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है, क्योंकि उस शुभोपयोगका शुद्धात्मपरिणतिसे विरुद्ध रागके साथ संबन्ध है, और वह शुभोपयोग गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके न होनेसे शुद्धात्म-प्रकाशनके अभावके कारण कषायके सद्भावमें प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि-जैसे ईंधनको स्फटिकके संपर्क से सूर्यके तेजका अनुभव होता है (और इसलिये वह क्रमशः जल उठता है) उसीप्रकार-गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और (इसलिये वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाणसौख्यका कारण होता है ॥ २५४ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथायं वैयावृत्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्त्या कर्त्तव्य इत्याख्याति;—

(भणिदा) भणिता कथिता । का कर्मतापन्ना ? (चरिया) चारित्रमनुष्ठानं । किं विशिष्टा । (एसा) एषा प्रत्यक्षीभूता । पुनश्च किंरूपा ? (पसत्थभूदा) प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा । केषां सम्बन्धिनी । (समणाणं वा) श्रमणानां वा (पुणो घरत्थाणं) गृहस्थानां वा पुनरियमेव चर्या (परेत्ति) परा सर्वोत्कृष्टेति (ताएव परं लहदि सोक्खं) तयैव शुभोपयोगचर्यया परम्परया मोक्षसुखं लभते गृहस्थ इति । तथाहि—तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति । वचनेन धर्मोपदेशं च । शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामधीनं

तेन कारणेन वैयावृत्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां गौणः। द्वितीयं च कारणं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभत इत्यभिप्रायः ॥२५४॥

एवं शुभोपयोगितपोधनानां शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थलं गतम्। इत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यन्तं पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस वैयावृत्य आदि रूप शुभोपयोगकी क्रियाओंका तपोधनोंको गौणरूपसे करना चाहिये, परन्तु श्रावकोंको मुख्यरूपसे करना चाहिये—

गाथार्थः—(समणाणं) साधुओंका (एसा) यह प्रत्यक्ष (पसत्थभूता चरिया) धर्मानुराग रूप चर्या या क्रिया होती है (वा पुणो घरत्थाणं) तथा गृहस्थोंकी यह क्रिया (परेत्ति भणिदा) उत्कृष्ट कही गई है (ता एव) इसी ही चर्यासे गृहस्थ (परं सोक्खं) परंपरासे उत्कृष्ट मोक्षसुख (लहदि) प्राप्त करता है।

टीकार्थः—तपोधन दूसरे साधुओंकी वैय्यावृत्य करते हुए अपने शरीरके द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारम्भ व हिंसासे रहित होती है तथा वचनोंके द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि अन्नपान आदिकी सेवा गृहस्थोंके अधीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थोंका मुख्य धर्म है, किन्तु साधुओंका गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकाररहित चैतन्यके चमत्कारकी भावनाके विरोधी तथा इंद्रिय विषय और कषायोंके निमित्तसे पैदा होनेवाले आर्त्त और रौद्रध्यानमें परिणमनेवाले गृहस्थोंको आत्माधीन निश्चय धर्मके पालनेका अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्मसे वर्तन करें तो खोटे ध्यानसे बचते हैं तथा साधुओंकी संगतिसे गृहस्थोंको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गके उपदेश का लाभ होजाता है, इससे ही वे गृहस्थ परंपरा निर्वाणको प्राप्त करते हैं, ऐसा गाथाका अभिप्राय है ॥५४॥

इस तरह शुभोपयोगी साधुओंकी शुभोपयोग-सम्बन्धी क्रियाके कथनकी मुख्यतासे आठ गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

इसके आगे आठ गाथाओं तक पात्र अपात्रकी परीक्षाकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम्
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥२५५॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥२२५॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोगको कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है:—

अन्वयार्थः—[इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव] जैसे इस जगतमें अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पड़े हुये बीज [सस्यकाले] धान्यकालमें विपरीत रूपसे फलित होते है, उसीप्रकार [प्रशस्तभूतः रागः] प्रशस्त भूत राग [वस्तुविशेषेण] वस्तु-भेदसे (पात्र भेदसे) [विपरीतं फलति] विप रीतरूप फलता है ।

टीका:—जैसे एक ही बीज होनेपर भी भूमिकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है, अर्थात् अच्छी भूमिमें उसी बीजका अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमिमें वही खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता उसी प्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग वह का वही होता है, फिर भी पात्रकी विपरीतता से फलकी विपरीतता होती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है ॥ २५५ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेषं दर्शयति:—

(फलदि) फलति फलं ददाति । स कः । (रागो) रागः । कथंभूतः । (पसत्थभूदो) प्रशस्तभूतो दानपूजादिरूपः । किं फलति ? (विवरीदं) विपरीतमन्यादृशं भिन्नभिन्नफलम् । केन कारणभूतेन । (वत्थुविसेसेण) जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषेण । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—(णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि) नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति । अयमत्रार्थः—यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेण तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफलं ददाति । तेन किं सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च । नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव ॥२५५॥

उत्थानिका—प्रथम ही यह दिखलाते हैं कि पात्रकी विशेपता से शुभोपयोगीको फलकी विशेपता होती है-

गाथार्थ:—(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुरागरूप दान पूजादिक (वत्थुविसेसेण) पात्रकी विशेषतासे (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप फलता है (सस्सकालम्मि) जैसे धान्यकी उत्पत्तिके कालमें (णाणाभूमिगदाणि) नाना प्रकारकी पृथ्वियोंमें प्राप्त (बीयाणिव हि) बीज निश्चयसे (फलदि) विभिन्नरूप फलता है ।

टीकार्थ:—जैसे ऋतुकालमें तरह तरहकी भूमियोंमें बोए हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमि के निमित्तसे वही बीज भिन्न २ प्रकारके फलोंको पैदा करता है, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमिके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रोंके भेदसे भिन्न २ फलको देता है। इस कथनसे यह भी सिद्ध हुआ कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यतासे पुण्यबन्ध होता है परन्तु परम्परा वह निर्वाणका

कारण है। मात्र पुण्यबन्धको ही नहीं करता है ॥ २५५ ॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥२५६॥

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ।२५६।

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ।।२५६।।

अब कारणकी विपरीतता और फलकी विपरीतता बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[छद्मस्थविहितवस्तुषु] जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओंमें (छद्मस्थ अज्ञानीके द्वारा कथित देव-गुरु धर्मादिमें) [व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह [अपुनर्भावं] मोक्षको [न लभते] प्राप्त नहीं होता (किन्तु) [सातात्मकं भावं] सातात्मक भावको [लभते] प्राप्त होता है।

टीकाः—सर्वज्ञ कथित वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल, कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहाँ, छद्मस्थकथित वस्तुयें विपरीत कारण हैं, छद्मस्थ कथित उपदेशके अनुसार व्रत नियम अध्ययन-ध्यान दान-रतरूपसे युक्त शुभोपयोगका फल मोक्षशून्य केवल अधम पुण्यकी प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है, वह फल सुदेव मनुष्यत्व है ॥ २५६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीतं भवति तमेवार्थं द्रढयति;—

(ण लहदि) न लभते। स कः कर्ता? (वदणियमज्झयणझाणदाणरदो) व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः। केषु विषयेषु? यानि व्रतादीनि? (छदुमत्थविहिदवत्थुसु) छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु। इत्थंभूतः पुरुषः कं न लभते। (अपुणब्भावं) अपुनर्भवशब्दवाच्यं मोक्षं। तर्हि किं लभते। (भावं सादप्पगं लहदि) भावं सातात्मकं लभते। भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्यः। स च कथंभूतः। सातात्मकः

सद्दोपयरूप इति । तथाहि—ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादयः । तैः छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रसंसर्गेन यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिकं करोति शुद्धात्मभावनानुकूलं न भवति ततः कारणान्मोक्षं न लभते सुदेवमनुष्यत्वं लभत इत्यर्थः ॥२५६॥

उत्थानिका—आगे इसीको दृढतापूर्वक कहते हैं कि कारणकी विपरीततासे फल भी उल्टा होता है—

गाथार्थः—(छदुमत्थविहिदवत्थसु) अल्प ज्ञानियोंके द्वारा कल्पित पात्रभूत वस्तु अर्थात् देव गुरु शास्त्र धर्मादि पदार्थोंमें (वदणियमज्झयणझाणदाणरदो) तथा व्रत, नियम, पठन पाठन, ध्यान दानमें रत पुरुष (अपुणब्भावं) अपुनर्भव अर्थात् मोक्षको (ण लहदि) नहीं प्राप्त कर सकता है, किन्तु (सादप्पगं भावं) सातामयी अवस्थाको अर्थात् सातावेदनीयके उदयसे देव या मनुष्यपर्यायको (लहदि) प्राप्त करता है ।

टीकार्थः—जो कोई निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं जानते हैं केवल पुण्यकर्मको ही मुक्तिका कारण कहते हैं उनको यहां छद्मस्थ या अल्पज्ञानी कहना चाहिये, न कि गणधरदेव आदि ऋषिगण। जो शुद्धात्माके यथार्थ उपदेशको नहीं देसकते इन अल्पज्ञानियों अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके द्वारा दीक्षितोंको छद्मस्थ विहितवस्तु कहते हैं । ऐसे अयथार्थ कल्पित पात्रोंके सम्बन्धसे जो व्रत, नियम, पठनपाठन, दान आदि कार्य जो पुरुष करता है वह कार्य शुद्धात्माके अनुकूल नहीं होता है इसीलिये मोक्षका कारण नहीं होता है, उससे वह सुदेव या मनुष्यपना प्राप्त करता है ॥ २५६ ॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२५७॥

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥२५७॥

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतयानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कुदेवमनुजत्वम् ।

अब (इस गाथामें भी) कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[अविदितपरमार्थेषु] जिन्होंने परमार्थको नहीं जाना है, [च] और [विषयकषायाधिकेषु] जिनके विषय-कषायकी प्रबलता है, [पुरुषेषु] ऐसे पुरुषोंके प्रति [जुष्टं कृतं वा दत्तं] सेवा, उपकार या दान [कुदेवेषु मनुजेषु] कुदेवरूपमें और कुमनुष्य

रूपमें [फलति] फलता है।

टीका:—जो छद्मस्थकथित वस्तुयें हैं वे विपरीत कारण हैं। वे छद्मस्थ शासनमें (१) शुद्धात्मज्ञानसे शून्यताके कारण 'परमार्थको नहीं जानने वाले और (२) शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न करनेसे विषय कषायकी प्रबलता वाले पुरुष हैं उनके प्रति शुभोपयोगात्मक जीवोंको—सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवोंको—जो केवल अधम पुण्यकी प्राप्ति है सो वह फलविपरीतता है, वह (फल) कुदेव और कुमनुष्यत्व है। २५७॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्तानां कुदेवमनुजत्वं भवतीति प्रतिपादयति;—

(फलदि) फलति। केषु ? (कुदेवेसु मणुवेसु) कुत्सितदेवेषु मनुजेषु। किं कर्तृ ? (जुट्ठं) जुष्टं सेवा कृता (कदं व) कृतं वा किमपि वैयावृत्त्यादिकं। (दत्तं) दत्तं किमप्याहारादिकम्। केषु ? (पुरिसेसु पुरुषेषु पात्रेषु। किंविशिष्टेषु ? (अविदिदपरमत्थेसु य) अविदितपरमार्थेषु च परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु। पुनरपि किं रूपेषु ? (विसयकसायादिगेसु) विषयकषायादिकेषु विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थः॥२५७

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते हैं कि जो जीव सम्यग्दर्शन तथा व्रत रहित पात्रोंके भक्त हैं व नीच देव तथा मनुष्य होते हैं—

गाथार्थ:—(अविदिदपरमत्थेसु) जो परमार्थ अर्थात् सत्यार्थ पदार्थोंको नहीं जानने व जिनको परमात्माके तत्वका श्रद्धान ज्ञान नहीं है (य वि यकसायाधिगेसु) तथा जिनके भीतर पचेंद्रियोंके विषयों की तथा मान लोभ आदि कषायोंकी बड़ी प्रबलता है ऐसे (पुरिसेसु) पात्रोंमें (जुट्ठं) की हुई वा (कदं) किया हुआ वैयावृत्यादिक (व दत्तं) या दिया हुआ आहार औषधि आदि दान (कुदेवेसु) नीच देवोंमें (मणुजेसु) और मनुष्योंमें (फलदि) फलता है।

टीकार्थ:—जिन पात्रोंके या साधुओंके परमात्मतत्वका ज्ञान श्रद्धान नहीं है, जो विषय कषायों के अधीन होनेके कारण निर्विकार शुद्धात्माके स्वरूपकी भावनासे रहित हैं उनकी भक्तिके फलसे नीच देव तथा मनुष्य होसक्ता है॥ २५७॥

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति॥२५८॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति॥२५८॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुर-

क्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥२५८॥

अब यह श्रद्धा करवाते हैं कि कारणकी विपरीततासे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता:—

अन्वयार्थः—[यदि वा] जबकि [ते विषयकषायाः] व विषयकषाय [पापम्] पाप है, [इति] इस प्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रोंमें [प्ररूपिताः] प्ररूपित किया गया है, तो [तत्प्रतिबद्धाः] उन विषय-कषायोंमें लीन [ते पुरुषाः] वे पुरुष [निस्तारकाः] पार लगाने वाले [कथं भवन्ति] कैसे हो सकते हैं ?

टीकाः—प्रथम तो विषयकषाय पाप ही हैं, विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं, विषय कषायवान् पुरुषोंके प्रति अनुरक्त जीव भी पापमें अनुरक्त होनेसे पाप ही हैं। इसलिये विषय-कषायवान् पुरुष अपने भक्त पुरुषोंको पुण्यका कारण भी नहीं होते, तब फिर वे संसार से पार उतारने के कारण तो कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते, इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता।

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति;—

(जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा य सत्थेसु) यदि च ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिताः शास्त्रेषु (किह ते तं पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति) कथं ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारकाः संसारोत्तारका दातृणां ? न कथमपीति । एतदुक्तं भवति—विषयकषायास्तावत्पापस्वरूपास्तद्वन्तः पुरुषा अपि पापा एव ते च स्वकीयभक्तानां दातृणां पुण्यविनाशका एवेति ॥२५८॥

उत्थानिका—आगे इसही अर्थको दूसरे प्रकारसे दृढ करते हैं—

गाथार्थः—(जदि) यदि (ते विसयकसाया) वे इंद्रियोंके विषय क्रोध कषाय आदि (सत्थेसु) शास्त्रोंमें (पावत्ति) पापों का उपदेश देनेवाले (परूविदा) कहे गए हैं (तप्पडिबद्धा) उन विषय कषायोंमें मग्नता रखनेवाले (त पुरिसा) वे अल्पज्ञानी पुरुष (णित्थारगा) अपने भक्तोंको संसारसे तारनेवाले (कह होंति) कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते।

टीकार्थः—विषय और कषाय पापरूप हैं इसलिये उनके धारणेवाले पुरुष भी पापरूप ही हैं। तब वे अपने भक्तोंके व दातारोंके वास्तवमें पुण्यके नाश करने वाले हैं ॥ २५८ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५९॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥२५६॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् २५९॥

अब अविपरीत फलका कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसका बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[उपरतपापः] जिसके पाप रुक गया है, [सर्वेषु धार्मिकेषु समभावः] जो सभी धार्मिकोंके प्रति समभाववान् है, और [गुणसमितितोपसेवी] जो गुणसमुदायका सेवन करनेवाला है, [सः पुरुषः] वह पुरुष [सुमार्गस्य] सुमार्गका [भागी भवति] भागी होता है अर्थात् सुमार्गवान् है ।

टीकाः—पापके रुक जानेसे, सर्वधर्मियोंके प्रति स्वयं मध्यस्थ होनेसे और गुणसमूहका सेवन करनेसे जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी युगपत् परिणतिसे रचित एकाग्रता स्वरूप सुमार्गका पात्र है, वह श्रमण निजको और परको मोक्षका और पुण्यका आयतन है इसलिये वह (श्रमण) अविपरीत फलका कारण ऐसा अविपरीत कारण है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिये ॥ २५६ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति:—

उपरतपापत्वेन सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन गुणग्रामसेवकत्वेन च स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्यंभूतगुणयुक्तः पुरुषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं भवतीति ॥२५६॥

उत्थानिका—आगे उत्तम पात्ररूप तपोधनका लक्षण कहते हैं—

गाथार्थः—(स पुरिसो) वह पुरुष (सुमग्गस्स भागी) मोक्षमार्गका पात्र (हवदि) होता है जो (उपरदपावो) सर्व विषय कषायरूप पापोंसे रहित है, (सव्वेसु धम्मिगेसु समभावो) सर्व धर्मात्माओंमें समानभावका धारी है तथा (गुणसमिदिदोवसेवी) गुणोंके समूहोंको रखनेवाला है ।

टीकार्थः—जो पुरुष सर्व पापोंसे रहित है, सर्व धर्मात्माओंमें समानदृष्टि रखनेवाला है तथा गुणसमुदायका सेवनेवाला है और आप स्वयं मोक्षमार्गी होकर दूसरोंके लिये पुण्यकी प्राप्तिका कारण है, ऐसा ही महात्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप निश्चय मोक्षमार्गका पात्र होता है ॥ २५६ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥२६०॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥२६०॥

अब, अविपरीत फलका कारण, ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है उसे विशेष समझाते हैं—

अन्वयार्थः—[अशुभोपयोगरहिताः] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा [शुभोपयुक्ताः] शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) [लोकं निस्तारयन्ति] लोगोंको तार देते हैं, (और) [तेषु भक्तः] उनके प्रति भक्तिवान जीव [प्रशस्तं] प्रशस्त (पुण्य) को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीकाः—यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही—जो कि मोह, द्वेष और अप्रशस्त रागके उच्छेदसे अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये, समस्त कषायोदयके विच्छेदसे कदाचित् शुद्धोपयुक्त (शुद्धोपयोगमें युक्त) और प्रशस्त रागके विपाकसे कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे—स्वयं मोक्षायतन होनेसे लोकको तार देते हैं, और उनके प्रति भक्तिभावसे जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्यके भागी होते हैं ॥२६०॥

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति:—

शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं भवन्तीति । तद्यथा—निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ताः कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ताः सन्तो भव्यलोकं निस्तारयन्ति, तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवरपुण्डरीकः प्रशस्तफलभूतं स्वर्गं लभते परंपरया मोक्षं चेति भावार्थः ॥२६०॥

एवं पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथापञ्चकेन तृतीयस्थलं गतम् । इत ऊर्ध्वं आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं विशेषेण तपोधनसमाचारं कथयति ।

उत्थानिका—आगे और भी उत्तम पात्र तपोधनोंका लक्षण अन्य प्रकारसे कहते हैं:-

गाथार्थः—(असुभोवयोगरहिदा) जो अशुभ उपयोगसे रहित हैं, (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोग में लीन हैं (वा सुहोवजुत्ता) या कभी शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे (लोगं णित्थारयंति) जगतको तारने वाले हैं (तेसु भत्तो) उनमें भक्ति करनेवाला (पसत्थं) उत्तम पुण्यको (लहदि) प्राप्त करता है।

टीकार्थः—जो मुनि शुद्धोपयोग और शुभोपयोगके धारी हैं वे ही उत्तम पात्र हैं। निर्विकल्प समाधिके बलसे जब शुभ और अशुभ दोनों उपयोगोंसे रहित हो जाते हैं तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके धारी होते हैं, कदाचित् मोह, द्वेष व अशुभ रागसे शून्य रहकर सराग चारित्रमय शुभोपयोगमें वर्तन करते हुए भव्य लोगोंको तारते हैं। ऐसे उत्तम पात्र साधुओंमें जो भव्य भक्तिमान है वह भव्योंमें मुख्य जीव उत्तम पुण्य बांधकर स्वर्ग पाता है तथा परम्पराय मोक्षका लाभ करता है। २६० ॥

इस तरह पात्र अपात्रकी परीक्षाको कहनेकी मुख्यतासे पांच गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ

इसके आगे आचारके कथनके ही क्रमसे पहले कहे हुए कथनको और भी दृढ करनेके लिये विशेष करके साधुका व्यवहार कहते हैं।

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति—

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥२६१॥

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥२६१॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्रतिषिद्धम् ॥२६१॥

अब अविपरीत फलका कारण जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्यतया और विशेषतया करने योग्य है, यह दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[प्रकृतं वस्तु] यथाजात मुनिको [दृष्ट्वा] देखकर (प्रथम तो) [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः] सन्मानार्थ खडे होना आदि क्रियाओंको [वर्तताम्] करो [ततः] फिर उन क्रियाओंमें [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्यः] विशेषता करनी चाहिये [इति उपदेशः] ऐसा उपदेश है।

टीकाः—श्रमणोंके आत्मविशुद्धिकी हेतुभूत यथाजात श्रमणके प्रति उनके योग्य क्रियारूप प्रवृत्तिसे गुणातिशयताके आधान करनेका निषेध नहीं है ॥ २६१ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्तं सामान्यप्रतिपत्तिं तदनन्तरं विशेषप्रतिपत्तिं दर्शयति;—

(वट्टदु) वर्त्तताम् । स कः । अत्रस्थ आचार्यः । किं कृत्वा । (दिट्ठा) दृष्ट्वा । किं । (वत्थु) तपोधनभूतं पात्रं वस्तु । किं विशिष्टम् ? (पगदं) प्रकृतं अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहिरङ्गनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम् । काभिः कृत्वा वर्त्तताम् ? अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं) अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभिः (तदो गुणादो) ततो दिनत्रयानन्तरं गुणाद्गुणविशेषात् (विसेसिदव्वत्ति) तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्यः ? (इदि उवदेसो) इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥२६१॥

उत्थानिका—आगे दर्शाते हैं कि जो कोई साधु संघमें आवें उनका तीन दिन तक सामान्य सन्मान करना चाहिये । फिर विशेष करना चाहिये ।

गाथार्थः—(पगदं वत्थू) यथार्थ पात्रको (दिट्ठा) देखकर (अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं) उठ कर खड़ा होना आदि क्रियाओंसे (वट्टदु) वर्तन करना योग्य है, (तदो) पश्चात् (गुणादो) रत्नत्रयमय गुणोंके कारणसे (विसेसिदव्वो) उसके साथ विशेष वर्ताव करना चाहिये (त्ति उपदेसो) ऐसा उपदेश है ।

टीकार्थः—आचार्य महाराज किसी ऐसे साधुको-जो भीतर वीतराग शुद्धात्माकी भावनाका प्रगट करनेवाला बाहरी निर्ग्रन्थके निर्विकार रूपका धारी है-आते देखकर उस अभ्यागतके योग्य आचारके अनुकूल उठ खड़ा होना आदि क्रियाओंसे उसके साथ वर्तन करें । फिर तीन दिनोंके पीछे उसमें गुणोंकी विशेषताके कारणसे उसके साथ रत्नत्रयकी भावनाकी वृद्धि करनेवाली क्रियाओंके द्वारा विशेष वर्ताव करें । ऐसा सर्वज्ञ भगवान व गणधर देवादिका उपदेश है ॥ २६१ ॥

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥२६२॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः ।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥२६२॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥२६२॥

अन्वयार्थः—[गुणाधिकानां हि] गुणमें अधिक (श्रमणों) के प्रति [अभ्युत्थानं] सन्मानार्थ खडे होना, [ग्रहणं] आदरसे स्वीकार [उपासनं] सेवा [पोषणं] पोषण उनके अशन, शयनादिकी चिन्ता [सत्कारः] गुणोंकी प्रशंसा [अञ्जलिकरणं] विनयपूर्वक हाथ जोड़ना [च] और [प्रणामः] प्रणाम करना [इह] यहां [भणितम्] कहा है ।

टीका:—श्रमणोंको अपनेसे अधिक गुणी मुनि प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियां निषिद्ध नहीं हैं ॥ २६२ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ तमेव विशेषं कथयति,—

(भणिदं) भणितं कथितं (इह) अस्मिन्ग्रन्थे । केषां सम्बन्धी । (गुणाधिगाणं हि) गुणाधिकतपोधनानां हि स्फुटम् । किं भणितम् ? (अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं) अभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामादिकम् । अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहणं स्वीकारः, उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तं सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम्, भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशनं सत्कारः, बद्धाञ्जलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोऽस्त्विति वचनव्यापारः प्रणाम इति ॥२६२॥

उत्थानिका—आगे उस क्रियाको ही विशेषरूपसे प्रगट करते हैं—

गाथार्थ—(इह) इस ग्रंथमें (हि) निश्चय करके (गुणधिगाणं) अपनेसे अधिक गुणवालों के लिये (अब्भुट्ठाणं) उनको आते देखकर उठ खड़ा होना (गहणं) उनको आदरसे स्वीकार करना (उवासणं) उनकी सेवा करना (पोसणं) उनकी रक्षा करना (सक्कारं) उनका आदर करना (च अंजलिकरणं पणमं) तथा हाथ जोड़ना और नमस्कार करना (भणिदं) कहा गया है ।

टीकार्थ:—खडे होकर सामने जाना सो अभ्युत्थान है, उनको सत्कारके साथ स्वीकार करना बैठा कर आसन देना सो ग्रहण है, उनके शुद्धात्माकी भावनामें सहकारी कारणोंके निमित्त उनकी वैयावृत्य करना सो सेवा है, उनके भोजन, शयन आदिकी चिन्ता रखनी सो पोषण है, उनके व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयके गुणोंकी महिमा करनी सो सत्कार है, हाथ जोड़कर नमस्कार करना सो अंजलीकरण है, नमोस्तु ऐसा वचन कहकर दंडवत करना सो प्रणाम है । गुणोंसे अधिक तपोधनोंकी इस तरह विनय करना योग्य है ॥ २६२ ॥

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः ।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥२६३॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥२६३॥

अब श्रमणाभासोंके प्रति समस्तप्रवृत्तियोंका निषेध करते हैं:—

अन्वयार्थः—[श्रमणैः हि] श्रमणोंके द्वारा [सूत्रार्थविशारदाः] सूत्रोंके और सूत्र-कथित पदार्थोंके ज्ञानमें निपुण तथा [संयमतपोज्ञान ढ्याः] संयम, तप और ज्ञानमें समृद्ध [श्रमणाः] श्रमण [अभ्युत्थेयाः उपासेयाः प्रणिपतनीयाः] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

टीकाः—जिनके सूत्रोंमें और पदार्थोंमें निपुणताके द्वारा संयम, तप और स्वतत्त्वका ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियां अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति उन प्रवृत्तियों का निषेध ही है ॥ २६३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति;—

(अब्भुट्ठेया) यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वात्श्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थेया अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति । के ते । (समणा) निर्ग्रन्थाचार्याः । किं विशिष्टाः । (सुत्तत्थविसारदा) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैः विचारचतुरचेतसः सूत्रार्थविशारदाः । न केवलमभ्युत्थेयाः (उवासेया) परमचिज्ज्योतिःपरमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्त्या सेवनीयाः । (संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि) संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीयाः हि स्फुटम् बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः । बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः । बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्याः परिपूर्णा यथासम्भवं प्रतिवन्दनीयाः । कैः ? (समणेहिं) श्रमणैरिति । अत्रेदं तात्पर्यम्—ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः । द्वितीयं च कारणं—ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतराः अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्यं नास्ति तर्हि स्तोकचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत् ? अतिप्रसङ्गनिषेधार्थमिति ॥२६३॥

उत्थानिका—आगे अभ्यागत साधुओंकी विनयको दूसरे प्रकारसे बताते हैं—

गाथार्थः—(समणेहिं) साधुओंके द्वारा (हि) निश्चय करके (सुत्तत्थविसारदा) शास्त्रोंके अर्थमें निपुण तथा (संजमतवणाणड्ढा) संयम, तप और ज्ञानसे पूर्ण (समणा) साधुगण (अब्भुट्ठेया) खडे होकर आदर करने योग्य हैं, (उवासेया) उपासना करने योग्य हैं तथा (पणिवंदणीया) नमस्कार करने योग्य हैं।

टीकार्थः—जो निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय या साधु विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमय परमात्मतत्त्व को आदि लेकर अनेक धर्ममय पदार्थोंके जानने में वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्गके अनुसार प्रमाण, नय, निक्षेपोंके द्वारा विचार करनेके लिये चतुर बुद्धिके धारक हैं तथा बाहरमें इन्द्रियसंयम व प्राणसंयमको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे अपने शुद्धात्माके ध्यानमें यत्नशील हैं ऐसे सयमी हैं, तथा बाहरमें अनश-

नादि तपको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे परद्रव्योंकी इच्छाको रोककर अपने आत्म स्वरूपमें तपते हैं ऐसे तपस्वी हैं, तथा बाहरमें परमागमका अभ्यास करते हुए भीतरमें स्वसंवेदन ज्ञानसे पूर्ण हैं ऐसे साधुओंको दूसरे साधु आते देख उठ खडे होते हैं, परम चैतन्य ज्योतिमय परमात्म पदार्थके ज्ञानके लिये उनकी परम भक्तिसे सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं। यदि कोई चारित्र व तपमें अपनेसे अधिक न हो तो भी सम्यग्ज्ञानमें बड़ा समझकर श्रुतकी विनयके लिये उनका आदर करते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि जो बहुत शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, परन्तु चारित्रमें अधिक नहीं हैं तो भी परमागमके अभ्यासके लिये उनको यथायोग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानमें पहलेसे ही ही दृढ हैं। जिसके सम्यक्त्व व ज्ञानमें दृढता नहीं है वह साधु वन्दना योग्य नहीं है। आगममें जो अल्प चारित्रवालोंको वन्दना आदिका निषेध किया है, वह इसलिये कि मर्यादाका उल्लंघन न हो ॥ २६३ ॥

अथ कीदृश: श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति–

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥२६४॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥२६४॥

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥२६४॥

अब, श्रमणाभास कैसा (जीव) होता है सो कहते हैं:–

अन्वयार्थ:—[संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तः अपि] सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त होने पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थान्] पदार्थोंका [न श्रद्धत्ते] श्रद्धान नहीं करता तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, [इति मतः] ऐसा (आगममें) कहा है।

टीका:—आगमका ज्ञाता होनेपर भी संयत होनेपर भी तपमें स्थित होनेपर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थोंसे भरे हुये विश्वको अपने आत्मा द्वारा ज्ञेयरूपसे जानता है इस कारण उस विश्वमें आत्मप्रधान है, जो जीव उसका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमणाभास है ॥ २६४॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ श्रमणाभासः कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति;—

(ण हवदि समणो) स श्रमणो न भवति (इदि मदो) इति मतः सम्मतः । क्व ? आगमे । कथंभूतोऽपि ?

(संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि) संयमतपःश्रुतैः संप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् ? (जदि सद्दहदि ण) यदि चेन्मूढत्रयादिपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलरहितः सन् न श्रद्धत्ते न रोचते न मन्यते । कान् ? (अत्थे) पदार्थान् । कथंभूतान् । (आदपधाणे) निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथंभूतान् । (जिणक्खादे) वीतरागसर्वज्ञेनाख्यातान् दिव्यध्वनिना प्रणीतान् गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थः ॥२६४॥

उत्थानिका—आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

गाथार्थः—(संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि) संयम, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होनेपर भी (जदि) जो कोई (जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदपधाणे अत्थे) आत्माको मुख्यकरके पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणोत्ति ण हवदि मदो) वह साधु नहीं हो सकता है, ऐसा माना गया है

टीकार्थः—यदि साधु, संयम भी पालता हो, तप भी करता हो शास्त्रज्ञान सहित भी हो परन्तु तीन मूढता आदि सम्यक्त्वके पच्चीस दोषोंसे रहित होकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्यध्वनि अनुसार गणधर द्वारा ग्रंथोंमें गूंथित निर्दोष परमात्मा आदि पदार्थ-समूहका श्रद्धान नहीं करता रुचि नहीं रखता, मान्यता नहीं देता, वह श्रमण नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है ॥ २६४ ॥

अथ श्रामण्येन सममनुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥२६५॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥२६५॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्वाच्चारित्रं नश्यति ॥२६५॥

अब, जो श्रामण्यमे समान हैं उनका अनुमोदन (आदर) न करनेवालेका विनाश बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः हि] जो [शासनस्थं श्रमणं] शासनस्थ (जिनदेवके शासनमें) स्थित) श्रमणको [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषतः] द्वेषसे [अपवदति] उसका अपवाद करता है, और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओंके करनेमें अनुमत (प्रसन्न) नहीं है [सः नष्टचारित्रः हि भवति] उसका चारित्र नष्ट होजाता है।

टीकाः—जो श्रमण द्वेषके कारण शासनस्थ श्रमणका भी अपवाद करता है और उसके प्रति सन्मानादि क्रियाओं में प्रसन्न नहीं है, वह श्रमण द्वेषसे कषाय सहित होनेके कारण उसका चारित्र नष्ट हो जाता है ॥ २६५ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोषं दर्शयति:—

(अववददि) अपवदति दूषयत्यपवादं करोति । स कः ? (जो हि) यः कर्ता हि स्फुटम् । कम् ? (समणं) श्रमणं तपोधनम् । कथंभूतम् । (सासणत्थं) शासनस्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम् । कस्मात् । पदोसदो) निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात् । किं कृत्वा पूर्वं ? (दिट्ठा) दृष्ट्वा अपवदते । न केवलं अपवदते ? (णाणुमण्णदि) नानुमन्यते । कासु विषयासु ? (किरियासु) यथायोग्यं वन्दनादिक्रियासु (हवदि हि सो) भवति हि स्फुटं सः । किं विशिष्टः । (णट्ठचारित्तो) कथंचिदतिप्रसङ्गान्नष्टचारित्रो भवतीति । तथाहि— मार्गस्थतपोधनं दृष्ट्वा यदि कथंचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहणं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुटं पश्चादात्मनिन्दां कृत्वा वर्त्तते तदा दोषो नास्ति कालान्तरे वा निवर्त्तते तथापि दोषो नास्ति । यदि पुनस्तत्रैवानुबन्धं कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रसङ्गं करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीत्ययं भावार्थः । बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनानां दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनैः किमपि पाठमात्रं गृहीत्वा तेषां दोषो न ग्राह्यः किन्तु किमपि सारपदं गृहीत्वा स्वयं भावनैव कर्त्तव्या । कस्मादिति चेत् ? रागद्वेषोत्पत्तौ सत्यां बहुश्रुतानां श्रुतफलं नास्ति तपोधनानां तपःफलं चेति ॥२६५॥

अत्राह शिष्यः—अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यातः पुनरपि किमर्थं अत्र व्याख्यानं कृतमिति । परिहारमाह—युक्तमिदं भवदीयवचनं किन्तु तत्र सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनैः कालापेक्षया किमपि ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिकं ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम् । अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति । सैवाभेदनयेन सम्यक्त्वचारित्ररूपेण द्विधा भवति । तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्राराधना । तदा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति । स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या 'एयग्गगदो समणो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पूर्वमेव व्याख्यातः । अयं तु भेदरूपो मुख्यवृत्त्या शुभोपयोगरूपेणेदानीं व्याख्यातो नास्ति पुनरुक्तदोष इति । एवं समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम् ।

उत्थानिका—आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं—

अन्वयार्थः—(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रसे भ्रष्ट (हवदि) हो जाता है ।

टीकार्थः—जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे विलक्षण द्वेष व कषाय उनसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योंमें अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लघन करनेसे चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है । जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय मार्गमें स्थित साधुको देखकर

ईर्ष्याभावसे दोष ग्रहण करे तो वह प्रगटपने चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भाव को छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल पीछे इस भावको त्यागता है तोभी उसका दोष नहीं रहता है, परन्तु यदि इसी ही भावको दृढ करता हुआ तीव्र कषाय भावसे मर्यादाको उल्लंघन कर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है. यहां यह भावार्थ है। बहुत शास्त्र-ज्ञाताओंको थोडे शास्त्रज्ञाता साधुओंका दोष नहीं ग्रहण करना चाहिये और न अल्पशास्त्री साधुओंको उचित है कि थोडासा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओंका दोष ग्रहण करें किंतु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वयं शुद्ध स्वरूपकी भावना ही करनी चाहिये क्योंकि रागद्वेषके पैदा होते हुए न बहुत शास्त्र-ज्ञाताओंको शास्त्रका फल होता है, न तपस्वियोंको तपका फल होता है।

यहां शिष्यने कहा कि आपने अपवाद मार्गके व्याख्यानके समय शुभोपयोगका वर्णन किया अब यहां फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहांपर सर्व-त्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यानको करके फिर असमर्थ साधुओंको कालकी अपेक्षासे कुछ भी ज्ञान, संयम व शौचका उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यानकी मुख्यता है। यहां तो जैसे भेद नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेदनयसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपसे दो प्रकारकी होती हैं। इनमें भी और अभेद नयसे एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है तैसे ही भेदनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूपसे तीन प्रकार मोक्षमार्ग है सो ही अभेद नयसे एक श्रमणपना नामका मोक्ष मार्ग है जिसका अभेदरूपसे मुख्य कथन " एयग्गगदो समणो " इत्यादि चौदह गाथाओंमें पहले ही किया गया यहां मुख्यतासे उसीका भेदरूपसे शुभोपयोगके लक्षणको कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

इस प्रकार समाचार विशेषको कहते हुए चौथे स्थलमें गाथाएं आठ पूर्ण हुईं ॥ २६५ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥२६६॥

गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥२६६॥

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तसंसार्यपि भवति ॥२६६॥

अब, जो श्रामण्यमें अधिक हो उसके प्रति जैसे कि वह श्रामण्यमें हीन (अपनेसे मुनि-पनेमें नीचा) हो ऐसा आचरण करनेवालेका विनाश होता है, ऐसा बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो श्रमण [यदि गुणाधरः भवन् अपि] गुणोंमें हीन होनेपर भी [श्रमणः भवामि] 'मैं भी श्रमण हूँ' [इति] ऐसा गर्व करके [गुणतः अधिकस्य] गुणोंमें अधिक श्रमण से [विनयं प्रत्येषकः] विनय चाहता है [सः] वह [अनन्तसंसारी भवति] अनन्तसंसारी होता है।

टीकाः—जो श्रमण स्वयं जघन्य गुणोंवाला होनेपर भी 'मैं भी श्रमण हूं' ऐसे गर्वके कारण दूसरे अधिक गुणवाले श्रमणोंसे विनयकी इच्छा करता है, वह श्रामण्यके गर्वके वशसे कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है॥ २६६॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ स्वयं गुणहीनः सन्नपरेषां गुणाधिकानां योऽसौ विनयं वाञ्छति तस्य गुणविनाशं दर्शयति;—

(स होदि अणंतसंसारी) स कथंचिदनन्तसंसारे सम्भवति । यः किं करोति ? (पडिच्छगो जो दु) प्रत्येषको यस्तु अभिलाषकोऽपेक्षक इति । कम् । (विणयं) वन्दनादिविनयम् । कस्य सम्बन्धिनम् । (गुणदोधिगस्स) बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य । केन कृत्वा । (होमि समणोत्ति) अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण । यदि किम् ? (होज्जं गुणाधरो जदि) निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाभ्यां हीनः स्वयं यदि चेद्भवतीति । अयमत्रार्थः—यदि चेद्गुणाधिकेभ्यः सकाशाद्गर्वेण पूर्वं विनयवाञ्छां करोति पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दां करोति तदानन्तसंसारी न भवति यदि पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रहं करोति तदा भवति । अथवा यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दां करोति तथापि न भवतीति ॥२६६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्वयं गुणहीन होता हुआ दूसरे अपनेसे जो गुणोंमें अधिक है उनसे अपनी विनय चाहता है उसके गुणोंका नाश हो जाता है—

गाथार्थः—(यदि) यदि (जोवि) जो कोई साधु भी (समणोत्ति होमि) मैं साधु हूँ ऐसा मानकर (गुणदोधिगस्स) अपनेसे गुणोंमें जो अधिक है उसके द्वारा (विणयं) अपनी विनय (पडिच्छगो) चाहता है तो (सो) वह साधु (गुणाधरो) गुणोंसे रहित (होज्जं) होता हुआ। (अणंतसंसारी होदि) अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है।

टीकार्थः—मैं श्रमण हूँ, इस गर्वसे जो साधु अपनेसे व्यवहार निश्चय रत्नत्रयके साधनमें अधिक है ऐसे उस अन्य साधुके द्वारा अपनी वन्दना आदि विनयकी इच्छा करता है और वह स्वयं निश्चय व्यवहार रत्नत्रयरूपी गुणसे हीन है तो वह साधु कथंचित् अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है। यहां यह भाव है कि यदि कोई गुणाधिकसे अपने विनयकी वांछा गर्वसे करे, परन्तु पीछे भेदज्ञानके बलसे अपनी निन्दा करे तो अनन्त संसारी न होवे अथवा कालान्तरमें भी अपनी निन्दा करे तो भी दीर्घ संसारी न होवे, परन्तु जो मिथ्या अभिमानसे प्रसिद्धि, बड़ाई, पूजा व लाभके अर्थ दुराग्रह या हठ धारण करे सो अवश्य अनन्तसंसारी हो जावेगा॥ २६६॥

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति–

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥२६७॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥२६७॥

स्वयमधिकगुणा गुणाधरैः परैः सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चारित्राद्भ्रश्यन्ति ॥२६७॥

अब, जो श्रमण श्रामण्यसे अधिक हो वह जो अपनेसे हीन श्रमणके प्रति अपने बराबरी जैसा आचरण करे तो उसका विनाश है, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थः—[यदि श्रामण्ये अधिकगुणाः] जो श्रामण्यमें अधिक गुणवाले हैं, तथापि [गुणाधरैः] हीनगुणवालोंके प्रति [क्रियासु] वंदनादि क्रियाओंमें [वर्तन्ते] वर्तते हैं, [ते] वे [मिथ्योपयुक्ताः] मिथ्यात्वसे उपयुक्त होते हुये [प्रभ्रष्टचारित्राः भवन्ति] चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं।

टीकाः—जो स्वयं अधिक गुणवाले होनेपर भी अन्य हीनगुणवाले श्रमणोंके प्रति वंदनादि क्रियाओंमें वर्तते हैं वे मोहके कारण असम्यक्से उपयुक्त होते हुये चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ स्वयमधिकगुणाः सन्तो गुणाधरैः सह वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा गुणविनाशं दर्शयति;—

(वट्टंति) वर्तन्ते प्रवर्तन्ते (जदि) यदि चेत् । क्व वर्तन्ते ? (किरियासु) वन्दनादिक्रियासु । कैः सह (गुणाधरेहिं) गुणाधरैर्गुणरहितैः । स्वयं कथंभूता सन्तः । (अधिगगुणा) अधिकगुणाः । क्व ? (सामण्णे) श्रामण्ये चारित्रे (ते मिच्छुवउत्ता हवंति) ते कथंचिदिति प्रसङ्गान्मिथ्यात्वप्रयुक्ता भवन्ति । न केवलं मिथ्यात्वप्रयुक्ताः (पब्भट्ठचारित्ता) प्रभ्रष्टचारित्राश्च भवन्ति । तथाहि—यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति । यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसङ्गाद्दोषो भवति । इदमत्र तात्पर्यम्— वन्दनादिक्रियासु वा तत्त्वविचारादौ वा यत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तत्र सर्वत्र दोष एव । ननु भवदीयकल्पनीयमागमे नास्ति । नैवम् । आगमः सर्वोऽपि रागद्वेषपरिहारार्थ एव परं किन्तु ये केचनोत्सर्गापवादरूपेणागमनयविभागं न जानन्ति त एव रागद्वेषौ कुर्वन्ति न चान्य इति ॥२६७॥

इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एयग्गगदो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाभिधान-स्तृतीयान्तराधिकारः समाप्तः ।

अथानन्तरं द्वात्रिंशद्गाथापर्यन्तं पञ्चभिः स्थलैः शुभोपयोगाधिकारः कथ्यते । तत्रादौ लौकिकसंसर्गनिषेधमुख्यत्वेन 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिपाठक्रमेण गाथापञ्चकम् । तदनन्तरं सरागसंयमापरनामशुभोपयोगस्वरूपकथन-प्रधानत्वेन 'समणा सुद्धुवजुत्ता' इत्यादि सूत्राष्टकम् । ततश्च पात्रापात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण 'रागो पसत्थभूदो' इत्यादि गाथाषट्कम् । ततः परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि संक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन 'दिट्ठापगदं वत्थु' इत्यादि सूत्राष्टकम् । ततः परं पञ्चरत्नमुख्यत्वेन 'जे अयथा गहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम् । एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

उत्थानिका—आगे यह दिखलाते हैं कि जो स्वयं गुणोंमें अधिक होकर गुणहीनोंके साथ वंदना आदि क्रियाओंमें वर्तन करते हैं उनके गुणोंका नाश होजाता है ।

गाथार्थ:—(सामण्णे) मुनिपनेके चारित्रमें (अधिगगुणा) उत्कृष्ट गुणधारी साधु (जदि) जो (गुणाधरेहि) गुणहीन साधुओंके साथ (किरियासु) वन्दना आदि क्रियाओंमें (वट्टंति) वर्तन करते हैं (ते) वे (मिच्छुवजुत्ता) मिथ्यात्व-सहित तथा (पब्भट्टचारित्ता) चारित्र रहित (हवंति) हो जाते हैं ।

टीकार्थ—यदि कोई बहुत शास्त्रके ज्ञाताओंके पास स्वयं चारित्र गुणमें अधिक होनेपर भी, अपने ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धिके लिये वंदना आदि क्रियाओंमें वर्तन करैं तो दोष नहीं है । परन्तु यदि अपनी बड़ाई व पूजाके लिये उनके साथ वंदनादि क्रिया करैं तो मर्यादा उल्लंघनसे दोष है । यहां पर तात्पर्य यह है कि जिस जगह वंदना आदि क्रियाके व तत्व विचार आदिके लिये वर्तन करे परन्तु रागद्वेष की उत्पत्ति हो जावे उस जगह सर्वत्र दोष ही है यहां कोई शंका करे कि यह तो तुम्हारी ही कल्पना है, आगममें यह बात नहीं है ? समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सर्व ही आगम रागद्वेषके त्यागके लिये हैं। हैं किन्तु जो कोई साधु उत्सर्ग और अपवादरूप (निश्चय व्यवहाररूप) आगममें कहे हुए नय विभाग को नहीं जानते हैं वे ही रागद्वेष करते हैं, अन्य रागद्वेष नहीं करते ॥ २६७ ॥

इस प्रकार "एयग्गगदो" इत्यादि चौदह गाथाओंके द्वारा चार स्थलोंमें श्रामण्य जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है तीसरा अंतराधिकार समाप्त हुआ ।

समुदाय पातनिका—इसके पश्चात् ३२ गाथा पर्यंत पांच स्थलोंके द्वारा शुभोपयोग अधिकारका कथन किया जाता है । उसके आदिमें लौकिक जनके संसर्गके निषेधकी मुख्यतासे "णिच्छिदसुत्तत्थपदो" इत्यादि पाठ क्रमसे पांच गाथा हैं (२६८–२७०) उसके पश्चात् सराग संयम दूसरा नाम शुभोपयोग उसके स्वरूपके कथन की प्रधानतासे "समणा सुद्धुवजुत्ता" इत्यादि आठ सूत्र हैं उसके पश्चात् पात्र अपात्रकी परीक्षाका कथन करने वाली "रागो पसत्थभूदो" इत्यादि छह गाथा हैं इसके पश्चात् आचार आदि विहित क्रमसे पुनः संक्षेप रूपसे समाचारके व्याख्यानकी प्रधानतासे "दिट्ठापगदं वत्थु" इत्यादि

आठ गाथा हैं। उसके पंच रत्नकी मुख्यतासे "जे अयथा गहिदत्था" इत्यादि पांच गाथा हैं (२७१-२७५) इस प्रकार चौथे अधिकारमें पांच स्थलोंकी ३० गाथाओंकी समुदाय पातनिका है। (जिन स्थलों पर ❀ यह चिन्ह हैं वे स्थल या उनकी गाथा नहीं हैं। प्रथम स्थलमें भी पांच गाथाकी बजाय तीन गाथा हैं। गाथा २६८ के पश्चात् एक गाथा अनुकम्पाके स्वरूपका कथन करने वाली है किन्तु उसका 'लौकिक जन संसग' से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः 'लौकिक जन संसर्ग'के स्थलमें तीन ही गाथा हैं पांच नहीं हैं।

अथासत्संगं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥२६८॥

निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि।
लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति ॥२६८॥

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्षणः शब्दब्रह्मस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्षणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्षणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥२६८॥

अब यह बतलाते हैं कि असत्संग निषेध्य है—

अन्वयार्थः—[निश्चितसूत्रार्थपदः] जिसने सूत्रोंके पदोंको और अर्थोंको निश्चित किया है, [समितकषायः] जिसने कषायोंका शमन किया है, [च] और [तपोऽधिकः अपि] जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी [यदि] यदि [लौकिकजनसंसर्गं] लौकिक जनोंके संसग को [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [संयतः न भवति] तो वह संयत नहीं है।

टीका:—(१) विश्वके वाचक, 'सत्' लक्षणवान् सम्पूर्ण ही शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्मके वाच्य 'सत्' लक्षणवाले सम्पूर्ण ही विश्व उन दोनोंके ज्ञेयाकार अपनेमें युगपत् अनुस्यूत हो जानेसे उन दोनोंका अधिष्ठानभूत 'सत्' लक्षणवाला ज्ञाता निश्चयनय द्वारा 'सूत्रके पदों और अर्थोंका निश्चय करनेवाला' हो (२) निरुपराग उपयोगके कारण (ज्ञातृतत्व) 'जिसने कषायोंको शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कंप उपयोगका बहुतबार अभ्यास करनेसे (ज्ञातृतत्व) 'अधिक तपवाला' हो, इस प्रकार इन तीन कारणोंसे जो जीव भलीभांति संयत हो, वह भी लौकिक जनोंके संगसे असंयत ही होता है, जैसे अग्निके संगसे

जल उष्ण अर्थात् विकारी होजाता है उसी प्रकार मुनिके भी कुसंगतिसे विकार अवश्यंभावी है। इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है ॥ २६८ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

तद्यथा अथ लौकिकसंसर्गं प्रतिषेधयति;—

(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थप्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपदः (समिदकसाओ) परविषये क्रोधादिपरिहारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषायः। (तवोधिगो चावि) अनशनादिबहिरङ्गतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मभावनाविषये प्रतिपक्षाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वयं संयतः कर्ता (लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि) लौकिकाः स्वेच्छाचारिणस्तेषां संसर्गो लौकिकसंसर्गस्तं न त्यजति यदिचेत् (संजदो णविदि) तर्हि संयतो न भवतीति। अयमत्रार्थः-स्वयं भावितात्मापि यद्यसंवृतजनसंसर्गं न त्यजति तदातिपरिचयाद् ग्निसङ्गत जलमिव विकृतिभावं गच्छतीति ॥२६८॥

उत्थानिका—आगे लौकिक जनोंकी संगतिको मना करते हैं—

गाथार्थः—(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्रके अर्थ और पदोंको निश्चय पूर्वक जान लिया है, (समिद कसायो) कषायोंको शांत कर दिया है (तवोधिको चावि) तथा तप करनेमें भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लोगिगजणसंसग्गं) लौकिक जनोंका अर्थात् असंयमियोंका या भ्रष्टचारित्र साधुओंका संगम (ण जहदि) नहीं त्यागता है (संजदो ण हवदि) तो वह संयमी नहीं रह सकता है।

टीकार्थः—जिसने अनेक धर्ममय अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थोंको बतानेवाले सूत्रके अर्थ और पदोंको अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवोंमें व पदार्थोंमें क्रोधादि कषायको त्याग करने से तथा भीतर परम शांतभावमें परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्माकी भावनाके बलसे कषायोंको शांत कर दिया है, तथा अनशन आदि छः बाहरी तपोंके बलसे व अंतरंगमें शुद्ध आत्माकी भावनाके सम्बन्ध में औरोंसे विजय प्राप्त किया है, ऐसा तप करनेमें भी श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणोंसे युक्त साधु होने पर भी यदि स्वेच्छाचारी लौकिक जनोंका संसर्ग न छोड़े तो वह स्वयं संयमसे छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्माकी भावना करनेवाला होनेपर भी यदि अनर्गल व स्वेच्छाचारी मनुष्योंकी संगतिको नहीं छोडे तो अति परिचय होनेसे जैसे अग्निकी संगतिसे जल उष्णपनेको प्राप्त होजाता है ऐसे वह साधु विकारी होजाता है ॥ २६८ ॥

अथानुकम्पालक्षणं कथ्यते;—

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो। पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा २६८

(तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि) तृषितं वा बुभुक्षितं वा दुःखितं वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिनं यो हि स्फुटं दुःखितमनाः सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं कर्मतापन्नं। (तं) प्राणिनम्।

कथा ? (किवया) कृपया दयापरिणामेन (तस्सेसा होदि अणुकंपा) तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः ॥२६८-१॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोग प्रकरणमें अनुकम्पाका लक्षण कहते हैं—

गाथार्थः—(तिसिदं) किसी प्राणीको प्यासे (वा भुक्खिदं) वा भूखे (वा दुहिदं) या दुखी (दट्ठूण) देखकर (जो हि) जो निश्चयसे (दुहिदमणो) दुःखित मन होकर (तं) उस प्राणीको (किवया) दया परिणामसे (पडिवज्जदि) स्वीकार करता है—उसका भला करता है (तस्से) उसके (सा अणकप्पा) वह अनुकम्पा (हवदि) होती है।

टीकार्थः—ज्ञानी जीव ऐसी दयाको अपने आत्मीक भावको नाश न करते हुए संक्लेश भावसे रहित होते हुए करते हैं जब कि अज्ञानी संक्लेश भावसे भी करता है।

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥ २६९ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोपि ॥ २६९ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ॥ २६९ ॥

अथ, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते हैं:—

अन्वयार्थः—[नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः] जो (जीव) निर्ग्रंथरूपसे दीक्षित होनेके कारण [संयमतपःसंप्रयुक्तः अपि] संयमतपसंयुक्त होनेपर भी, [यदि सः] यदि वह [ऐहिकैः कर्मभिः वर्तते] इस लोक संबंधी कार्योंको करता है तो वह भी [लौकिकः इति भणितः] 'लौकिक' कहा गया है।

टीकाः—परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रव्रज्याकी प्रतिज्ञा लेकर जो जीव संयम तपके भारको वहन करता है, वह भी, यदि मोहकी बहुलताके कारण शुद्धचेतन व्यवहारको छोड़कर निरन्तर मनुष्यव्यवहारमें चक्कर खानेसे लौकिक कार्योंको करता हो तो, 'लौकिक' कहा जाता है ॥२६९

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

अथ लौकिकलक्षणं कथयति:—

(णिग्गंथो पव्वयिदो) वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि (वट्टदि जदि) वर्त्तते यदि चेत् । कैः ? (एहिगेहि कम्मेहि) ऐहिकैः कर्मभिः भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तै-र्ज्योतिषमन्त्रवादिवैदिकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः (सो लोगिगोत्ति भणिदो) स लौकिको व्यवहारिक इति भणितः । किं विशिष्टोऽपि (संजमतवसंजुदो चावि) द्रव्यरूपसंयमतपोभ्यां संयुक्तश्चापीत्यर्थः ।।२६९।।

उत्थानिका—आगे लौकिक साधु जनका लक्षण बताते हैं—

गाथार्थः—(णिग्गंथं पव्वइदो) निर्ग्रंथ पदकी दीक्षाको धारता हुआ (जदि) यदि (एहिगेहि कम्मेहिं) लौकिक व्यापारोंमें (वट्टदि) वर्तता है (सो) वह साधु (संजमतवसंपजुत्तावि) संयम और तप सहित है तो भी (लोगिगादि भणिदो] लौकिक है, ऐसा कहा गया है ।

टीकार्थः—जिसने वस्त्रादि परिग्रहको त्यागकर व मुनि पदकी दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके नाश करनेवाले नाव या अपनी प्रसिद्धि, बड़ाइ व लाभके बढ़ानेके कारण ज्योतिष कर्म, मंत्र यंत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थोंके जीवनके उपायरूप व्यापारोंके द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तपको धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है ।। २६९ ।।

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छादे जदि दुक्खपरिमोक्खं ।।२७०।।

तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् । २७० ।।

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात् ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ।। २७० ।।

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः, सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात् । हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ।। १७ ।।

—इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

अथ पञ्चरत्नम् ।

शार्दूल विक्रीडित छन्द ।

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतोऽद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम् ।
व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं, जीयात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः १८

अब, सत्संग करने योग्य है, यह बतलाते हैं:—

अन्वयार्थः—[तस्मात्] (क्योंकि लौकिकजनके संगसे संयत भी असंयत होता है) इसलिये [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] दुःखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह [गुणात् समं] समान गुणोंवाले श्रमणके [वा] अथवा [गुणैः अधिकं श्रमणं तत्र] अधिक गुणोंवाले श्रमणके संगमें [नित्यम्] सदा [अधिवसतु] निवास करो।

टीकाः—क्योंकि आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये लौकिक संगसे विकार अवश्यभावी होनेसे संयत भी असंयत हो जाता है जैसे अग्निके संगसे पानी उष्ण हो जाता है। इसलिये दुःखोंसे मुक्ति चाहनेवाले श्रमणको (१) समान गुणवाले श्रमणके साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमणके साथ सदा ही निवास करना चाहिये। (१) जैसे शीतल घरके कोनेमें रखे हुये शीतल पानीके शीतल गुणकी रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुणवालेकी संगतिसे उस श्रमणकी गुणरक्षा होती है, और (२) जैसे अधिक शीतल हिम (बरफ) के संपर्कमें रहनेवाले शीतल पानीके शीतलगुणमें वृद्धि होती है, उसी प्रकार अधिक गुणवालेके संगसे उस श्रमणके गुणवृद्धि होती है ॥ २७० ॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्तिका सेवन करके यति सम्यक् प्रकारसे संयमके सौष्ठवसे क्रमशः परम निवृत्तिको प्राप्त होता हुआ, जिसका रम्य उदय समस्त वस्तु समूहके विस्तारको लीलामात्रसे प्राप्त हो जाता है, ऐसी शाश्वती ज्ञानानन्दमयी दशाका एकान्ततः अनुभव करो ॥ २७० ॥

* इस प्रकार शुभोपयोगप्रज्ञापन पूर्ण हुआ । *

अब पंचरत्न हैं (पांच रत्नों जैसी पांच गाथायें कहते हैं)

[वहां पहले, उन पांच गाथाओंकी महिमा श्लोक द्वारा कहते हैं:—]

श्लोकार्थः—अब इस शास्त्रके कलंगीके अलङ्कार जैसे (चूडामणि समान) यह पांचसूत्ररूप

निर्मल पंचरत्न-जो कि संक्षेपसे अर्हन्तभगवानके समग्र अद्वितीय शासनको सर्वतः प्रकाशित करते हैं वे विलक्षण पंथवाली संसार-मोक्षकी स्थितिको जगतके समक्ष प्रगट करतेहुये जयवन्त वर्तो

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथोत्तमसंसर्गः कर्त्तव्य इत्युपदिशति;—

(तम्हा) यस्माद्धीनसंसर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् (अधिवसदु) अधिवसतु तिष्ठतु । स कः कर्ता । (समणो) श्रमणः । क्व ? (तम्हि) तस्मिन्नधिकरणभूते (णिच्चं) नित्यं सर्वकालम् । तस्मिन्कुत्र ? (समणं) श्रमणे लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठ्यते । कथंभूते श्रमणे ? (समं) समे समाने । कस्मात् । (गुणादो) बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात् । पुनरपि कथंभूते ? (अहियं वा) स्वस्मादधिके वा । कैः ? (गुणेहिं) मूलोत्तरगुणैः । यदि किम् ? (इच्छदि जदि) इच्छति वाञ्छति यदि चेत् । कम् ? (दुक्खपरिमोक्खं) स्वात्मोत्थसुखविलक्षणानां नारकादिदुःखानां मोक्ष दुःखपरिमोक्षमिति । अथ विस्तरः—यथाग्निसंयोगाज्जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनसंसर्गात्संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गाद्गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ॥२७०॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते हैं कि सदा ही उत्तम संसर्ग करना योग्य है—

गाथार्थः—(तम्हा) इसलिये (जदि) यदि (समणो) साधु (दुक्ख परिमोक्ख इच्छदि) दुःखोंसे छूटना चाहता है तो (गुणादो समं) गुणों में समान (वा गुणेहिं अहियं समणं) वा गुणोंसे अधिक साधुके पास तिष्ठकर (णिच्चं) सदा (तम्हि) उसी ही साधुकी (अधिवसदु) संगति करो ।

टीकार्थ—क्योंकि हीन साधुकी संगतिसे अपने गुणोंकी हानि होती है । इसलिये जो साधु अपने आत्मासे उत्पन्न सुखसे विलक्षण नारक आदिके दुःखोंसे मुक्ति चाहता है तो उसको योग्य है कि वह हमेशा ऐसे साधुकी संगति करै जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें अपने बराबर हो, या मूल व उत्तर गुणों में अपने से अधिक हो । जैसे—अग्निकी संगतिसे जलके शीतल गुणका नाश हो जाता है तैसे ही व्यवहारिक या लौकिक जनकी संगतिसे संयमी का संयम गुण नाश हो जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये । जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमय गुणोंकी रक्षा अपने समान गुणधारीको संगतिसे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमें रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है और जैसे उसी जलमें कपूर शक्कर आदि ठंडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है । उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयरूप गुणोंमें जो अपनेसे अधिक हैं उनकी संगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है, ऐसा इस गाथा का अर्थ है ।२७०।

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ २७१ ॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥ २७१ ॥

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकरमनन्तकालमनन्तभावान्तरपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥ २७१ ॥

अब संसारतत्त्वको प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[ये] जो [समये] समयमें (जिनागममें) स्थित हैं वे [एते तत्त्वम्] 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)' [इति निश्चिताः] इस प्रकार निश्चयवान वर्तते हुये [अयथागृहीतार्थाः] पदार्थोंको अयथार्थतया ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं) [ते] वे [अतः परं कालं] अबसे आगामी कालमें [अत्यन्तफलसमृद्धम्] अत्यन्त-फलसमृद्ध (अनन्त फलसे भरे हुये संसारमें [भ्रमन्ति] परिभ्रमण करेंगे।

टीकाः—जो स्वयं अविवेकसे पदार्थोंको अन्यथा ही समझ करके 'ऐसा ही तत्त्व है' ऐसा निश्चय करते हुये, निरन्तर एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमलसे मलिन मनवाले होनेसे नित्य अज्ञानी हैं, वे समयमें—आगममें स्थित होनेपर भी परमार्थ श्रामण्यको प्राप्त न होनेसे वास्तवमें श्रमणाभास वर्तते हुये, अनन्त कर्मफलकी उपभोगराशिसे भयंकर ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तनोंसे (संसार में) अनवस्थित वृत्तिवाले रहनेसे, उनको संसारतत्त्व ही जानना ॥ २७१ ॥

श्री जयसेनाचार्य कृत-टीका

इतः परं पंचमस्थले संक्षेपेण संसारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पंचरत्नभूतगाथापंचकेन व्याख्यानं करोति —

तद्यथा—अथ संसारस्वरूपं प्रकटयतिः—अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति न विद्यतेऽन्त इत्यत्यन्तं ते परं कालं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारपरिभ्रमणरहितशुद्धात्मस्वरूपभावनाच्युताः सन्तः परिभ्रमन्ति। कम्। परं कालं अनन्तकालम्। कथंभूतम्। नारकादिदुःखरूपात्यन्तफलसमृद्धं। पुनरपि कथंभूतम्? अतो वर्तमानकालात्परं भाविनमिति। अयमत्रार्थः—इत्थंभूतसंसारपरिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन संसारस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥२७१॥

उत्थानिका—आगे पांचवें स्थलमें संक्षेपसे संसारका स्वरूप, मोक्षका स्वरूप, मोक्षका साधन सर्व मनोरथ स्थान लाभ तथा शास्त्रपाठका लाभ इन पांच रत्नोंको पांच गाथाओंसे व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही संसार का स्वरूप प्रगट करते हैं—

गाथार्थः—(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) अन्य प्रकारसे असत्य पदार्थोंके स्वभावको जानते हुए (एदे तच्चत्तिसमये) ये ही आगममें तत्त्व कहे हैं ऐसा (णिच्छिदा) निश्चय कर लेते हैं (ते तो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञानके कारण भावि कालमें (अच्चन्तफलसमिद्धं) अनन्त दुःखरूपं फलसे भरे हुए संसारमें (परं कालं) अनन्त काल तक (भमंति) भ्रमण करते हैं।

टीकार्थः—(जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थोंका स्वरूप स्याद्वाद नयके द्वारा यथार्थ न जानकर औरका और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगम में जो यही तत्व कहे हैं) वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पांच प्रकार संसारके भ्रमणसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनासे हटे हुए इस वर्तमान कालमें आगे भविष्यमें भी नारकादि दुःखोंके अत्यन्त कटुक फलोंसे भरे हुए संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिये इस तरह संसार भ्रमणमें परिणमन करनेवाले पुरुष ही अभेद नयसे संसार स्वरूप जानने योग्य हैं ॥२७१॥

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ २७२ ॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः ॥ २७२ ॥

यस्त्रिलोकचूलकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ २७२ ॥

अब मोक्ष तत्वको प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यथार्थपदनिश्चितः] जो यथार्थतया पदोंका तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चय करने वाला है [प्रशान्तात्मा] प्रशांतात्मा है और [अयथाचारवियुक्तः] अयथाचार से रहित है [सः संपूर्णश्रामण्यः] वह संपूर्ण श्रामण्यवाला जीव [इह अफले]

इस अफल (असार) संसारमें [चिरं न जीवति] चिरकाल तक नहीं रहता (-अल्पकालमें ही मुक्त होता है।)

टीका:—जो (श्रमण) त्रिलोककी चूलिकाके समान निर्मल विवेकरूपी दीपिकाके प्रकाश द्वारा यथास्थित पदार्थनिश्चयसे उत्सुकताको दूर करके स्वरूपमें स्थिति से सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, एक स्वरूपमें ही अभिमुखतया क्रीड़ा करनेसे 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्यज्ञानी है, वास्तवमें उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमणको मोक्षतत्त्व जानना, क्योंकि पहलेके सकल कर्मोंके फल उसने लीलामात्रसे नष्ट कर दिये हैं और नूतन कर्मफलोंको उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राण धारणरूप दीनताको प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तनके अभावके कारण शुद्धस्वभावमें [1]अवस्थित वृत्तिवाला है ॥२७२॥

[इस गाथा में अरहंत अवस्था का कथन है)

श्री जयसेनाचार्य—कृत टीका

अथ मोक्षस्वरूपं प्रकाशयति;—

(अजधाचारविजुत्तो) निश्चयव्यवहारपंचाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्तः विपरीताचाररहित इत्यर्थः । (जधत्थपदणिच्छिदो) सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चितः (पसंतप्पा) विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा (जो) यः कर्त्ता (सो संपुण्णसामण्णो) स सम्पूर्णश्रामण्यः सन् (चिरं ण जीवदि) चिरं बहुतरकालं न जीवति न तिष्ठति (अफले) शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले संसारे । किं ? शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । अयमत्र भावार्थः—इत्थंभूतमोक्षतत्त्वपरिणत पुरुषएवाभेदेन मोक्षस्वरूपं ज्ञातव्यमिति ॥२७२॥

उत्थानिका—आगे मोक्षका स्वरूप प्रकाश करते हैं—

गाथार्थ:—(अजधाचारविजुत्तो) विपरीत आचरणसे रहित, (जधत्थपदणिच्छिदो) यथार्थ पदार्थोंका निश्चय रखनेवाला तथा (पसंतप्पा) शांत स्वरूप (संपुण्ण सामण्णो) पूर्ण मुनिपदका धारी (सो) ऐसा साधु (इह अफले) इस असार संसारमें (चिरं ण जीवदि) बहुत काल नहीं जीता है।

टीकार्थ:—निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र-सम्यक्तप-सम्यग्वीर्य ऐसे पांच आचारोंकी भावनामें परिणमन करते रहनेसे जो अयथाचार व विरुद्ध आचारसे रहित है, सहज ही आनन्द रूप एक स्वभावधारी अपने परमात्माको आदि लेकर पदार्थोंके ज्ञान—सहित होनेसे जो यथार्थ वस्तु स्वरूपका ज्ञाता है, तथा विशेष परम शांत भावमें परिणमन करनेवाले अपने आत्मद्रव्यकी भावना सहित होनेसे जो शांतात्मा है ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न सुखामृत रसके स्वादसे रहित ऐसे इस फल-रहित संसारमें दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह मोक्ष तत्त्वमें लीन पुरुष ही अभेद नयसे मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानना योग्य है ॥ २७२ ॥

१—अवस्थित-स्थिर, इस संपूर्ण श्रामण्यवाले जीवको अन्यभावरूप परावर्तन (पलटन) नहीं होता, वह सदा एक ही भावरूप रहता है—शुद्धस्वभावमें स्थिर परिणतिरूपसे रहता है, इसलिये वह जीव मोक्षतत्त्व ही है।]

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥ २७३ ॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिःस्थमध्यस्थम्
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः २७३

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ २७३ ॥

अब मोक्षतत्वका साधनतत्व प्रगट करते हैं:—

अन्वयार्थः—[सम्यग्विदितपदार्थाः] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थोंको जानने वाले हैं और [ये] जो [बहिःस्थमध्यस्थम्] बहिरंग तथा अंतरंग [उपधिं] परिग्रहको [त्यक्त्वा] छोड़कर [विषयेषु न अवसक्ताः] विषयोंमें आसक्त नहीं हैं, [ते] वे [शुद्धाः इति निर्दिष्टाः] 'शुद्ध' हैं, ऐसा कहा गया है।

टीकाः—अनेकान्त मय-सकल ज्ञातृतत्व और ज्ञेयतत्वके यथार्थ स्वरूपमें जो विचक्षण हैं, अन्तरंगमें चकचकित अनन्तशक्तिवाले चैतन्यसे प्रकाशित आत्मतत्वके स्वरूपको, जिसने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग परिग्रह को त्याग करके, भिन्न किया है, और आत्म-परिणतिसे स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त समान (प्रशांत) रहनेसे जो विषयोंमें किंचित् भी आसक्तिको प्राप्त नहीं होते,—ऐसे जो सकल-महिमावान भगवन्त 'शुद्ध' हैं उन्हें ही मोक्षतत्वका साधन तत्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसारसे रचित-बद्ध विकट कर्मकपाटको तोड़ने में अति उग्र प्रयत्नसे पराक्रम प्रगट कर रहे हैं ॥ २७३ ॥

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ मोक्षकारणमाख्याति;—

(सम्मं विदिदपदत्था) संशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्त-

वस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्थाः । पुनरपि किं रूपाः ? (विषयेसु णावसत्ता) पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसंजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वादानुभवनफलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ताः । किं कृत्वा । पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रहं स्वीकारं कृत्वा (चत्ता) त्यक्त्वा । कम् ? (उवहिं) उपधिं परिग्रहं । किं विशिष्टम् ? (बहित्थमज्झत्थं) बहिःस्थं क्षेत्राद्यनेकविधं मध्यस्थं मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम् । (जे) एवं गुणविशिष्टाः ये महात्मानः (ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा) ते शुद्धात्मानः शुद्धोपयोगिनः सिद्ध्यन्ति इति निर्दिष्टाः कथिताः । अनेन व्याख्यानेन किमुक्तं भवति–इत्थंभूता परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्गा इत्यवबोद्धव्याः ॥२७३॥

उत्थानिका—आगे मोक्षका कारण तत्त्व बताते हैं—

गाथार्थः—(जे) जो (सम्मं विदिदपदत्था) भले प्रकार पदार्थोंके जाननेवाले है, और (वहित्थम्) बाहरी क्षेत्रादि परिग्रह (मज्झत्थं) और अंतरंग रागादि (उवहिं) परिग्रहको (चत्ता) त्याग कर (विसयेसु) पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें (णाव .त्ता) आसक्त नहीं हैं, (ते) वे साधु (सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा) शुद्ध साधक हैं, ऐसे कहे गये हैं ।

टीकार्थः—जो साधु संशय, विपयय, अनध्यवसाय तीन दोषोंसे रहित ऐसा अनन्त ज्ञान, उस अनन्तज्ञानादि स्वभाववाले निज-परमात्म पदार्थको आदि लेकर सर्व वस्तुओंके विचारमें चतुर-चित्त होकर उससे प्रगट जो अतिशय सहित परम विवेकरूपी ज्योति उसके द्वारा भले प्रकार पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले हैं तथा पंच—इन्द्रिय-विषयोंके अधीन न होकर निज परमात्मतत्त्वकी भावना रूप परम समाधिसे उत्पन्न जो परमानंदमय सुखरूपी अमृत उसका स्वाद भोगनेके फलसे पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें रञ्च भी आसक्त नहीं हैं और अपने स्वरूपका ग्रहण करके जिन्होंने बाहरी क्षेत्रादि अनेक प्रकार और भीतरी मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार परिग्रहको त्याग दिया है, ऐसे महात्मा, शुद्धात्मा, शुद्धोपयोगी ही मोक्षकी सिद्धि कर सकते हैं, ऐसा कहा गया है । अर्थात् ऐसे परमयोगी ही अभेद नयसे मोक्षमार्ग स्वरूप जानने योग्य हैं ।

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ २७४ ॥

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै २७४

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव । यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव । यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहज-

ज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासु स्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव अलं वाग्विस्तरेण, सर्व-मनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावक-भावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ॥ २७४ ॥

अब मोक्षतत्वके साधनतत्वको (अर्थात् शुद्धोपयोगीको) सर्व मनोरथोंके स्थानके रूपमें अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं:—

अन्वयार्थः—[शुद्धस्य च] शुद्धोपयोगी को [श्रामण्यं भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्धोपयोगी को [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन तथा ज्ञान होता है, [शुद्धस्य च] शुद्धउपयोगी के ही [निर्वाणं] निर्वाण होता है, [सः एव] वही [सिद्धः] सिद्ध होता है, [तस्मै नमः] उन्हें नमस्कार हो ।

टीकाः—प्रथम तो, सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी युगपदत्वरूपसे प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य 'शुद्ध' के ही होता है, समस्त भूत-वर्तमान-भावी पर्यायोंके साथ मिलित अनन्तवस्तुओंका अन्वयात्मक जो विश्व उसके सामान्य और विशेषके प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन और ज्ञान 'शुद्ध' के ही होते हैं,-निर्विघ्न प्रफुल्लित, सहज ज्ञानानन्द मुद्रावाला दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा निर्वाण, शुद्ध' के ही होता है, और टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओंमें स्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिसे गंभीर भगवान सिद्ध, 'शुद्ध' ही होते हैं, वचन विस्तारसे बस हो, सर्व मनोरथोंके स्थानभूत, मोक्ष-तत्व के साधनतत्वरूप, 'शुद्ध' को, भावनमस्कार हो उस भाव नमस्कारमें परस्पर अंग-अंगी-रूपसे परिणमित भावक भाव्यताके कारण स्व-परका विभाग नहीं है ॥२७४॥

(इस गाथा में सिद्ध अवस्था का कथन है ,)

श्री जयसेनाचार्य-कृत टीका

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति;—

(भणियं) भणितं । किं ? (सामण्णं) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूपं साक्षान्मोक्षकारणं यत्श्रामण्यम् । तत्तावत्कस्य ? (सुद्धस्स य) शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव (सुद्धस्स दंसणं णाणं) त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थं दर्शनज्ञानद्वयं तच्छु-द्धस्यैव (-सुद्धस्स य णिव्वाणं) अव्याबाधानन्तसुखादिगुणाधारभूतं पराधीनरहितत्वेन स्वायत्तं यन्निर्वाणं तच्छुद्धस्यैव (सोच्चिय सिद्धो) यो लौकिकमायांजनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादिसिद्धविलक्षणःस्वशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैक-

स्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितसिद्धो भगवान् स चैव शुद्ध, एवं (णमो तस्स) निर्दोषिनिजपरमात्मन्याराध्याराधकसम्बन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव । अत्रेतदुक्तं भवति-अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्ये सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा शेषमनोरथपरिहारे तत्रैव भावना कर्तव्येति २७४

उत्थानिका—आगे आचार्य फिर दिखलाते हैं कि शुद्धोपयोग-स्वरूप जो मोक्षमार्ग है वही सर्व मनोरथको सिद्ध करने वाला है—

गाथार्थ:—(सुद्धस्स य सामण्णं) शुद्धोपयोगीके ही साधुपना है, (सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं) शुद्धोपयोगीके ही दर्शन और ज्ञान कहे गए हैं (सुद्धस्स य णिव्वाणं) शुद्धोपयोगीके ही निर्वाण होता है (सोच्चिय सिद्धो) शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान हो जाता है (तस्स णमो) इससे उस शुद्धोपयोगीको नमस्कार हो ।

टीकार्थ—जो शुद्धोपयोगका धारक साधु है उसीके ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदिमें समभावकी परिणतिरूप साक्षात् मोक्षका मार्ग श्रमणपना कहा गया है शुद्धोपयोगीके ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले व तीन काल-वर्ती सर्व पदार्थोंके भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समयमें विना क्रमके सामान्य तथा विशेष रूपसे जाननेको समर्थ अनन्तदर्शन व अनंत ज्ञान होते हैं, तथा शुद्धोपयोगीके ही बाधा रहित अनन्त सुख आदि गुणोंका आधारभूत पराधीनतासे रहित स्वाधीन निर्वाणका लाभ होता है । जो शुद्धोपयोगी है वही लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मंत्र, यंत्र आदि सिद्धियोंसे विलक्षण, अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप, टांकीमें उकेरे के समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि आठ विध कर्मोंसे रहित होनेके कारणसे सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंमें गर्भित अनंत गुण सहित सिद्ध भगवान हो जाता है । इसलिये उसी ही शुद्धोपयोगीको निर्दोष निज परमात्मामें ही आराध्य आराधक संबंध रूप भाव-नमस्कार होहु । भाव यह कहा गया है कि इस मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगके ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं । ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथ को त्यागकर इसी शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है ॥ २७४ ॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥२७५॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्था-

यित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥२७५॥

इति तत्त्वदीपिकायां श्री मदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोग-सूचिका चूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।

अब (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव) शिष्यजनको शास्त्रका फल बतलाते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं:—

अन्वयार्थः—[यः] जो [साकारानाकारचर्यया युक्तः] श्रावक, मुनि चर्याको पालता है और [एतत् शासनं] इस शास्त्रको [बुध्यते] जानता है, [सः] वह [लघुना कालेन] अल्पकालमें [प्रवचनसारं] प्रवचनके सारको अर्थात् मोक्षको [प्राप्नोति] पाता है ।

टीकाः—सुविशुद्धज्ञानदर्शन मात्र स्वरूपमें अवस्थित होनेसे श्रावक या मुनि चर्याको पालता हुआ जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रोंके अर्थोंके विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक अनुभव द्वारा केवल आत्माको अनुभवता हुआ, इस शास्त्रको जानता है वह वास्तवमें, सत्यार्थ स्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे, पहले कभी अनुभव नहीं किये गये, भगवान आत्माको निश्चयसे पाता है जो भगवान् आत्मा तीनों कालके निरवधि प्रवाहमें स्थायी होनेसे सकल पदार्थोंके समूहात्मक प्रवचनका सारभूत है ॥ २७५ ॥

इस प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारशास्त्रकी श्रीमद्-अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित तत्वदीपिका नामक टीकामें चरणानुयोगसूचक चूलिका नामका तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ।

श्री जयसेनाचार्य कृत–टीका

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलं दर्शयन् शास्त्रं समापयति;—

(पप्पोदि) प्राप्नोति (सो) शिष्यजनः कर्त्ता । कम् ? (पवयणसारं) प्रवचनसारशब्दवाच्यं निजपरमात्मानम् । केन ? (लहुणा कालेण) स्तोककालेन । यः किं करोति ? (बुज्झदि) यः शिष्यजनो बुध्यते जानाति । किम् ? (सासणमेयं) शास्त्रमिदम् । किं नाम ? (पवयणसारं) सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थानां तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य च तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मकपरमात्मादिद्रव्याणां तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम् । कथंभूतः सः शिष्यजनः ? (सागारणगारचरियया जुत्तो) सागारानागारचर्यया युक्तः । अभ्यन्तररत्न-

त्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थः ॥२७५॥

इति गाथापञ्चकेन पञ्चरत्नसंज्ञं पञ्चमस्थलं व्याख्यातम्। एवं 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथाभिः स्थलपञ्चकेन शुभोपयोगाभिधानश्चतुर्थान्तराधिकारः समाप्तः॥

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण 'एवं पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिरुत्सर्गाधिकारः। 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभिरपवादाधिकारः। ततः परं 'एयग्गगदो समणो' इत्यादिचतुर्दशगाथाभिः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकारः। ततोऽप्यनन्तरं 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिद्वात्रिंशद्गाथाभिः शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्चरणानुयोगचूलिका नामा तृतीयो महाधिकारः समाप्तः॥ ३॥

अत्राह शिष्यः। परमात्मद्रव्यं यद्यपि पूर्वं बहुधा व्याख्यातम्। तथापि संक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति भगवानाह केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं यत्तदात्मद्रव्यं भण्यते। तस्य च नयैः प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते। तद्यथा—एतावत् शुद्धनिश्चयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितं तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्, शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम्। तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धसंश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्, उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्। इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेणामेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति। तदेव जीवद्रव्यं प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकचित्रपटवदनेकस्वभावं भवति। एवं नयप्रमाणाभ्यां तत्त्वविचारकाले योऽसौ परमात्मद्रव्यं जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनापि जानातीति। पुनरप्याह शिष्यः—ज्ञातमेवात्मद्रव्यं हे भगवन्निदानीं तस्य प्राप्त्युपायः कथ्यताम्? भगवानाह—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमानः सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्वरूपेण क्षोभं गच्छत्ययं जीवस्तावत्कालं निजशुद्धात्मानं न प्राप्नोति इति। स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशात् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरंपरादुर्लभान्यपि कथंचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावस्यादिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलक्षोभरहितप्रस्तावे यथा निजशुद्धात्मतत्त्वे स्थिरो भवति तथा तथैव निजशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्नोति॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ एवं पूर्वोक्तक्रमेण "एस सुरासुर" इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं "तम्हा तस्स णमाइं" इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्तं ज्ञेयाधिकारापरनामसम्यक्त्वाधिकारः, तदनन्तरं "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्तं चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशतगाथाभिः प्रवचनसारप्राभृतं समाप्तम्।

उत्थानिका:—आगे शिष्य जनको शास्त्रका फल दिखाते हुए इस शास्त्रको समाप्त करते हैं—

गाथार्थ—(जो) जो कोई (सागारणगारचरियया जुत्तो) श्रावक या मुनिके चारित्रमें युक्त होकर (एवं सासणं) इस शासन या शास्त्रको (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्य जीव (लहुणा कालेण) थोड़े ही कालमें (पवयणसारं) इस प्रवचनके सारभूत परमात्मपद (पप्पोदि) पालेता है।

टीकार्थ—यह प्रवचनसार नामका शास्त्र रत्नत्रयका प्रकाशक है। तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके विषयभूत अनेक धर्ममय परमात्मा आदि द्रव्य हैं—इन्हींका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। जानने योग्य परमात्मा आदि पदार्थोंका यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। इससे साधने योग्य निर्विकार स्वसंवेदन या स्वानुभव ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समिति, गुप्ति आदिका आचरण पालना व्यवहार या सराग चारित्र है, उसीसे ही साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी निश्चल अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक्चारित्र है। जो कोई शिष्यजन अपने भीतर "रत्नत्रय ही उपादेय है, उनहीका साधन कार्यकारी है" ऐसी रुचि रखकर बाहरी रत्नत्रयका साधन श्रावकके है, बाहरी रत्नत्रयके आधारसे निश्चय रत्नत्रयका अनुष्ठान (साधन) मुनिका आचरण है। अर्थात् प्रमत्त गुणस्थानवर्ती आदि तपोधनकी चर्या है जो श्रावक या मुनि इस प्रवचनसार नामके ग्रन्थको समझता है वह थोड़े ही कालमें अपने परमात्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २७५ ॥

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा पंच रत्नमय पांचमा स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह बत्तीस गाथाओंसे व पांच स्थलसे शुभोपयोग नामका चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीकामें पूर्वोक्त क्रमसे "एवं पणमिय सिद्धे" इत्यादि इकीस गाथाओंसे उत्सर्ग चारित्रका अधिकार कहा, फिर "ण हि णिरवेक्खो चागो" इत्यादि तीस गाथाओंने अपवाद चारित्रका अधिकार कहा-पश्चात् "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओंसे श्रामण्य या मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा, फिर इसके पीछे "समणा सुद्धुवजुत्ता" इत्यादि बत्तीस गाथाओंसे शुभोपयोग नामका अधिकार कहा इस तरह चार अन्तर अधिकारोंके द्वारा सत्तानवे गाथाओंमें चरणानुयोग चूलिका नामा तीसरा महा अधिकार समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

प्रश्न—यहां शिष्यने प्रश्न किया कि यद्यपि पूर्वमें बहुतवार आपने परमात्म पदार्थका व्याख्यान किया है तथापि संक्षेपसे फिर भी कहिये?

उत्तर—तब भगवान् कहते हैं—

जो केवल ज्ञानादि अनन्त गुणोंका आधारभूत है वह आत्मद्रव्य कहा जाता है उसीकी ही परीक्षा नयोंसे और प्रमाणोंसे की जाती है।

प्रथम ही शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा यह आत्मा उपाधि रहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित है। वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधि सहित है, वही आत्मा शुद्धसद्भूत व्यवहार नयसे शुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंका आधारभूत पुद्गल परमाणुके समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका आधारभूत है, वही

आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयसे अशुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्णका आधारभूत दो अणु, तीन अणु आदि परमाणुओंके अनेक स्कंधोंकी तरह मतिज्ञान आदि विभाव गुणोंका आधारभूत है। वही आत्मा अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनयसे द्वयणुक आदि स्कंधोंके सम्बन्धरूप बंधमें स्थित पुद्गल परमाणुकी तरह अथवा परमौदारिक शरीरमें वीतराग सर्वज्ञकी तरह विवक्षित एक शरीरमें स्थित है। (आत्मा को कार्माण शरीरमें या तैजस शरीरमें स्थित कहना भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है)। तथा वही आत्मा उपचरित—असद्भूत-व्यवहारनय से काष्ठके आसन आदि पर बैठे हुए देवदत्तके समान व समवशरण में स्थित वीतराग सर्वज्ञके समान किसी विशेष ग्राम गृह आदिमें स्थित है इत्यादि परस्पर अपेक्षारूप अनेक नयोंके द्वारा जाना हुआ या व्यवहार किया हुआ यह आत्मा अमेचक स्वभावकी दृष्टिसे विवक्षित एक स्वभावमें व्यापक होने से एक स्वभावरूप है। वही जीव द्रव्य प्रमाणकी दृष्टिसे जाना हुआ मेचक स्वभावरूप अनेक धर्मोंमें एक ही काल चित्रपटके समान व्यापक होनेसे अनेक स्वभाव स्वरूप है। इस तरह नय प्रमाणोंके द्वारा तत्वके विचारके समयमें जो कोई परमात्म द्रव्यको जानना है। वही निर्विकल्प समाधिके प्रस्तावमें या अवसरमें निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे भी परमात्माको जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

प्रश्न—फिर शिष्यने निवेदन किया कि भगवन् मैंने आत्मा नामा द्रव्यको समझ लिया अब आप उसकी प्राप्तिका उपाय कहिये ?

उत्तर—भगवान कहते हैं—सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव जो अपना परमात्म तत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान, उसीका ज्ञान व उसीका आचरण रूप अभेद या निश्चय रत्नत्रयमय जो निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानंदमय एक स्वरूप सुखामृत रसका स्वाद उसको नहीं अनुभव करता हुआ जैसे पूर्णमासी के दिवस समुद्र अपने जलकी तरंगोंसे अत्यन्त क्षोभित होता है, इस तरह रागद्वेष मोहकी कल्लोलोंसे यह जीव जब तक अपने निश्चल स्वभाव में न ठहरकर क्षोभित या आकुलित होता रहता है तब तक अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं प्राप्त करता है। जैसे वीतराग सर्वज्ञ-कथित उपदेश पाना दुर्लभ है, वैसे ही एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, तेंद्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेंद्रिय-संज्ञी पर्याप्त मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तमरूप इन्द्रियोंकी विशुद्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्मका सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, उसका श्रद्धान करना, संयमका पालना, विषयोंके सुखसे हटना, क्रोधादि कषायोंसे बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्रीको भी कथंचित् काकतालीन्यायसे प्राप्त करके सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान केवल दर्शन स्वभाव अपने परमात्मतत्वके सम्यक श्रद्धान, ज्ञान व आचरणरूप अभेद रत्नत्रयमय निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानन्दमय सुखामृत रस उसके स्वादानुभवका लाभ होते हुए, जैसे अमावसके दिन समुद्र जलकी तरंगोंसे रहित निश्चल क्षोभरहित होता है, राग, द्वेष, मोहकी कल्लोलोंके क्षोभसे रहित होकर जैसा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित होता जाता है वैसा ही अपने शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त करता है।

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिमें पूर्वमें कहे क्रमसे " एस सुरासुर " इत्यादि एकसौएक गाथाओं तक सम्यग्ज्ञानका अधिकार कहा गया। फिर " तम्हा तस्स णमाइं " इत्यादि एकसौ तेरह गाथाओं तक ज्ञेय अधिकार या सम्यग्दर्शन नामका अधिकार कहा गया। फिर " तव सिद्धे णय सिद्धे " इत्यादि सत्तानवे गाथा तक चारित्रका अधिकार कहा गया। इस तरह तीन महा अधिकारोंके द्वारा तीनसौ ग्यारह गाथाओंसे यह प्रवचनसार प्राभृत पूर्ण किया गया

इस तरह प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हुई

टीकाकार जयसेनाचार्यकी प्रशस्ति।

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ।। १ ।।
सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेपि सत्तपाः।
नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोपि यः ।। २ ।।
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ।। ३ ।।
शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ।। ४ ।।
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्ति विलोपभीरुः ।। ५ ।।
श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम्।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् । ६ ।।
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारणबन्धवे।
सिंधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे । ७ ।।
त्रिभुवनचंद्रं चद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ।। ८

अर्थ—अज्ञानरूपी अन्धकारसे यह रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग लिप्त होरहा है उसके प्रकाश करनेको समर्थ श्री कुमुदचंद्र या पद्मचंद्र मुनिको नमस्कार हो। इस मूलसंघमें परम तपस्वी निर्ग्रन्थ पदधारी नग्न-मुद्रा शोभित श्री वीरसेन नामके आचार्य होगए हैं। उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य श्री सोम-सेन हुए। उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध मालु साधु नामके हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नामका पुत्र उपजा है, जो सर्व ज्ञान प्राप्त कर सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्य ने जो अपने पिताकी भक्तिके विलोप करनेसे भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थकी टीका की है। श्रीमान् त्रिभु-वनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूँ, जो आत्माके भावरूपी जलको बढ़ानेके लिये चन्द्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महा पर्वतके सैकड़ों टुकड़े करनेवाले हैं। मैं श्री त्रिभुवनचंद्रको नमस्कार करता हूँ। जो जगतके सब संसारी जीवोंके निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नोंके समुद्र हैं। फिर मैं महा संयमके पालनेमें श्रेष्ठ चंद्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्रको नमस्कार करता हूँ जिसके उदयसे जगतके प्राणियोंके अंतरंगका अन्धकार समूह नष्ट होजाता है।

इति प्रशस्ति

परिशिष्ट

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्। तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २। अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ४। अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६।

[अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूपसे कहते हैं:—]

'यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है' इस शंकाका उत्तर कहा जा चुका है, और (यहां) फिर भी कहते हैं:—

पहले तो आत्मा वास्तवमें चैतन्यसामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि वह आत्म-द्रव्य अनन्त धर्मोंमें व्यापक जो अनन्त नय उनमें व्याप्त एक श्रुतज्ञान जिसका लक्षण है उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे ज्ञात होता है।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे, पटमात्रकी भांति, चिन्मात्र है, (अर्थात् आत्मा द्रव्यनयसे एक स्वरूप है) ॥१॥

आत्मद्रव्य पर्यायनयसे, तंतुमात्रकी भांति दर्शनज्ञानादिमात्र है, (अर्थात् आत्मा पर्याय नयसे नाना स्वरूप है) ॥ २ ॥

आत्मद्रव्य अस्तित्वनयसे स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला है,—लोहमय, प्रत्यंचा (डोरी) और धनुषके मध्यमें निहित, संधानदशामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख बाणकी भांति (जैसे कोई बाण स्वद्रव्यसे लोहमय है, स्वक्षेत्रसे प्रत्यञ्चा और धनुषके मध्यमें निहित है, स्वकालसे संधान-दशामें है, अर्थात् धनुष पर चढाकर खेंची हुई दशामें है, और स्वभावसे लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा स्वद्रव्यसे चैतन्यमय है, स्वक्षेत्र से लोकाकाशमें निहित है, स्वकालसे वर्तमान पर्याय स्वरूप है, स्वभाव से पदार्थों को जान रहा है।) ॥३॥

आत्मद्रव्य नास्तित्वनयसे परद्रव्य-क्षेत्र काल-भावसे नास्तित्ववाला है,—अलोहमय, प्रत्यञ्चा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधानदशामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख पहलेके बाणकी भांति। (जैसे पहलेका बाण अन्य बाणके द्रव्यकी अपेक्षासे अलोहमय है, अन्य बाणके क्षेत्रकी अपेक्षासे प्रत्यंचा और धनुषके मध्य में निहित नहीं है, अन्य बाणके कालकी अपेक्षासे संधानदशामें नहीं रहा हुआ है और अन्य बाणके भावकी अपेक्षासे अलक्ष्योन्मुख है, उसी प्रकार आत्मा अन्य द्रव्यकी अपेक्षा चेतन नहीं है, अन्य द्रव्यके क्षेत्रकी अपेक्षा उस क्षेत्रमें नहीं है, अन्य द्रव्यके कालकी अपेक्षा उस पर्याय रूप नहीं है, अन्य द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा पदार्थोंको नहीं जान रहा है ॥ ४ ॥

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनयसे क्रमशः स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्व नास्तित्ववाला है,—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायो--

---

हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भांति। (जैसे पहलेका बाण क्रमशः स्वचतुष्टयकी तथा परचतुष्टयकी अपेक्षासे लोहमयादि और अलोहमयादि है उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनयसे क्रमशः स्वचतुष्टय की और परचतुष्टयकी अपेक्षासे चेतनमयादि और अचेतनमयादि है।) ॥ ५ ॥

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनयसे युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे अवक्तव्य है,—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भांति (जैसे पहलेका बाण युगपत् स्वचतुष्टयकी और परचतुष्टय अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होनेसे अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अवक्तव्य नयसे युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा चेतनमय और अचेतनमय आदि होनेसे अवक्तव्य है।) ॥ ६ ॥

आत्मद्रव्य अस्तित्व अवक्तव्य नयसे स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे तथा युगपत् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है, –(स्वचतुष्टयसे) लोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख-ऐसे तथा (युगपत् स्व-पर चतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्था में न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख-ऐसे पहलेके बाणकी भांति [जैसे पहलेका बाण (१) स्वचतुष्टयसे तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टकी अपेक्षासे (१) अस्तित्व तथा (२) अवक्तव्यनय है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनयसे (१) स्वचतुष्टयकी तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अस्ति तथा (२) अवक्तव्य है।] ॥ ७ ॥

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे पर द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे तथा युगपत् स्वपर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तित्ववाला—अवक्तव्य है,—(परचतुष्टयसे) अलोहमय प्रत्यंचा और

यानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम् ८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् । ९ । विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् १० । अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११

धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख-ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यञ्चा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख-ऐसे पहलेके बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) परचतुष्टयको तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) नास्ति तथा (२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्व अवक्तव्यनयसे (१) परचतुष्टयकी तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) नास्ति तथा (२) अवक्तव्य है।] ॥ ८ ॥

आत्मद्रव्य अस्तित्व—नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे स्वद्रव्यक्षेत्रकाल भावसे परद्रव्यक्षेत्र कालभावसे तथा युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे अस्तित्ववाला—नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है,—(स्वचतुष्टयसे) लोहमय, प्रत्यञ्चा और धनुषके मध्यमें निहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख-ऐसे,–(परचतुष्टयसे) अलोहमय-प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित संधान अवस्थामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख और अलक्ष्योन्मुख ऐसे-पहले के बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण १ स्वचतुष्टयकी, २ परचतुष्टयकी तथा ३ युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे १ अस्ति, २ नास्ति तथा ३ अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे १ स्वचतुष्टयकी, २ परचतुष्टयकी तथा ३ युगपत् स्व-परचतुष्टयकी अपेक्षासे १ अस्ति २ नास्ति तथा ३ अवक्तव्य है।] ।९।

नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि १३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५। सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि १६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७। नित्यनयेन नटवदव-

---

आत्मद्रव्य विकल्पनयसे, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुषकी भांति, सविकल्प है, (अर्थात् विकल्पनयसे आत्मद्रव्य भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्धके भेदसे युक्त है वैसे ही आत्मा भी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, सिद्ध भेदसे युक्त है, अतः सविकल्प है) ॥ १० ॥

आत्मद्रव्य अविकल्पनयसे, एक पुरुषमात्रकी भांति, अविकल्प है [अर्थात् अभेदनय से आत्मा नारक तिर्यंच आदिके भेदसे रहित एक आत्म-द्रव्य मात्र है जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्धके भेदसे रहित एक पुरुषमात्र है।) ॥११॥

आत्मद्रव्य नामनयसे, नामवालेकी भांति, शब्दब्रह्मको स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म का वाच्य है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्दसे कहा जाता है।) ॥१२॥

आत्मद्रव्य स्थापनानयसे, मूर्तित्वकी भांति, सर्व पुद्गलोंका अवलम्बन करनेवाला है (अर्थात स्थापनानयसे आत्मद्रव्यकी पुद्गलमें स्थापना की जाती है, जैसे मूर्तिकी) ॥१३॥

आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे बालक सेठकी भांति और श्रमण राजाकी भांति, अनागत और अतीतपर्यायसे प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनयसे भावी और भूत पर्यायरूप से लक्षित होता है। जैसे सेठका बालक सेठरूप भावी पर्यायसे और मुनि राजारूप भूतपर्यायसे लक्षित होते हैं।) ॥१४॥

आत्मद्रव्य भावनयसे, पुरुषके समान प्रवर्तमान स्त्रीकी भांति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनयसे वर्तमान पर्यायरूपसे प्रकाशित होता है, जैसे कि प्रवर्तमान स्त्री वर्तमान पुरुषरूप पर्यायसे प्रतिभासित होती है।) ॥१५॥

आत्मद्रव्य सामान्यनयसे, हार-माला-कंठीमें डोरेकी भांति, व्यापक है, (अर्थात् आत्मा सामान्यनयसे सर्व पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है, जैसे मोतीकी मालाका डोरा सारे मोतियोंमें व्याप्त होकररहता है।) ॥१६॥

आत्मद्रव्य विशेषनयसे, उसके एक मोतीकी भांति, अव्यापक है, (अर्थात् आत्मा

स्थायि १८। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि १९। सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्स र्वर्ति २०। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२। अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३ ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् २४। ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् २५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि २६। अनियतिनयेन नियविशेषनयकी अपेक्षा मात्र विवक्षित पर्याय स्वरूप होनेसे द्रव्यकी समस्त पर्यायोंमें व्यापक न होनेसे अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त मालाका एक मोती सारी मालामें अव्यापक है)।।१७।

आत्मद्रव्य नित्यनयसे, नटकी भांति, अवस्थायी है, (अर्थात् आत्मा नित्यनयसे नित्य—स्थायी है, जैसे राम–रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वहका वही नित्य है। इस प्रकार आत्मा भी मनुष्य तिर्यंच आदि पर्यायोंको धारण करता हुआ भी आत्म द्रव्य तो वहका वही है, इसलिये नित्य है।) ।।१८।।

आत्मद्रव्य अनित्यनयसे, राम-रावणकी भांति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनयसे अनित्य है, जैसे नट राम–रावणरूप स्वांगकी अपेक्षा अनित्य है। उसी प्रकार आत्म द्रव्य भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है।) ।।१९।।

आत्मद्रव्य सर्वगतनयसे खुली हुई आंखकी भांति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है। [ज्ञान जानने की अपेक्षा सर्व पदार्थों में जाता है, इसलिये सर्वगत है।] ।।२०।।

आत्मद्रव्य असर्वगतनयसे, मींची हुई (बन्द) आंखकी भांति, आत्मवर्ती (अपनेमें रहनेवाला) है। [प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा आत्म द्रव्य अपने प्रदेशमात्रमें रहनेसे आत्म-वर्ती है असर्वगत है,] २१

आत्मद्रव्य शून्यनयसे, शून्य (खाली) घरकी भांति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है ।।२२।।

आत्मद्रव्य अशून्यनयसे, लोगोंसे भरे हुये जहाजकी भांति, मिलित भासित होता है।२३

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनयसे (ज्ञान और ज्ञेयके अद्वैतरूप नयसे) महान् ईन्धनसमूहरूप परिणत अग्निकी भांति, एक है [ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार दोनों ज्ञान स्वरूप होनेसे अद्वैत है, इसलिये एक है] ।।२४।।

आत्मद्रव्य ज्ञान ज्ञेय द्वैतनयसे, परके प्रतिबिंबोंसे संपृक्त दर्पणकी भांति, अनेक है

त्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७। स्वभावनयेन। निशिततीक्ष्णकण्टकवत्सं-स्कारानर्थक्यकारि २८। अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्य-कारि २९ कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥३०॥

(अर्थात् आत्मा में ज्ञेय प्रतिभाषित होते हैं। उन ज्ञेयोंके प्रतिबिंब की अपेक्षा आत्मा अनेक है, जैसे पर–प्रतिबिम्बोंके संगवाला दर्पण अनेकरूप है) ॥२५॥

आत्मद्रव्य नियतिनयसे नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्निकी भांति। [आत्मा नियतिनयसे नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्निके उष्णताका नियम होनेसे अग्नि नियतस्वभाव वाली भासित होती है। उसी प्रकार आत्माके चैतन्यका नियम होनेसे आत्मा नियत स्वभाव वाली है] २६

आत्मद्रव्य अनियतनयसे अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है, ऐसे पानीकी भांति [आत्मा अनियतिनयसे अनियतिस्वभाव-वाला भासित होता है जैसे पानीके (अग्नि निमित्तक) उष्णता अनियत होनेसे पानी अनियत स्वभाववाला भासित होता है। पानी अग्निका निमित्त मिले तो उष्ण हो जावे निमित्त न मिले तो उष्ण न हो विवक्षित जलके विवक्षित क्षेत्र व विवक्षित कालमें विवक्षित अग्निके द्वारा उष्ण होना नियत नहीं है। इस प्रकार आत्मा की नैमित्तिक पर्यायें व उनका क्षेत्र व काल नियत नहीं है, अनियत है] ।२७॥

आत्मद्रव्य स्वभावनयसे संस्कारको निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको स्वभाव नयसे संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसीसे नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्व-भावसे ही नुकीला है) ऐसे पैने कांटेकी भांति। [आत्मा स्वभावसे परिणामनशील होनेसे संस्कारोंको निरर्थक करनेवाला है] ॥२८॥

आत्मद्रव्य अस्वभावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको अस्व-भावनयसे संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके) लुहारके द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाणकी भांति। [आत्मा अस्वभाव नयसे कर्मोंके द्वारा रागी द्वेषी किया जाता है इसलिये संस्कारको सार्थक करनेवाला है।] ॥२९॥

आत्मद्रव्य कालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मीके दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफलकी भांति। [कालनयसे कार्यकी सिद्धि समयके अधीन है, जैसे गर्मीके दिनोंके अनुसार आम्र फल पकता है अथवा आयु पूर्ण होने पर जीवकी पर्याय समाप्त होती है।] ॥३०॥

अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१ । पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादीवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२ । दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३ । ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४ । अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५ । गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ३६

आत्मद्रव्य अकालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफलकी भांति । [अकाल नयसे कार्यकी सिद्धि समयके अधीन नहीं है, अर्थात् कार्य का काल निश्चित नहीं है, जब कार्यके अनुकूल सामग्री मिल जाय तब ही कार्य होजाता है । जैसे जीवके मोक्ष जानेमें कालका नियम नहीं है । बाह्य अभ्यन्तर सामग्री मिलने पर मोक्ष होता है ।] ॥३१॥

आत्मद्रव्य पुरुषकारनयसे जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे नीबूका वृक्ष प्राप्त होता है (उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भांति । [पुरुषार्थनयसे कार्य की सिद्धि बुद्धि-पूर्वक प्रयत्नसे होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्यको पुरुषार्थसे नीबूका वृक्ष प्राप्त होता है । ३२ । 'इह चेष्टितदृष्टपौरुषादीन्यपि पर्यायनामामि'—अष्ट सहस्री पृ० २५६

आत्मद्रव्य दैवनयसे जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (यत्न बिना होता है) ऐसा है, पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नीबूके वृक्षके भीतरसे जिसे (बिना यत्नके, दैवसे) माणिक प्राप्त होजाता है ऐसे दैववादीकी भांति । [कार्यकी सिद्धि दैवनयसे योग्यता पर आधारित है ।] ३३

'योग्यता (भव्यता) पूर्वकर्मदैवमदृष्टमिति पर्यायनामानि'—अष्टसहस्री पृ० २५६ ।

आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतंत्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालककी भांति । [ईश्वरनयसे कार्यकी सिद्धि निमित्ताधीन है जैसे सिद्ध जीव की उर्ध्व गति धर्म द्रव्य—अधीन है और परिणमन कालद्रव्य अधीन है] ॥३४॥

आत्मद्रव्य अनीश्वर नयसे स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरनको स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रत, स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खाजानेवाले सिंहकी भांति । [अनीश्वर नयसे कार्यकी सिद्धि निमित्ताधीन नहीं है, जैसे जीवका अस्तित्व निमित्ताधीन नहीं है] ॥३५॥

आत्मद्रव्य गुणीनयसे गुणग्राही है, शिक्षकके द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भांति ॥३६॥

अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ३८। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९ भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ४०। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१। क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२। ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३। व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४। निश्च-

आत्मद्रव्य अगुणीनयसे केवल साक्षी ही है (गुणग्राही नहीं है), जैसे शिक्षकके द्वारा जिस कुमारको शिक्षा दी जा रही है उस कुमारका रक्षक पुरुष गुणग्राही नहीं है] ३७

आत्मद्रव्य कर्तृनयसे, रंगरेजकी भांति, रागादि परिणामका कर्ता है। अर्थात् आत्मा कर्तानयसे रागादिपरिणामोंका कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगनेके कार्यका कर्ता है।) ॥३८॥

आत्मद्रव्य अकर्तृनयसे केवल साक्षी ही है रागादिका कर्ता नहीं है, जैसे कार्यमें प्रवृत्त रंगरेजको देखनेवाले पुरुष ।। ३९ ॥

आत्मद्रव्य भोक्तृनयसे सुखदुःखादिका भोक्ता है, जैसे हितकारी—अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगी सुख या दुःखको भोगता है ॥ ४० ॥

आत्मद्रव्य अभोक्तृनयसे केवल साक्षी ही है, सुख दुख नहीं भोगता, जैसे हितकारी अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीको देखनेवाला वैद्य ।। ४१ ।।

आत्मद्रव्य क्रियानयसे अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो, ऐसा है, जैसे खम्भेसे सिर फोडने पर अंधेको दृष्टि उत्पन्न होकर निधान प्राप्त होजाय। ऐसे अंधकी भांति [क्रियानयसे आत्मा अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि हो, ऐसा है, जैसे किसी अंधपुरुषको पत्थर के खम्भेके साथ सिर फोड़नेसे सिरके रक्तका विकार दूर होनेसे आंखें खुल जायें और निधान [खजाना] प्राप्त होजाय।] ॥ ४२ ॥

आत्मद्रव्य ज्ञाननयसे विवेककी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो, ऐसा है, जैसे मुट्ठी भर चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदनेवाला घरके कोनेमें बैठा हुआ व्यापारी ।। ४३ ॥

आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बंध और मोक्षमें दूसरे द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यके साथ बंधता और छूटता है, बंधक (बांधने वाले) और मोचक (छोडनेवाले) अन्य परमाणुके साथ

यनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५ । अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ४६ । शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ४७ । तदुक्तम्—'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा । जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥" "परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा । जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंच वयणादो ॥" एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगाङ्गयामुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम् । युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु समस्ततरङ्गिणीपयःपूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यम् ।

संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भांति । [व्यवहार नयसे आत्मा बंध और मोक्षमें बांधने वाले पुद्गल कर्मके साथ बंधन और छूटने से द्वैतको प्राप्त होता है. जैसे परमाणु अन्य परमाणुके साथ संयोगको पानेरूप द्वैतको प्राप्त होता है और परमाणुके मोक्षमें वह परमाणु अन्य परमाणुसे पृथक् होनेरूप द्वैतको पाता है, उसीप्रकार ।] ॥४४॥

आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बंध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करने वाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्व गुणरूप परिणत परमाणुकी भांति [निश्चय नयसे अपने रागादि और वीतराग परिणामों के कारण आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्षके योग्य स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उसी प्रकार ॥ ४५ ॥

आत्मद्रव्य अशुद्धनयसे, घट और रामपात्रसे विशिष्ट मिट्टी मात्रकी भांति, रागद्वेष रूप सोपाधिस्वभाववाला है ॥ ४६ ॥

आत्मद्रव्य शुद्धनयसे, केवल मिट्टी मात्रकी भांति, निरुपाधिस्वभाववाला है ॥ ४७ ॥

इसलिये कहा है:—

'जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥

१—गो० क० गा० ८९४ ।

'परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो॥

[अर्थः—जितने वचनपंथ हैं उतने वास्तवमें नयवाद है, और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (परमत) हैं।

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन 'सर्वथा' कहा जानेसे वास्तवमें मिथ्या है, और जैनोंका वचन 'कथंचित्' कहा जानेसे वास्तवमें सम्यक् है।

इसप्रकार इस सूचनानुसार एक २ धर्ममें एक २ नय (व्यापे), इस प्रकार अनन्त-धर्मोंमें व्यापक अनन्त नयोंसे निरूपण किया जाय तो, समुद्रके भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुनाके जलसमूहकी भांति, अनन्तधर्मोंको परस्पर अतद्भावमात्रसे पृथक् करनेमें अशक्य होनेसे, आत्मद्रव्य अमेचक स्वभाववाला एक धर्ममें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है। परन्तु युगपत् अनन्तधर्मोंमें व्यापक ऐसे अनन्त नयोंमें व्याप्त होने वाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाणसे निरूपण किया जाय तो, समस्त नदियोंके जलसमूहके समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्रकी भांति, अनन्तधर्मोंको वस्तुरूपसे पृथक् करना अशक्य होनेसे आत्मद्रव्य मेचक स्वभाववाले अनन्तधर्मोंमें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मस्वरूप) है। [जैसे-एक समय एक नदीके जलको जाननेवाले ज्ञानांशसे देखा जाय तो समुद्र एक नदीके जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक समय एक धर्मको जानने वाले एक नयसे देखा जाय तो आत्मा एकधर्म-स्वरूप ज्ञात होता है, परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियोंके जलको जाननेवाले ज्ञानसे देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियोंके जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्वधर्मोंको जाननेवाले प्रमाणसे देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार एक नयसे देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाणसे देखने पर अनेकान्तात्मक है।]

अब उस ही आशयको काव्य द्वारा कहकर, यह कथन समाप्त किया जाता है कि 'आत्मा कैसा है ?'

१—गो० क० गा० ८६५।

(मालनी छन्द)

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मस्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥ १६ ॥

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते—अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलितात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः । अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृताखण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिककर्मनिर्मितस्य मोहस्य वध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयाकर इवात्मन्येवातिनिःप्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ता ज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बाहरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते । ततः सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूतः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवाननुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभावं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति । अवाप्नोत्वेव ज्ञानानन्दात्मानं जगदपि परमात्मानमिति । भवति चात्र श्लोकः—'आनन्दामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम् । स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः ।'

[अर्थः—] इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवासके वशीभूत वर्तते नयसमूहोंसे देखें तो भी और प्रमाणसे देखें तो भी स्पष्ट अनन्तधर्मोंवाले निज आत्मद्रव्यको भीतरमें शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं ।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया । अब उसकी प्राप्तिका प्रकार (उपाय) कहा जाता है:—

(१) अनादि पौद्गलिक कर्मके निमित्तसे होनेवाली मोह भावना (मोह के अनुभवके) प्रभावसे सदा चक्कर खाती हुई आत्म-परणतिके द्वारा समुद्रके समान (जो आत्मा) अपनेमें ही क्षुब्ध है, [२] क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तियोंकी व्यक्तियों (जाननरूप पर्यायों)

(शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द)

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फो गिरां, व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्, लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥२०॥

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्, चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्, अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥२१॥

समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका।

के द्वारा जो परिवर्तनको प्राप्त है [३] ज्ञप्तियोंकी व्यक्तियोंके लिये जो निमित्त है ऐसे ज्ञेय भूत बाह्य पदार्थों में जिसकी मैत्री प्रवर्तती है (४ आत्मा विवेक के शिथिल [अभाव] होनेसे अत्यन्त बहिर्मुख है. [५] पौद्गलिक कर्म [ज्ञानावरणादि] को रचनेवाले ऐसे राग द्वेषरूप रूप जो परिणमित होते हैं [रागद्वेष रूप आत्माके परिणाम ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंके रचने वाले हैं, वे रागद्वेषरूप परिणाम आत्मामें होते हैं], उपरोक्त पांच विशेषण वाले इस आत्माको आत्म-प्राप्ति दूर है।

परन्तु जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकांडको प्रचंड करनेसे अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोहका वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करनेसे स्वयं केवल आत्म-भावनाके (आत्मानुभवके) प्रभावसे परिणतिको निश्चल करनेसे समुद्रकी भांति अपनेमें ही अति निष्कंप रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्ति व्यक्तियोंमें व्याप्त होकर अवकाशके अभावके कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिकी व्यक्तियोंके निमित्त कारण होनेसे जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्य-पदार्थकी व्यक्तियोंके प्रति उसे वास्तवमें मैत्री प्रवर्तित नहीं होती है, इसलिये आत्म-विवेककी सुप्रतिष्ठितता (सुस्थिति) के द्वारा अत्यन्त अन्तर्मुख होकर तथा पौद्गलिक कर्मोंके जो रचयिता ऐसी रागद्वेषद्वैतरूप परिणतिसे दूर होकर यह आत्मा पूर्वमें अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्माको आत्यन्तिक रूपसे ही प्राप्त करता है। जगत भी ज्ञानानंदात्मक परमात्माको अवश्य प्राप्त करो।

यहां श्लोक भी है :—

शार्दूल विक्रीडित

आनंदामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-, निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।
स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्, स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः ॥

अर्थः— आनन्दामृतके पूरसे भरपूर वहती हुई कैवल्यसरितामें [मुक्तिरूपीनदीमें] जो डूबा हुआ है, जगतको देखनेमें समर्थ महासंवेदनरूपी श्री [महाज्ञानरूपी लक्ष्मी] जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरणकी भांति स्पष्ट है और जो इष्ट है ऐसे उल्लसित [प्रकाशमान-आनन्दमय] स्वतत्वको जन स्यात्कारलक्षणवाले जिनेश-शासनके वशसे प्राप्त हों। ['स्यात्कार' जिसका चिह्न है ऐसे जिनेन्द्र भगवानके शासनका आश्रय लेकरके प्राप्त करो।]

'आत्मा सहित विश्व व्याख्येय [समझाने योग्य] है, वाणीका गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता हैं' इसप्रकार मनुष्यो ! मोहसे मत नाचो [मत फूलो], [किन्तु] स्याद्वाद विद्या बलसे विशुद्ध ज्ञानकी कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज [लोगो] अव्याकुलरूपसे नाचो [परमानन्द परिणामरूप परिणत होओ।

[अब काव्य द्वारा चैतन्यकी महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके इस परम पवित्र परमागमकी पूर्णाहुति की जाती है:—]

अर्थः— इस प्रकार [इस परमागममें] अमन्दतया [बलपूर्वक, जोरशोरसे]जो थोड़ा बहुत तत्व कहा गया है, वह सब चैतन्यके मध्य वास्तवमें अग्निमें होमी गई वस्तुके समान [स्वाहा] हो गया है। [अग्निमें होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो। इसीप्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्यका चाहे जितना वर्णन किया जाय तो भी मानो उस समस्त वर्णनको अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है, चैतन्यकी अनन्त महिमाके निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो, इसप्रकार तुच्छताको प्राप्त होता है।] उस चैतन्यको ही आज प्रबलता—उग्रतासे चैतन्य अनुभव करो [अर्थात उस चित्स्वरूप आत्माको ही आत्मा आज आत्यन्तिकरूपसे अनुभव करो] क्योंकि इस लोकमें दूसरा कुछ भी [उत्तम] नहीं है, चैतन्य ही परम [उत्तम] तत्व है।

इस प्रकार तत्त्वदीपिका नामक संस्कृत टीका समाप्त हुई।



गाथानां वर्णानुक्रम सूची

ठ

ण

❀

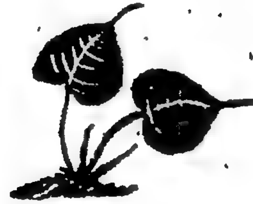
प्रवचनसार कलश काव्यों की वर्णानुक्रम सूची

श्री अमृतचन्द्राचार्य टीकान्तर्गतानां उक्तानां पद्यानां

श्री जयसेनाचार्य टीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

भाषा टीका में उद्धृत वाक्य व गाथा सूची

❀



विशेष शब्द सूची

ह

ज्ञ

※)-(※

शुद्धि पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८६	अन्तिम	अथातो..........निरूपयति	एवं निश्चय श्रुतकेवलि व्यवहार श्रुतकेवलि कथन मुख्यत्वेन भिन्न ज्ञान निराकरण न ज्ञान-ज्ञेय स्वरूप कथनेन च चतुर्थस्थले गाथा चतुष्टयं गतम् ।
१३०	२३	अथेन्द्रिय..........निश्चिनोति	अथ परोक्ष प्रत्यक्ष लक्षणमुपलक्षयति :—
१६१	२६	वास्तव में..........इन्द्रियों के	
१६५	११	स्वरूप को अपने	स्वरूप को जानकर पश्चात् अपने
३७१	२०	प्रचयस्तस्य काल	प्रचयस्तस्य स्वकीय स्वकीय द्रव्यमुपादान-कारणात् । कालस्तु प्रतिसमयं सहकारी, कारणं भवति । वस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्द्ध्वता प्रचयस्तस्य काल

३९४ ८–१३ इस संस्कृत का अर्थ पृष्ट ३९२ के अन्तिम पैरा में है ।

४८२ नोट—कलश १०–११–१२ का अर्थ पृ० ४८५–४८६ पर है ।

४५४ नोट—पंक्ति २२ के पश्चात् पृ ४८७ पंक्ति ७ से २५ तक तथा पृ० ४८८ पंक्ति १९–३० तथा पृ० ४८९ पंक्ति १ से १४ तक का मैटर पढ़ना चाहिये ।

४८५ श्लोक १०–११–१२ का अर्थ है वे मूल श्लोक पृ० ४८२ पर हैं ।

५४८	१७	रहित	सहित

५५७ ३ सेद तक का मैटर पृ० ५६७ पर सबसे ऊपर पढ़ना चाहिये

३२० पंक्ति के १४ पश्चात् निम्न श्लोक लिखने चाहिये—

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः ।

इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मीलुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ।।७।।

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेदभ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ।८।

द्रव्यसमान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम् । तद्विशेष परिज्ञान प्राग्भारः क्रियतेऽधुना ।।९।।

इति प्रवचनसार वृत्तौ तत्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचितायां ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापने सामान्य द्रव्य प्रज्ञापनं समाप्तम् ।।

८९